प्रबन्ध-सागर

हिन्दी प्रभाकर, साहित्यरत्न, बी० ए०, एम० ए० तथा अन्य
विशेष योग्यता की परीक्षाओं के लिए उच्च कोटि के
साहित्यिक, कलात्मक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राज-
नीतिक तथा विविध विषयों पर विद्वत्तापूर्ण
निबन्ध तथा उनकी रचना सम्बन्धी सामग्री
से युक्त अत्यन्त उपयोगी पुस्तक

लेखक
यज्ञदत्त शर्मा

चौथा संस्करण

१९५७
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

चौथे संस्करण की भूमिका

'प्रबन्ध-सागर' का चौथा संस्करण आपके सम्मुख है। प्रथम संस्करण में हमने केवल निबन्धों के विचार से ही इस पुस्तक की रचना की थी। दूसरे संस्करण में निबन्ध लेखन-कला का भी विस्तार के साथ विवेचन किया गया। विद्यार्थियों को निबन्ध लिखने से पूर्व किन-किन बातों का ज्ञान होना चाहिए, इस उद्देश्य से आवश्यक सामग्री को संग्रहीत किया है। हिन्दी में प्रबन्ध-पुस्तकों का उस रूप में अभी अभाव ही है, जिस रूप में ये पुस्तकें अंग्रेजी-साहित्य में उपलब्ध हैं। हमने इस कमी को पूर्ण करने का भरसक प्रयत्न किया है और विश्वास है कि पाठक इसकी उपयोगिता का स्वागत करेंगे।

इस संस्करण में कुछ नवीन निबन्ध भी लिखे हैं।

पुस्तक की उपयोगिता को देखकर विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं ने इसे अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है, जिसके लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों उनके आभारी है। हमें विश्वास है कि इन नवीन संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण का पहले की अपेक्षा विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोग होगा।

लेखक

प्रथम संस्करण की भूमिका

'प्रबन्ध-सागर' की रचना हिन्दी-साहित्य, भारतीय काव्य-परम्परा, भारत की धार्मिक क्रांतियाँ और उनकी प्रतिध्वनियाँ, भारतीय समाज और सभ्यता, भारतीय इतिहास और राजनीति, फुटकर विचार और समस्याएँ तथा परिचयात्मक विषयों की आधार-शिला पर की गई है। भारत का साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास एक क्रम के साथ इस ग्रंथ में पृथक्-पृथक् विषयों के आधार पर संगठित रूप में मुखरित हुआ है। हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत साहित्य के क्रमिक विकास में पैदा होने वाली मूल प्रवृत्तियों और प्रधान वादों तथा साहित्यिक धाराओं का स्पष्टीकरण किया गया है। हिन्दी-साहित्य के सब प्रधान वादों, शैलियों, मूल ग्रंथों और कवियों पर विकसित रूप से प्रकाश डाला गया है। हिन्दी-साहित्य की विविध शाखाओं को विषय बनाकर उनके विकास और भविष्य पर तार्किक दृष्टिकोण से लिखा गया है। साथ ही हिन्दी-साहित्य पर देशीय और विदेशीय प्रभावों का भी आधुनिक प्रगतिवाद में मूल्याङ्कन किया है।

साहित्यिक निबन्धों के पश्चात् काव्य-कला-सम्बन्धी निबन्ध दिये गये हैं जिनमें काव्य-कला के विविध रूपों का भी हमने शास्त्रीय विवेचन किया है। कविता

उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध और जीवनी विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है साहित्य-कला के पश्चात् धार्मिक निबन्ध दिये हैं जिनमें भारत के प्राचीनतम धर्म से लेकर उसमें होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं को भी लिया गया है। भारत के सभी धर्म-ग्रंथों और उनके राष्ट्र पर पडने वाले प्रभावों का स्पष्टीकरण किया गया है। भारतीय जनता की धार्मिक प्रवृत्तियों, धर्म-ग्रंथ और उनके साहित्य तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन किया गया है। धर्म के गुण, अवगुण और इसके व्यापक क्षेत्र पर कई विषयों में प्रकाश डाला है। धार्मिक निबन्धों के पश्चात् सामाजिक निबन्ध आते हैं, जिनमे भारत की प्राचीन समस्याओं से लेकर आज तक की समस्याओं को लिया गया है। सामाजिक निबन्धों में वर्णाश्रम धर्म, नारी-विषयक समस्याओं तथा विवाह-सम्बन्धी अन्य विषयों का स्पष्टीकरण है। सामाजिक निबन्धों के पश्चात् ऐतिहासिक और राजनैतिक निबन्ध लिखे गये हैं जिनमें भारत की आदि युग से आज तक की सभी राजनैतिक समस्याएँ ली गई हैं। इन निबन्धों को पढ़कर पाठक को भारतीय इतिहास और वर्तमान राजनीति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। राजनैतिक निबन्धों के अन्तर्गत भारत की क्रान्तियों के अतिरिक्त विश्व की क्रान्तियों तथा वर्तमान वादों और उनकी भारतीय राजनीति पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का भी स्पष्टीकरण किया गया है। एकतन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, समाजवाद, डिक्टेटरशिप, गांधीवाद इत्यादि की तुलनात्मक विवेचना की गई है। अन्त में फुटकर और परिचयात्मक निबन्ध लिखे गये हैं, जिनमें स्वास्थ्य, व्यायाम इत्यादि के अतिरिक्त संसार की प्रमुख शासन-प्रणालियों और भारतीय इतिहास की प्रधान विभूतियों का परिचय दिया गया है।

साहित्यिक, कलात्मक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक निबन्धों के पश्चात् कुछ विषयों की रूपरेखाएँ देकर उन पर निबन्ध-रचना की पूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत की गई है। 'प्रबन्ध-सागर' के भूमिका भाग में हिन्दी-गद्य के उत्थान, हिन्दी-निबन्धों के इतिहास, निबन्ध की आवश्यकता, निबन्ध के क्षेत्र, निबन्ध के ढाँचे, निबन्ध-लेखन-ज्ञान, निबन्ध के प्रमुख अंग, निबन्धों के प्रकार, शैली और सहायक अंगों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार 'प्रबन्ध-सागर' में बी. ए., प्रभाकर आदि विशेष योग्यताओं की परीक्षा में भाग लेने वाले विद्यार्थियों के लिए सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि 'प्रबन्ध-सागर' के निबन्धों पर एक दृष्टि डालने के पश्चात् विद्यार्थी का उक्त विषयों का ज्ञान अपूर्ण नहीं रह सकता।

यज्ञदत्त

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ

प्रबन्ध-सागर

अध्याय १

हिन्दी-गद्य का विकास

१. हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक विकास—वर्तमान हिन्दी का जो स्वरूप आज दिखलाई दे रहा है उसके उद्गम और प्रारम्भिक अवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना सरल काम नहीं। भाषा-वैज्ञानिकों की खोजों से ही सांकेतिक रूप से इतना ज्ञान प्राप्त हो सका है कि १२वीं शताब्दी के आस-पास आधुनिक खड़ी बोल-चाल की भाषा का प्रचलन भारत में प्रारम्भ हुआ होगा। यवन-आक्रमणों से पूर्व शौरसेनी, मागधी इत्यादि अपभ्रंश भाषाएँ विभिन्न प्रान्तों में बोल-चाल के लिए प्रचलित थीं। मुसलमानों के शासन-काल में उनकी भाषा यहाँ की भाषा से प्रभावित हुई और यहाँ की भाषा को उनकी भाषा द्वारा प्रभावित होना अनिवार्य हो गया। राजा शिवप्रसाद ने कहा है, "संस्कृत की गौरव-गरिमा तो हिन्दू-साम्राज्य के अस्त होने के साथ ही लुप्त होने-सी लगी थी। अरबी, तुर्की और फ़ारसी, जो मुसलमान शासकों की भाषा थी, मुसलमान सैनिक अपने साथ लाये थे, उनका सम्मिश्रण क्रमशः भारत की प्रान्तीय भाषाओं में हुआ। फ़ारसी को राज-दरबार की भाषा बनाने का सौभाग्य मिलने से इस सम्मिश्रण में और भी सुगमता हुई।" विदेशी भाषाओं के संसर्ग से आधुनिक हिन्दी की जन्मदात्री ब्रज-भाषा का भी काया-पलट हुआ और उसके रूप में भी परिवर्तन स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा। 'हिन्दी' का 'हिन्दी' नामकरण मुसलमानों ने ही मेरठ-देहली के आस-पास की बोल-चाल की भाषा के आधार पर किया था।

'हिन्दी' अथवा यह मिश्रित भाषा, जो भारतीय और मुसलमानी भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी, अपनी परिपक्व अवस्था को १३वीं शताब्दी में पहुँची। अमीर खुसरो के हिन्दी खड़ी बोली के कुछ उदाहरण उस काल की भाषा की व्यवस्थित रूप-रेखा के ज्वलन्त उदाहरण हैं :—

'चार महीने बहुत चलें और महीने थोरी।
अमीर खुसरो यों कहे तू बता पहेली मोरी॥'

× × ×

'गोरी सोवै सेज पै, मुख पै डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥'

पंद्रहवीं शताब्दी में प्राकृत, अरबी, फ़ारसी के साथ-ही-साथ हिन्दी में ग्रामीण शब्दावली का भी आविर्भाव हुआ और 'कबीर' इत्यादि संत-कवियों ने विशुद्ध खड़ी बोली के उदाहरण साहित्य में प्रस्तुत किए :—

'साहब के दरबार में कमी काहु की नाहिं ।
बन्दा, मौज न पावही, चूक चाकरी माँहि ॥'

कबीर की कविता के उक्त उदाहरण से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में हिन्दी-भाषा से प्राकृत का प्रभाव कम होकर अरबी और फ़ारसी का प्रभाव बढ़ने लगा था। 'हिन्दवी' भाषा फ़ारसीमयी होती जा रही थी। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जहाँ शासन के प्रभाव से हिन्दवी पर मुसलमानी प्रभाव जम रहा था, वहाँ दूसरी ओर १६वीं शताब्दी में न्यूनाधिक परिमाण में 'हिन्दवी' में कविता करने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों कवियों ने ब्रज भाषा का भी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु हिन्दी-गद्य का वास्तविक श्रीगणेश हमें अंग्रेजी-शासन-काल की १६वीं शताब्दी में ही देखने को मिलता है। १६वीं शताब्दी से पूर्व का जो गद्य प्राप्त होता है वह भाषा के इतिहास में रचना-विचार से महत्त्वपूर्ण अवश्य है, परन्तु साहित्य की देन के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पृथ्वीराज के समय के पूर्व गोरखनाथ के लेख, भक्तिकालीन 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' इत्यादि गद्य के उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं।

हिन्दी-गद्य की नींव रखने वाले वास्तव में सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल जी और सदल मिश्र हैं। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' का मूल उर्दू लिपि में होने पर भी उसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी गद्य के ऐतिहासिक विकास-क्षेत्र में इंशा अल्ला खाँ का स्थान अमिट है। इंशा के पश्चात् लल्लू लाल और सदल मिश्र ने 'सिंहासन-बत्तीसी', 'प्रेम-सागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' गद्य में लिखे। हिन्दी-गद्य के 'आदि-काल' में इनके पश्चात् राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का नाम उल्लेखनीय है।

उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त इस काल में कुछ ईसाई मिशनरियों ने भी अपने धर्म-प्रचार के लिए हिन्दी-गद्य को अपनाया। बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद हुआ और उसका जनता में प्रचार किया गया। यह अनुवाद १८१८ ई० में हुआ। ईसाई पादरियों ने भारत के कुछ प्रमुख नगरों में अपने स्कूल स्थापित किये और उनके लिए हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई गईं। आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर, कानपुर इत्यादि उनके प्रधान केन्द्र बने। ईसाई धर्म के साथ ही-साथ भारत में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपना प्रधान धर्म-ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी-गद्य में लिखा। हिन्दी-गद्य के इस प्रारम्भिक काल में आर्य-समाज द्वारा भी हिन्दी-प्रचार को विशेष सहयोग प्राप्त हुआ।

२. भारतेन्दु-युग—हिन्दी-गद्य के उत्थान में उक्त प्रारम्भिक विकास के पश्चात् हम सीधे भारतेन्दु-काल तक आ जाते हैं, जिसमें भाषा के साथ-साथ साहित्य का भी विकास हुआ।

भारतेन्दु युग को हम हिन्दी गद्य का बाल्य-काल मानते हैं। इस काल में जो गद्य लिखा गया उसमें व्याकरण-सम्बन्धी दोष थे अशुद्धियाँ थीं, भाषा में परिमार्जन नहीं आ पाया था, वाक्य अधूरे और अटपटे रह जाते थे और यदि यह कह दिया जाय कि भाषा ने निश्चित रूप धारण नहीं किया था तो कुछ अनुचित न होगा। ऐसी भाषा में ठोस विषयों पर वैज्ञानिक लेख नहीं लिखे जा सकते थे, परन्तु फिर भी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाल कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा अम्बिका दत्त व्यास इत्यादि ने कुछ सुन्दर लेख लिखे हैं। जहाँ तक निबन्ध के प्रारम्भिक इतिहास का सम्बन्ध है, ये लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु उनकी तुलना हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि के निबन्धों के साथ नहीं कर सकते।

३. द्विवेदी-युग (महावीरप्रसाद द्विवेदी का समय)—इस काल में भाषा ने अपने व्याकरण-सम्बन्धी दोषों को दूर किया। अपना एक परिमार्जित स्वरूप बनाया और उसके शुद्ध निखरे हुए स्वरूप पर लालायित होकर विद्वानों ने अपनी लेखनी उठाई। इस काल में छापेखानों का भी प्रचार बढ़ा हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं और उनके सहयोग से विद्वानों को एक दूसरे के विचारों में पैठने का सुगम मार्ग दिखलाई दिया। इस काल में नाटक, निबन्ध, कहानियाँ, उपन्यास इत्यादि सभी दिशाओं में साहित्य ने प्रगति की। गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा माधवप्रसाद मिश्र इस काल के प्रमुख लेखक हैं।

४. नवीन युग (वर्तमान काल)—वर्तमान काल में भाषा से व्याकरण और भाषा-सम्बन्धी अन्य दोष दूर हो गये। भाषा में शक्ति आ गई और उसमें किसी भी प्रकार के विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ स्पष्ट रूप से खोल कर लिखा जाने लगा। इस काल में भाषा की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। यों तो इन शैलियों की रूपरेखा प्राचीन काल से ही अपने बिगड़े-सुधरे रूप में चलती चली आ रही थी, परन्तु इस काल में आकर उन शैलियों ने अपना-अपना स्पष्ट रूप धारण कर लिया। इस काल में अंग्रेजी साहित्य का हिन्दी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, बहुत से विषय अंग्रेजी से हिन्दी में लिये गये और उन पर अनेकों ग्रन्थों की रचनाएँ हुई, अनुवाद तथा मौलिक दोनों ही रूप में। बँगला-साहित्य का भी प्रभाव हिन्दी पर कम नहीं पड़ा। द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों को हिन्दी में अनुवाद करने के पश्चात् अपना लिया गया। बंकिम, शरत् और टैगोर की हर रचना को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया। वे बड़े चाव से पढ़ी भी गई और आज वे हिन्दी की अपनी रचनाएँ बन गई हैं।

पं० पद्मसिंह शर्मा, बाबू श्यामसुन्दर दास, जयशंकर 'प्रसाद' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुंशी प्रेमचन्द, गुलाबराय एम. ए., जैनेन्द्रकुमार, रामनाथ 'सुमन', हजारीप्रसाद द्विवेदी, राय कृष्णदास, धीरेन्द्र वर्मा, डा० रसाल, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुदर्शन, नलिनीमोहन सान्याल, भगवतीचरण वर्मा, 'उग्र', डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, यशदत्त शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, अमृतलाल नागर, नरोत्तमप्रसाद नागर, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, डा० रामरतन भटनागर, डा० 'राकेश' गुप्त

प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामचरण महेन्द्र, डा० नगेन्द्र, विजयेन्द्र स्नातक, प्रो. सुरेश चन्द्र, गिरजा दत्त शुक्ल गिरीश, ललिता प्रसाद शुक्ल, प्रभाकर माचवे, राहुल, अज्ञेय, रामचन्द्र सुमन, डा० रामकुमार वर्मा इत्यादि लेखकों का इस काल के गद्य-लेखन में प्रधान सहयोग है। आप लोगों की रचनाएँ अपने परिमार्जित रूप में सामने आई हैं और उनमें वर्तमान काल के विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

५. गद्य-विवेचन—आज का हिन्दी-गद्य, इसमें सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा काफी निखरे रूप में और गाम्भीर्य के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर है, परन्तु फिर भी उसमें अभी अनेकों विषयों को अपने अन्दर खपा लेने की क्षमता अधूरी दिखाई देती है। हिन्दी-गद्य का जो विकास हुआ है, वह प्रधानतया कहानी, उपन्यास और नाटक, इन्हीं तीन धाराओं में मिलता है। कुछ और आगे चल तो गद्य-काव्य, कुछ इतिहास, कुछ निबन्ध तथा कुछ गाथाएं लिखी हुई आपको मिल जायेंगी। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर न तो लेखकों ने लिखने का प्रयत्न ही किया है और न पाठकों ने प्रकाशकों को ही किसी प्रकार की प्रेरणा दी है। अन्य विषयों को हिन्दी-गद्य अपने हाथों में न सँभाल सका। इसका एक दूसरा कारण यह भी रहा कि पहले हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं थी और स्कूल कालिजों में पढ़ाई जाने वाली अन्य विषयों की सब पुस्तकें अंग्रेजी में ही पढाई जाती थीं। इसलिए हिन्दी गद्य-साहित्य अधिक उन्नति न कर सका।

ऊपर कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-गद्य का विकास प्रधानतया ललित-कलाओं के ही रूप में हुआ और लेखकों ने भी प्रधानतया अपनी शक्ति को उसी दिशा में लगाया। इस काल में यदि और विषयों पर भी कुछ लिखा गया है तो उसमें भी ललित-कला की ही पुट मिलती है। निबन्ध, लेख, इतिहास, जीवनियाँ कोई भी उस प्रभाव से वंचित नहीं रह पाया।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ और उसके पश्चात् हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त हुआ। राष्ट्र-भाषा बनने पर लेखकों और प्रकाशकों का ध्यान इस दिशा में गया। इसके पश्चात् भूगोल, राजनीति, नागरिक शास्त्र, व्यंग-विनोद, बाल-मनोविज्ञान, शिक्षण, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान, लोक-साहित्य, जीव-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, कृषि-विज्ञान, समाज-शास्त्र, टैक्निकल साहित्य, काम-विज्ञान, आत्म-विकास सम्बन्धी साहित्य, बाल-साहित्य तथा प्रौढ़-साहित्य की रचना हुई। इन सभी दिशाओं में आशातीत उन्नति दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी गद्य में काफी सफलता के साथ इन सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे और छपे हैं।

६. निबन्ध-रचना—निबन्ध गद्य का एक विशेष अंग है, जो न भावनाओं में बहकर लिखा जाता है और न उसमें कल्पना के ही घोड़े दौड़ाये जाते हैं। निबन्ध-लेखक का भाषा, शब्दावली और विचारों पर समान अधिकार होना आवश्यक है। अच्छे निबन्ध में न व्यर्थ के शब्दों का जाल-जंजाल होना चाहिए और न कल्पनाओं का चमत्कार ही, वहाँ तो वास्तविक सत्य को उचित शब्दों में गूँथकर नपे-

तुले विचारों का सामंजस्य करना होता है।

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य संस्कृत-साहित्य की देन न होकर पूर्णतया अंग्रेजी की देन है, यह स्वीकार करने में भारतीयता-प्रेमियों को संकोच नहीं होना चाहिए। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के निबन्धों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता। निबन्ध शब्द का अर्थ प्राचीन साहित्य में जोड़ने या बाँधने से था। आजकल इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी (Essay) के लिए होता है। 'निबन्ध' का अर्थ केवल परिभाषा में यही समझ लिया गया है कि यह साहित्य का वह अंग है जो विचारों, भावों और उनके स्पष्टीकरण को एक सूत्र में बाँध ले। लेख, प्रबन्ध और निबन्ध ये तीनों शब्द अर्थों में कुछ-न-कुछ समानता रखते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि निबन्ध से प्रबन्ध शब्द अधिक व्यापक है और प्रबन्ध से लेख और भी अधिक व्यापक।

'रचना' शब्द अपने अन्दर वही अर्थ रखता है जो अंग्रेजी शब्द कम्पोजीशन (Composition) का है। शब्दों का वाक्य में वह गठन, जिसका अर्थ स्पष्ट हो और सुगमता से समझ में आ सके, 'रचना' कहलाता है। इसीलिए यह शब्द ऊपर दिये गये सभी शब्दों के साथ प्रयुक्त हो सकता है जैसे—प्रबन्ध-रचना, कविता-रचना इत्यादि।

अध्याय २

निबन्ध-रचना

७. **निबन्ध की परिभाषा**—वर्तमान निबन्ध की परिभाषा प्राचीन परिभाषा से पूर्णतया भिन्न है। प्राचीन निबन्धों में हमें लेखक की किसी विषय अथवा विष-यांश पर अपूर्ण विचारावली मिलती है। न उनमें सुगठन है और न किसी प्रकार का परिमार्जन ही। एक प्रकार के छिछलेपन के साथ-साथ भावनाओं का बहाव मिलता है। परन्तु आज के लेखक के विचार सन्तुलित होकर चलते हैं, न उनमें भावों का बहाव है और न विषय का एकांगी विवेचन ही। आज का लेखक विषय पर पूर्ण गठन के साथ नपी-तुली विचारावली से नपे-तुले शब्दों में निबन्ध की रचना करता है। न वह विषय से बाहर निकल कर दृष्टान्तों की ओर भागता फिरता है और न शब्दों के जाल-जजाल में व्यर्थ का चक्कर लगाने का ही उसके पास समय है। वह तो थोड़े शब्दों में केवल अपने सम्पूर्ण ज्ञान को एकत्रित करके अपनी बात भर कह देना चाहता है। अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार डाक्टर जॉन्सन के शब्दों में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार है :—

"मानसिक विश्व का 'निबन्ध' वह थका हुआ बुद्धि-विलास है, जिसमें न कोई क्रम है और न कोई नियम। यह विचारों की अधूरी और अव्यवस्थित रचना-मात्र है।"

परन्तु आज के जगत् में डाक्टर जॉन्सन की ऊपर की दी गई परिभाषा केवल अधूरी ही नहीं सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो चुकी है। आज निबन्ध परिभाषा इसके पूर्णतया विपरीत है। 'निबन्ध उसी को कहते हैं जिसमें किसी भी विषय पर विचारों का परिमार्जित स्पष्टीकरण लेखक ने किया हो।' निबन्धों में प्रधानतया व्यक्तिगत विशेषता रहती है परन्तु बनावटी वातावरण उपस्थित करके नहीं, पूर्ण स्वाभाविकता के साथ; बस, यही लेखक की शैली का गुण माना जायगा। निबन्ध में विचारों की शुष्कता और दुरूहता भी इतनी अधिक न हो कि वह पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच ही न सके। हरिहर नाथ टण्डन निबन्ध के विषय में लिखते हैं :

"निबन्ध लिखना अभ्यास से आता है। निबन्ध, लेखक के ज्ञान की कसौटी है। उथला या पाण्डित्य-प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। अतः थोड़े से अत्यन्त चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रगट करने के प्रयत्न को निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक सभी निबन्ध के विषय हो सकते हैं।"

निबन्ध के लिए यह आवश्यक है कि पूरे निबन्ध का रूप एक ही हो। प्रत्येक निबन्ध के आदि, मध्य और अन्त का विभाजन ठीक-ठीक होना चाहिए। निबन्ध का आरम्भ ऐसे सुन्दर ढंग से होना चाहिए कि उसे पढ़ते ही पढ़ने वालों की उत्सुकता बढ़े और वह आप-से-आप उसे पूरा पढ़ डालने के मोह को संवरण न कर सकें। इसके अतिरिक्त लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पाठक ज्यों-ज्यों उसके निबन्ध को पढ़ता चले, उसे आरम्भ से ही ऐसी सामग्री मिलती चले कि उसकी यह धारणा बन जाय कि उसे इस लेख में मौलिक ढंग से लिखी हुई कुछ मनोरंजक और विचारपूर्ण बातें पढ़ने को मिलेंगी। निबन्ध का मध्य निबन्ध का सबसे अधिक विस्तृत भाग होता है। आदि से इसका सम्बन्ध होना चाहिए और इसके सभी सिद्धान्त, सभी वाक्य एक-एक करके निश्चित परिणाम की ओर झुके हुए होने चाहिएँ।

निबन्ध के मध्य में ही लेखक पाठक को अपने तर्क समझाने का प्रयत्न करता है। निबन्ध के अन्तिम अंश के सम्बन्ध में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि निबन्ध अनायास न समाप्त हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो पाठक को रुचिकर न होगा और वह उसकी शैली को दूषित प्रमाणित करेगा। निबन्ध की समाप्ति ऐसी होनी चाहिए कि उसे समाप्त कर देने पर भी उसकी विचारधारा के मूल भाव पाठक के मन में बार-बार आते रहें। वह निबन्ध अत्यन्त सफल माना जाता है जिसका अन्त ऐसा हो कि पाठक का ध्यान एक बार फिर लेखक के तर्कपूर्ण संगत भावों की ओर आकर्षित हो जाय और वह गुण और दोष दोनों के सम्बन्ध में अपना एक निश्चित मत दे सके।

"निबन्ध के आदि, मध्य और अन्त तीनों को पदों में शीर्षकों के अनुसार विभाजित करना चाहिए। पद चाहे बड़े हों या छोटे, सबका सम्बन्ध एक-दूसरे से होना चाहिए। पदों में छोटे और बड़े दोनों प्रकार का प्रयोग आवश्यकतानुसार होना चाहिए। जहाँ बात समझानी हो या विषय कठिन हो, वाक्य का लम्बा हो जाना कोई दोष नहीं है। केवल छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से निबन्ध में अस्पष्टता आ जाने की सम्भावना बनी रहती है। समय और स्थान के अनुसार दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना उचित होगा।"

८. निबन्ध की आवश्यकता—किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यदि पाठक उस विषय पर एक-दो निबन्ध पढ़ लेता है तो उसे इच्छित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। एक विषय पर एक पुस्तक भी लिखी जा सकती है और एक निबन्ध भी। अनुभवी लेखक एक छोटे से निबन्ध में एक मोटी पुस्तक की सभी बातों को संक्षेप में इस प्रकार लिख देता है कि योग्य पाठक उसे पढ़कर अपना सब मतलब हल कर सके और उस विषय का उसका ज्ञान कम समय में पूर्ण हो जाय। इस प्रकार निबन्ध, एक लेखक और पाठक के बीच का वह माध्यम है जिसके द्वारा किसी विषय पर लेखक की विचारपूर्ण जानकारी से पाठक लाभ उठा सकता है। निबन्ध की यही

आवश्यकता है और निबन्ध-लेखक का यही आशय है। केवल जानकारी ही नहीं, इसके अतिरिक्त लेखक पाठक के हृदय मे खोज करने और देखने-भालने की जिज्ञासा भी उत्पन्न कर देता है। मान लो एक पाठक ने एक निबन्ध पढा, जो कि लेखक ने आगरे के ताजमहल पर लिखा है। यह लेख पाठक को बहुत पसन्द आया और उसके हृदय मे ताजमहल को जाकर देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। इस प्रकार निबन्ध मानव-ज्ञान की वृद्धि में एक विशेष साधन भी है और उसका सहायक साध्य भी।

निबन्ध से हम यह सीखते हैं कि किस प्रकार हम अपनी मानसिक शक्तियों को सीमित करके उनका विकास करें? एक व्यक्ति यदि चाहे कि वह सभी चीजों को अपनी आँखो से देख सके, तो यह उसके लिए असम्भव है। निबन्धों के द्वारा व्यक्ति को दूसरे के अनुभवो से वही लाभ होता है जो वह अपने अनुभव से प्राप्त कर सकता है। इसमें उसका समय कम लगता है और थोड़े समय में वह निबन्धों की सहायता से बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

९. निबन्ध का क्षेत्र—निबन्ध के विषय पर विचार करते समय हमें यह पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए कि इसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। निबन्ध अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र है। यह हर विषय पर लिखा जा सकता है। कहानी हर विषय पर नहीं लिखी जा सकती, कविता हर विषय पर नहीं लिखी जा सकती, उपन्यास हर विषय पर नहीं लिखा जा सकता परन्तु यह एक निबन्ध है कि उसके लिए किसी भी दिशा में कोई रुकावट नहीं। यह अपने नपे-तुले शब्दों में तार्किक तथा वास्तविक दृष्टिकोण में हर विषय पर लिखा जा सकता है। पृथ्वी से लगाकर आकाश तक जितनी भी वस्तुएँ हैं, चाहे वे आँख से दिखलाई देती हों या न देती हों, चाहे वे साक्षात् कुछ वस्तु हो या केवल मानव की विचारधाराएँ-मात्र हो, सभी पर निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यदि यह कह दिया जाय कि इसके क्षेत्र मे कोई ऐसी वस्तु या विषय नहीं जो न आ सके तो उचित ही होगा। कोई भी छोटे-से-छोटा विषय निबन्धकार को आकर्षित कर सकता है और उस छोटे-से विषय पर सुन्दर-से-सुन्दर निबन्ध लिखा जा सकता है।

१०. प्रारम्भिक नियम—किसी भी निबन्ध के विद्यार्थी को पहले चाहिए कि वह ऐसे विषयो पर निबन्ध लिखना प्रारम्भ करे जिन विषयो से उसका निकटतम सम्बन्ध हो, जिन विषयो का उसे आद्योपान्त ज्ञान हो और जिनका विश्लेषण वह बहुत सुगमतापूर्वक कर सके। यदि उस विषय पर लेखक का ज्ञान अपूर्ण है तो उसका निबन्ध कभी पूर्ण नहीं हो सकता और पाठक पर भी उसके कहने का कोई प्रभाव नहीं पड सकता। निबन्ध के विद्यार्थी को चाहिए कि वह उन विषयों को छाँटे जिनका उसके नित्य के जीवन से सम्बन्ध रहता है। उन विषयों का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और किस प्रकार वे विषय उसके जीवन में आते हैं, यह स्पष्ट करना चाहिए। जब ऐसे निबन्ध लिख चुके तो चाहिए कि वह कुछ गूढ़ विषयों को ले,

और लिखने से पूर्व उन विषयों पर अन्य लेखकों के लिखे गये लेख अथवा निबन्धों को पढ़े। उन्हें पढ़ने के उपरान्त यह विचार करे कि उन विषयों के साथ कितना न्याय और कितना अन्याय किया गया है। फिर एक विचारशील व्यक्ति के नाते न्याय और अन्याय की काट-छाँट करके अपना निबन्ध लिखना आरम्भ करे। जो निबन्ध इस प्रकार लिखा जायगा वह सर्वश्रेष्ठ लेखो की कोटि में गिना जायगा। यों ही कलम लेकर किसी भी विषय पर कुछ घसीट डालना, लेख लिखना अथवा निबन्ध लिखना नहीं कहलाता, केवल धोखा है, अपने लिए और अपने पाठकों के लिए भी।

११. निबन्ध का नामकरण—निबन्ध के नामकरण की समस्या उतनी जटिल नहीं जितनी नाटक, कविता, उपन्यास अथवा कहानी के नामकरण की होती है। कारण स्पष्ट ही है कि निबन्ध का पहले विषय चुना जाता है और फिर निबन्ध लिखा जाता हैं। सौ में निन्यानये प्रतिशत यही होता है और कविता, कहानी इत्यादि में पहले रचना हो जाती है तथा बाद में नाम की खोज करनी होती है। इसलिए नामकरण का प्रश्न निबन्ध के क्षेत्र में बहुत सुगम है, अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। नाम में निबन्ध का पूर्ण अर्थ निहित रहता है।

१२. निबन्ध का ढाँचा—निबन्ध का रूप एक वृक्ष के समान यदि मान लिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा। जिस प्रकार वृक्ष के साधारणतया सभी अङ्ग आवश्यक होते हैं उसी प्रकार निबन्ध के भी। यदि लेखक ने किसी विषय पर निबन्ध लिखते समय किसी प्रधान अङ्ग को छोड़ दिया तो निबन्ध अधूरा रह जायगा। जिस प्रकार पेड़ के जड़ होती है, तना होता है, टहनियां होती हैं, शाखाएँ होती हैं और फिर पत्ते तथा फल-फूल इत्यादि होते हैं; उसी प्रकार निबन्ध के भी भाग और उपभाग होते हैं। इनमें से यदि किसी के साथ भी लेखक ने न्याय नहीं किया तो लेख की उपयोगिता और उसका सौन्दर्य दोनों ही जाते रहेंगे। इसलिए निबन्ध-लेखक को चाहिए कि वह निबन्ध-रचना करने से पूर्व विषय का पूर्ण रूप से विश्लेषण करले और फिर क्रम से विषय के अङ्ग-उपाङ्गों पर विचार करे। कुशल लेखक को चाहिए कि लेख के किसी छोटे अङ्ग पर विशेष जानकारी होने के कारण उसे तूल न दे और जानकारी के अभाव में किसी प्रधान अङ्ग को यों ही न छोड़ दे। लेखक को चाहिए कि वह विषय के अङ्ग-उपाङ्गों की विशेषताओं को पूरी तरह समझे और फिर उन पर विचारपूर्वक आवश्यकतानुसार खोजपूर्ण प्रकाश डाले।

१३. निबन्ध लिखने का ज्ञान—लेखक के पास निबन्ध लिखने का ज्ञान प्राप्त करने के कई साधन हैं। सबसे पहला साधन, जो उसके पास हर समय रहता है वह है उसकी पुस्तकें। पुस्तकों के द्वारा लेखक को प्राचीन काल तक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्राचीन काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुस्तकों से अच्छा लेखक के पास और कोई साधन नहीं है।

लेखक के पास दूसरा साधन है 'भ्रमण'। देश-देशान्तरों का भ्रमण, प्राचीन इमारतों को देखना, प्राचीन तथा नवीन शहरों की सैर करना, दूर के नगरों में जाना,

वहाँ की भाषा, रहन सहन और व्यवहार का पता चलाना और उससे पूरा मिलकर उनका अनुभव प्राप्त करना। यह दूसरा साधन पहले से छोटा अवश्य है परन्तु यह अधिक वास्तविक है और ज्ञान-वृद्धि के लिए प्रत्यक्ष वस्तु को लाकर लेखक के सामने प्रस्तुत कर देता है। इसके द्वारा लेखक को निजी अनुभव प्राप्त होता है, जो सर्वदा सुनी और पढ़ी बातों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना गया है, और माना जायगा।

तीसरा साधन है लेखक की पैनी दृष्टि और उसकी कल्पना। जिसके आधार पर वह बहुत सी वस्तुओं को देखकर अपने अनुभवों द्वारा कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो साधारण जगत् के व्यक्ति नहीं कर सकते। सत्सग भी ज्ञान-प्राप्ति का चौथा साधन है, परन्तु यह ऊपर दिये गये दूसरे साधन के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि भ्रमण मे व्यक्ति सत्सग भी करेगा और कुसग भी, और उसे दोनों ही प्रकार का अनुभव भी प्राप्त होगा।

१४. निबन्ध के प्रमुख अंग—निबन्ध के प्रधानतया तीन प्रमुख अङ्ग माने गये है, या यो भी कह सकते है कि एक अच्छे निबन्ध का यदि विच्छेदन किया जाय तो उसे तीन प्रधान अङ्गो में बाटा जा सकता है—(१) प्रस्तावना, (२) प्रसार और (३) परिणाम।

१५. प्रस्तावना (Introduction)—प्रस्तावना मे एक पटु लेखक लेख की ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हो जाय और लेख के प्रधान तत्वो की सुनहली झाँकी प्राप्त कर सके। प्रस्तावना मात्र को ही पढकर लेखक की योग्यता का अनुमान किया जा सकता है। प्रस्तावना को व्यापारिक शब्दावली में लेख अथवा निबन्ध की बानगी कहना चाहिए। इस बानगी से ही लेख का रहस्य खुल जाता है। आजकल सिनेमा का बहुत बोल-बाला है। इसलिए सिनेमा की शब्दावली मे ट्रेलर का जो महत्त्व है, समझ लीजिए कि निबन्ध में प्रस्तावना का उससे किसी दशा में कम महत्त्व नही है। प्रस्तावना बहुत सन्तुलित शब्दावली मे, सुबोध वाक्यो मे, सरल प्रवाह के साथ बहती हुई 'प्रसाद' गुण वाली होनी चाहिए। प्रस्तावना बहुत अधिक लम्बी भी नही होनी चाहिए। वह इतनी लम्बी न हो कि पाठक उससे ऊबकर निबन्ध ही पढने का साहस न कर सके। इसमे आकर्षण और सुरुचि की विशेष आवश्यकता है। निबन्ध प्रस्तावना से प्रारम्भ होता है।

१६. प्रसार—'प्रसार' लेख का प्रधान अग है। इसी के आधार पर प्रस्तावना और परिणाम अपना अस्तित्व कायम रखते हैं। यदि यह न हो तो लेख ही समाप्त हो जाय। जिस प्रकार किसी मनुष्य के सिर और पैरों को सँभालने के लिए उसके धड़ का होना अनिवार्य है उसी प्रकार प्रस्तावना और परिणाम को मिलाने के लिए बीच के प्रसार की आवश्यकता है। निबन्ध की सफलता और असफलता प्रधानतया इसी पर अवलम्बित है। विषय का विश्लेषण निबन्ध के इसी भाग के अन्तर्गत होना है। लेखक की योग्यता और प्रतिभा का प्रतीक भी यही अंश है, दूसरे अंशों से तो केवल झाँकी मात्र ही मिल पाती है, पूरा पता नही चलता। निबन्ध के इस भाग पर लेखनी

उठाने से पूर्व लेखक को चाहिए कि पहले वह विषय की पूरी जानकारी प्राप्त कर ले और विषय का पूर्ण विभाजन करके संकेतों को किसी कागज पर अंकित कर ले। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका लेख इधर-उधर अस्त-व्यस्त धाराओं में बहने लगेगा और फिर इन सभी धाराओं का परिमार्जन करना उसकी शक्ति-सीमा से दूर की बात बन जायगा। फिर उसी लेख के सब तत्त्वों को एकत्रित करने में कठिनाई होगी और लेख बेडौल होकर भद्दा दिखने लगेगा। इसलिए लेखक को चाहिए कि वह पहले लेख की रूपरेखा निश्चित करे। इस रूपरेखा को खूब विचारकर निश्चित करना चाहिए और निश्चित करने के पश्चात् संकेतों पर एक बार फिर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। इस बीच में यदि कोई फिर नई बात आ जाय तो उसे भी लिख लेना चाहिए। रूपरेखा के सभी संकेत क्रमबद्ध होने चाहिएँ। उनका सिलसिला टूट जाने पर निबन्ध का सौंदर्य नष्ट होने की सम्भावना रहती है। प्रधान विचार और गौण विचार एक नियम के साथ आपस में सम्बन्धित रहने चाहिएँ। प्रत्येक विचार को पृथक्-पृथक् स्थान देना चाहिए न कि सबको एक ही अनुच्छेद में ठूँसकर भर दिया जाय।

प्रधान विचारों का स्पष्टीकरण भी अधिक बलशाली होना आवश्यक है। उनके सिद्ध करने को प्राचीन लेखों के उद्धरण और लोकोक्तियों तथा मुहावरों की सहायता लेना उपयुक्त रहता है। जिस मत का निबन्धकार प्रतिपादन करना चाहता है उसे समझ-सोच कर करना चाहिए। बिना विचारे लिखने से लेखक अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। निबन्ध में उतार-चढ़ाव आना आवश्यक है, परन्तु वह उतार-चढ़ाव बिलकुल ऊबड़-खाबड़ भूमि की भाँति न बन जाना चाहिए, कि जिस पर चलकर पाठक मार्ग ही भूल जाय; चलते-चलते अपनी टाँगें भी तुड़ा बैठे और किसी निश्चित स्थान पर न पहुँच सके। इस उतार-चढ़ाव के पश्चात् राही को उसका लक्षित स्थान भी दृष्टिगत होना चाहिए।

१७. परिणाम (Conclusion)—यह निबन्ध का अन्तिम भाग होता है और उसका महत्त्व निबन्ध के प्रारम्भिक भाग से किसी प्रकार कम नहीं होता। जिस प्रकार प्रस्तावना को पढ़कर लेखक के हृदय में निबन्ध पढ़ने की जिज्ञासा बलवती होती है उसी प्रकार इस भाग को पढ़कर लेखक को यह अनुभव होना चाहिए कि उस विषय का जितना भी ज्ञान है वह सब पाठक प्राप्त कर चुका और अब उस विषय पर कोई भी बात जाननी उसके लिए शेष नहीं रही। यदि यह भाग पढ़ने के उपरान्त भी पाठक के मन को शान्ति न मिल सकी, उसकी जिज्ञासा बराबर बनी रही और उसने यह अनुभव किया कि अभी भी उसका ज्ञान उस विषय पर अपूर्ण ही है, तो यह निबन्ध की कमजोरी मानी जायगी। इस भाग में लेखक अपने समस्त लेख का निचोड़ निकाल कर रखता है। यदि यह कह दिया जाय कि यह उसका संक्षिप्त निबन्ध ही होता है तो भी बात ठीक ही है और यही 'परिणाम' लिखने का सबसे सुगम ढंग भी है। कुछ लेखक निबन्ध के अन्त में उपदेशात्मक प्रवृत्ति ग्रहण कर लेते हैं। यह प्रवृत्ति एक ठोस लेखक के लिए अधिक उपयुक्त नहीं मालूम पड़ती और इस प्रकार के लेखों को

पढ़कर समझदार पाठकों मे एक खिझन सी पैदा हो जाती है। धार्मिक निबन्धों म महात्माओ द्वारा लिखे जाने पर यह प्रवृत्ति कभी-कभी [illegible] होती है और [illegible] लोग उन अशो को पढकर बडे प्रेम से गरदन हिला-हिला कर प्रशसा करते हैं। [illegible] से लेखक परिणाम का भार पाठको पर ही छोड़ देते हैं। [illegible] प्रतिपादन-मात्र करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और इसके अतिरिक्त [illegible] नही। यह ढग भी सुन्दर है, इसमे पाठको को स्वय विचार करने के लिए स्वतन्त्रता मिल जाती है और इस प्रकार उनके मस्तिष्क का भी कुछ विकास होता है।

निबन्धों के प्रकार

१८. प्रकार—ऊपर हमने यह विचार किया है कि निबन्ध की क्या परिभाषा है, निबन्ध की क्या आवश्यकता है ? निबन्ध का क्या क्षेत्र है, निबन्ध [illegible] किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए, निबन्ध का नाम किस प्रकार रखा जाना चाहिए ? निबन्ध का ढांचा किस प्रकार तैयार करना चाहिए, निबन्ध की सामग्री जुटाने के लिए लेखक को किन-किन साधनो को प्रयोग मे लाना चाहिए ? और निबन्ध के कौन-कौन प्रमुख अङ्ग होते है ? अब हमे यह विचार करना है कि निबन्ध कितने प्रकार के लिखे जा सकते है या दूसरे रूप में यह समझिए कि आज तक लिखे गये निबन्धो को यदि हम विभाजित करे तो कितने प्रकार बन सकते हैं, अथवा उनके कितने भेद बनाये जा सकते है ? निबन्ध को हम पीछे कह चुके है कि यह निस्सीम है। साहित्य का अग अपना विस्तार किसी भी दिशा मे स्वच्छन्दता से कर सकता है। इसलिए ऐसी निस्सीम वस्तु को सीमा में बांधना कोई सरल कार्य नहीं, परन्तु फिर भी विद्वानो ने उसके प्रकार बनाने का प्रयत्न किया है और बहुत कुछ तक उसमे सफल भी हुए है। ये प्रकार तीन माने गये हैं —

(१) वर्णनात्मक निबन्ध, (२) व्याख्यात्मक या कथात्मक निबन्ध और (३) विचारात्मक निबन्ध।

१९. वर्णनात्मक निबन्ध—वर्णनात्मक निबन्ध वे निबन्ध कहलाते हैं जिनमे किसी वस्तु-विशेष, प्रकृति-विशेष, नदी-विशेष, पशु-विशेष इत्यादि का सजीव वर्णन किया जाय। इन निबन्धों मे वे विचार अथवा भाव लिये जाते हैं जिनकी प्राप्ति लेखक को अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा होती है। रेल, जहाज, तार, मोटर, बस, तोप, बन्दूक, नगर, ग्राम, किला, मन्दिर, मस्जिद, कुतुबमीनार, ताजमहल, [illegible] अर्थात् मनुष्य की बनाई, या प्रकृति की बनाई सभी वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार के निबन्धों के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के निबन्धों मे वस्तुओं तथा घटनाओं का वर्णन बहुत रोचक ढग से किया जाता है।

नोट—निबन्ध लिखने का ढंग हम ऊपर दे चुके हैं। विद्यार्थियों को चाहिए कि इस प्रकार के निबन्धों को लिखने में ऊपर दिये गये साधनों को ध्यान के साथ प्रयोग में लायें तो निबन्ध सुन्दर लिखा जायगा।

२०. कथात्मक निबन्ध—कथात्मक निबन्ध वे कहलाते हैं जिनमें प्राचीन अथवा अर्वाचीन सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं का वर्णन किया गया हो। इनमें ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, धार्मिक जीवनियाँ, यात्रा इत्यादि की कथाओं पर निबन्ध लिखे जाते हैं। वर्णनात्मक निबन्ध और व्याख्यात्मक निबन्ध में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर सत्य ही की मात्रा अधिक रहती है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही लिखा जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक कुत्ते का वर्णन किया जा रहा है तो उसके विषय में यह नहीं लिखा जा सकता कि उस कुत्ते की पाँच टाँगें थीं, तीन कान थे और दो मुँह थे; परन्तु जब कथात्मक लेख लिखा जा रहा है, तो उसमें लिखा जा सकता है कि वह देवताओं का कुत्ता था, जब वह दौड़ता था तो हवा में उड़ने लगता था और जब वह अपने शिकार पर झपटता था तो ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपने शिकार को चार मुँह से चीर-फाड़ रहा है, इत्यादि-इत्यादि। कथात्मक निबन्ध में कार्य और कारण का सम्बन्ध दिखलाकर एक घटना के बाद दूसरी घटना का क्रम से वर्णन करना चाहिए। कथात्मक निबन्ध की कथा को लिखते समय कथा के हर भाग को स्पष्ट करके लिखना चाहिए और कथा का तारतम्य कहीं पर भी टूटना नहीं चाहिए। आगे बढ़ने पर पिछली कथा को बार-बार संक्षिप्त रूप में सामने रखकर पाठक के मस्तिष्क में ताजा करते चलना चाहिए, जिससे पाठक को आने आगे वाली कथा समझने में कठिनाई न हो।

२१. विचारात्मक निबन्ध—विचारात्मक निबन्ध वे कहलाते हैं जिनमें किसी आकार-विहीन समस्या पर विचार किया जाय। उदाहरण के लिए जैसे क्रोध, लोभ, मोह, चिन्ता, दया, अहिंसा, जागृति, दीनता, दुर्बलता, बल, सौन्दर्य, कुरूपता, जिज्ञासा, अहंकार, नारी-शिक्षा, ममता, प्रलोभन, बेरोजगारी, पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, कविता, कला, निबन्ध-लेखन-कला, चित्रकारी, नाटक, नर्तन, परोपकार, देश-प्रेम, देश-द्रोहिता, व्यापार, आलोचना इत्यादि विषय विचारात्मक निबन्धों के ही क्षेत्र में आते हैं। इन विषयों का सम्बन्ध बुद्धि से है। निबन्धों को लिखते समय विषय का बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया जाता है और विवेचन द्वारा प्राकृतिक नियमों को खोजकर कुछ सिद्धान्त निश्चित करने होते हैं। फिर उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर लेखक अपने निबन्ध का मार्ग निर्धारित करता है। इस प्रकार निबन्ध लिखने में उसे कोई किसी प्रकार का स्थूल आश्रय नहीं मिलता, केवल बुद्धि के बल पर ही उसे अपना कार्य करना होता है। लेख लिखने से पूर्व लेखक को चाहिए कि वह विषय के मूल तत्त्वों की खोज कर ले, यदि वह ऐसा करने में असमर्थ रहा तो वह कुछ भी नहीं लिख पायगा और विषय ज्यों-का-त्यों रह जायगा। वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्धों में लेखक कुछ-न-कुछ बिना जानकारी के भी लिख सकता है, परन्तु विचारात्मक निबन्धों में यह नितान्त असम्भव है।

कुछ निबन्ध-कला के विद्वान् निबन्धों के तार्किक प्रकार की पृथक् रूपरेखा देते हैं, परन्तु ये विचारात्मक निबन्धों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि तर्क विचार

का एक ही तरीका है और बिना तर्क के सही विचार नहीं हो सकता। इसलिए तर्क-प्रधान लेखों को भी विचारात्मक निबन्धों की ही कोटि में गिना जाता है।

नोट—उक्त तीनों प्रकारों के अतिरिक्त कुछ विद्वान् निबन्धों का वर्गीकरण और अधिक उपवर्गों में बाँटकर भी करते हैं। जैसे विचारात्मक वर्ग के व्याख्यात्मक, तर्कात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक, इत्यादि उपवर्ग बनाये जा सकते हैं, परन्तु लेखक अपने निबन्ध में पूर्णतया किसी एक उपवर्ग तक सीमित नहीं रह सकता। उसके लेख में सभी की झलक न्यूनाधिक रूप में आ ही जाती है। इसलिए इस वर्गीकरण को हम अधिक तूल न देकर केवल तीन ही प्रधान प्रकारों तक सीमित रखते हैं।

अध्याय ३
निबन्ध लिखने की शैलियाँ

२२. शैली—जैसा कि हम ऊपर कह आये है, निबन्ध-रचना लेखक इस लिए करता है कि वह अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचा सके। इन विचारों को दूसरों के पास पहुँचाने के लिए लेखक को भाषा का आश्रय लेना होता है। बिना भाषा के निबन्ध नहीं लिखा जा सकता और जब निबन्ध ही नही लिखा जा सकता तो लेखक के विचार पाठक के पास तक नहीं पहुँच सकते। इससे यह निश्चय हुआ कि निबन्ध के लिए पहली आवश्यक वस्तु भाषा है।

निबन्ध लिखने के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु विषय है, जिस पर कि उसे प्रकाश डालना है। विषय के बिना भाषा भी व्यर्थ ही रहती है, क्योंकि जब लेखक के पास कुछ लिखने के लिए विषय ही नहीं है तो बेचारी भाषा क्या करेगी ? भाषा बिना विषय के व्यर्थ है।

इस प्रकार लेखक भाषा और विषय दोनों के सम्बन्ध से निबन्ध तैयार करता है और अपने विचारों को पाठकों तक पहुँचाता है।

निबन्ध लिखने में जो तीसरी वस्तु आती है; वह है लेखक की विषय छाँटने की रुचि और भाषा लिखने का ढंग। इन्हीं दो बातों के आधार पर लेख अथवा निबन्ध की शैली का निर्माण होता है। यहाँ हम यों भी कह सकते है कि लेख अथवा निबन्ध की शैली के विचार से निबन्ध को विषय अथवा उसकी भाषा के आधार पर ही बाँटा जा सकता है।

साहित्यिकों ने शैली का गूढ़ अर्थ भी लिया है। ऊपर जो हमने लिखा है वह हिन्दी के साधारण विद्यार्थियों का 'शैली' शब्द का परिचय और उसका साधारण अर्थ समझाने के लिए लिखा है। शैली का अर्थ है प्रणाली अथवा ढंग अर्थात् जैसे कोई रचना लिखी गई है। साहित्य में शैली विचारों के उस स्पष्टीकरण को कहते हैं जिस अभिव्यक्ति में विषय के अन्दर रोचकता, रमणीयता और आकर्षण पैदा हो जाय रीति, ध्वनि, अलंकार, शब्द-शक्ति इत्यादि ये सब शैली के ही सहायक अंग हैं और इन्हीं के बल पर शैली अपना निखरा हुआ रूप पाठकों के सामने रखती है।

शैली के सहायक अंग

२३. सहायक अंग—'शैली' के सहायक अंग—(१) अलंकार, (२) ध्वनि-

चमत्कार, (३) अर्थ-चमत्कार, (४) वाक्य-सोन्दर्य इत्यादि है। उनका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

(१) अलंकार—'शैली' के सौन्दर्य को बढाने मे बहुत सी बाते अपना महत्त्व रखती है। अलंकार भी उनमें से एक है। यदि कोई लेखक अपने लेख में केवल अलंकारों की ही भरमार करके यह विचार करने लगे कि बस वह एक सफल लेखक हो गया और उसने अपनी एक सुन्दर 'शैली' बना ली, तो यह उसका भ्रम मात्र ही होगा। किसी भी वस्तु का सतुलन के साथ आना ही सर्वदा सौन्दर्य का बढाता है और अधिक हो जाने पर सौन्दर्य नष्ट होने लगता है। इसलिए एक सफल शैलीकार सर्वदा उचित अलकारो का प्रयोग अपने निबन्ध की भाषा में करता है। इस प्रकार उसकी शैली मज भी जाती है और रोचक भी बन जाती है। "जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार अलकार भी भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि करते है, उसके उत्कर्ष को बढाते है और रस, भाव और आनन्द को उत्तेजित करते हैं।"

—बाबू श्यामसुन्दरदास

(२) ध्वनि चमत्कार—एक अच्छा लेखक हमेशा जिन शब्दों का प्रयोग करता है उन्हे वह पहले देखता है कि उनके लिखने पर कहीं कोई ध्वनि दोष उत्पन्न होकर वह भाषा कटु तो नही लगने लगेगी। सगीत का मानव-जीवन म एक विशेष स्थान है। सगीत-विहीन जीवन नीरस और शुष्क माना जाता है। न उसमे किसी प्रकार का लोच ही रहता है और न सहृदयता ही। इसका ध्वनि से विशेष सम्बन्ध है। इसलिए एक अच्छे लेख में अच्छी ध्वनि वाले शब्द प्रयुक्त होकर उस लेख की शैली को चार चाँद लगा देते हैं और लेख का सौन्दर्य बढ जाता है।

(३) अर्थ चमत्कार— बहुत से लेखक अपनी भाषा में ऐसे शब्दो का प्रयोग करते हैं कि जिनके कई-कई अर्थ निकलते है। एक-एक शब्द पर वे श्लेष रखते हैं और हर शब्द का अर्थ इतना महत्त्वपूर्ण बना देते हैं कि एक विद्वान् पाठक उस लेख को पढकर नाचने लगता है, उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है और उसका मन लेखक के प्रति श्रद्धा से झुक जाता है। इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग करना साधारण लेखक के बूते की बात नही। यह वही कर सकता है जिसे भाषा पर पूर्ण अधिकार हो और शब्दों के अनेक रूपों का इस प्रकार प्रयोग कर सकता हो जिस प्रकार साधारण लेखक साधारण शब्दों का प्रयोग करते हैं। महाकवि केशवदास और कवि-वर बिहारी अपने इसी गुण के कारण आज हिन्दी की प्रसिद्ध विभूतियों में ऊँचा स्थान पाये हुए हैं।

(४) वाक्य-सौन्दर्य—लेखक की वाक्य-योजना सुन्दर और गठी हुई होनी चाहिए। उसका हर वाक्य ऐसा होना चाहिए कि पाठक के नेत्रों के सम्मुख अपने कहे गये आशय का चित्र खड़ा करता चला जाय। एक वाक्य में अनेकों विचारों को सयाविष्ट नहीं करना चाहिए बल्कि एक ही विचार पर प्रकाश डालना चाहिए। यदि एक-एक वाक्य में कई-कई विचारों को ठूँसने का प्रयास किया जायगा तो सौन्दर्य तो

नष्ट हो ही जायगा, साथ ही अर्थ का भी अनर्थ हो जायगा और पाठक यह समझने में भी असमर्थ रहेगा कि लेखक का वास्तविक अभिप्राय क्या था ? वाक्य छोटे और स्पष्ट होने से निबन्ध का सौंदर्य बढ़ेगा ।

शैली के गुण और दोष

२४. शैली के गुण—शैली के सौंदर्य को बढ़ाने वाले जितने भी साधन ऊपर दिये गये हैं वे सभी शैली के गुणों से सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु उन सबका सीधा सम्बन्ध शैली के ऊपरी भाग से है, भीतरी भाग से नहीं । अब हम शैली की आत्मा को देखते हैं और इस विचार से भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर शैली के तीन प्रधान गुण माने जाते हैं । ये तीनों गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) ओज—जो रचना तेजस्वी हो, जिसे सुनकर अथवा पढ़कर भुजदंड फड़क उठें और शरीर में कँपकँपी आने लगे वह ओज-प्रधान रचना कहलाती है । इस शैली में उग्रता की प्रधानता रहती है और इससे वीर, वीभत्स और रौद्र रस का संचार होता है ।

(२) प्रसाद—यह शैली का दूसरा गुण है । इस गुण में सरलता प्रधान रूप से पाई जाती है और सभी रसों की रचनाओं में इस शैली का प्रयोग किया जा सकता है । इसके लक्षण हैं सरलता, सरसता और सुगमता ।

(३) माधुर्य—यह शैली का तीसरा गुण है । इस प्रकार की शैली में शृङ्गार, शान्त और करुण रस की रचनाएँ लिखी जाती हैं । यह माधुर्य-प्रधान शैली होती है और इसमें कटुता का आभास नहीं मिलता । यह वह शैली है जिसे पढ़कर पाठक आनन्द से खिल उठता है ।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार शैली के गुणों का विभाजन किया है । उनका विभाजन निम्नलिखित है :—

(१) सरलता—जब लेख को व्यापक बनाने के लिए लेखक सरल भाषा, सरल शब्द और सरल विचारों का प्रयोग करता है तो वह इस प्रथम गुण से युक्त शैली में लेख लिखता है । वह न पाठक को कठिन शब्दों के जाल में फँसाने का प्रयत्न करता है और न वाक्यों का ही ऐसा घुमा-फिराकर जाल बनाता है कि पाठक उनमें उलझकर यह तो कह उठे कि लेखक कोई पंडित है परन्तु उसके हाथ-पल्ले कुछ न पड़ सके ।

(२) स्वच्छता—इस शैली के अन्तर्गत लेखक अपने गूढ़-से-गूढ़ विचारों को इतनी स्पष्टता से खोल कर पाठक के सामने रखता है कि वह नित्य के जीवन में आने वाली साधारण घटनाओं की भाँति उन्हें समझ लेता है और समझने में कोई कठिनाई नहीं होती ।

(३) स्पष्टता—शैली का यह तीसरा गुण है, जिसके प्रभाव से लेखक पाठक के हृदय में घर कर लेता है; अपनी बात को उसकी बात बनाकर उसके हृदय में उतरता है । स्वच्छता के साथ स्पष्टता मिलाकर लेखक पाठक के बिलकुल निकट

पहुँच जाता है।

(८) प्रभावोत्पादकता—यह गुण शैली में उस समय पैदा होता है जब किसी लेखक की रचना इतनी महत्त्वपूर्ण बन जाय कि पाठक उसे प्रमाण जीवन पथ [illegible] प्रभावित होकर मार्ग-द्रष्टा के रूप में अंगीकार कर सके।

२५. शैली के दोष—शैली के सौंदर्य को कम करने वाले जितने भी कारण होते हैं वे दोष कहलाते हैं। विद्वानों ने ये निम्नलिखित दोष छांटे हैं —

(१) कठिन भाषा और कठिन शब्दों का प्रयोग करना।
(२) निरर्थक लम्बे-लम्बे वाक्य लिख कर पाण्डित्य छांटना।
(३) वाक्यों या शब्दों से उचित अर्थों का स्पष्ट न होना।
(४) कई-कई बार एक ही शब्द का प्रयोग करना।
(५) ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करना।
(६) व्याकरण-सम्बन्धी गलतियाँ करना।
(७) वाक्यों का आपसी सम्बन्ध ठीक न जुड़ना।
(८) किसी वाक्य में कई-कई भावों का आ जाना और किसी में एक का भी स्पष्ट न होना।
(९) कठोर शब्दों का बार-बार प्रयोग करना।
(१०) स्थानोपयुक्त भाषा का प्रयोग न करना।
(११) लेख का तारतम्य ठीक न बंधना।
(१२) विचारों का ठीक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित न होना।

२६. शैलियों का वर्गीकरण - निबन्ध के बहिरंग और अंतरंग के आधार पर शैली का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है,—एक 'विषय या विचार-प्रधान शैलियाँ' और दूसरी 'भाषा-प्रधान शैलियाँ'। इसका एक तीसरा विभाजन भी यहाँ कर देना उचित होगा और वह है 'व्यक्ति-प्रधान' शैलियाँ। कुछ शैलियाँ ऐसी होती हैं कि जिनमें व्यक्ति-विशेष की छाप दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार की रचनाएँ कोई व्यक्ति-विशेष ही लिख सकता है। जहाँ भाषा के एक-दो वाक्य पढ़े और पता चला कि ये पंक्तियाँ अमुक आचार्य, लेखक या कवि की लेखनी द्वारा लिखी गई हैं। यह विशेषता बहुत कम लेखकों में पाई जाती है और बहुत कम लेखक ही इस प्रकार अपनी शैली पर अपनी छाप डाल सकते हैं। पहले हम भाषा-प्रधान शैलियों को लेते हैं।

२७. भाषा-प्रधान शैलियाँ—भाषा-प्रधान शैली वह कहलाती है कि जिसका अन्य शैलियों से पार्थक्य केवल उसकी भाषा के स्वरूप के कारण हुआ हो। भाषा का ज्ञान हर व्यक्ति का पृथक्-पृथक् होता है और हर लेखक का भाषा-प्रयोग करने का ढंग भी दूसरों से भिन्न होता है। केवल इसी तत्त्व के आधार पर यह भेद स्थापित किया गया है। भाषा-प्रधान शैली को भी पंडितों ने कई उपभेदों में विभाजित किया है। वे सब निम्नलिखित हैं :—

(१) सरल भाषा-शैली—थोड़े में बहुत कुछ कह जाने वाली इस शैली में कठिन

शब्दों का प्रयोग न करके सरल शब्दों का प्रयोग किया जाता है; पाण्डित्यप्रदर्शन बिलकुल नहीं होता और स्पष्ट भावों को स्वच्छता के साथ लिखा जाता है । घुमाव-फिराव के लिए इस शैली में कोई स्थान नहीं है और न ही किसी साधारण-सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर शब्द-जाल में फांस कर इतना महत्त्वपूर्ण बना दिया जाता है कि पाठक उसे चमत्कार समझने लगे । छोटे-छोटे शब्दों से छोटे-छोटे वाक्यों का निर्माण किया जाता है और छोटे छोटे वाक्यों के छोटे-छोटे अनच्छेद बनाये जाते हैं । एक-एक भाव को एक-एक अनुच्छेद में इस प्रकार पिरोया जाता है कि जिस प्रकार माली किसी धागे में फूलों को गिरोकर माला तैयार करता है ।

(२) गुम्फित भाषा-शैली—इस शैली में लम्बे लम्बे और उलझे हुए वाक्यों का प्रयोग होता है । साधारण बात को भी घुमा-फिरा कर शब्द-जाल में ऐसा फँसा दिया जाता है कि पाठक पर लेखक के पाण्डित्य की छाप लगे, और फिर लगे । इस शैली का प्रयोग साधारण विद्वान् नहीं कर सकता । ऐसे लेखक का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए और यदि ऐसा न हुआ तो उसका लेख केवल हास्य की सामग्री-मात्र ही बन कर रह जायगा ।

(३) मुहावरे-प्रधान शैली—इस प्रकार की शैली में निबन्धों की भाषा सरल होती है; परन्तु उसमें स्थान-स्थान पर मुहावरों, उदाहरणों और सूक्तियों का प्रयोग किया जाता है । पाठक को इस शैली के निबन्ध समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती । साधारण-सी बात मुहावरों और सूक्तियों का आश्रय पाकर चमत्कृत हो उठती है । हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार मुं० प्रेमचन्द की शैली यही है; इसीलिए उनकी रचनाओं को पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं । इसमें लेखक को केवल इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि वह मुहावरों इत्यादि का ठीक-ठीक प्रयोग करे और इतनी भरमार न कर डाले कि उनकी छाया में समस्त निबन्ध और विषय ही छिप जाय ।

(४) अलंकार-प्रधान शैली—अलंकार-प्रधान शैली वह है जिसकी भाषा में अलंकारों की ही प्रधानता रहती है । इसके तीन भेद किये जा सकते हैं,—एक शब्दालंकार-प्रधान,दूसरी अर्थालंकार-प्रधान और तीसरी वह कि जिसमें दोनों प्रकार के अलकारों का प्रयोग किया गया हो । इस विषय पर हम ऊपर 'शैली के सहायक अंग' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाश डाल चुके हैं, इसलिए यहाँ पर अधिक विस्तार के साथ लिखने की आवश्यकता नहीं ।

(५) उक्ति-प्रधान शैली—यह शैली ऊपर दी गई सभी शैलियों से गूढ़ होती है, इसीलिए इसे कुछ विद्वान् केवल गूढ़ शैली के नाम से भी पुकारते हैं । इस प्रकार की शैली में लेखक लक्षणा तथा व्यञ्जना-शक्ति प्रधान शब्दों का प्रयोग करता है । जिस बात को वह कहना चाहता है, सीधा न कह कर, किसी पर डालते हुए कहता है ।

ऊपर शैली के जिन प्रधान प्रकारों पर विचार किया है, वे केवल भाषा के ही आधार पर हैं । शैली के इस रूप-विभाजन में केवल भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं का ही

आश्रय लिया गया है । अब हम पाठकों के सम्मुख विषय अथवा विचार सम्बन्धी आधार पर शैली का विभाजन करेंगे। शैली के अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं --

२८. **विचार-प्रधान शैली**—इस प्रकार की शैली में भाषा का गौण स्थान होता है और विचार तथा भावों का प्रधान। विचार-प्रधान शैली में या तो व्यक्तिगत विचार होते हैं या उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचार कि जिस पर निबन्ध लिखा जा रहा है। इसलिए इन दोनो प्रकार की शैलियो के नाम भी व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान शैलियाँ रखे गये हैं।

२९. **व्यक्ति-प्रधान शैली**—व्यक्ति-प्रधान शैली वह है जिसमे किसी व्यक्ति विशेष के भावों का, उसकी क्रियाओ का और उसकी मनोवृत्तियों का जीता-जागता चित्रण पाठक को मिल सके। इस प्रकार के लेखो मे जीवन की वह छाप मिलती है कि जिससे पाठक के सामने उसका चित्र आकर खड़ा हो जाय।

इस शैली मे लेखक अपनी मनोवृत्तियों को प्रथम पुरुष के रूप मे पाठकों के सामने रखता है। इस शैली का यह रूप हमें कहानी, उपन्यास, नाटक इत्यादि में देखने को मिलता है।

३०. **विषय-प्रधान शैली**—विषय-प्रधान शैली में व्यक्ति की विशेषता नहीं रहती। जब लेखक अपने व्यक्ति से ऊपर उठकर विषय मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपनी सुधि ही नहीं रहती तो उसके लेख में से व्यक्ति-प्रधानता समाप्त हो जाती है और विषय-प्रधानता आ जाती है। लेखक उस समय अपने को विषय मे खो बैठता है और उसकी हर विचार-शक्ति केवल विचार में ही तल्लीन हो जाती है। विज्ञान और आलोचना-सम्बन्धी विषयो में हमें यह शैली प्रायः देखने को मिलती है। इस शैली में व्यक्ति छिपा रहता है और केवल विषय की ही प्रधानता रहती है।

३१. **आलोचनात्मक शैली**—आलोचनात्मक शैली के अन्तर्गत केवल आलोचना ही आती है, वह चाहे व्यक्ति की हो, चाहे विषय की हो, अर्थात् वह हर विषय की हो सकती है। इस शैली के क्षेत्र में कोई भी संसार की ऐसी वस्तु नहीं है जो न आ सके और आलोचना के क्षेत्र से उसे बाहर किया जा सके।

संक्षिप्त—इस प्रकार हमने ऊपर शैली का साधारण विवेचन किया है। यदि पाठक इस विवेचन पर ध्यान देंगे तो उन्हें किसी भी निबन्ध को पढ़ने पर यह निश्चय कर लेने में अधिक समय नहीं लगेगा कि वह निबन्ध किस शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

अध्याय ४

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का विकास

अंग्रेजी निबन्ध—यूरोप में निबन्ध का प्रारम्भ फ्रांसीसी लेखक मोन्टेन द्वारा हुआ। आपका रचना-काल सन् १५३३ से १५९२ तक है। आपके निबन्ध विचार-शृंखला के आधार पर लिखे गये हैं, जिनमें विषय-विस्तार का नियंत्रण नहीं। सन् १६०० के लगभग मोन्टेन के निबन्धों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। इंगलैण्ड में बेकन के निबन्ध १६००ई० से कुछ पूर्व लिखे गये। बेकन के निबन्ध बहुत ही सम्बद्ध हैं और उनमें बहुत कुछ को बहुत सूक्ष्म में कहे जाने की क्षमता है। यही इन निबन्धों का प्रधान गुण है। मोन्टेन की ही तरह बेकन ने भी अपने निबन्धों में अमूर्त और मनोवैज्ञानिक विषयों को अपनाया है। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी के कई निबन्धकारों ने साहित्य में ख्याति प्राप्त की। इनमें बेन जान्सन (सन् १५७३-१६३७) विलियम टैम्पिल सन् १६२८-१६९९) तथा इब्राहम काउले (सन् १६१८-१७६७) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने मोन्टेन और बेकन की भाँति केवल अमूर्त और मनोवैज्ञानिक विषयों को ही लेकर रचना नहीं की, वरन् मूर्त विषयों को भी अपनाया और इस प्रकार एक सजीव साहित्य का निर्माण किया। मानव जीवन के प्रतिनिधि वर्गों को लेकर उनके प्रतिनिधि चरित्रों पर प्रकाश डाला। अपनी अनुभूति और वर्णनात्मकता के बल से विचार और विश्लेषण की तूलिका लेकर कृषक (Yomen), कवि (poet), विश्वविद्यालय (University), यात्री (Traveller), आकाश (Sky), सरिता (River) उद्यान (Field), वृक्ष (Tree) इत्यादि प्रकृति की अनुपम देनों को इतने सजीव रूप से चित्रित किया कि पाठक उन पर रीझ उठे। इन निबन्धों में केवल मस्तिष्क को जोर देनेवाली गम्भीरता ही न रह कर पाठक के भावनात्मक दृष्टिकोण को आकर्षित करने वाली सजीवता और सरलता विद्यमान है। सन् १७०९ में 'टैटलर' और 'स्पैक्टेटर' पत्रों में जो निबन्ध प्रकाशित हुए उनमें लेखकों ने अपने निजी जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया। इस समय के विख्यात निबन्धकारों में एडीसन (सन् १६७२-१७१९) और स्टील (सन् १६७२-१७-२९) के नाम प्रमुख हैं। इन दोनों लेखकों ने समाजिक समस्याओं को लेकर भी निबन्ध रचना की और इस विषय को गूढ़-गम्भीर विचारात्मक क्षेत्र से उठा कर साधारण व्यक्तियों के पास तक ले आये। इस प्रकार भविष्य में निबन्ध-साहित्य के अधिक व्यापक होने में इनका बहुत ही महत्वपूर्ण सहयोग रहा।

अठारहवीं शताब्दी में डाक्टर जान्सन के निबन्ध प्रकाश में आये। डाक्टर जान्सन ने अपने निबन्धों में गम्भीर शैली का अनुकरण किया है। इसी समय गोल्डस्मिथ ने कुछ हल्के निबन्धों की भी रचना की है। इनके निबन्धों में कहीं-कहीं भावुकता मिलती है और उनमें कहीं-कहीं हास्य की पुट आ जाने से वे निबन्ध अत्यन्त ही रोचक तथा आकर्षक हो उठे हैं। मानव-चरित्र के विकास की पूर्ण रूपरेखा हमें इन निबन्धों में मिलती है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख निबन्धकारों में मैकाले, हैजलिट, रस्किन, स्पेन्सर, आर्नल्ड हक्सले, कारलाइल, मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि हैं। इसी काल में इमरसन के निबन्धों ने भी विशेष ख्याति प्राप्त की। इन लेखकों ने विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत रचना की है। इमरसन ने अपने निबन्धों को विशेष रूप से विचारात्मक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, वरन आलोचनात्मक निबन्धों की भी बहुत कुशलतापूर्वक रचना की। आलोचनात्मक क्षेत्र में हैजिलेट मैकाले और मैथ्यू आर्नल्ड के अतिरिक्त पेटर ने विशेष ख्याति प्राप्त की। इमरसन के निबन्धों में आध्यात्मिकता, रस्किन के निबन्धों में दार्शनिक पाण्डित्य और कारलाइल के निबन्धों में उपदेशात्मक आलोचना की विशेषता मिलती है। यहाँ अन्य लेखकों पर प्रकाश डालते हुए हम राबर्ट लुई और स्टीवेन्सन को भी नहीं भुला सकते। स्टीवेन्सन के निबन्धों में जो अपनत्व का विकास देखने को मिलता है वह अन्यत्र मिलना कठिन है।

अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक निबन्धकारों में जी० के० चेस्टरटन और एच०जी० वेल्स इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से लेखक हैं जो निबन्ध-साहित्य की विभिन्न दिशाओं में पूर्ति कर रहे हैं। फ्रांसीसी साहित्य की देन, इस निबन्ध-धारा ने इस प्रकार अंग्रेजी-साहित्य में प्रवाहित होकर मानव जीवन के विशेष रूप से विचारात्मक क्षेत्र का उद्‌घाटन करते हुए भावात्मक क्षेत्र को भी सहृदयता के साथ छूने का सफल प्रयास किया। मानव जीवन के रहस्यों का प्रकृति के रहस्यों से सामंजस्य स्थापित करके लक्षणा-व्यंजना के आश्रय द्वारा निबन्ध-साहित्य ने विवेचनशील दृष्टि के लिए उद्‌घाटन किया। गम्भीर-से-गम्भीर विषयों से लेकर सरल से-सरल विषय तक को अपनी अंक में लेकर निबन्ध-साहित्य ने इतनी योग्यता से उनका स्पष्टीकरण किया कि वह पाठक के लिए विचार और आकर्षण का विषय बन गया।

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य

१२ प्रथम विकास—हिन्दी में निबन्धों का शैशव-काल उसी समय प्रारम्भ होता है जब हिन्दी-गद्य का उत्थान प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही छोटे-छोटे लेखों का लिखना प्रारम्भ हुआ। यहाँ यह कहना असत्य न होगा कि हिन्दी गद्य का विकास अंग्रेजी के सम्पर्क से हुआ। जब भारतीय अंग्रेजी भाषा के विद्वानों का ध्यान अपनी मातृ-भाषा की तरफ गया तो उन्हें ध्यान आया कि उसको समुन्नत करना भी उनका कर्त्तव्य है। पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भी इस कार्य में सहयोग दिया और खोज करके प्राचीन ग्रंथों का पता लगाया। इसी काल में मुद्रण-कला का भी युग प्रारम्भ हुआ और अन्य भाषाओं की भाँति हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं

का प्रकाशन कुछ विद्वानों ने किया। इन पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपने शुरू हुए और इसी से हिन्दी-साहित्य में निबन्ध-कला का जन्म हुआ।

हिन्दी-साहित्य के लिए निबन्ध एक बिलकुल नई वस्तु थी। संस्कृत-साहित्य में कहीं पर भी वर्तमान निबन्ध के प्रकार की रचना नहीं मिलती। कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक से हिन्दी परिचित थी, परन्तु निबन्ध से नहीं। यही कारण था कि निबन्ध के विकास में कला के ऊपर दिये गये अन्य भेदों को अपेक्षाकृत अधिक समय लगा और उनमें वह सौंदर्य और परिपक्वता भी न आ पाई जो नाटक तथा कविता इत्यादि में आई। हिन्दी भाषा शिथिल थी, इसलिए लिखने में और भी अधिक कठिनाई हुई।

भाषा के परिमार्जन की ओर विद्वानों का पूरा-पूरा ध्यान था, परन्तु फिर भी भाषा के दोषों का एक दम दूर हो जाना साधारण कार्य नहीं था। धीरे-धीरे साहित्य की प्रगति के साथ-भाषा की भी प्रगति चलती रही। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही सबसे पहले हिन्दी-गद्य में निबन्ध-रचना की। इस युग के अन्य निबन्धकार राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, राजा लक्ष्मणसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण, पं० अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि हैं। इस काल में राजनीतिक, सामाजिक तथा कुछ अन्य विषयों के निबन्ध लिखे गये। साहित्यक निबन्ध बहुत कम लिखे गये हैं। इस काल के प्रत्येक लेखक के लेखों में शैली के विचार से उसके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। भाषा भावपूर्ण और अलंकृत दोनों ही प्रकार की है।

(१) भारतेन्दु—आपके निबन्ध शिष्ट तथा नागरिक ढंग के हैं। इन्होंने भाषा तथा भाव दोनों को परिमार्जित किया है।

(२) पं० बालकृष्ण भट्ट—उनकी भाषा में उर्दू, फ़ारसी तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं के शब्दों की भरमार है। 'आँख', 'नाक', 'कान', 'कल्पना' तथा 'आत्म-निर्भरता' इत्यादि इनके निबन्धों के विषय हैं। लेख चमत्कार-प्रधान हैं। अपने 'मिश्र' जीकी अपेक्षा अधिक लिखा है। 'चन्द्रोदय' इनका प्रसिद्ध निबन्ध है।

(३) प० प्रतापनारायण 'मिश्र'—इनकी शैली विनोदपूर्ण है। कहावतों का प्रयोग अधिक मिलता है। गाम्भीर्य कम है। 'मरे को मारैं', 'शाह मदार', 'इसे रोना समझो चाहे गाना' इत्यादि इनके निबन्धों के विषय हैं। 'शिवमूर्ति', 'धरती माता' 'खुशामद' इत्यादि सुधारात्मक निबन्ध भी इन्होंने लिखे हैं।

(४) अम्बिकादत्त व्यास—इनके निबन्ध विचार-प्रधान हैं। 'धर्म', 'क्षमा', 'ग्राम-वास' इनके निबन्धों के विषय हैं।

३३. द्वितीय विकास—इस काल तक भाषा परिमार्जित हो चुकी थी और लेखकों ने काफ़ी गम्भीर विषयों पर लेखनी उठानी प्रारम्भ कर दी थी। इस युग के प्रवर्तक श्री महावीरप्रसाद 'द्विवेदी' थे। भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों को 'द्विवेदी' जी ने अपनी प्रखर लेखनी द्वारा काट-छाँट कर निबन्धोपयुक्त बना दिया

और साथ-ही-साथ अन्य लेखकों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित किया। इस काल के प्रधान लेखक पं० गोविन्दनारायण 'मिश्र', बालमुकुन्द 'गुप्त' तथा पं० माधव-प्रसाद थे।

(१) महावीरप्रसाद द्विवेदी—इन्होंने भाषा की अपंगता, स्थूलता और शिथिलता को नष्ट किया। इनकी लेखन-प्रणाली सरल, सुबोध और प्राञ्जल थी; उसमें कल्पनाओं की उड़ान थी और थी अनुभूति की गहराई। इन्होंने मौलिक निबन्ध लिखे हैं और अनुवाद भी किये हैं।

(२) गोविन्द नारायण मिश्र—इनके निबन्ध विचार-प्रधान हैं। कठिन शब्दों का प्रयोग इनकी भाषा में काफ़ी मिलता है।

(३) बालमुकुन्द गुप्त—प्रारम्भ में उर्दू-लेखक होने के कारण इनके निबन्धों में उर्दू की छाप वर्तमान है। 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' इनके निबन्धों का संग्रह है।

(४) पं० माधवप्रसाद—इनके निबन्ध भाव-प्रधान हैं। इनकी शैली सरल है और उसमें प्रवाह बहुत अच्छा है।

(५) मु० प्रेमचन्द—इन्होंने निबन्ध बहुत कम लिखे हैं परन्तु इनकी शैली अपनी विशेषता रखती है और जो कुछ भी इन्होंने लिखा है वह समय, भाषा और शैली के विचार से विशेष उल्लेखनीय है।

३४. तृतीय विकास—इस युग को निबन्धों का प्रधान युग कहना अनुपयुक्त न होगा। यह वह युग था जब भाषा प्रौढ़ हो चुकी थी और इसके परिमार्जन में किसी प्रकार की भी कोई व्याकरण-सम्बन्धी अथवा अन्य किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई थी। यह काल सन् १९२१ के पश्चात् आता है। इस काल में कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष दोनों ही प्रकार के लेख लिखे गये। लेखकों ने प्रायः सभी शैलियों में असंख्य विषयों पर लेखनी उठाई और सफलतापूर्वक हिन्दी साहित्य के निबन्ध-कोष की पूर्ति की। इस काल को नवीन-काल कहा जाता है। सरदार पूर्णसिंह, पं० पद्मसिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास बी. ए., जयशंकरप्रसाद, वियोगी हरि, गुलाब-राय एम. ए., हजारीप्रसाद द्विवेदी, राय कृष्णदास, रामनाथ 'सुमन' महादेवी, वर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस काल के प्रमुख निबन्धकार हैं।

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—ऊपर दिये गये निबन्धकारों में सबसे अधिक प्रधानता इनको ही प्राप्त हुई है। इनके निबन्धों पर इनकी स्पष्ट छाप है। मानसिक विश्लेषण इनसे अच्छा अन्य कोई लेखक नहीं कर पाया है। इनके निबन्ध तर्क और चिंतन-प्रधान हैं। सूर, तुलसी तथा जायसी की इन्होंने विशद आलोचना की है। ये हिंदी में अपना पृथक् स्थान रखती हैं। इनके निबन्धों से गाम्भीर्य और पाण्डित्य टपकता है। 'चिंतामणि' इनके निबन्धों का प्रधान संग्रह है।

(२) पद्मसिंह शर्मा—इनके निबन्धों में विचारों की मार्मिक व्यंजना है और भाषा सजीव है। लेखों में संवेदना का प्राधान्य है।

(३) सरदार पूर्ण सिंह—इनके निबन्ध भावनात्मक हैं। भाषा मँजी हुई है और मुहावरों का प्रयोग पर्याप्त है। भाषा में लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिक हैं।

(४) श्यामसुन्दर दास—इनकी शैली में प्रवाह की कमी है। भाषा में अरबी-फ़ारसी के विदेशी शब्द नहीं आते। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है। इनकी शैली बलपूर्वक बनाई हुई लगती है। उसमें स्वाभाविकता का अभाव है।

(५) जयशंकर प्रसाद—इनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है, परन्तु शैली में प्रवाह है, और शक्ति भी। उनके विचार और भाषा दोनों में चमत्कार है। साधारण पाठक इनके निबन्धों को पढ़कर आनन्द-लाभ नहीं कर सकता।

(६) वियोगी हरि—इनके निबन्ध भाव-प्रधान हैं और भाषा प्रांजल। इन्होंने लाक्षणिक शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग किया है।

(७) गुलाबराय—इनके निबन्ध कलापूर्ण हैं और उनकी भाषा में गाम्भीर्य है। निबन्धों में चिंतन के लिए काफी स्थल हैं। इनके लेखों में स्वाभाविकता का अभाव नहीं। सहृदयता की छाप भी मिलती है। इनके निबन्धों में पाण्डित्य अधिक मिलता है और कहीं-कहीं पर तो भाव इतने गम्भीर हो उठते हैं कि क्लिष्ट भाषा में गुँथे रहने के कारण उनका समझना कठिन हो जाता है। इनके निबन्ध विचारात्मक और आलोचनात्मक होते हैं।

(८) राय कृष्णदास—इनकी भाषा बहुत परिमार्जित होती है और कठिन शब्दावली प्रयोग करने का प्रयत्न कम दिखलाई देता है। इनके निबन्ध भावुकता-प्रधान होते हैं।

(९) महादेवी वर्मा—भाषा में प्रवाह है, सरलता है। निबन्धों में अनुभूति का प्राधान्य है। तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है, इसलिए साधारण पाठकों के लिये नहीं होते।

(१०) पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी—इनके निबन्ध गम्भीर होते हैं और उनमें अध्ययन के लिये सामग्री अधिक होती है। साहित्य, इतिहास और दर्शन इनके निबन्धों के विषय हैं।

ऊपर दिये गये निबन्धकारों के अतिरिक्त रामदास गौड़, सियारामशरण गुप्त, सम्पूर्णानन्द, रघुबीरसिंह, हरिभाऊ उपाध्याय, किशोरीलाल मश्रुवाला, काका कालेलकर इत्यादि ने भी विविध दिशाओं में निबन्ध लिखे हैं।

२५. निबन्ध साहित्य का भविष्य—ऊपर हिंदी-साहित्य में निबन्धों के उत्थान और प्रसार पर एक दृष्टि डाली गई है। जितने थोड़े समय में जितनी शीघ्रता के साथ निबन्ध-साहित्य ने प्रगति की है उससे यह स्पष्ट है कि आगामी युग में निबन्ध-साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल होगा। मननशील विद्वानों की संख्या हिंदी-साहित्य में बढ़ रही है। राष्ट्र-भाषा होने के कारण आज हिंदी का विकास भी सभी दिशाओं में होता जा रहा है। इसलिए भविष्य में निबन्ध भी केवल कुछ सीमित विषयों पर ही न लिखे

जाकर बहुमुखी होंगे और उनमें गाम्भीर्य भी पहले की अपेक्षा अधिक आने की सम्भावना है। ऐसा होने पर निबन्धों के पढ़ने का क्षेत्र केवल विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों में भी होने लगेगा। विचारकों को चाहिए कि वे ऐसी समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करें कि जो सर्वसाधारण पढ़े-लिखों के हाथों में जाकर उनमें भी निबन्ध पढ़ने की अभिरुचि पैदा कर दें। निबन्धों की उन्नति में रेडियो-विभाग पर्याप्त कार्य कर रहा है और वहाँ से विभिन्न विषयों पर सुन्दर तथा सरल निबन्ध पढ़े जाते हैं।

अध्याय ५

पत्र-लेखन

३९. साधारण विवेचन—पत्र-लेखन एक विशेष कला है जिसका सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य के जीवन से इतना निकट का हो गया है कि आज कोई भी व्यक्ति अपने को उससे पृथक् करके नहीं रख सकता। दैनिक व्यवहार से लेकर व्यापार और जीवन तथा जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का उल्लेख हमें पत्रों द्वारा ही मिलता है। किसी भी व्यक्ति और उसके जीवन का अध्ययन करने के लिए उसके लिखे हुए पत्रों का निरीक्षण करना नितान्त आवश्यक है। ये पत्र उसके जीवन के दर्पण हैं, जिनमें उसकी मनोवृत्तियाँ, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी प्रगतियाँ, उसके विकार, उसका कार्य-क्रम उसका मानसिक विकास तथा अन्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती रहती हैं।

आज के युग में किसी भी योग्य व्यक्ति के लिए उसके जीवन पर व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित करने में पत्रों का विशेष महत्व है और यदि यहाँ यह भी कह दिया जाय कि उसके जीवन का तथा कार्यक्रम की सफलता और असफलता उसके पत्रों पर ही आधारित है, तो कुछ अनुचित न होगा। हमारे पत्र ही बाह्य-जगत् से हमारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं, हमारे विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं और उनके विचारों को हमारे पास लाते हैं। इस प्रकार हम जीवन में जितने भी सम्बन्ध स्थापित करते हे उनमें हमारे पत्र माध्यम-स्वरूप ग्रहण किये जा सकते हैं।

विद्यार्थी अपने गुरुजनों को पत्र लिखता है, अपने माता, पिता, भाई, बहन तथा अन्य सम्बन्धियों को पत्र लिखता है; प्रौढ़ अपने सम्बन्धियों तथा इष्ट मित्रों को पत्र लिखता है, अपनी व्यवसायी संस्थाओं को पत्र लिखता है, राज्य-सरकारों को पत्र लिखता हे और वृद्ध अपने व्यवसाय से अवकाश पाने पर भी अपने बच्चों इत्यादि को पत्र लिखता है। आज मानव-जीवन इतना फैल गया है कि एक परिवार के भी सभी व्यक्ति एक ही घर में सीमित होकर नहीं रह सकते और इस प्रकार उनके असीमित विकास को प्रेम तथा सूचना के बंधन में बाँधने का श्रेय पत्रों को ही है।

जैसे हमने ऊपर कहा है, पत्र-लेखन एक कला है और पत्रों का लेखक इस कला में जितना भी दक्ष हो वह उतना ही उन व्यक्तियों को अधिक सरलतापूर्वक अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है जिनके साथ उसे पत्र-व्यवहार करना है। नीचे कुछ आवश्यक बातें दी जाती है जिनका ध्यान रखने से पत्र-लेखन में लेखक की कला

में निखार आ जायगा।

पत्र-लेखन के सहायक अंग

१७. लिफ़ाफ़ा—लेखक को चाहिए कि जहाँ तक हो सके लिफ़ाफ़ा पत्र के कागज से मिलते-जुलते रंग वाला ही प्रयोग करे। लिफ़ाफ़े का तूल भी अन्दर रखने वाले कागज के मुड़े हुए आकार के अनुसार ही होना चाहिए। लिफ़ाफ़ा ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिसके लिए पत्र को इस प्रकार मोड़ना पड़े कि जिससे पत्र का मुड़-तुड़कर समस्त सौंदर्य नष्ट हो जाय। पत्र के कागज को लिफ़ाफ़े में रखते समय उसमें कम-से-कम मोड़ आने चाहिएँ और उसे इस प्रकार लिफ़ाफ़े में रखना चाहिए कि जिससे लिफ़ाफ़ा बेरूप न लगने लगे।

१८. क़लम और स्याही—रंगीन स्याही का प्रयोग, केवल कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर, लेखक को नहीं करना चाहिए। साधारणतया पत्र लिखने के लिए काली और नीली स्याही का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। पत्र-लेखन में जहाँ तक हो सके पेंसिल का प्रयोग कम-से-कम करके स्याही का अधिक-से-अधिक प्रयोग करना चाहिए। पेंसिल से लिखे हुए पत्र के अनेकों शब्द कभी-कभी इतने अस्पष्ट हो जाते हैं कि पाठक को उनका सही-सही अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इस प्रकार पत्र-लेखक की तनिक-सी लापरवाही के कारण उसका पत्र लिखने का अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।

जो लेखक पत्र लिखने में फाउण्टेनपैन का प्रयोग करते हैं उन्हें अपने क़लमों में भरने के लिए उसी स्याही का प्रयोग करना चाहिए जिसका निर्देश पैन बनाने वाली संस्था ने उस क़लम में भरने के लिए किया हो। यदि क़लम-निर्मात्री संस्था ने किसी विशेष स्याही की ओर संकेत नहीं किया हो तो लेखक को किसी विशेष अच्छे क़लम के लिए निर्देशित स्याही को चुन लेना चाहिए और फिर उसी का प्रयोग करते रहना चाहिए। बारम्बार स्याही बदलने से क़लम की रबड़ खराब होकर सूखने सी लगने लगती है और क़लम के निब को भी इससे हानि पहुँचती है।

जो लेखक साधारण दवात में स्याही से लगाकर साधारण निब वाले कलम का प्रयोग करते हैं, उनका लिखने का ढंग उनकी लेखन-विधि पर निर्भर करता है। बाज़ार में निब कई प्रकार की नोंक वाले मिलते हैं और लेखक अपनी रुचि के अनुसार मोटा, पतला, सीधा और तिरछा लिखने का अभ्यास करके उन्हें अपने अनुकूल बना सकते हैं। इस प्रकार के क़लम और दावातों का प्रयोग करने के लिए भी यह आवश्यक है कि दावात का ढकना काम करने के पश्चात् बन्द कर देना चाहिए और एक दिन के पश्चात् दूसरे दिन जब क़लम को दावात में डालना हो तो उसके निब को गर्म पानी से भली प्रकार धो लेना चाहिए। दावात की स्याही में पानी कम और अधिक हो जाने से भी लेखक का लेख सुन्दर और असुन्दर प्रतीत होने लगता है। इसलिए दावात की स्याही तैयार करने में भी लापरवाही से काम नहीं लेना चाहिए।

१९. लेख—पत्र-लेखन सुन्दर और सुडौल अक्षरों में होना चाहिए, क्योंकि लेख ही लेखक के चरित्र का परिचायक होता है। जो व्यक्ति एक साधारण-सा पत्र व्यवस्था

और स्वच्छता के साथ नहीं लिख सकता उससे जीवन के महत्वपूर्ण कार्यों में क्या आशा की जा सकती है ? व्यवस्थित लेख लेखक के व्यवस्थित जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। लेखक को चाहिए कि वह पत्र के प्रत्येक अक्षर को उसके अर्थ और बनावट के विचार से सुन्दर पढ़ने योग्य लिखे कि पाठक को लेखक की भावना और उसके विचारों के अन्दर घुसने में देर न लगे। अक्षरों को घुमा-फिरा कर घुँघराले और लच्छेदार बनाने की प्रणाली पाठक के मार्ग में कठिनाई उपस्थित करती है, इसलिए पत्र-लेखन में इस कला का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मोटे-पतलेपन में अक्षरों का आकार साधारण बीच के दर्जे का होना चाहिए और उनकी बनावट स्वाभाविकता लिए हुए होनी आवश्यक है। पत्र के अन्त में लिखे गये हस्ताक्षर भी स्पष्ट होने चाहियें।

४०. **लिफ़ाफ़े पर पता**—लिफ़ाफ़े पर पता लिखना लिफ़ाफ़े के बीच के तनिक ऊपर से प्रारम्भ करना चाहिए। उसकी प्रत्येक पंक्ति साधारणतया पहली पंक्ति से आधी इंच दाईं ओर से प्रारम्भ होनी चाहिये। पते में, पहिले जिसे पत्र लिखा गया हो, उसका नाम आता है, फिर मकान का नम्बर, फिर गली मुहल्ला, बाजार और शहर आता है तथा अन्त मे प्रदेश का नीचे संकेत दे दिया जाता है, अपने देश के अन्दर लिखे गये शहरों के पतों पर नीचे भारत का संकेत देने की आवश्कता नहीं, परन्तु विदेशों को जाने वाले पत्रों में ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, जर्मनी या जिस देश को भी पत्र जाय उसका नाम लिखना आवश्यक है।

अंग्रेजी पत्रों में जिन व्यक्तितों को सम्बोधित करते समय 'Mr.' लिखते हैं उन्हें हिन्दी में 'श्री' लिखकर सम्बोधित किया जाता है। नामों के पश्चात् अंग्रेजी की 'Esq.' लिखने वाली प्रणाली का प्रयोग हिन्दी में नहीं चलता। किसी विवाहिता पत्नी को उसके पति के नाम पर जिस प्रकार अंग्रेजी में 'Mrs. Ram Gopal' लिखा जाता है उसका प्रयोग हिन्दी में 'श्रीमती रामगोपाल' लिखकर किया जाने लगा है। अंग्रेजी में अविवाहिता स्त्री के लिए 'Miss' शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु हिन्दी में विवाहित और अविवाहित दोनों को 'सुश्री' तथा 'श्रीमती' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अंग्रेजी में पता लिखते समय जहाँ 'To' का प्रयोग किया जाता है वहाँ हिन्दी में 'सेवा में' लिखते हैं। इस प्रकार उक्त संकेतों द्वारा लिफ़ाफ़े पर पते लिखे जाते हैं।

४१. **पत्र-प्रारम्भ**—पत्र लिखना प्रारम्भ करते समय सर्व प्रथम पत्र के दायें कोने के ऊपर की ओर लेखक को अपना पता और उसके नीचे पत्र लिखने की तारीख लिखनी चाहिए। यदि काग़ज पर लेखक का पता छपा हुआ हो तो यह पता लिखने की आवश्यकता नहीं होती केवल तारीख भर लिख देनी होती है। इसके पश्चात् पत्र के बायें किनारे पर, जिसे पत्र लिख रहे हैं, उसे सम्बोधित करने के स्थान से ऊपर उसका पता लिख देना चाहिए, जिससे पते लिखने वाला क्लर्क पत्र-लेखक का पता पूछने के लिए परेशान न करे। यह पता केवल व्यापारिक पत्रों में ही लिखना आवश्यक होता है, व्यवहार के पात्रों में नहीं। हिन्दी में निम्न प्रकार सम्बोधित किया जाता है :—

१. प्रिय महोदय—साधारणतया सबको व्यवहार और व्यापार में।
२. श्रीमान् मान्यवर—आदरणीय गुरुजनों और पूजनीय नाते वालों को।
३. पूजनीय ! आदरणीय— " " "
४. प्रियवर, प्रिय बहिन—अपने से छोटे को।
५. श्रीमती—बड़ी बहिन, माता अथवा किसी अन्य माननीया को।
६. सेवा में श्रीमान्– किसी आफ़ीसर इत्यादि को।

उक्त सम्बोधनों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सम्बोधन भी समयानुकूल लगा लिये जाते हैं। यह ज्ञान लेखक को लेखन के अभ्यास द्वारा आप-से-आप प्राप्त हो जाता है। यदि लेखक किसी पत्र का उत्तर दे रहा है तो वह सुगमता पूर्वक अपने पत्र में उसी सम्बोधन का प्रयोग कर सकता है जिसका कि पत्र भेजने वाले ने किया है। परन्तु ऐसा उसी दशा में सम्भव हो सकता है जब पत्र लिखने और पाने वाले का सामाजिक स्तर समान हो। दोनों का स्तर भिन्न होने से सम्बोधन में अन्तर आ जाता है।

४२. पत्र का विषय—पत्र के विषय पर यहाँ प्रकाश डालना असम्भव है, क्योंकि यह उन परिस्थितियों पर आधारित होता है जिनके अन्तर्गत पत्र लिखा जाता है। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों को चुनकर हमने पुस्तक में कुछ नमूने के पत्र प्रस्तुत किये हैं। इस पुस्तक में प्रस्तुत पत्रों को पाठक कोरा एक पत्र मानकर न पढ़ें वरन् समझें कि उस प्रकार के जितने भी पत्र लिखे जायेंगे वे सब उसी श्रेणी में आ जायेंगे। उन्हें हम पत्र-विशेष न कह कर पत्र-श्रेणी मानकर चले हैं।

४३. व्यापारिक पत्र—व्यापारिक पत्र लिखना वह कला है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के आर्थिक जीवन की सफलता और असफलता से होता है। व्यापारिक क्षेत्र की व्यवस्था में ढिलाई आजाने का प्रधान कारण आज के युग की व्यापारिक पत्र-लेखन की असफलता है। एक सफल व्यापारिक पत्र-लेखक असफल व्यापारी कभी नहीं हो सकता। रुपयों का कार्य कौड़ियों में करने की क्षमता सफल व्यापारिक पत्र-लेखन में है।

व्यापारिक पत्रों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है:

१. बिक्री के पत्र।
२. साधारणतया नित्य-प्रति के क्रम में लिखे जाने वाले पत्र।
३. हिसाब-किताब के पत्र।
४. विज्ञापन-सम्बन्धी पत्र।
५. कर्मचारियों से सम्बन्धित पत्र।

उक्त पाँच विभागों के अनेकों उप-विभाग भी किये जा सकते हैं, परन्तु यदि इन विभागों को श्रेणियों के रूप में मान लिया जाय तो अन्य जितने भी प्रकार के पत्र होंगे वे सब किसी-न-किसी रूप में इन्हीं के अन्तर्गत आ जायेंगे। जहाँ तक साधारण नियमों का सम्बन्ध है वे व्यापारिक पत्रों में भी वे ही लागू होते हैं जो व्यावहारिक पत्रों के सम्बन्ध में हैं। पत्रों का उत्तर पत्र-लेखक को शीघ्र-से-शीघ्र देना चाहिए। व्यावहारिक

पत्रों को शीघ्र उत्तर देना जहाँ लेखक की शिष्टता का द्योतक है वहाँ व्यापारिक पत्रों का शीघ्र उत्तर देना उसके व्यापार में गति पैदा करता है।

व्यापारिक पत्र विशेष रूप से टाइप किये हुए जाने चाहिएँ। इस प्रकार के पत्र बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं मे स्वयं न लिखकर शार्टहैंण्ड (Shorthand) क्लर्क को बोले जाते हैं। बोलने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह बोलने से पूर्व किसी कागज पर कुछ संकेत लिखकर रखले जिससे कि उसके बोलने में व्यवस्था आ सके। ऐसा न करने से पत्र में अनावश्यक भाग पर कभी-कभी बल दे दिया जाता है और आवश्यक भाग यों ही साधारण शैली में लिखा जाकर पाठक के लिए अनावश्यक ही रह जाता है।

पत्र-लेखक को चाहिए कि वह सर्वदा पत्र-पाठक की योग्यता को ध्यान में रखते हुए लिखे। यदि लेखक ने कहीं अपने पत्र में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया कि जिनका अर्थ वह स्वयं तो जानता है परन्तु पाठक नहीं समझ सकता, तो उसका पत्र लिखने का अभिप्राय नष्ट हो जाता है; क्योंकि पत्र लिखने का मूल अभिप्राय पाठक को अपनी बात समझाना है, कठिन शब्द लिख कर उस पर अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करना नहीं।

पत्र के स्वच्छ तथा शुद्ध लेखन के विषय में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। वह व्यावहारिक और व्यापारिक दोनों ही प्रकार के पत्रों में एक-सा होना आवश्यक है।

४४. पत्र समाप्ति—अंग्रेजी में प्रथम पुरुष द्वारा लिखे गये पत्रों को जहाँ 'Yours Truly' अथवा 'Yours faithfully' लिखकर समाप्त किया जाता है वहाँ हिन्दी में केवल 'आपका' या 'तुम्हारा' लिखकर समाप्त कर दिया जाता है। 'आपका' शब्द बड़ों के लिए प्रयुक्त होता है और तुम्हारा अपने से बराबर या छोटे के लिए लिखा जाता है। इन दोनों ही शब्दों के साथ कुछ लेखक 'शुभ चिंतक', 'अपना ही', 'दर्शनाभिलाषी' इत्यादि शब्द भी जोड़ देते हैं। कभी-कभी जीवन के कुछ विशेष स्तर के व्यक्तियों के लिए कुछ विशेष आदर-सूचक शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है और प्रेम-भाव में साधारण-से-साधारण शब्दों का भी। व्यापारिक क्षेत्र में केवल 'तुम्हारा' शब्द लिख कर नीचे नाम लिख देने से ही काम चल जाता है। व्यापारिक क्षेत्र में इस प्रकार के शब्दों को विशेष तूल नहीं देना चाहिए।

४५. व्यापारिक हस्ताक्षर—व्यापारिक पत्रों पर हस्ताक्षर इस प्रकार किये जाने चाहिएँ कि पढ़ने वाले को कोई कठिनाई न हो। यदि हस्ताक्षरों के पढ़ने में कठिनाई हो तो लेखक को चाहिए कि वह हस्ताक्षर के नीचे अपना नाम टाइप करा दे जिससे कि पाठक भ्रम में न रहे।

संक्षिप्त—इस प्रकार ऊपर व्यावहारिक और व्यापारिक दोनों प्रकार के पत्र-लेखन की प्रधान आवश्यकताओं पर हमने प्रकाश डाला और देखा कि इन साधारण बातों को न जान कर और प्रयोग में न लाकर हम अपने जीवन के व्यावहारिक और व्यापारिक क्षेत्रों में कितने पिछड़े हुए रहते हैं। हम अपने जीवन को व्यवस्था नहीं दे

पाते । जो व्यक्ति अपने पत्रों का व्यवस्थित रूप से उत्तर नही दे सकता वह अपने जीवन को भी व्यवस्थित करने मे कभी सफल नही हो सकता । इसलिए अपने जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए अपने पत्र-व्यवहार को व्यवस्थित रखना नितान्त आवश्यक है । पत्र-लेखन एक कला है और वह कला है कि जो इसका आदर करता है, उसे अपनाता है उसे यह अपनाती है, और उसके जीवन को समृद्ध और व्यवस्थित बनाने मे सहयोग प्रदान करती है ।

अध्याय ६

शब्द-अध्ययन

४६. भाषा का प्रारम्भ—सोचना और विचार करना मानव का स्वाभाविक गुण है। इन विचारों का भाव-विनियम जिन ध्वनि-समूहों अथवा ध्वनि-समूहों की सांकेतिक प्रतिनिधि लिपियों द्वारा होता है, वही भाषा है। बिना भाषा के मनुष्य न सोच-विचार ही सकता है और न भाव-विनियम ही कर सकता है।

मानव के चिन्तन का चरम वाक्य विचार है और वह विचार भाषा के रूप में प्रस्फुटित होकर व्याकरण द्वारा वाक्य की संज्ञा को प्राप्त होता है। मानव के विचारों का चिन्तन वाक्यों में ही होता है और इसीलिए वाक्य से भाषा-वैज्ञानिक प्रत्येक भाषा का प्रारम्भ मानता है।

४७. शब्द और वाक्य—मानव के विचारों की पूर्ण भावाभिव्यक्ति वाक्य द्वारा होती है। वाक्य के विभिन्न अवयवों का ध्वनि, प्रकृति, प्रत्यय तथा पद इत्यादि में विश्लेषण करके मानव ने भाषा के पृथक्-पृथक् अंगों का निर्माण किया है। इन्हीं नव-निर्मित भाषा के अंगों द्वारा बच्चों को भाषा का ज्ञान कराया जाता है। भाषा विभिन्न प्रकार की ध्वनियों की स-अर्थ समष्टि है और ध्वनियों के संयोग से शब्द का निर्माण होता है। ध्वनि की प्रतीक स्वरूप इन स-अर्थ शब्दों के संयोग से वाक्य बनता है। वर्ण और अक्षरों का शब्दों के साथ जो सम्बन्ध रहता है वही शब्दों का वाक्यों के साथ मानना चाहिए। जिस प्रकार एक वाक्य का विभिन्न शब्दों में विश्लेषण किया जा सकता है उसी प्रकार शब्द को भी अनेक वर्णों में विभाजित किया जाता है। वाक्य से ही प्रत्येक सार्थक शब्द की व्युत्पत्ति है और इसलिए शब्द को ही वाक्य का चरमावयव मानना चाहिए।

४८. शब्दांश व्याख्या—सार्थक ध्वनियों में कुछ ध्वनियाँ स्वतंत्र रूप से सार्थक होती हैं और कुछ प्रकृत शब्दों के साथ संयोग होने पर सार्थक हो उठती हैं। स्वयं सार्थक न होने वाली ध्वनियाँ ही शब्दांश कहलाती हैं। वाला, पन, अ, ता इत्यादि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। ये शब्दांश प्रकृत शब्द के पूर्व आने पर 'उपसर्ग' और बाद में आने पर 'प्रत्यय' कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप 'अव्यावहारिकता' में 'अ' उपसर्ग है और 'ता' प्रत्यय। यहाँ 'अ' और 'ता' शब्द न होकर शब्दांश हैं।

४९. पद-व्याख्या—शब्द के प्रकृत रूप में चरम प्रत्यय लगने के पश्चात् उसका जो रूप बनता है उसे 'पद' कहते हैं। चरम प्रत्यय वह प्रत्यय है जिसके पश्चात्

दूसरा प्रत्यय नहीं लग सकता। जैसे 'दुर्बलता से', 'निर्बलता से', 'शारीपन से', 'जेनके वाले से', 'जाने वाले से' इत्यादि। ये सभी 'पद' हैं और इनमें चरम प्रत्यय भी हैं, क्योंकि इनके पश्चात् कोई अन्य प्रत्यय प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

२०. वाक्यांश-व्याख्या—वाक्य एक ऐसे सार्थक शब्द-समूह को कहते हैं कि जिसके द्वारा लेखक अथवा वक्ता अपना पूर्ण विचार व्यक्त कर सके। यह क्षमता वाक्यांश में नहीं रहती। वाक्यांश में दो अथवा दो से अधिक शब्दों का समूह तो अवश्य वर्तमान रहता है, परन्तु वक्ता का पूर्ण विचार व्यक्त नहीं होता। जैसे—'मैं दोपहर का खाना खा चुका' यह पूर्ण वाक्य है क्योंकि पूरा अर्थ स्पष्ट होता है। परन्तु इसमें 'मैं दोपहर का खाना' वाक्यांश है, क्योंकि इसका कोई पूर्ण अर्थ नहीं निकलता।

२१. शब्द-व्याख्या—वाक्य, शब्दांश, पद, वाक्यांश इत्यादि पर विचार कर लेने के पश्चात् शब्द को समझ लेना परमावश्यक है। शब्द का अर्थ हिन्दी में बहुत संदिग्ध है। शब्द के श्रोतव्य रूप के आधार पर अक्षरों अथवा वर्णों के समुदाय-विशेष का नाम शब्द हो सकता है। शब्द और उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए शब्द की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि मानव के विचारों के प्रतीक स्वरूप उच्चारण किये जाने वाले ध्वनियों के समूह अथवा संकेतों को शब्द कहते हैं। वाक्य के विचार से भाषा-वैज्ञानिकों ने शब्द को स्वतंत्र चरम वाक्य माना है। इन दोनों व्याख्याओं के अतिरिक्त यदि बिल्कुल साधारण रूप से विचार किया जाय तो कान से सुना जाने वाला प्रत्येक नाद 'शब्द' है। लिखित भाषा का निर्माण होने से पूर्व ध्वनि के आधार पर संकेतों का प्रयोग किया गया। ज्यों-ज्यों मानव का मस्तिष्क विकास की ओर अग्रसर हुआ त्यों-त्यों इन संकेतों की संख्या बढ़ने लगी और एक दिन उन संकेतों ने वर्णमाला का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार वर्तमान व्याकरणबद्ध भाषा में शब्द का अर्थ केवल स्वतंत्र और सार्थक ध्वनि ही ठहरता है।

२२. शब्द का मूल्य—शब्द भाषा की सम्पत्ति हैं। भावाभिव्यक्ति का एकमात्र-साधन यदि कोई वस्तु है तो वे शब्द हैं। लेखक अथवा वक्ता का शब्द-कोष ही उसके ज्ञान की वह राशि है कि जिसके बल से वह पत्थर को मोम बना सकता है, पानी को पाषाण में परिवर्तित कर सकता है, दया को निर्दयता और निर्दयता को दया में बदल सकता है; कर्मण्य को अकर्मण्य और अकर्मण्य को कर्मण्य बना सकता है। आदि-युग से आज तक मानव जो-कुछ भी ज्ञान सन्निहित कर सका है वह सब शब्दों के रूप में ही आज संसार के पास सुरक्षित है। शब्द लेखक की शक्ति हैं, व्याकरण का प्राण हैं, भाषा-विज्ञान की निधि और भाषा के क्रमिक विकास की रूप-रेखा हैं। किसी भाषा के गाम्भीर्य और हलकेपन का भी पता उस भाषा की शब्दावली पर दृष्टि डाल कर ही चलता है। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के इतिहास पर दृष्टि डालने के लिए उसकी भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है और भाषा का ज्ञान उस समय तक अधूरा है जब तक उस भाषा में प्रयुक्त शब्दों का पूर्ण ज्ञान न हो।

५३. ध्वनि-सम्बन्धी शब्द-भेद—शब्द 'ध्वन्यात्मक' और 'वर्णात्मक' दो प्रकार के होते हैं। स्पष्ट रूप से सुनाई न पड़ कर स्पष्ट समझ में न आने वाले शब्द ध्वन्यात्मक कहलाते हैं और पृथक्-पृथक् अक्षरों के पृथक्-पृथक् सुनाई पड़ने वाले शब्द वर्णात्मक होते हैं। आज जिन-जिन भाषाओं का निर्माण मानव ने अपने जीवन के संचालन के लिए किया है उनमें ध्वन्यात्मक शब्दों का कोई महत्त्व नहीं है, उनका सम्बन्ध केवल वर्णात्मक शब्दों से ही है। संसार की सभी प्रचलित भाषाओं में व्याकरण-द्वारा जिन शब्दों का महत्त्व ग्रहण किया गया है वे वर्णात्मक शब्द ही हैं और उन्ही की आधार-शिला पर उनकी भाषा के भवन का निर्माण हुआ है।

५४. अर्थ-सम्बन्धी शब्द-भेद—वर्णात्मक शब्दों का विवेचन करने पर उनके दो भेद स्पष्ट रूप से सामने आजाते हैं, एक सार्थक और दूसरा निरर्थक। इन दोनों प्रकार के शब्दों में से साहित्यिक भाषा का सम्बन्ध केवल सार्थक शब्दों से है; निरर्थक शब्दों से नहीं। शब्दों को बोलने अथवा सुनने के पश्चात् हमारे मानस-पटल पर किसी विचार की एक लहर संचारित होनी आवश्यक है। वह तभी सम्भव है जब कि वे शब्द सार्थक हों, निरर्थक न हों। सार्थक शब्दों में भाव और विचार की एक पूर्ण रूप से निश्चित् प्रतिमा स्थायी रूप से निहित रहती है। उन शब्दों के उच्चारण-मात्र से ही हमारे अन्दर के निहित संस्कार जाग्रत हो उठते हैं और इन्हीं संस्कारों के द्वारा हमें उनके अर्थ का बोध होता है। इसलिए जिस भाषा का साहित्य से सम्बन्ध है उसमें केवल सार्थक शब्दों तक ही हमें सीमित रहना पड़ता है।

५५. अर्थ-बोधक शब्द-भेद—अर्थ-बोधकता के अनुसार शब्दों के (१) वाचक, (२) लाक्षणिक और (३) व्यंजक तीन भेद हैं। तीनों की संक्षिप्त व्याख्या नीचे दी जाती है।

(१) **वाचक**—वाचक शब्द के अर्थ का बोध एक नियम के आधार पर होता है। इस नियम से जिस अर्थ का हमें बोध होता है उसे हम वाच्यार्थ कहते हैं। जैसे मिट्टी शब्द से एक ठोस मैली-सी वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए मिट्टी एक विशेष ठोस पदार्थ की वाचक और विशेष पदार्थ उसका वाच्यार्थ हुआ।

वाचक शब्द (१) रूढ़, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़ तीन प्रकार के होते हैं। जिन शब्दों के खंड का कोई अर्थ न निकले उन्हें रूढ़ शब्द कहा जायगा। जैसे—जल, गधा, कृष्ण, रुपया इत्यादि।

यौगिक शब्दों के अर्थ का उनके अवयवार्थ से पूर्ण बोध होता है। जैसे—गिरीश यौगिक शब्द है। इसके दो अवयव गिरि और ईश हैं। इसका अर्थ हुआ गिरि का स्वामी। इसी प्रकार दिनेश, राकेश, सुरेश सुधांशु, भूपाल इत्यादि शब्द यौगिक हैं।

योगरूढ़ शब्दों में हमें यौगिक और रूढ़ दोनों ही शब्दों की शक्तियों का सम्मिश्रण मिलता है। इन शब्दों द्वारा उनके सामान्य अर्थ का बोध न होकर विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे—लम्बोदर का साधारण यौगिक अर्थ हुआ लम्बे उदर वाला, परन्तु क्योंकि यह शब्द केवल गणेश जी के लिए ही रूढ़ि हो चुका है इसलिए लम्बोदर

शब्द के आते ही गणेश जी अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है। इसी प्रकार जलज, नक-पाणि, पंकज इत्यादि शब्द भी योगरूढ हैं।

(२) लाक्षणिक शब्द—लाक्षणिक शब्द का वाच्यार्थ से भिन्न वह कल्पित अर्थ है कि जिसकी सहायता से वाक्य का अर्थ जान लेने में सहायता मिलती है। यह कल्पित अर्थ ही उस शब्द का लक्ष्यार्थ कहलाता है और उस शब्द को उस अर्थ का लक्षक कहते हैं। उदाहरणार्थ मानो कोई कहे, 'मै कालिदास का अध्ययन कर रहा हूँ।' यहाँ कालिदास का अर्थ कवि कालिदास न होकर उनका साहित्य है, जिसका कि अध्ययन पाठक कर रहा है। यहाँ कालिदास का साहित्य लक्ष्यार्थ है और कालिदास कालिदास के साहित्य का लक्षण।

लक्षणा दो प्रकार की होती है, निरूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। निरूढ़ि लक्षणा में रूढ़ि के अनुसार लक्षणा होती है। जैसे—कोई कहे कि शत्रु के आक्रमण से पूर्वी शहर भाग खड़ा हुआ। यहाँ 'शहर भाग खड़ा हुआ' का अर्थ है कि शहर-निवासी भाग खड़े हुए। लक्षणा द्वारा शहर का अर्थ शहर-निवासी ग्रहण किया गया है। यह प्रयोग प्राचीन रूढ़ि (रिवाज) के आधार पर किया गया है। इस प्रकार का प्रयोग निरूढ़ि लक्षणा कहलाता है।

जब लक्षणा का अर्थ प्रयोजन के अनुसार लगाया जाता है तब वह प्रयोजनवती लक्षणा कहलाती है। जैसे कोई कहे कि दिल्ली जमना पर बसी हुई है। यहाँ जमना पर का अर्थ होता है 'जमना की धारा पर', परन्तु धारा पर कोई नगर नही बस सकता। इसलिए यहाँ प्रयोजनार्थ इसका यही अर्थ ग्रहण किया जायगा कि दिल्ली जमना नदी के किनारे पर बसी हुई है।

(३) व्यंजक शब्द—व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त और तीसरा ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे—मुर्गे ने बांग दे दी, अर्थात् सवेरा हो गया। यहाँ मुर्गे के बाँग देने में सवेरा होने के अर्थ की व्यंजना है।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—एक शाब्दी और दूसरी (२) आर्थी। शाब्दी व्यंजना अभिधामूला और लक्षणामूला होती है। जब बहुत से अर्थों की शब्दों की वाचकता साहचर्य, विरोध, संयोग, वियोग, इत्यादि कारणों से एक विशेष अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तब वहाँ पर अभिधामूला शाब्दी व्यंजना होती है। जैसे अर्जुन के साथ हरि शब्द का प्रयोग करने से कृष्ण भगवान् का भास होता है, उसी प्रकार पवन-सुत के साथ भगवान् शब्द आने से पाठक स्पष्ट रूप से समझ जाता है कि लेखक का अभिप्राय हनुमान और राम से है। इन अर्थों का बोध परस्पर सहचर्य से होता है।

जब किसी शब्द अथवा वाक्य का व्यंग्यार्थ लक्षणा द्वारा समझने और स्पष्ट करने का अवसर आता है तो उस शक्ति को, जिसके द्वारा वह अस्पष्ट होती है, लक्षणा मूला-शाब्दी-व्यंजना कहते हैं। जैसे हरिद्वार परम पवित्र गंगा पर बसा हुआ है। यहाँ 'गंगा पर' लिखने से लाक्षणिक व्यंजना स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इस लाक्षणिक व्यंजना के साथ-ही-साथ लेखक का अभिप्राय यह भी है कि क्योंकि वह स्थान शुद्ध पवित्र

गंगा के किनारे पर स्थित है इसलिए यह स्थान भी शुद्ध और पवित्र है। इसलिए यहाँ पर लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है।

अनजाने व्यंग्यार्थ की प्रतीति जब अभिधा और लक्षणा द्वारा होती है तो उस अर्थ के व्यापार को आर्थी व्यंजना कहते हैं। 'अरे ! अनर्थ हो गया' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि मानो कोई ऐसा अनर्थ हो गया कि उसे रोकने के लिए सहायता की आवश्यकता है। यही याचना इन शब्दों के अर्थ से व्यंजित होती है, इसलिए यहाँ आर्थी व्यंजना है।

इस प्रकार वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों के भेदों का स्पष्टीकरण कर लेने के पश्चात् भी यह जानकारी होना नितान्त आवश्यक है कि इनमें ये भेद होने पर भी ये सर्वथा पृथक् ही नहीं हैं। वाचक शब्द ही लाक्षणिक और व्यंजक दोनों हो सकता है। 'हरिद्वार पवित्र गंगा पर बसा है, इस वाक्य में 'गंगा' शब्द जब नदी का बोध कराता है तब वह वाचक है, जब वह नदी के तट का बोध कराता है तब वह लाक्षणिक है और जब वह गंगा की पवित्रता, शीतलता और पुण्य-स्थान होने का बोध कराता है तब वह व्यंजक है।

५६. शब्द-शक्ति—ऊपर शब्द के जिन तीन भेदों का हमने स्पष्टीकरण किया है उनके आधार पर शब्द की तीन शक्तियाँ निर्धारित होती हैं—(१) **अभिधा**—जिस शक्ति के द्वारा शब्द से वाच्यार्थ का बोध होता है—(२) **लक्षणा**—जिस शक्ति के द्वारा शब्द के लक्ष्यार्थ का बोध होता है और (३) **व्यंजना**—जिस शक्ति के द्वारा शब्द के व्यंग्यार्थ का बोध होता है। अभिधा और लक्षणा शक्ति का सम्बन्ध केवल शब्द तक ही सीमित रहता है परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध शब्द के अतिरिक्त उसके अर्थ से भी रहता है। शब्दों की ये तीन शक्तियाँ वृत्ति कहलाती हैं।

५७. रूपान्तर और शब्द-भेद—शब्द के रूपान्तर के आधार पर विकारी और अविकारी— दो भेद किये जाते हैं। जो शब्द लिंग, वचन और कारक इत्यादि के प्रभाव में आकर अपना रूप बदल देता है वह शब्द विकारी कहलाता है और जिस शब्द पर इनके प्रभाव में आने पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपना रूप ज्यों-का-त्यों बनाये रखता है वह अविकारी कहलाता है।

५८. विकारी शब्द—विकारी शब्द चार प्रकार के होते हैं—**संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया**।

(१) **संज्ञा**—(Noun) संज्ञा किसी वस्तु के नाम को कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती हैं—**व्यक्तिवाचक** (Proper Noun), **जातिवाचक** (Common Noun) और **भाववाचक** (Abstract Noun)। व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ व्यक्ति को पहिचानने या पुकारने के लिए अपनी इच्छानुसार रखे हुए संकेत-मात्र हैं, जैसे—दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, लक्ष्मण इत्यादि। जातिवाचक संज्ञा से एक जाति के सभी पदार्थों का समान रूप से बोध होता है। जैसे—बैल, भैंस, गाय, घोड़ा, इत्यादि। भाव वाचक संज्ञा के अन्तर्गत लोभ, मोह, काम क्रोध इत्यादि संज्ञाएँ आती हैं।

कुछ वैयाकरण समूहवाचक (Collective Noun) और द्रव्यवाचक (Material Noun) संज्ञाओं को पृथक मानते हैं। समूह वाचक—जैसे—सभा, सेना इत्यादि और द्रव्यवाचक—जैसे—आग, पानी, चाँदी, सोना, इत्यादि।

जिस प्रकार हम ऊपर शब्दों के रूपान्तरों पर विचार कर चुके हैं उसी प्रकार संज्ञाओं के भी रूपान्तर लिंग (Gender), वचन (Number) और कारक (Case) होते हैं।

(२) सर्वनाम—(Pronoun) सर्वनाम उन शब्दों को कहते हैं जिनका प्रयोग संज्ञा के स्थान पर संज्ञा के अर्थ को प्रकट करने के लिए किया जाता है। ये पाँच प्रकार के होते हैं—१. पुरुष वाचक सर्वनाम, २. निश्चयवाचक सर्वनाम ३. अनिश्चय वाचक सर्वनाम, ४. सम्बन्ध वाचक, सर्वनाम और ५ प्रश्नवाचक सर्वनाम। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम मैं, तू, वह, यह, आप, सो, जो कोई, कुछ, कौन, क्या इत्यादि हैं। इनमें से पुरुषवाचक सर्वनाम बोलने वाले, सुनने वाले और जिसके विषय में कुछ कहा जाय उसका बोध कराते हैं, जैसे—यह, वह, ये इत्यादि। निश्चय वाचक सर्वनाम किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान कराते है, अनिश्चय वाचक सर्वनाम से किसी विशेष वस्तु का बोध नहीं होता; जैसे—कोई, कुछ इत्यादि। सम्बन्ध वाचक सर्वनाम एक का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध जोडते हैं; जैसे—जो, सो इत्यादि। प्रश्न वाचक सर्वनाम से प्रश्न का बोध होता है; जैसे—क्या, कौन इत्यादि।

जिस प्रकार संज्ञा के रूपान्तर हैं उसी प्रकार सर्वनाम के भी रूपान्तर होते हैं, परन्तु इन पर केवल वचन और कारक का ही प्रभाव पड़ता है, लिंग का नहीं। लिंग के कारण इनका रूपान्तर नहीं होता।

(३) विशेषण—(Adjective) जिस पद से किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम की कोई विशेषता या उसका गुण प्रकट हो अथवा उनका क्षेत्र संकुचित हो उसे विशेषण कहते हैं। विशेषण द्वारा जिस संज्ञा की विशेषता प्रकट होती है उसे विशेष्य कहते हैं और जो विशेषण विशेष्य से पहले आता है उसे विशेष्य-विशेषण कहते हैं तथा जो विशेषण विशेष्य से पीछे आता है उसे विधेय-विशेषण कहते हैं। विशेषण चार प्रकार के होते हैं—१. गुणवाचक (Adjective of Quality) २. संख्यावाचक (Adjective of Numebr), ३. परिमाण वाचक (Abjective of Quantity) और ४. सार्वनामिक या निर्देशक विशेषण (Demonstrative)। गुणवाचक विशेषण द्वारा संज्ञा अथवा सर्वनाम का गुण, आकार, स्थान, समय और देश आदि की विशेषता पाई जाती है। जैसे :—

रंग—काला, पीला, नीला, हरा, बैंजनी, गुलाबी इत्यादि।
आकार—लम्बा, चौड़ा, गोल, सुडौल, तिरछा, बैंका इत्यादि।
दशा—पतला, मोटा, गाढ़ा, गीला सूखा इत्यादि।
देश—चीनी, जापानी, हिन्दुस्तानी इत्यादि।
स्थान—भीतरी, बाहरी, अन्दरूनी, ऊँचा, नीचा इत्यादि।

दिशा—पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी इत्यादि।

गुण—अच्छा, बुरा, पापी, धर्मात्मा, ज्ञानी इत्यादि।

काल—नया, पुराना, भूत, वर्तमान, गत इत्यादि।

नोट—कर्तृवाचक, कर्मवाचक और क्रिया-द्योतक संज्ञाएँ भी कभी-कभी विशेषण होकर प्रयोग में आती है। जैसे—खेलने वाले विद्यार्थी, पढ़ने वाले विद्यार्थी, मरा हुआ नर, जाना-पहचाना आदमी इत्यादि।

विशेषणों के वे ही लिंग, वचन और कारक होते हैं जो उनके विशेष्य के होते हैं; परन्तु कारक तथा वचन के कारण होने वाले रूपान्तर विशेष्यों में ही होते हैं, विशेषणों में नहीं। विशेष्यों के लिंग के कारण भी आकारान्त विशेषणों में ही कुछ परिवर्तन होता है, अन्य विशेषणों में नहीं।

(४) क्रिया—(Verb) जिस पद से किसी व्यापार का होना या करना पाया जाय वह क्रिया-पद कहलाता है। क्रियाएँ—१. सकर्मक और २. अकर्मक दो प्रकार की होती हैं। जिन क्रियाओं के व्यापार का फल कर्त्ता को छोड़कर कर्म पर पड़ता है वे सकर्मक (Transitive Verb) और जिन क्रियाओं का व्यापार और फल कर्त्ता में ही रहता है वे अकर्मक (Intransitive) कहलाती हैं।

नोट—कुछ क्रियाएँ प्रयोग के अनुसार सकर्मक और अकर्मक बन जाती हैं। बदलना, भरना, ललचाना, खुजलाना इत्यादि का प्रयोग दोनों रूपों में देखिए :—

बदलना—(अकर्मक) दुनिया बदल रही है वीर! तू भी बदल।
(सकर्मक) पहलू बदलकर उसने कहा...

भरना—(अकर्मक) बूँद-बूँद पानी से घड़ा भरता है।
(सकर्मक) उसने आँखें भरकर कहा।

ललचाना—(अकर्मक) मिठाई देख करें जी ललचाता है।
(सकर्मक) यह मिठाई मेरे जी को ललचाती है।

खुजलाना—(अकर्मक) मेरे हाथ खुजला रहे हैं।
(सकर्मक) तनिक मेरी कमर खुजला दो।

४६. अविकारी शब्द—अविकारी शब्दों पर लिंग, वचन, कारक इत्यादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये शब्द चार प्रकार के होते हैं, १. क्रियाविशेषण, २. सम्बन्धबोधक, ३. समुच्चयबोधक, और ४. विस्मयादिबोधक।

(१) क्रियाविशेषण—(Adverb) क्रियाविशेषण अव्यय से क्रिया की कुछ-न-कुछ विशेषता जानी जाती है। क्रियाविशेषण के कालवाचक, स्थानवाचक, परिमाणवाचक और रीतिवाचक चार भेद होते हैं।

कालवाचक—जिस क्रियाविशेषण से समय, अवधि तथा क्रिया के बार-बार होने का ज्ञान हो उसे कालवाचक क्रियाविशेषण कहते हैं। जैसे—आज, कल, परसों, तरसों, अब, जब, कब, जभी, कभी, तभी, अभी, फिर, तुरन्त, पहले, पीछे, प्रथम, निदान, आजकल, नित्य, सदा, सतत, निरन्तर, अब तक, कभी-कभी, अब भी, दिन-भर

रात-भर, महीना भर, कब का, जब का, बार-बार, बहुधा, प्रतिदिन आदि।

स्थानवाचक—जो विशेषण क्रिया के स्थान और दिशा आदि का बोध कराते हैं वे स्थानवाचक क्रियाविशेषण अव्यय कहलाते हैं। जैसे वहां, यहां, कहां, जहां, तहां, आगे, पीछे, नीचे ऊपर, बाहर, भीतर, सर्वत्र, साथ, पास, दूर, सामने, इधर, उधर, जिधर, किधर चारो ओर, आर-पार इत्यादि।

परिमाणवाचक—परिमाणवाचक क्रियाविशेषण अव्यय क्रिया के परिमाण का ज्ञान कराते हैं। जैसे—बहुत, अति, अत्यन्त, खूब, कुछ, किंचित, जरा, निपट, बिलकुल, सर्वथा, इतना, उतना थोड़ा-थोड़ा, केवल, पर्याप्त आदि।

रीतिवाचक—रीतिवाचक क्रियाविशेषण अव्यय द्वारा क्रिया करने की रीति का बोध होता है। जैसे—धीरे-धीरे, अचानक, अनायास, एकाएक, सहसा, सुखपूर्वक, शान्ति-से, हंसते हुए, मन-भर, मनमाने, खटाखट, धड़ाधड़, झटपट, आप ही-आप, शीघ्रता-से, ध्यान पूर्वक आदि।

(२) **सम्बन्धबोधक अव्यय**—(Post positions) सम्बन्ध-बोधक संज्ञा अथवा सर्वनाम का वाक्य के दूसरे शब्दो से सम्बन्ध सूचित करते है। ये प्राय. संज्ञा के बाद आते हैं पर कभी-कभी संज्ञा के पूर्व भी प्रयुक्त होते हैं। सम्बन्ध बोधक के तीन भेद किये जा सकते हैं :—

(क) जिनका प्रयोग नित्य विभक्तियों के साथ होता है :—
भीतर, समीप, पास, नजदीक, बराबर, पीछे, पहले, आगे, परे आदि। इन अव्ययों से पहले प्राय: सम्बन्धकारक की विभक्तियाँ (का—के—की—रा—रे—री) आती हैं।

(ख) कुछ अव्यय ऐसे हैं जिनसे पूर्व बिना विभक्ति के संज्ञा आती है। जैसे—पर्यन्त, सहित, समेत, तक, पर, रहित, हीन, सा, मात्र, भर, सरीखा। वर्षपर्यन्त, दिनपर्यन्त इत्यादि।

(ग) कुछ अव्यय ऐसे है जिनसे पूर्व विभक्तियुक्त और बिना विभक्तियुक्त संज्ञा आती है। जैसे—द्वारा, बिना, योग्य, तले, अनुसार। राम-बिना और राम के बिना ये दोनों ही प्रकार प्रयोग में आता है।

(३) **समुच्चयबोधक अव्यय**—(Conjunction) दो शब्दों, वाक्यों अथवा वाक्यांशों को मिलानेवाले अव्यय योजक कहलाते है। योजक के तीन मुख्य भेद हैं (क) संयोजक, (ख) विकल्प बोधक, (ग) भेद-बोधक।

संयोजक—अनेक अर्थों का संयोग प्रकट करने वाले अव्यय को योजक कहते हैं। और, तथा, एवं, भी इत्यादि संयोजक अव्यय है।

विकल्प-बोधक—अनेक अर्थों में विकल्प प्रकट करने वाले अव्यय को विकल्प-बोधक अव्यय कहते हैं। वा, या, चाहे, अथवा, किंवा, कि, क्या, न—न, न कि, नहीं तो इत्यादि विकल्प बोधक अव्यय हैं।

भेद बोधक—एक बात का दूसरी बात से भेद बतलाने वाले अव्यय को भेद-बोधक अव्यय कहते है। यह विरोधदर्शक, परिमाणदर्शक, संकेतबोधक, स्वरूपवाचक

इत्यादि कई प्रकार के होते हैं।

(४) विस्मयादिबोधक—(Interjection) जिन शब्दों से वक्ता के विस्मय, हर्ष, शोक, लज्जा, ग्लानि आदि मनोभाव प्रकट होते हैं उन्हें द्योतक अथवा विस्मयादि-बोधक कहते हैं। भिन्न-भिन्न मनोविकारों को सूचित करने के लिए भिन्न-भिन्न अव्यय प्रयोग में लाये जाते हैं, जैसे :—

हर्षबोधक—अहा ! वाह वा ! धन्य-धन्य ! शाबाश इत्यादि।

शोकबोधक—आह ! वाह ! ऊह ! हा-हा ! बाप रे ! राम-राम ! हा ईश्वर ! त्राहि-त्राहि इत्यादि।

आश्चर्यबोधक—अहो ! हैं ! ऐं ! ओहो ! क्या इत्यादि।

स्वीकृतिबोधक—ठीक ! अच्छा ! हाँ ! जी हाँ ! इत्यादि।

तिरस्कारबोधक—छि ! हट ! अरे ! दुर ! धिक् ! चुप इत्यादि।

सम्बोधनबोधक—ओ रे ! अरी री ! अजी ! ओ इत्यादि।

अनुमोदनबोधक—ठीक ! वाह ! अच्छा ! शाबाश ! हाँ हाँ इत्यादि।

नोट—(१) कभी-कभी कुछ संज्ञाओं, क्रियाओं, विशेषण और क्रियाविशेषणों का भी प्रयोग विस्मयादिबोधक अव्यय के रूप में किया जाता है। जैसे :—

भगवान्, अच्छा, लो, हट, चुप, क्यों इत्यादि।

नोट—(२) कभी-कभी वाक्यांश या वाक्य भी द्योतक बन जाता है। जैसे :— बहुत अच्छा ! क्यों न हो ! सर्वनाश होगया।

६०. **शब्द-ज्ञान**—ऊपर शब्द-भेदों पर संक्षेप में दृष्टि डाल लेने के पश्चात् अब हमें यह विचार करना है कि हमें उनका ज्ञान अथवा अनुभव किस प्रकार होता है। शब्दों का ज्ञान अथवा अनुभव हमें उच्चारण करने, सुनने और देखने से होता है। उच्चारण से प्राप्त ज्ञान को उच्चारण-ज्ञान, सुनने से प्राप्त ज्ञान को श्रवण-ज्ञान और लिखित शब्दों को देखकर प्राप्त किए ज्ञान को चक्षु-ज्ञान कहते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्द-ज्ञानों में उच्चारण-ज्ञान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे चिन्तन में सबसे अधिक निखरा हुआ चित्र उच्चारण-ज्ञान द्वारा ही प्रस्तुत होता है, परन्तु यह होने पर भी अन्य ज्ञान-साधनों को नगण्य नहीं गिना जा सकता।

अध्याय ७

शब्द-रचना

शब्द और शब्द-भेदों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि हिन्दी-भाषा में शब्दों का निर्माण किस प्रकार किया जाता है।

हिन्दी में शब्दों का निर्माण तीन प्रकार से किया जाता है। १. उपसर्ग के संयोग से २. शब्दों के अन्त में प्रत्यय लगाने से, और ३. समास द्वारा। इनके अलावा दो शब्दों को दुहराने तथा दो समानार्थक अथवा विपरीतार्थक शब्दों के प्रयोग से भी नये शब्द बनाये जाते हैं। किसी प्राणी अथवा पदार्थ से प्राप्त शब्द अथवा वाणी के अनुकरण से भी कुछ शब्दों का निर्माण भाषाकार कर लेते हैं। इस प्रकार के शब्द अनुकरणवाचक अथवा पुनरुक्त कहलाते हैं।

६१. **उपसर्ग से बने शब्द**—उपसर्ग वह शब्दांश है जिसका स्वतन्त्र रूप से कोई विशेष महत्त्व न रहने पर भी जब वह अन्य शब्द के पूर्व जुड़कर आता है तो शब्द के अर्थ में विशेष परिवर्तन कर देता है। आज हिन्दी-भाषा में जो उपसर्ग मिलते हैं वे संस्कृत, हिन्दी और उर्दू भाषा के हैं।

६२. **संस्कृत-उपसर्ग**—ये मुख्यतः २२ हैं, जिनमें से २० विशेष रूप से हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं।

अति—अधिक, उस पार और ऊपर का अर्थ प्रकट करता है। जैसे—अत्यन्त, अत्युक्ति, अतिशय, अतिव्याप्ति इत्यादि। हिन्दी में अति का प्रयोग अधिक के अर्थ में स्वतन्त्र शब्द के रूप में भी किया जाता है।

अधि—समीपता, प्रधानता, ऊँचाई। जैसे—अधिष्ठाता, अध्यक्ष, अधिपति, अधिकार इत्यादि।

अनु—क्रम-सूचक, सदृश्य, पश्चात्। जैसे—अनुशासन, अनुरूप, अनुसार, अनुक्रमण, अनुगमन, अनुग्रह, अनुकरण, अनुसंधान, अनुमान, अनुताप, अनुज, अनुचर, अनुगामी इत्यादि।

अप—लघुता, हीनता, विरुद्धता, अभाव। जैसे—अपवाद, अपव्यय, अपकर्ष, अपकार, अपहरण, अपशब्द, अपकीर्ति, अपयश, अपमान इत्यादि।

अभि—ओर, समीप, अधिक, पूर्ण, इच्छा का प्रकाशक है। जैसे—अभिमत, अभिलाषा, अभ्युदय, अभ्यास, अभिमुख, अभिसार, अभिमान, अभिप्राय, अभिनव इत्यादि।

अव—हीनता, अनादर, पतन। जैसे—अवगाह, अवगत, अवलोकन, अवनत,

अवस्था, अवसान, अवज्ञा, अवरोहण, इत्यादि। प्राचीन कविता में 'अव' के स्थान पर 'औ' का प्रयोग मिलता है।

आ—सीमा, ओर, समेत, कभी, विपरीत। जैसे—आरक्त, आजान, आगमन, आकाश, आकर्षक, आबालवृद्ध, आजन्म, आक्रमण, आरम्भ, आदान, आचरण, आजीवन, आरोहण, इत्यादि।

उत-उद्—ऊपर और उत्कर्ष। जैसे—उत्तम, उत्कंठा, उत्कर्ष, उत्पन्न, उत्पत्ति उद्देश्य, उद्गम, उत्थान, उद्भव, उत्साह, उद्गार, उद्यम, इत्यदि।

उप—लघुता, समीपता, सादृश्य और सहायक। जैसे—उपवेद, उपकार, उपनाग, उपस्थिति, उपभेद, उपमन्त्री, उपदेश, उपवन, उपकूल, उपासना, उपनेत्र इत्यादि।

दुर, दुस—दुष्टता, कठिनता, निन्दनीय, हीनता। जैसे—दुर्बुद्धि, दुर्गम, दुर्जन, दुर्दशा, दुर्दिन, दुर्मति, दुराचार, दुर्गुण, दुर्लभ, दुर्बल, दुष्कर्म, दुष्प्राप्य, दुःसह, (दुस्सह) इत्यादि।

नि—नीचे, भीतर, बाहर। जैसे—निदर्शन, निकृष्ट, निपात, नियुक्त, निरूपण, निगमन, निवास, निवारण, निम्न, निशब, निरोध, निदान, निबन्ध इत्यादि।

निर, निश—रहित, निषेध। जैसे—निर्वास, निराकरण, निर्मम, निरपराध, निर्वाह, निर्भय, निर्दोष, निश्चल निर्जीव, निरोग, निर्मल, निर्लेप इत्यादि हिन्दी में इस उपसर्ग को 'नि' करके ही प्रयोग में लाया जाता है।

परा—अनादर, नाश, विपरीत। जैसे—परामर्श, पराभाव, पराक्रम, पराजय, परावर्तन, परास्त इत्यादि।

परि—त्याग, अतिशय। जैसे—परिच्छेद, परिपूर्ण, परिधि, परिभ्रमण, परिमाण, परिणाम, परिवर्तन, पर्याप्त, परिक्रमा, परिजन इत्यादि।

प्र—यश, गति, उत्पत्ति, उत्कर्ष, अतिशय, व्यवहार। जैसे—प्रताप, प्रबल, प्रसिद्ध, प्रस्थान, प्रसन्न, प्रकाश, प्रलय, प्रमाण, प्रयोग, प्रचार, प्रसार, प्रभु, प्रख्यात इत्यादि।

प्रति—विरोध, बराबरी, प्रत्येक, परिवर्तन। जैसे—प्रतिक्षण, प्रतिध्वनि, प्रतिनिधि, प्रतिकार, प्रत्येक, प्रतिदान, प्रतिकूल, प्रतिवादी, प्रत्यक्ष, प्रत्युपकार इत्यादि।

वि—हीनता, भिन्नता, विशेषता, असमानता। जैसे—विमुख, विकार, वियोग, विशेषता, विराम, विधवा, विदेश, विस्मरण, वियोग, विभाग, विकास, विज्ञान, इत्यादि।

सम—पूर्णता, संयोग। जैसे—संसर्ग, संकल्प, संग्रह, संगम, संयोग, संग्राम, संन्यास, संहार, संस्कृत, सम्मुख इत्यादि।

सु—अच्छा भाव, सुखी, सहज, सुन्दर। जैसे—सुकृत, सुकर्म, सुगमता, सुवास, सुभाषित, सुयश इत्यादि।

नोट—एक शब्द के साथ कभी-कभी एक से अधिक उपसर्गों का भी प्रयोग किया जाता है। —प्रत्युपकार, निराकरण, समालोचना इत्यादि।

६३. उपसर्ग के समान अव्यय और विशेषण—कुछ विशेषण और अव्यय भी

उपसर्गों के समान ही व्यवहार में प्रयोग किये जाते है । यह बहुधा स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किये जाते है ।

अधस्—नीचे, निम्न । जैसे—अधोमुख, अधोगति, अध.पतन, अधोभाग, अधः स्थल इत्यादि ।

अंतः, अन्तर—अन्दर । जैसे—अन्तर्दशा, अन्त.करण, अन्तर्ध्यान, अन्तर्भाव, अन्तर्वेदी, अन्त.पुर, अन्तर्गत इत्यादि ।

अमा—निकट । जैसे—अमावस्या, अमात्य, इत्यादि ।

अलम्—सुन्दर (यह बहुधा 'कृ' धातु के पहले आता है) जैसे—अलंकृत, अलंकार इत्यादि ।

आविर—प्रकट, बाहर । जैसे—आविष्कार, आविर्भाव इत्यादि ।

इति—ऐसा, यह । जैसे—इतिहास, इतिवृत्ति, इतिपूर्व, इतिकर्त्तव्यता इत्यादि । (हिन्दी मे इति स्वतंत्र शब्द के रूप में भी प्रयुक्त होता है ।)

कु, का, कद—बुरा । जैसे—कुशकुन, कुरूप, कुकर्म, कुकार्य, कापुरुष, कदाचार इत्यादि ।

चिर—बहुत, सदैव । जैसे—चिर-परिचित, चिरकाल, चिरंजीव, चिरस्थायी, चिरायु इत्यादि ।

तिरस्—तुच्छ । जैसे—तिरोहित, तिरस्कार इत्यादि ।

न—अभाव । जैसे—नग्न, नास्तिक, नपुंसक, नकार इत्यादि ।

नाना—बहुत । जैसे—नाना रूप, नाना प्रकार इत्यादि । (हिन्दी में नाना स्वतन्त्र शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है ।)

पुरस्—सामने । जैसे—पुरस्कार, पुरोहित इत्यादि ।

पुरा—पहले । जैसे—पुरातत्व, पुरातन इत्यादि ।

पुनर्—फिर । जैसे—पुनर्विवाह, पुनर्जन्म इत्यादि ।

प्राक्—पहले । जैसे—प्राक्कथन इत्यादि ।

प्रातः—सवेरा । जैसे—प्रातःकाल, प्रातः स्नान इत्यादि ।

प्रादुर—प्रकट । जैसे—प्रादुर्भाव इत्यादि ।

बहिर—बाहर । जैसे—बहिर्द्वार इत्यादि ।

स—सहित । जैसे—प्रेम, सजीव, सजातीय, इत्यादि ।

सत्—अच्छा । जैसे—सत्पात्र, सत्कर्म, सत्कार्य, सद्धर्म, सद्मार्ग, इत्यादि ।

सह—साथ । जैसे—सहपाठी, सहगामी, सहकारी, सहागमन, सहज इत्यादि ।

स्व—अपना । जैसे—स्वदेश, स्वधर्म, स्वतन्त्र, स्वभूमि, स्वकाज, स्वनाम इत्यादि ।

स्वयं—अपने आप । जैसे—स्वयंबर इत्यादि ।

६४. हिन्दी-उपसर्ग—ये प्रायः संस्कृत-उपसर्गों के अपभ्रंश-मात्र ही हैं और इनका प्रयोग हिन्दी के तद्भव शब्दों से पूर्व किया जाता है ।

अ—अभाव, निषेध। जैसे—अचेत, अतोल, अथाह, अजान, अबेर, अलग, अपढ़, अमेल, अबला, अनाथ, अशक्त, अशोक, अकाल इत्यादि।

अन—अभाव, निषेध। (यह संस्कृत में स्वरादि शब्दों से पूर्व 'अ' 'अन' हो जाता है, परन्तु हिन्दी में यह व्यंजनादि शब्दों के पूर्व भी प्रयोग में आता है।) जैसे—अनमोल, अनमेल, अनबन, अनहित, अनपढ़, अनहोनी, अनमना, अनदेखी, अनजानी इत्यादि।

अध—आधा। जैसे—अधपका, अधकचरा, अधमरा, अधजिया, अधसेरा, अधपई, अधखाया, इत्यादि।

उन—एक कम। जैसे—उन्नीस, उन्तीस, उन्तालीस, उनंचास, उन्सठ, उन्हतर उनासी इत्यादि।

औ—हीनता, निषेध। जैसे—औघट, औडर, औगुन, औसर इत्यादि।

क, कु—बुराई, नीचता। जैसे—कपूत, कुढंग, कुखेत इत्यादि।

दु—बुरा, हीन। जैसे दुष्कर्म, दुर्बल इत्यादि।

नि—निषेध, अभाव। जैसे—निकम्मा, निडर, निहत्था, निधड़क, निगोड़ा इत्यादि।

बिन—निषेध। जैसे—बिनजाना, बिनब्याहा, बिनकाम, बिनादेखा, बिनखाया, बिनचाखा इत्यादि।

भर—पूर्ण। जैसे—भरमार, भरपेट, भरपूर, भरसक इत्यादि।

स—उत्तम, सहित। जैसे—सजग, सरस, सगोत्र, सपूत, सकाम, सज्ञान सहित इत्यादि।

६५. **उर्दू-उपसर्ग**—उर्दू और हिन्दी का सम्पर्क आज इतना घनिष्ठ हो गया है कि दोनों भाषा एक दूसरी से काफ़ी प्रभावित हुई हैं। फ़ारसी तथा अरबी के जो उपसर्ग, उर्दू में प्रचलित हैं, वे हिन्दी में भी व्यवहृत होते हैं। निम्नलिखित उर्दू-उपसर्गों का हिन्दी में खूब प्रयोग होता है:—

अल—निश्चित्। जैसे—अलबत्ता, अलगरज़ इत्यादि।

कम—हीन, थोड़ा। जैसे—कमउम्र, कमख़याल, कमसिन, कमज़ोर, कमहिम्मत, इत्यादि।

खुश—उत्तम। जैसे—खुशदिल, खुशबू, खुशहाल, खुशवक्त, खुशकिस्मत, खुशखबरी, खुशख़याली, खुशनसीबी, खुशगवारी इत्यादि।

गैर—निषेध। जैसे—गैरहाज़िर, गैरवाजिब, गैरकानूनी, गैरमुमकिन इत्यादि।

दर—में। जैसे—दरकार, दरअसल, दरमियान इत्यादि।

ना—अभाव। जैसे—नापसंद, नामुमकिन, नासमझ, नाकिस, नाराज, नालायक़, नाहिहंद इत्यादि।

ब—ओर, साथ अनुसार जैसे—बनाम, बदौलत, बदस्तूर इत्यादि।

बद—बुरा। जैसे—बदमाश, बदनाम, बदकार, बदक़िस्मत, बदबू, बदहज़मी,

बद्दिमाग़, बदमज़ा, बदहया, बदख़याल, बदहवास इत्यादि ।

बर—ऊपर । जैसे—बरदाश्त । बरख़ास्त इत्यादि ।

बा—से । जैसे—बाक़ायदा, बाक़लम, बाइज्ज़त इत्यादि ।

बिला—विना । बिनालिहाज़, बिलाख़याल, बिलाशक, बिनाकसूर, बिनाप्रयत्न, बिलादिमाग़, बिलाकाम इत्यादि ।

बे—बिना । जैसे—बेईमान, बेइज्ज़त, बेरहम, बेचारा, बेवकूफ, बेकसूर, बेकार, बेकाम, बेमायने, बेइन्तज़ाम, बेअक़्ल, बेदिमाग़ इत्यादि ।

ला—बिना । जैसे—लापरवाह, लापता, लाचार, लावारिस, लामज़हब, इत्यादि ।

सर—मुख्य । जैसे—सरताज, सरकार, सरदार, सरपंच, सरहद, सरगम इत्यादि ।

हम—मान । जैसे—हमदर्दी, हमनाम, हमराह, हममज़हब, हमउम्र, हमकाम, हमपेशा, हमराह, हमख़याल, हमदम इत्यादि ।

हर—प्रत्येक, जैसे—हरदिन, हररोज़, हरसाल, हरएक, हरकाम, हरआदमी हरबार, हरदम इत्यादि ।

६६. एक शब्द में कई उपसर्ग—निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

कृ धातु से कार—प्रकार, आकार, विकार, उपकार, साकार, प्रतिकार, इत्यादि ।

भू धातु से भव—अभाव, प्रभाव, उद्भव, अनुभव, पराभव, सम्भव इत्यादि ।

हृ धातु से हार—उपहार, संहार, व्यवहार, आहार, विहार इत्यादि ।

दिश धातु से देश—सुदेश, संदेश, उपदेश, विदेश, आदेश इत्यादि ।

चर धातु चार—उपचार, व्यभिचार, संचार, आचार, विचार, प्रचार इत्यादि ।

क्रम—उपक्रम, अतिक्रम, पराक्रम, विक्रम, इत्यादि ।

मल—अमल, परिमल, विमल, निर्मल, इत्यादि ।

पद धातु से—सम्पदा, आपदा, विपदा, इत्यादि ।

स्था धातु से—अवस्थान, संस्थान, स्थान, संस्था, अवस्था, व्यवस्था, अनुष्ठान इत्यादि ।

ज्ञा धातु से—आज्ञा, संज्ञा इत्यादि ।

नोट—(१) प्रायः ऐसा पाया जाता है कि संस्कृत के उपसर्ग संस्कृत के शब्दों में हिन्दी के उपसर्ग हिन्दी के तद्भव और कुछ शब्दों में तथा उर्दू के उपसर्ग उर्दू शब्दों में प्रयुक्त होते हैं । परन्तु आज के लेखक इस नियम का रूढ़िवादी ढंग से पालन न करके स्वतन्त्र रूप से प्रयोग कर डालते हैं । उदाहरण स्वरूप 'हर' उर्दू प्रत्यय को 'हर व्यक्ति' लिखकर हिन्दी शब्द के साथ भी जोड़ देते हैं । और इसी प्रकार इस नियम को अनेकों स्थान पर लेखक मानने से इन्कार करते हैं ।

२. एक ही शब्द में कई-कई उपसर्ग भी प्रयुक्त हो सकते हैं । एक से लगाकर चार तक प्रत्यय भी एक ही शब्द के साथ प्रयोग किये जाते हैं ।

वद् धातु से—अनुवाद, संवाद, अपवाद, प्रवाद, विवाद इत्यादि ।

६७. प्रत्यय द्वारा निर्मित शब्द—शब्द के अन्त में आने वाले शब्दांश को प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय कृत और तद्धित दो प्रकार के होते हैं। क्रिया या धातु के पश्चात् आनेवाले प्रत्यय कृत-प्रत्यय कहलाते हैं और उनके योग से बनने वाला शब्द कृदन्त कहलाता है। संज्ञा और विशेषण शब्दों के अन्त में आनेवाले प्रत्यय तद्धित प्रत्यय कहलाते हैं और उनके योग से बने शब्द तद्धितान्त कहलाते हैं।

६८. कृत-प्रत्यय—कृतान्त संज्ञा और विशेषण दो प्रकार के होते हैं। यहाँ हम संस्कृत तथा हिन्दी के मुख्य-मुख्य कृदन्तों पर विचार करेंगे।

संस्कृत कृत,प्रत्यय

६९. संस्कृत प्रत्ययों के योग से बनी हुई संज्ञाएँ :—

(१) भाव वाचक संज्ञाएँ :

अ प्रत्यय से—कम + अ = काम, क्रुद्ध + अ = क्रोध ।

अन प्रत्यय से—भू + अन = भवन, गम् + अन = गमन ।

अना प्रत्यय से—विद् + अना = वेदना, वन्द + अना = वन्दना ।

आ प्रत्यय से—इष् + आ = इच्छा, पूज् + आ = पूजा ।

न (नङ्) प्रत्यय से—यज् + न = यज्ञ, प्रच्छ + न = प्रश्न ।

ति प्रत्यय से—शक् + ति = शक्ति, गम् + ति = गति ।

या प्रत्यय से—विद् + या = विद्या, मृग + या = मृगया ।

२. कर्तृवाचक संज्ञाएँ :

अक प्रत्यय से—कृ + अक = कारक, गै + अक = गायक ।

अन प्रत्यय से—नी + अन = नयन, गह् + अन = गहन ।

दा, स्थ, कृ, चर प्रत्यय से—धन + दा = धन्दा, गृह + स्थ = गृहस्थ, कुम्भ + कृ = कुम्भकार, थल + चर = थलचर ।

अ प्रत्यय से—सृप + अ = सर्प, दिव् + अ = देव ।

ता प्रत्यय से—दा + ता = दाता, भुज् + ता = भोक्ता ।

उ प्रत्यय से—तन् + उ = तनु, बन्ध् + उ = बन्धु ।

उक प्रत्यय से—सयन्द + उक = सिधुक, भिक्ष + उक = भिक्षुक ।

ई प्रत्यय से—त्यज् + ई = त्यागी, दुष + ई = दोषी ।

३. कर्मवाचक संज्ञाएँ :—

अ प्रत्यय से—अर्थ् = अर्थ ।

य प्रत्यय से—कृ + य = कृत्य, शास + य = शिष्य ।

संस्कृत कृत प्रत्ययों के योग से बने विशेषण

७०. भूतकालिक कृदन्त-विशेषण :—

त प्रत्यय से—भू + त = भूत, मृद् + त = मरा ।

न (ण) प्रत्यय से—खिद्+न=खिन्न, जृ+ण=जीर्ण।

७१. वर्तमानकालिक कृदन्त-विशेषण :—

मान प्रत्यय से—विद्+मान=विद्यमान, सेव्+मान=सेव्यमान।

७२. भविष्यकालिक औचित्यबोधक कृदन्त विशेषण :—

तव्य प्रत्यय से—कृ+तव्य=कर्तव्य, वच्+तव्य=वक्तव्य।

अनीय प्रत्यय से—दृश्+अनीय=दर्शनीय, श्रु+अनीय=श्रवणीय।

य प्रत्यय से—द+य=देय, पूज+य=पूज्य।

७३. अन्य विशेषण :—

भु+ई=भावी। लघ्+उ=लघु। नश्+वर=नश्वर।

७४. कृत्प्रत्यान्त का अन्य शब्दों के साथ मेल :—

कुम्भ+कृ (कार)=कुम्भकार।

मनः+हृ (हारी)=मनोहारी।

भुज्+गम् (ग)=भुजंग।

मनसि+जन् (ज)=मनसिज।

कृत+हन् (घ्न)=कृतघ्न।

सत्य+विद (वादी)=सत्यवादी।

७५. उपसर्ग के साथ कृत्प्रत्यान्त शब्द :—

प्र+नम+तिक्त=प्रणति।

उत्+तृ+क्त=उत्तीर्ण।

वि+श्वस+क्त=विश्वस्त।

परि+श्रम+णिन=परिश्रमी।

आ+सद्+क्ति=आसक्ति।

प्र+सद्+क्त=प्रसन्न।

हिन्दी कृत् प्रत्यय

७६. हिन्दी कृत-प्रत्ययों से बनी हुई संज्ञाएँ :—

(१) भाव वाचक संज्ञाएँ—भाव वाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ क्रिया के पश्चात् आने वाले 'ना' को हटाकर उसके स्थान पर अ, आ, आई, आन, आप, आव, आपा, आस, ई, औनी, त, ती, न्ती, ना, नी, रा, वट, हट, आदि प्रत्यय जोड़ देने से बनती हैं।

अ—भरना से भार, दौड़ना से दौड़, खेलना से खेल।

आ—फेरना से फेरा, घेरना से घेरा।

आई—पढ़ना से पढ़ाई, लड़ना से लड़ाई, चढ़ना से चढ़ाई, भरना से भराई।

आप—मिलना से मिलाप, अलापना से अलाप।

आव—मिलना से मिलाव, खिचना से खिचाव, जुड़ना से जुड़ाव।

आपा—बूढ़ाहोना से बुढ़ापा, सठियाना से सठियापा।

आस—निकसना से निकास, विकसना से विकास, खटियाना से खटास ।

ई—बोलना से बोली, बलना से बाली, हँसना से हँसी ।

औनी—पीसना से पिसौनी, चाबना से चबैनी ।

त—बचना से बचत, खपना से खपत, बढ़ना से बढ़त ।

ती—चढ़ना से चढ़ती, बढ़ना से बढ़ती ।

न्ती—बढ़ना से बढ़न्ती, कूटना से कुटन्ती ।

न—लेना से लेन, देना से देना, चिढ़ना से चिढ़न, भड़कना से भड़कन, अकड़ना से अकड़न ।

नी—दलना से दलनी, मलना से मलनी, छलना से छलनी, चाटना से चटनी, बाँटना से बँटनी, माँगना से मँगनी ।

रा—बँटवाना से बँटवारा ।

वट—मिलना से मिलावट, सजाना से सजावट, खिचवाना से खिचावट, दिखाना से दिखावट ।

हट—चिल्लाना से चिल्लाहट ।

(२) कर्तृवाचक संज्ञाएँ—कर्तृवाचक कृदन्तीय संज्ञा बनाने के लिए क्रिया के अन्त में 'ना' का लोप करके आ, री, का, र, इया प्रत्यय जोड़ देने चाहिएँ। जैसे :—

आ—काटना से काटा, बाँटना से बाँटा ।

री—काटना से कटारी, आटना से अटारी ।

का—उचकना से उचक्का, भौंचकना से भौंचक्का ।

र—झालना से झालर ।

इया—धुनना से धुनिया, बुनना से बुनिया, डालना से डलिया ।

(३) कर्मवाचक संज्ञाएँ :—

कर्मवाचक कृदन्तनीय सँज्ञाएँ क्रिया के अन्त से 'ना' का लोप करके ना, नी, इत्यादि लगाने से बनती हैं। जैसे :—

ना—ओढ़ना से ओढ़ना, खाना से खाना ।

नी—ओढ़ना से ओढ़नी, छीना से छैनी ।

(४) करणवाचक संज्ञाएँ :—

करणवाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ बनाने के लिए क्रिया के अन्त से 'ना' को हटाकर उसके स्थान पर आ, आनी, ई, ऊ, औटी, ना, नी, इत्यादि प्रत्यय लगाये जाते हैं। जैसे :—

आ—झूलना से झूला ।

आनी—मथना से मथानी, कहना से कहानी ।

ई—खेलना से खेती, रेतना से रेती ।

ऊ—झाड़ना से झाड़ू, राड़ करना से राड़ू, चाटना से चाटू ।

औटी—कसना से कसौटी ।

न—बेलना से बेलन, तेलना से तेलन ।

ना—बेलना से बेलना, खेलना से खिलौना ।

नी—बेलना से बेलनी ।

७७ हिन्दी कृत्‌प्रत्ययों के योग से बने विशेषण :—

(१) कर्तृवाचक विशेषण :—

कर्तृवाचक कृदन्तीय विशेषण बनाने के लिए क्रिया के 'ना' शब्दांश का लोप करके उसके स्थान पर आऊ, आक, आका, आड़ी, आलू, इयाँ, इयल ऊ, एरा, ऐत, ऐया, ओड़, ओड़ा, क, क्कड़, टा, दार, ना, वन, वाला, वैया, सार, हार, हारा, इत्यादि प्रत्यय लगा दिये जाते हैं। जैसे :—

आऊ—टिकना से टिकाऊ, रुकना से रुकाऊ, चलना से चलाऊ ।

आक—चलना से चालक, तैरना से तैराक, पैरना से पैराक ।

आका—लड़ना से लड़ाका, खड़कना से खड़ाका, पटकना से पटाका ।

आड़ी—खेलना से खिलाड़ी ।

आलू—झगड़ना से झगड़ालू, भिड़ना से भिड़ालू ।

इया—बढ़ना से बढ़िया, घटना से घटिया, लोटना से लुटिया ।

इयल—अड़ना से अड़ियल, सड़ना से सड़ियल, भिड़ना से भिड़यल ।

ऊ—पढ़ना से पढ़ू, भिड़ना से भिड़ू, चढ़ना से चढ़, बेचना बेचू ।

एरा—लूटना से लुटेरा, बसना से बसेरा ।

ऐत—डाका डालना से डकैत ।

ऐया—लोटना से लुटैया, खेलना से खिलैया, चलना से चलैया ।

ओड़—हँसना से हँसोड़ ।

ओड़ा—हँसना से हँसोड़ा ।

क—चलना से चालक ।

क्कड़—पीना से पियक्कड़, खेलना से खिलक्कड़, चलना से चलक्कड़ ।

टा—चुराना से चोट्टा ।

ना—रोना से रोना, घिनौना से घिनौना ।

वन—सुहावना से सुहावन, लुभावना से लुभावन ।

वाला—पढ़ना से पढ़नेवाला, दौड़ना से दौड़नेवाला ।

वैया—लिखना से लिखवैया, गाना से गवैया, पढ़ना से पढ़वैया ।

सार—मिलना से मिलनसार ।

ऐया—पढ़ना से पढ़ैया ।

हार—रखन से राखनहार, चलना से चलनहार, रोना से रोवनहार ।

हारा—रोना से रोवनहार, गाना से गावनहारा ।

७८. क्रियाद्योतक विशेषण :—

क्रिया-द्योत विशेषण दो प्रकार के होते हैं, वर्तमानकालिक और भूतकालिक ।

वर्तमानकालिक क्रिया-द्योतक कृदन्तीय विशेषण क्रिया से 'ना' को हटाकर 'त' प्रत्यय जोड़ देने से बना है और भूतकालिक क्रिया-द्योतक कृदन्तीय विशेषण क्रिया से 'ना' का लोप करके उसके स्थान पर 'आ' प्रत्यय लगा देने से बनता है। जैसा :—

(१) वर्तमानकालिक—बहना से बहता, मरना से मरता, गाना से गाता।

(२) भूतकालिक—पढ़ना से पढ़ा, धोना से धोया, गाना से गाया।

नोट— १. कहीं-कहीं वर्तमानकालिक क्रियाद्योतक कृदन्ती विशेषण में 'ना' के स्थान पर 'हुआ' भी आ जाता है। जैसे :—

जाना से जाता हुआ, गाना से गाता हुआ, पीना से पीता हुआ।

नोट—२. वर्तमानकालिक और भूतकालिक विशेषण क्रिया इत्यादि की विशेषता बताने के कारण कभी-कभी अव्यय के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के अव्यय प्रायः द्वित्व के रूप में मिलते हैं। जैसे :—

हँसते-हँसते, पढ़ते-पढ़ते, गाते-गाते, रोते-रोते इत्यादि।

संस्कृत तद्धित प्रत्यय

७९. जातिवाचक संज्ञाओं से बनी भाववाचक संज्ञाएँ :—

संस्कृत की तत्सम जातिवाचक संज्ञाओं के अन्त में ता, त्व, अ, य, आदि लगाने से भाववाचक संज्ञाएँ बनाई जाती जैसे :—

ता—प्रभु से प्रभुता, वीर से वीरता, धीर से धीरता, गम्भीर से गम्भीरता।

त्व—पुरुष से पुरुषत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व, बंधु से बंधुत्व।

अ—मुनी से मौन, गुणी से गुण, ऋणी से ऋण।

य—पण्डित से पांडित्य, सखी से सख्य।

८०. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से बनी भाववाचक संज्ञाएँ :—

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से अप्रत्यवाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए उनमें अ, य, आयन, इ, एय, इक इत्यादि का योग किया जाता है। जैसे :—

अ—वसुदेव से वासुदेव, सुमित्र से सौमित्र, मनु से मानव।

य—दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य।

आयन—नर से नारायण, बदर से बादरायण।

एय—राधा से राधेय, सीता से सीतेय, कुन्ती से कुन्तेय।

नोट—इन प्रयोगों में एक सन्तान के अर्थ में आता है और दूसरा किसी अन्य अर्थ में—सन्तान को छोड़ कर अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होने वाला परिवर्तित होता है। जैसे :—शक्ति से शाक्त, व रामानन्द से रामानन्दी, शिव से शैव तथा विष्णु से वैष्णव।

८१. संस्कृत तद्धित के योग से विशेषण द्वारा बनी संज्ञाएँ :—

संस्कृत के तत्सम शब्दों के अन्त में ता, त्व, तथा ता (अण) प्रत्यय का प्रयोग करने से भाववाचक संज्ञा बन जाती है। जैसे :—

ता—बुद्धिमान से बुद्धिमत्ता, मूर्ख से मूर्खता, शिष्ट से शिष्टता।

त्व—लघु से लघुत्व, वीर से वीरत्व, एक से एकत्व।

ता—गुरु से गुरुता, मधुर से मधुरता, वीर से वीरता।

८२. **संस्कृत तद्धित के संयोग से संज्ञाओं से बने विशेषण :—**

संस्कृत की तत्सम संज्ञाओ में य, इक, मती, वती, विन, मय, इत्, ल, इल्, र, यई, इय ईन, इन, निष्ट आदि तद्धित प्रत्यय लगाने से विशेषण बनते हैं। जैसे :—

इक—नाव से नाविक, न्याय से नैयायिक, पुराण से पौराणिक, मुख से मौखिक, लोक से लौकिक, दिन से दैनिक।

य—अन्त से अन्त्य, तालु से तालव्य, प्राक् से प्राच्य, ग्राम से ग्राम्य, दीन से दैन्य।

मती—बुद्धि से बुद्धिमती, श्रीमान् से श्रीमती।

वती—तेज से तेजवती, गुण से गुणवती।

वी—मेधा से मेधावी, तेजस् से तेजस्वी।

मय—रूप से रूपमय, आनन्द से आनन्दमय, ज्ञान से ज्ञानमय।

इत—दुखी से दुखित, आनन्द से आनन्दित, क्षुधा से क्षुधित।

ल—मांस से मांसल, पंक से पंकिल, जटा से जटिल।

इल—तंद्र से तंद्रिल।

र—मुख से मुखर, मधु से मधुर।

ईन—कुल से कुलीन, ग्राम से ग्रामीण।

इय—राष्ट्र से राष्ट्रीय, जाति से जातीय, देश से देशीय।

इन—मल से मलिन।

निष्ट—विचार से विचारनिष्ट, कर्म से कर्मनिष्ट।

हिन्दी तद्धित प्रत्यय

८३. ऊपर हमने संस्कृत-तत्सम-शब्दों में तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर किस प्रकार संज्ञाएँ और विशेषण बनाये जाते है यह स्पष्ट किया है। तद्धित प्रत्यान्त शब्दों के उदाहरण देखिये :—

(१) भाववाचक तद्धितीय संज्ञाएँ :—

भाववाचक तद्धितीय संज्ञाएँ बनाने के लिए संज्ञाओं अथवा विशेषणों के अन्त में आई, पा पन, वट, हट, त, स, नी, इत्यादि को लगाया जाता है जैसे :—

आई—लाल से ललाई, पीला से पिलाई, रंग से रंगाई।

प—बूढ़ा से बुढ़ापा, राँड से रंडापा, मोट से मुटापा।

पन—लड़का से लड़कपन, बच्चा से बचपन, नीच से नीचपन, ऊँच से ऊँचपन।

वट—लेख से लिखावट, कढ़ाई से कढ़ावट, बुनाई से बुनावट।

हट—कड़वा से कड़वाहट।

त—रङ्ग से रङ्गत, सङ्ग से सङ्गत पंक्ति से पङ्गत।

स—मीठा से मिठास, हविश से हवास।

नी—चाँद से चाँदनी।

(२) ऊनवाचक तद्धितीय संज्ञाएं :—

ऊनवाचक तद्धितीय संज्ञाएं आ, वा, ई, की, टा, डी, या, री, इत्यादि तद्धित प्रत्ययों के योग से बनती है। इस प्रकार की संज्ञाओं से छोटापन, लघुत्व और हीनता की भावना का स्पष्टीकरण होता है। जैसे :—

आ—पिल्ला से पिलुआ।

वा—बछड़ा से बछवा, बेटा से बिटवा, बच्चा से बचवा।

ई—रस्सा से रस्सी, कोठरा से कोठरी, प्याला से प्याली, कटोरा से कटोरी।

की—बेटी से बिटकी, ढोल से ढोलकी।

टा—रूंग से रोंगटा।

डी—टुकड़ा से टुकड़ी।

या—पट्ठा से पठिया, बच्चा से बचिया, बच्छ से बछिया।

री—पत्थर से पथरी, खप्पर से खपरी, छप्पर से छपरी।

(३) कर्तृवाचक तद्धितीय संज्ञाएं :—

कर्तृवाचक तद्धितीय संज्ञाएं बनाने के लिए संज्ञा के पश्चात आर, इया, ई, उआ, रा, वन, वाल, वाला इत्यादि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। जैसे :—

आर—सोना से सुनार, लोहा से लोहार।

इया—आढ़त से आढ़तिया, तेल से तेलिया, बीच से बिचौलिया।

ई—ताम्बूल से तम्बोली, माला से माली, तेल से तेली, योग से योगी भोग से भोगी, रोग से रोगी, त्याग से त्यागी, बैराग से बैरागी।

रा—साँप से सपेरा, लूट से लुटेरा।

वाल—कोतवाली से कोतवाल।

हारा—सुख से सुखिहारा, चूड़ी से चुड़िहारा।

(४) सम्बन्धवाचक तद्धितीय संज्ञाएं :—

हाल—नाना से ननिहाल, मामा से ममिहाल, फूफा से फुफिहाल।

औती—बाप से बपौती, काठ से कठौती, मान से मनौती।

औटी—चमार से चमरौटी।

जा—भाई से भतीजा।

ठी—अँगुली से अँगूठी।

एल—नाक से नकेल, चाक से चकेल।

संज्ञाओं से बने तद्धितीय विशेषण

८४. संज्ञाओं से विशेषण बनाने के लिए आ, आई, ई, री, ऊ, एरा, ऐया, ऐत

ऐत, ओ, का, ठा, ना, ला, वाला, वाँ, सा, हरा, हला इत्यादि प्रत्ययों का संयोग किया जाता है। जैसे :—

आ—भूख से भूखा, ठंड से ठंडा,

आई—पंडित से पंडिताई।

ई—मास्टर से मास्टरी, देहात से देहाती, शहर से शहरी, बनारस से बनारसी।

वी—देहली से देहलवी, लखनऊ से लखनवी।

ऊ—पेट से पेटू, खाना से खाऊ, गर्ज से गरजू, बाजार से बाजारू।

एरा—चचा से चचेरा, मामा से ममेरा, फूफा से फुफेरा।

ऐया—घर से घरैया।

ऐत—लादना से लदैत, गुण से गुणैत।

ईल—हँसी से हँसैल, सड़ायँद से सड़ैल।

ओं—तीस से तीसों, चालीस से चालिसों, पचास से पचासों।

का—माँ से मयका।

ठा—छै से छठा।

ना—आप से अपना।

ला—पहल से पहला।

वाला—मेरठ से मेरठवाला, बनारस से बनारसवाला।

वाँ—पाँच से पाँचवाँ, छठा से छठवाँ, तीस से तीसवाँ, बीस से बीसवाँ।

सा—उदास से उदासा, उपवास से उपवासा।

हरा—एक से इकहरा, दो से दुहरा, तीन से तिहरा, चार से चौहरा, सोना से सुनहरा।

हला—रूप से रुपवाला।

कुछ तद्धितीय अव्यय

८५. यह अव्यय आँ, ए, ओं, तक, न, इ, भर, यों, सों इत्यादि तद्धित प्रत्ययों से बनते हैं। जैसे—जहाँ, तहाँ, कहाँ, वहाँ, यहाँ, केते, एते, जेते, जैसे, कैसे, वैसे, ऐसे, पहरों, दिनों, कोसों, रातों, वर्षों सालों, भीतर तक, बाहर तक, यहाँ तक, वहाँ तक, अब, तब, जब, कब, घर-भर, दिन-भर, रात-भर, परसों।

संज्ञाओं से बनी तद्धितीय क्रियाएँ

८६. कुछ शब्दों में आ, या, ला इत्यादि प्रत्यय जोड़कर इस प्रकार की क्रियाएँ बनाई जाती हैं। कुछ नाम धातु अनियमित हैं और कुछ का निर्माण ध्वनिविशेष के अनुकरण से किया जाता है। जैसे :—खाज से खुजाना, हँसी से हँसाना, लाज से लजाना, गरम से गरमाना, रँग से रँगना इत्यादि।

अकर्मक क्रिया से बनी तद्धितीय सकर्म क्रियाएँ

८७. छूटना से छोड़ना, लदना से लादना, बँटना से बाँटना, हँसना से हँसाना, बिकना से बेचना, फटना से फाड़ना, मरना से मारना, चलना से चलाना, बनना से बनाना इत्यादि।

क्रिया से बनी तद्धितीय करणार्थक क्रियाएँ

८८. माँजना से मजवाना, हँसना से हँसवाना, पीटना से पिटवाना, मारना से मरवाना, बुलाना से बुलवाना, गाना से गवाना, सोना से सुलवाना, जागना से जगवाना इत्यादि।

तद्धितीय संयुक्त क्रियाए

८९. मार बैठना, काट डालना, हँस देना, दे देना, कर देना, देते जाना, खाते जाना, पीते जाना, मारने लगना, पीटने लगना, हँसने लगना, आने देना, पीने देना, खाने देना इत्यादि।

उर्दू तद्धितीय प्रत्ययँ

९०. बहुत से उर्दू के शब्द जो हिन्दी ने अपना लिये हैं और उनका प्रयोग हिन्दी में प्रचुरता के साथ होने लगा है उनमें जहाँ प्रत्यय जोड़ने का प्रश्न खड़ा होता है वहाँ पर प्रत्यय भी उर्दू के ही जोड़े जाते है। नीचे कुछ उर्दू प्रत्ययों से बने शब्दों की तालिका प्रस्तुत की जाती है :—

(१) उर्दू तद्धितीय भाववाचक संज्ञाएँ :

इनका निर्माण गी, ई, आई इत्यादि प्रत्ययों के योग से किया जाता है। जैसे :—मर्दानगी दिल्लगी, ताजगी, बुजुर्गी, बन्दगी, उस्तानी, शागिर्दी, खुदगर्जी, अक्ल-मन्दी, बेवकूफ़ी, ईमानदारी, बेईमानी, बेहयाई, बेवफ़ाई, बदहावाई इत्यादि।

(२) उर्दू तद्धितीय सम्बन्धवाचक संज्ञाएँ :—

खाना, आना, ई, दान इत्यादि प्रत्ययों के संयोग से इन संज्ञाओं का निर्माण होता है। जसे :—

नजराना, जुरमाना, बैलखाना, पीकदान, खानदान।

(३) उर्दू तद्धितीय कर्तृवाचक संज्ञाएँ :—

ये संज्ञाएँ गर, गिर, ची, दार, बीन इत्यादि प्रत्ययों के योग से बनती हैं। जैसे :—

बाजीगर, कारीगर, मशालची, जमींदार, मकानदार, दूकानदार, वफ़ादार, खिद-मतगार, दूरबीन, खुर्दबीन, इत्यादि।

उर्दू तद्धितीय विशेषण

९१. उर्दू तद्धितीय विशेषण संज्ञाओं के अन्त में आना, ई गीन, नाक, वान, मन्द, वर, शाही, बाज इत्यादि प्रत्ययों को जोड़कर बनाए जाते हैं। जैसे :—सालाना,

माहाना, इमारती, गमगीन, बेहतरीन, खतरनाक, खौफ़नाक, मिहरबान, अक्लमन्द, दानिशमन्द, ताकतवर हिम्मतवर, नादिरशाही, अकबरशाही, औरंगजेबशाही, रिश्तेदार, दयानतदार, धोखेबाज, दग़ाबाज, चालबाज, इत्यादि।

प्रत्यन द्वारा विशेष्य और विशेषण बनाना

६२. विशेष्य से विशेषण बनाना :—

विशेष्य से विशेषण बनाने के लिए एक प्रत्यय के स्थान पर दूसरे प्रत्यय को लगाने, जोड़ने अथवा निकाल देने की आवश्यकता होती है। जैसे :—

६३. हिन्दी तथा संस्कृत विशेष्य से बने विशेषण :—

१. कृदन्त से बने विशेष्य से विशेषण :—

भय से भीत, गमन से गत, खेल से खिलाड़ी।

२. तद्धित से बने विशेष्य से विशेषण :—

दया से दयालु, कृपा से कृपालु, श्रद्धा से श्रद्धालु, समाज से सामाजिक, राजनीति से राजनीतिक, साहित्य से साहित्यिक, दिन से दैनिक, इतिहास से ऐतिहासिक, नरक से नारकीय, स्वर्ग से स्वर्गीय, आदर से आदरणीय, देश से देशीय, भारत से भारतीय, प्रान्त से प्रान्तिय, पेट से पेटू, चाट से चाटू, रटना से रट्टू।

विशेषण से विशेष्य बनाना

६४. जिस प्रकार विशेष्य से विशेषण बनाने के लिए प्रत्ययों के परिवर्तन, संयोग या वियोग का आश्रय लिया जाता है उसी प्रकार विशेषण से विशेष्य भी बनाये जाते हैं। जैसे :—

(१) कृदन्त से बने विशेषण से वशेष्य—

हृत से हरण, स्तम्भित से स्तम्भ, लड़ाका से लड़ाई, चालाक से चालाकी, तैराक से तैराकी, लुटेरा से लूट, हँसोड़ा से हँसी।

(२) तद्धित विशेषण से विशेष्य :—

धनी से धन, आनंदित से आनन्द, कुपित से कोप, मायावी से माया, यशस्वी से यश, मेधावी से मेधा, मानसिक से मन, ऐंद्रिक से इन्द्रिय, ऐतिहासिक से इतिहास, शारीरिक से शरीर इत्यादि।

पुल्लिंग विशेष्य से स्त्रीलिंग विशेष्य बनाना

६५. पुलिंग विशेष्य बनाने के लिए शब्द के अन्त में ई, इया, आइन, आनी, आ इत्यादि प्रत्यय जोड़ दिये जाते हैं। जैसे :—

ई—राक्षस से राक्षसी, चमार से चमारी, देव से देवी, राणा से रानी, नर से नारी।

इया—बूढ़ा से बुढ़िया, कुत्ता से कुतिया, बेटा से बिटिया।

नी—तंबोली से तंबोलनी, मास्टर से मास्टरनी, जाट से जाटनी, भील से भीलनी।

आइन—पंडित से पंडिताइन, मास्टर से मास्टराइन, लाला से ललवाइन, ठाकुर से ठकुराइन।

आनी—पंडित से पंडितानी, लाला से ललवानी, जेठ से जेठानी, देवर से देवरानी।

आ—नायक से नायिका, गायक से गायिका, सेवक से सेविका, बालक से बालिका।

स्त्रीलिंग विशेष्य से पुल्लिंग विशेष्य बनाना

६६. स्त्रीलिंग विशेष्य से पुल्लिंग विशेष्य बनाने के लिए ओई, आ, आव, इत्यादि प्रत्ययों के संयोग की आवश्यकता होती है। जैसे :—

ओई—ननद से ननदोई, बहन से बहनोई।

आ—भैंस से भैंसा, चिड़ी से चिड़ा।

आव—बिल्ली से बिलाव।

६७. प्रत्ययों के समान प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द :—

अधीन—पराधीन, स्वाधीन, विचाराधीन, कालाधीन,।

अन्तर—समानान्तर, कालान्तर देशान्तर, भागान्तर, विचारान्तर।

अन्वित—मायान्वित, क्रोधान्वित, दोषान्वित।

अध्यक्ष—कोषाध्यक्ष, सभाध्यक्ष, विषयाध्यक्ष।

अतीत—कालातीत, गणातीत, आशातीत।

अनुरूप—न्यायानुरूप, कालानुरूप, गुणानुरूप, दक्षतानुरूप।

अनुसार—क्रमानुसार, योग्यतानुसार, विद्यानुसार, शिक्षानुसार।

अर्थ—विचारार्थ, धर्मार्थ, समालोचनार्थ, भोजनार्थ।

अर्थी—परमार्थी, पुरुषार्थी, शरणार्थी शिक्षार्थी, विद्यार्थी।

आक्रान्त—चिंताक्रान्त, पदाक्रान्त, विषयाक्रान्त।

आचार—समाचार, शिष्टाचार अनाचार, पापाचार, लोकाचार।

आपन्न—दोषापन्न, स्थानापन्न।

आशय—जलाशय, महाशय।

आस्पद—हास्यास्पद, रोदनास्पद, दुःखास्पद, विचारास्पद, लज्जास्पद।

आढ्य—गुणाढ्य, धनाढ्य।

उत्तर—लोकोत्तर, विश्रामोत्तर।

कर—दिनकर, प्रभाकर, रजनीकर,।

कार—भाष्यकार, प्रबन्धकार, चित्रकार, रचनाकार, नियमकार।

कालीन—पूर्वकालीन, रामकालीन, चन्द्रगुप्तकालीन, अकबरकालीन।

गम्य—विचारगम्य, बुद्धिगम्य।

ग्रस्त—विचारग्रस्त, चिन्ताग्रस्त, विवादग्रस्त, तर्कग्रस्त, भयग्रस्त।

घात—आत्मघात, विश्वासघात।

घ्न—कृतघ्न, विघ्न ।

चर—जलचर, थलचर, नभचर निशाचर, रजनीचर ।

चिन्तक—हितचिन्तक, शुभचिन्तक, दुश्चिन्तक ।

जन्य—अज्ञानजन्य, क्रोधजन्य, तर्कजन्य, क्षोभजन्य ।

ज—अण्डज, पिंडज ।

जाल—माया-जाल, प्रपंच-जाल, जग-जाल विश्व-जाल ।

जीवी—श्रमजीवी, कष्टजीवी, सुखजीवी, चिरजीवी ।

दर्शी—लघुदर्शी, दूरदर्शी, कालदर्शी, लोकदर्शी, समदर्शी ।

द—जलद, घनद ।

दायक—लाभदायक, दुःखदायक, क्षोभदायक, शान्तिदायक, सुखदायक ।

दायी—फलदायी गुणदायी, श्रमदायी, दुःखदायी, शान्तिदायी, आनन्ददायी ।

धर—भूमिधर, महीधर, पयोधर, धरणिधर, भूधर ।

धार—सूत्रधार, कर्णधार ।

धर्म—सेवा-धर्म, जाति-धर्म, देश-धर्म, पत्नि-धर्म पति-धर्म ।

नाशक—गुणनाशक, दोषनाशक, जीवनाशक, पापनाशक फलनाशक ।

निष्ठ—कर्तनिष्ठ, गुणनिष्ठ, कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ ।

परायण—कर्तव्यपरायण, धर्मपरायण, ।

बुद्धि—तुरत-बुद्धि, कर्म-बुद्धि, धर्मबुद्धि, पुण्य-बुद्धि ।

भाव—द्वेष-भाव, मित्र-भाव, सरल-भाव, स्वतन्त्र-भाव ।

भेद—जाति-भेद, कर्म-भेद, धर्म-भेद पाठ-भेद, अर्थभेद ।

युत—श्रीयुत, धर्मयुत ।

रहित—धन-रहित, ज्ञान-रहित, मान-रहित, बुद्धि-रहित ।

रूप—मायारूप, ज्ञानरूप, अनुरूप ।

शील—विचारशील, सहनशील, धर्मशील ।

शाली—बलशाली, गुणशाली, भाग्यशाली, ऐश्वर्यशाली ।

शून्य—विचारशून्य, बुद्धिशून्य, धर्मशून्य ।

साध्य—कष्टसाध्य, द्रव्यसाध्य ।

स्थ—तटस्थ, गृहस्थ, विश्वस्थ ।

हर—रोगहर, पापहर, खेदहर, दुःखहर, कष्टहर ।

हीन—ज्ञानहीन, मानहीन दीनहीन ।

तुलनात्मक प्रत्यय

६८. तर और तम प्रत्ययों का प्रयोग तुलनात्मक क्षेत्र में किया जाता है। इस प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग विशेषणों के साथ किया जाता है। जैसे :—

तर—मधुर से मधुरतर, लघु से लघुतर, प्राचीन से प्राचीनतर ।

तम—मधुर से मधुरतम, लघु से लघुतम, प्राचीन से प्राचीनतम।

समास द्वारा निर्मित शब्द

११. ऊपर जिन शब्दों का वर्णन किया गया है उनका निर्माण एक धातु अथवा क्रिया में कृत प्रत्यय लगाकर या किसी सिद्ध शब्द में तद्धित प्रत्यय लगा कर हुआ है। उक्त क्रिया के अतिरिक्त दो और तीन-तीन सिद्ध शब्दों के संयोग से भी शब्दों का निर्माण किया जाता है। इस प्रक्रिया से बनाये गए शब्द समास कहलाते हैं। समास छः प्रकार के होते हैं—१. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. कर्मधारय, ४. द्विगु, ५. बहुव्रीहि और ६. द्वन्द्व समास। शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त करने को निग्रह कहा जाता है। इन्हीं समास भेदों के आधार पर हम नीचे इनका वर्णन करेंगे :—

(क) अव्ययी भाव समास—अव्ययी भाव समास में सम्पूर्ण शब्द क्रिया विशेषण अव्यय होता है और पहला शब्द प्रधान होता है। संस्कृत में अव्ययी भाव समास का प्रथम शब्द संज्ञा या विशेषण रहता है। हिन्दी में संज्ञा तथा शब्द-भेदों की द्विरुक्ति से भी अव्ययी भाव समास बन जाता है। जैसे :—

(१) संस्कृत—आजन्म, आजानु, प्रतिदिन, यथाविधि, उपकूल, अनुकूल, अधर्म, निर्विघ्न इत्यादि।

(२) हिन्दी—बेधड़क, निधड़क, नाहक, भरपेट।

(३) हिन्दुस्तानी—बेशक, हररोज, हरदिन, हरकाम, नाहक, नाकाम, नालायक़, नामुमकिन।

(ख) तत्पुरुष समास—तत्पुरुष समास में दूसरा शब्द प्रधान रहता है और पहला गौण। प्रधान शब्द बहुधा संज्ञा अथवा विशेषण रहता है और इनके विग्रह में इस शब्द के साथ कर्ता और सम्बोधन कारकों के अतिरिक्त शेष कारकों की विभक्तियाँ लगती हैं। जैसे :—

(१) कर्म तत्पुरुष—आशातीत, स्वर्गप्राप्त, नर्कप्राप्त, आश्रयप्राप्त, कर्मप्राप्त, देशगत, आलिंगत, विषयगत, मनचोर, हृदयचोर।

(२) करण तत्पुरुष—भगवानदत्त, तुलसीकृत, सूरकृत, भक्तिवश, कर्मवश, कार्यवश, मदान्ध, प्रेमान्ध, कष्टसाध्य, भक्तिसाध्य, प्रेमसाध्य, कपड़छन, मुँहमाँगा, मदमाता।

(३) सम्प्रदान तत्पुरुष—देश-भक्ति, राज्य-भक्ति, पितृ-भक्ति, रामार्पण, जीवनार्पण, बलि-पशु भक्ति-निमंत्रण, पाठशाला, रंगशाला, नाट्यशाला, नृत्यशाला, यज्ञशाला, ठकुरसुहाती, प्रेमसुहाती।

(४) अपादान तत्पुरुष—विचारान्ध, जन्मान्ध, दोषमुक्त, जीवनमुक्त, जातिच्युत, पद-च्युत, जातिभ्रष्ट, जातिविमुख, देशविमुख, कर्मविमुख, भवतारण, जीवतारण, गुरुभाई, जगभाई।

(५) सम्बन्ध तत्पुरुष—देवपुत्र, राजपुत्र, देवमन्दिर, राजमन्दिर, विचाराधीन, पराधीन, घुड़दौड़।

(६) अधिकरण तत्पुरुष—राजवास, नगरवास, ग्रामवास, निशाचर, कला-प्रवीण, विद्या-प्रवीण, जगबीती, आपबीती, देशप्रवेश, गृहप्रवेश।

(ग) कर्मधारय समास—कर्मधारय समास में समास का पूर्व-पद विशेषण और उत्तर-पद उसी विशेषण का विशेष्य होता है। कभी-कभी दोनों पद विशेषण भी होते हैं। इसके विशेषता-वाचक और उपमान-वाचक दो भेद होते हैं।

(१) विशेषता-वाचक—विशेषता-वाचक कर्मधारय समास से विशेष्य-विशेषण-भाव सूचित होता है। जैसे—सद्गुण, दुर्गुण, अवगुण, सगुण, भावानंद, परमानंद, भलामानस, विचारान्तर, जन्मान्तर, विषयान्तर, पुरुषोत्तम, शुद्धाशुद्ध, निराशा, दुराशा, कुवचन, सुवचन, सुबुद्धि, धर्मबुद्धि।

(२) उपमान-वाचक—उपमान-वाचक कर्मधारय समास में उपमानोपमेय, भाव जाना जाता है। जैसे—कमल-मुख, चन्द्र-मुख, जीवन-प्रिय, कर-कमल, चरण-कमल, पाणि-पल्लव, नर-रत्न, साधु-समाज, नर-समाज, विद्वान् समाज।

(घ) द्विगु समास—द्विगु समास में उत्तर-पद मुख्य रहता है और पूर्व-पद संख्या-वाचक। जैसे—षड़ानन, त्रिभुवन, नवग्रह, पंसेरी, चौपदी, पंचरत्न, दुसेरी, तिसेरी, चौसेरी, दसेरी।

(ङ) द्वन्द्व समास—द्वन्द्व समास में पूर्व और उत्तर पद दोनों ही का महत्व बराबर रहता है। जैसे—रामकृष्ण, राधाकृष्ण, सीताराम, तन मन-धन, जीवन-मरण, आना-जाना, खाना-पीना, रहन-सहन, देख-भाल, गोपी-नाथ।

(च) बहुब्रीहि समास—बहुब्रीहि समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और वह अपने पदों से पृथक् किसी अन्य संज्ञा का विशेषण होता है। समास के विग्रह में सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम के साथ कर्ता और सम्बोधन कारकों के अतिरिक्त शेष जिन कारकों की विभक्ति लगती है उन्हीं के नामों के आधार पर इनका भी नामकरण कर दिया जाता है। जैसे—निर्दय, विधवा, निर्धन, दुर्जन, उत्तरोत्तर, पश्चिमोत्तर, पूर्वोत्तर, कहा-कही, कहा-सुनी, दशानन, पंचानन, निर्जन, कृतकार्य, दत्तचित्त।

समास के साधारण नियम

१००. हिन्दी में केवल पहले से ही बने कुछ समास प्रचलित हैं। विद्वान् लेखक कुछ समासों का निर्माण स्वयं भी करते हैं। जिस नियम के आधार पर समासों का निर्माण किया जा सकता है वह निम्नलिखित हैं :

१. एक समास में आने वाले शब्द एक ही भाषा के होने चाहिएँ। परन्तु इस नियम के अनेकों अपवाद भी हैं। जैसे—

रेलगाड़ी, धन-दौलत।

२. अर्थ-भेद या पूर्वापर-सम्बन्ध के कारण एक ही समास कई प्रकार के भेदों के अंतर्गत भी आ जाता है। जैसे :—

कर्म-व्रत शब्द 'कर्म और व्रत' के अर्थ से द्वन्द समास है, 'कर्म ही व्रत है' के अर्थ में कर्मधारय समास, 'कर्म का व्रत' के अर्थ में तत्पुरुष और 'कर्म व्रत है' के अर्थ में बहुव्रीहि समास बन जाता है।

पुनरुक्ति से बने शब्द

१०१. ऊपर हमने जिन शब्दों के निर्माण का विवरण प्रस्तुत किया है वह उपसर्ग, अव्यय और समास के फलस्वरूप रूप धारण करते हैं परन्तु भाषा में बहुत से शब्दों का निर्माण केवल कुछ शब्दों को दुहराने-मात्र से ही हो जाता है। यह शब्द तीन प्रकार के होते हैं :—(१) पूर्ण पुनरुक्ति, (२) अपूर्ण पुनरुक्ति और (३) अनुकरणवाचक।

(१) पूर्ण-पुनरुक्त शब्द—

पूर्ण पुनरुक्ति में एक ही शब्द दो अथवा तीन बार लगातार प्रयुक्त होता है। जैसे :—

(अ) संज्ञा पुनरुक्ति :—

(१) पानी-पानी, हँसी-हँसी, रंगीन-रंगीन, खेल-खेल—इस प्रयोग में अतिशयता का आभास मिलता है। जैसे—मैं पानी-पानी हो गया, वह हँसी-हँसी में लेट गया।

(२) रोम-रोम, बूँद-बूँद, कौड़ी-कौड़ी—इससे वस्तुओं के पृथक्-पृथक् होने का आभास मिलता है। जैसे:—कौड़ी-कौड़ी जोड़ना, बूँद-बूँद एकत्रित करना, रोम-रोम खिल जाना।

(३) भिन्न-भिन्न—यह आपस के सम्बन्ध का द्योतक है। जैसे हम सब भिन्न-भिन्न मिल कर इस कार्य को पूर्ण करेंगे।

(४) बालक-बालक, स्त्री-स्त्री—यह जाति-बोधक प्रयोग है। जैसे लड़के-लड़के एक स्कूल में पढ़ते हैं। और लड़की-लड़की दूसरे में।

(५) जने-जने यह भिन्नता का बोधक प्रयोग है। जैसे—जने-जने की बात हमें तो अलग-अलग ही दिखाई पड़ती है।

(६) पाँव-पाँव—इससे एक रीति और नियम का बोध होता है। जैसे :— पांव-पाँव—चलना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है। पाँव-पाँव चल कर कोई आदमी दिन-भर में क्या काम कर सकता है?

(ब) सर्वनाम-पुनरुक्ति :—

(१) निज-निज, अपना-अपना—यह प्रयोग प्रत्येक अर्थ का द्योतक है। जैसे— सब अपना-अपना काम करते हैं। सब निज-निज कार्य में लिप्त हैं।

(२) जो-जो, जिस-जिस, तिस-तिस, किस-किस, वही-वही, सो-सो, कोई-कोई,

क्या-क्या, कौन-कौन—यह प्रयोग भिन्नता के अर्थ में हुआ हैं। जैसे—तुमने जिस-जिससे कार्य कराया तिस-तिसने किया। कौन-कौन आदमी क्या-क्या काम किस-किसके साथ करना चाहते हैं। जो-जो कहोगे सो-सो होगा।

(३) कुछ-कुछ—यह न्यूनता के अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। जैसे—कुछ कुछ तो काम में हाथ बटाया करो।

(ख) विशेषण-पुनरुक्ति :—

(१) कौन-कौन, क्या-क्या, जो-जो, किस-किस, हरी-हरी, कोई-कोई, नये-नये। जैसे—यह प्रयोगविभिन्नता सूचक है। जो-जो व्यक्ति सच बोलेगा छोड़ दिया जायगा।

(२) छोटे-छोटे, बड़े-बड़े—यह प्रयोग जाति-बोधक है। जैसे—छोटे-छोटे आदमी पहले खाना खायेंगे और बड़े-बड़े बाद में।

(३) पीले-पीले, फूले-फूले, फले-फले, लदे-लदे—यह आधिक्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—पीले-पीले फूलों से बाग भरा है।

(४) छोटे-छोटे—यह कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—छोटे-छोटे हाथों वाले व्यक्ति को कम अक्ल होती है।

(५) एक-एक, दो-दो, तीन-तीन, चार-चार—यह क्रम-द्योतक प्रयोग है। जैसे—एक-एक आदमी खाना खायगा।

(ग) क्रिया-पुनरुक्ति :—

(१) हठ-द्योतक—वह जायगा, जायगा और हर दशा में जायगा। वह खायगा, खायगा और खाकर ही रहेगा।

(२) संशय सूचक—खायँगे-खायेंगे कहते तो संध्या हो गई।

(३) आदर-सूचक—आइये आइये बैठिये न! खाइये-खाइये, खाते-खाते आपके हाथ क्यों रुक गए?

(४) दूसरी क्रियाओं की पुनरुक्ति—मारा-मारा, खाता-खाता, लाता-लाता, पीता-पीता, देखता-देखता, नाचता-नाचता, हँसता-हँसता, रोता-रोता, पूछता-पूछता इत्यादि।

क्रिया विशेषण-पुनरुक्ति—धीरे-धीरे, ऊपर-ऊपर, जब-जब, आगे-आगे, पास-पास। जैसे :—वह पास-पास बैठे होंगें।

विस्मयादिबोधक अव्ययों की पुनरुक्ति—अरे-अरे! हाय-हाय! राम-राम! कृष्ण-कृष्ण! हरे-हरे! इत्यादि।

विभक्तियुक्त पुनरुक्ति—साथ-ही-साथ, पास-ही-पास, नीचे-ही-नीचे, कुल-का-कुल, पास-का-पास, घर-का-घर, बाहर-का-बाहर, अन्दर-का-अन्दर, नीचे-का-नीचे ऊपर-का-ऊपर, ठीक-का-ठीक, अच्छा-का-अच्छा, सब-का-सब, कहीं-का-कहीं, यहीं-का-यहीं, वहीं-का-वहीं।

(२) अपूर्ण पुनरुक्त शब्द—यह सार्थक और निरर्थक शब्द दोनों के मेल से बनते हैं।

१०२. दो शब्दों के मेल से बने अपूर्ण पुनरुक्त शब्द :—

संज्ञा—हल-चल, बीच-बचाव, बाल-बच्चे, लड़के-बाले, काम-काज, झाँसापट्टी, खल-बल इत्यादि।

विशेषण—अंधा-काना, लूला-लंगड़ा, काला-कलूटा।

क्रिया—देखना-भालना, समझना-बूझना, हिलना-डोलन,, हँसना-खेलना।

अव्यय—जहाँ-तहाँ, यहाँ-वहाँ, जैसे-तैसे, ऐसे-वैसे।

१०३. दो सार्थक और दो निरर्थक शब्दों के मेल से बने अपूर्ण पुनरुक्त शब्द :—

संज्ञा—पूछ-ताँछ, टाल-मटोल, भीड़-भाड़, खाना-वाना, भोजन-वोजन।

विशेषण—काला-वाला, सीधा-वीधा, भोला-बोला, टेढ़ा-मेढ़ा, ठीक-वीक।

क्रिया—रोना-धोना, होना-हाना।

अव्यय—आमने-सामने, आस-पास, औने-पौने।

१०४. निरर्थक शब्दों के मेल से बने अपूर्ण पुनरुक्त शब्द :—

अंट-शंट, अटर-सटर, सिट-पिट, खटर-पटर, चटर-मटर, टीम-टाम, अगड़-बगड़, झटा-झट, खटा-खट, पटा-पट।

१०५. अनुकरण वाचक शब्द :—

(१) संज्ञा—सनसन, मनमन, गड़बड़, चीं चीं, झनझन, टनटन, गड़गड़ाहट, भरमराहट, सटपटाहट इत्यादि।

(२) विशेषण—भड़भड़िया, गड़बड़िया।

(३) क्रिया—भिनभिना, हिनहिनाना, झनझनाना, खनखनाना।

(४) क्रिया-विशेषण—थर-थर, झट-पट, फरा-फर, दना-दन, खना-खन।

सहचर शब्द

१०६. सहचर शब्दों का निर्माण द्वन्द्व समास से होता है। यह तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) विपरीतार्थक सहचर शब्द—हानि-लाभ, आय-व्यय, जन्म-मृत्यु, विजय-पराजय, जीवन-मरण, लेना-देना।

(२) एकार्थक सहचर शब्द—धन-दौलत, बल-विक्रम, श्रद्धा-भक्ति, जीव-जन्तु, मान-मर्यादा, मुक्ता-मणि।

(३) सजातीय सहचर शब्द :—अन्न-वस्त्र, आहार-विहार, अस्त्र-शस्त्र, साज-बाज, बाजा-गाजा इत्यादि।

सन्धि से बने शब्द

१०७. संधि दो वर्णों के आपस में मिलने से उत्पन्न होने वाले विकार को कहते हैं। यही संयोग भी कहलाता है। संयोग और सन्धि का भेद केवल यही है कि संयोग से अक्षरों में परिवर्तन नहीं होता और वह ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं, परन्तु सन्धि में उच्चारण के अनुसार अक्षर आपस में मिलकर अपने रूप में भी कुछ-न-कुछ परि-

वर्तन कर डालते हैं। उदाहरणस्वरूप हम टक्कर और दिग्गज को ले सकते हैं : टक्कर संयोग है और दिग्गज सन्धि।

संधि तीन प्रकार की होती है—१. स्वर-सन्धि, २. व्यंजन-सन्धि और ३. विसर्ग सन्धि।

१०८. स्वर-संधि—दो स्वरों के पारस्परिक मेल को स्वर-सन्धि कहते हैं।

(१) दो सवर्ण-स्वर मिल कर दीर्घ हो जाते हैं। जैसे—

धरम + अर्थ = धर्मार्थ, कर्म + अर्थ = कर्मार्थ, स्व + अर्थ = स्वार्थ, विद्या + आलय = विद्यालय, शिक्षा + आलय = शिक्षालय, गिरि + इन्द्र = गिरीन्द्र, गिरि + ईश = गिरीश, भानु + उदय = भानुदय।

(२) पदान्त में अ, आ, वा, के पश्चात् ई आने से दोनों ए में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे :—

ब्रजे + इन्द्र = ब्रजेन्द्र, देव + इन्द्र = देवेन्द्र, महा + इन्द्र = महेन्द्र, नर + इन्द्र = नरेन्द्र, जन + इन्द्र = जनेन्द्र, कर्म + इन्द्र = कर्मेन्द्र, परम + ईश्वर = परमेश्वर रमा + ईश = रमेश, ज्ञान + इन्द्र = ज्ञानेन्द्र।

(३) पदान्त मे अ या आ के पश्चात् उ या ऊ आ जाने से ओ हो जाता है। जैसे :—

ज्ञान + उपदेश = ज्ञानोपदेश, हित + उपदेश = हितोपदेश, महा + उत्सवः = महोत्सव, विचार + उत्कर्ष = विचारोत्कर्ष, महा + ऊर्मि = महोर्मि।

(४) पदान्त में यदि अ या आ के पश्चात् ए या ऐ हों तो दोनों मिलकर ऐ हो जाते हैं। जैसे :—

मत + ऐक्य = मतैक्य, एक + एऐक्य = क, ज्ञान + ऐक्य = ज्ञानैक्य, विचार + ऐक्य = विचारैक्य।

(५) पदान्त में अ या आ के पश्चात् ऋ आए तो दोनों मिलकर अर हो जाते हैं। जैसे—

देव + ऋषि = देवर्षि, महा + ऋषि = महर्षि।

(६) पदान्त में अ या आ के पश्चात् ओ या औ आने पर दोनों मिलकर औ हो जाते हैं। जैसे :—

परम + औषध = परमौषध, जल + ओघ = जलौघ, महा + औदार्य = महौदार्य।

(७) पदान्त में इ या ई के पश्चात् कोई असवर्ण स्वर आये तो इ या ई बदलकर य हो जाते हैं। जैसे—

अति + आचार = अत्याचार, यदि + अपि = यद्यपि, अभि + उदय = अभ्युदय, नि + ऊन = न्यून, प्रति + एक = प्रत्येक, अभि + आगत = अभ्यागत।

(८) पदान्त में ऊ या उ के पश्चात् कोई असवर्ण स्वर आये तो दोनों मिलकर व हो जाते हैं। जैसे—

अनु+इत=अन्वित, अनु+अय=अन्वय, अनु+एषण=अन्वेषण।

(९) पदान्त में ए के पश्चात् किसी भिन्न स्वर के आने पर दोनों मिलकर ... हो जाते हैं। जैसे :—

शे+अयन=शयन, ने+अयन=नयन।

(१०) ऐ के पश्चात् भिन्न स्वर आने पर ऐ का अय हो जाता है। जैसे :—
गै+अक=गायक, नै+अक=नायक, विनै+अक=विनायक।

(११) पदान्त में ओ के पश्चात् भिन्न स्वर आने से ओ के स्थान पर अव हो जाता है। जैसे :—

पो+इत्र=पवित्र, गो+ईश=ग+अव+ईश=गवीश, भो+अन=भ+अव+अन=भवन।

(१२) पदान्त में औ के पश्चात् कोई भी भिन्न स्वर आने पर औ के स्थान पर आव हो जाता है। जैसे :—

नौ+इक=न्+आव+इक=नाविक, पौ+अक=प्+आव+अक=पावक, भौ+उक=भ्+आव्+उक=भावुक।

१०६. व्यञ्जन-सन्धि—दो व्यंजनों के पारस्परिक अथवा स्वर के साथ मेल को व्यंजन-सन्धि कहते हैं। निम्नलिखित अक्षर पदान्त में आने पर और उनका दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर तथा व्यंजन से सन्धि करने पर जो परिवर्तन होते हैं वे नीचे दिये गये हैं :—

(१) पदान्त में त् या द् के पश्चात च या छ अथवा ज या झ हों तो त् द् के स्थान पर क्रम से च और ज हो जायेंगे। जैसे :—

उत्+चरण=उच्चारण, उत्+छिन्न=उच्छिन्न, सत्+जन=सज्जन।

(२) पदान्त में त् या द् के पश्चात् श आने पर त् और द् के स्थान पर च और श के स्थान पर छ हो जाता है। जैसे :—

उत्+शिष्ट=उच्छिष्ट, उत+श्वास=उच्छ्वास।

(३) पदान्त में त् या द के पश्चात् ह आने पर त् औरद् का द् और ह का ध् हो जाता है। जैसे :—

उत+हृत=उद्धृत।

(४) पदान्त में त् के पश्चात् कोई स्वर आने पर त् या द् हो जाता है। जैसे:—

जगत्+आधार=जगदाधार, जगत्+ईश=जगदीश।

(५) पदान्त में द् के पश्चात् न या म आने पर द् विकल्प से न में बदल जाता है। यदि द् के पश्चात् मय या मात्र आयें तो द् सर्वथा न हो जाता है। जैसे:—

तद्+मय=तन्मय।

(६) यदि पदान्त में किसी वर्ग का प्रथम अक्षर हो और उसके पश्चात् मय या मात्र आये तो प्रथम अक्षर उसी वर्ग का पंचम अक्षर बन जायगा। जैसे :—

चित् + मय = चिन्मय, वाक् + मय = वाङ्मय ।

(७) पदान्त में क हो और उसके पश्चात् दूसरे पद के प्रारम्भ में कोई स्वर या किसी वर्ग का तीसरा या चौथा अक्षर हो—य, र, ल, व, में से कोई हो तो क ग में बदल जाते हैं । जैसे :—

दिग + अंत = दिगन्त, वाक्य + आडम्बर = वागाडम्बर ।

(८) यदि त और थ से पूर्व ष वर्ण आ जाता है तो त और थ का ट और ठ हो जाता है । जैसे :—

षष् + थ = षष्ठ, आकृष + त = आकृष्ट ।

(९) पदान्त में किसी वर्ग का पहला अक्षर हो और उसके पश्चात् न या म आये तो वह अक्षर अपने ही वर्ग का तीसरा या पाँचवाँ अक्षर हो जाता है । जैसे:—

जगत् + नाथ = जगन्नाथ, जगद्नाथ; दिक् + नाग = दिङ्गनाग, दिग्नाग ।

(१०) पदान्त में न से पहले च् या ज आये तो न् का ञ हो जाता है । जैसे:—

य ज् + न = यज्ञ, याच् + ना = याञ्चा ।

(११) पदान्त में म हो और उसके पश्चात् स्पर्श वर्ण आये तो विकल्प से उस वर्ण का पंचम अक्षर या अनुस्वार बन जाता है । जैसे :—

सम् + कल्प = संकल्प ।

(१२) पदान्त में म के पश्चात् अंतःस्थ या उष्म वर्ण आने पर म् का अनुस्वार हो जाता है । जैसे :—

सम् + हार = संहार ।

(१३) पदान्त में किसी स्वर के पश्चात् यदि छ आये तो छ का च्छ हो जाता है । जैसे :—

आ + छादन = आच्छादन, वि + छेदन = विच्छेदन ।

११०. विसर्ग-सन्धि—किसी विसर्ग के साथ जब किसी स्वर या व्यंजन का मेल होता है तो उसे विसर्ग-सन्धि कहते हैं ।

(१) किसी विसर्ग के पश्चात् च या छ आये तो विसर्ग का श हो जाता है । जैसे :—

निः + चल = निश्चल, निः + छल = निश्छल, दुः + चरित्र = दुश्चरित्र ।

(२) पदान्त में विसर्ग के पश्चात् त् या थ् आने पर विसर्ग का स हो जाता है । जैसे :—

मनः + ताप = मनस्ताप ।

(३) यदि विसर्ग से पूर्व अ आ हो और उसके पश्चात् किसी वर्ग का तीसरा, चौथा या पाँचवाँ या य, र, ल, व, वर्ण हो विसर्ग और उसके पूर्व का अ दोनों मिलकर ओ हो जाते हैं । जैसे :—

मनः + योग = मनोयोग, तेजः + राशि = तेजोराशि ।

(४) यदि विसर्ग से पूर्व अ आ हो और उसके पश्चात् किसी वर्ग का तीसरा,

चौथा, पाँचवाँ वर्ण या य, र, ल, व, या अन्य कोई स्वर हो तो विसर्ग के स्थान पर र हो जाता है। जैसे :—

नि: + धन = निर्धन, नि: + गुण = निर्गुण।

(५) यदि अ, आ के अतिरिक्त विसर्ग से पूर्व कोई अन्य स्वर हो और उसके पश्चात् र हो तो विसर्ग समाप्त हो जाता है और उसके पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे :—

नि: + रोग = नीरोग नि: + रस = नीरस।

(६) यदि विसर्ग से पहिले इ, उ हो और उसके पश्चात् क, ख, प, फ हों तो विसर्ग का ष हो जाता है। जैसे :—

नि: + कपट = निष्कपट।

(७) यदि विसर्ग के पश्चात् श्, ष्, स्, हो तो विसर्ग में कोई अन्तर नहीं आता या उसके स्थान पर विसर्ग के आगे आने वाला वर्ण हो जाता है। जैसे :—

नि: + संदेह = नि:संदेह या निस्संदेह।

अध्याय ८

हिन्दी भाषा का शब्द-समूह

१११. भूमिका—किसी भाषा के शब्द उस भाषा की वह अमूल्य निधि होते हैं कि जिनके बल पर वह भाषा गम्भीर-से-गम्भीर विचारों का मूल्यांकन और सौदा करती है। भाषा में शब्दों का बहुत बड़ा महत्त्व है। जिस भाषा में उसके शब्दों का भंडार जितना बड़ा और व्यापक होगा उसमें लिखी जाने वाली सामग्री भी उतनी ही पूर्णता के साथ लिखी जा सकेगी। भाषा शब्दों से ही अनुप्राणित होती है और उसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता भी इन्हीं पर आधारित है। यही कारण है कि जब तक किसी भाषा के शब्दों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उस भाषा की जानकारी भी अधूरी रहती है। किसी भी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिये उसकी शब्दावली का ज्ञान प्राप्त कर लेना नितांत आवश्यक है।

हिन्दी भाषा की शब्दावली का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते समय हमारे लिये संस्कृत, हिन्दी, हिन्दी की प्रांतीय भाषाएँ, अरबी फ़ारसी, उर्दू, देशज और अंग्रेजी के शब्दों के भी सम्पर्क में आना अनिवार्य हो जाता है। समय और काल के परिवर्तन में हिन्दी भाषा के अन्दर इन सभी भाषाओं के शब्द घुल-मिलकर एक हो गए हैं। शब्दों का यह घुलना मिलना न केवल हिन्दी भाषा के ही अन्दर मिलता है। वरन् संसार की अन्य प्रचलित भाषाओं में भी हमें यही खिचड़ी मिलती है। जो भाषा जितनी भी अधिक व्यापक है। उसमें उतनी ही अधिक भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ है। इसलिये हिन्दी में भी अन्य भाषाओं की तरह प्रचलित तथा लुप्त दोनों ही प्रकार की भाषाओं के शब्द मिलते हैं और वे शब्द आज की हिन्दी में घुल-मिल कर उसके अपने ही शब्द बन गये हैं।

हिन्दी के शब्द-समूह को हम चार प्रधान श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। वे चारों निम्नलिखित हैं:—

१. आर्य-भाषाओं से आये हुए शब्द।

२. अनार्य-भाषाओं से लिये गये शब्द।

३. प्रांतीय भाषाओं से प्राप्त शब्द-समूह।

४. विदेशी भाषाओं से आये हुए शब्द।

११२. आर्य भाषाओं से आये हुए शब्द :—आर्य भाषाओं से आये हुए शब्द तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव तीन प्रकार के हैं। ये तीनों ही प्रकार के शब्द हिन्दी

में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

तत्सम—इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग साहित्यिक हिन्दी में विशेष रूप से मिलता है। जयशंकर प्रसाद और चंडी प्रसाद 'हृद्येश' की रचनाओं में विशेष रूप से इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये संस्कृत से लिये गये ज्यों-के-त्यों अपने विशुद्ध रूप में प्रयुक्त होते हैं। गूढ़ साहित्य के लिये आज के लेखक विशेष रूप से शब्दों के इसी तत्सम रूप को अपनाते जा रहे हैं। वत्स, अग्नि, पवन, भ्राता, देवि, ऋषि, रात्रि, पिता, पुत्र इत्यादि तत्सम शब्द हैं।

अर्धतत्सम—संस्कृत के जो शब्द प्राकृत-काल में अपने रूप के अन्दर कुछ भेद लेकर आज हिन्दी में कुछ परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं उन्हें हम अर्धतत्सम कहते हैं। इन शब्दों की जड़ पूर्ण रूप से तत्सम अवश्य है परन्तु इनका वर्तमान रूप विकृत हो चुका है। इस प्रकार के संस्कृत-शब्द अर्धतत्सम शब्दों की श्रेणी में रखे जायेंगे। जैसे:—

अच्छर, कारज इत्यादि शब्द अक्षर और कार्य के अर्धतत्सम रूप हैं।

तद्भव—कुछ शब्द साधारण दैनिक बोल-चाल की भाषा में वे ही प्रयुक्त होते हैं जो सीधे संस्कृत से न लिये जाकर मध्यकालीन भाषाओं में से होते हुए आये हैं। व्याकरण इन शब्दों को तद्भव कहता है। ये शब्द संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से हिन्दी में आये हैं। कुछ संस्कृत से न आकर सीधे प्राकृत से ही लिये गये हैं। आग, खाल, खेत, रोटी इत्यादि इसी श्रेणी के शब्द हैं।

नोट (१)—हिन्दी भाषा में कुछ शब्द तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव तीनों रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—कार्य, कारज और काज एक ही शब्द के तीनों रूप हैं। क्रिया और सर्वनामों का प्रयोग अधिकांश रूप में तद्भव ही मिलता है।

नोट (२)—ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि शब्द तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव होकर अपना रूप बदल लेता है। इस रूप-परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके अर्थ में भी निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं:—

(१) कुछ शब्दों के तत्सम प्रयोग से हमें सामान्य अर्थ का बोध होता है और उसी का तद्भव रूप किसी विशेष अर्थ का द्योतक बन जाता है। जैसे:—

स्थान (तत्सम) माने साधारण स्थान और थाना (तद्भव) माने पुलिस का केन्द्रीय स्थान, तथा थान माने जानवरों के बाँधने का स्थान।

(२) कहीं-कहीं तत्सम शब्द में गुरुता का महत्त्व व्यापक रूप से छिपा रहता है और उसी के तद्भव रूप में छोटेपन का आभास मिलता है। जैसे:—

दर्शन (तत्सम) का अर्थ होता है किसी पूजनीय अथवा सम्मानित व्यक्ति अथवा स्थान का दर्शन करना और देखना (तद्भव) का अर्थ होता है साधारणतया किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति को देखना।

(३) कभी-कभी कुछ तत्सम शब्दों के दो-दो अर्थ भी निकलते हैं, परन्तु उनके तद्भव रूपों से केवल एक ही अर्थ का बोध होता है। जैसे:—अक्षर (तत्सम) शब्द के

अर्थ हैं—वर्ण, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, मोक्ष, गगन, धर्म, तपस्या, जल, नाश-रहित, सत्य और इसी का जब तद्भव रूप अच्छर सामने आता है तो उसका अर्थ केवल वर्ण मात्र ही रह जाता है।

११३. अनार्य भाषाओं के शब्द—हिन्दी में बहुत से प्राचीन आदिवासियों की भाषाओं से लिये गये शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। ये शब्द देशज कहलाते हैं और इनका प्रयोग नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक मिलता है। **डोंगी, खिड़की, पेट** इत्यादि इनके उदाहरण हैं।

११४. विदेशी भाषाओं के शब्द—भारत को शताब्दियों तक विदेशियों का दास बना रहना पड़ा है। इसके फलस्वरूप उनकी भाषाओं का भी भारत में प्रचलन तथा प्रचार हुआ और वे सभी भाषाएँ भारतीय भाषाओं और हिन्दी के सम्पर्क में आईं। इनमें प्रधान सम्पर्क में आने वाली मुसलमानों की भाषाएँ और अंग्रेजी हैं। हिन्दी अपने को उनके प्रभाव से वंचित नहीं रख सकती थी। हिन्दी के आदि ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो को देखने से पता चलता है कि उसमें फ़ारसी शब्द भरे पड़े हैं। हिन्दी ने विदेशी भाषाओं के शब्दों को ठुकराया नहीं बल्कि सहृदयता पूर्वक अपनाकर अपने में पचाने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार अपने शब्द-समूह को विस्तार देते हुए अपना बहुत ही महत्त्वपूर्ण हित किया है। मुसलमानों के शासन-काल में अरबी, फ़ारसी, तुर्की और उर्दू के शब्दों को अपनाया गया और अंग्रेजों के शासन-काल में अंग्रेजी के शब्दों को।

(१) अरबी भाषा के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—माल-असबाब, हक़, फुरसत, हकीम, हुक्म, हुक्काम, हिकमत, अजनबी, फिराक, मुकदमा, मुकदमेबाज, अदालत, एतराज, सिफ़ारिश, सिफ़ारिशी इत्यादि।

(२) फ़ारसी भाषा के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—दूकान, आदमी, शर्म, होश, कमर, चाकू, दरबार, दरबारी, दमा, गुल, गुलदाना, गुलकन्द, गुलेदान, अरमान, रास्ता, दोस्त, दोस्ती, खून, निशान, फुरसत इत्यादि।

(३) तुर्की भाषा के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—उर्दू, तोप, बावर्ची, कालीन, काबू, अलमारी, कुमुक, लाश, तमगा इत्यादि।

(४) यूरोपियन भाषाओं के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—यूरोपियन जातियों का सर्वप्रथम भारत में आगमन १५०० ई० में हुआ। मुसलमानों का प्रभाव १५०० ई० से पूर्व का है। १५०० ई० में उनके भारत में आने पर भी ३०० वर्ष तक उनका कोई प्रभाव हमारी भाषा पर नहीं पड़ा। ज्यों-ज्यों मुसलमानों के साम्राज्य की नींवें खोखली हुई और उसके स्थान पर अंग्रेजों का प्रभुत्व जमना प्रारम्भ हुआ त्यों-त्यों अंग्रेजी भाषा का भी प्रभाव भारत में बढ़ा और हिन्दी को उससे प्रभावित होना पड़ा। सर्वप्रथम पोर्च्युगीज़ और बाद में अंग्रेजी का प्रभाव हुआ।

(५) पोर्च्युगीज़ शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—नीलाम, कमरा, फर्म, पादरी, गिर्जा, गोदाम, मेज इत्यादि।

(६) अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग—स्टेशन, मास्टर, स्कूल, स्टूल, रजिस्टर, बिल, टेबिल इंच, फुट, लॉन, फंड, टेनिस, हॉकी, फुटबॉल, ट्रेन, पेन, पेंसिल, रेल, टिकट, कौंसिल, सिनेमा, थियेटर, कलक्टर, प्रेस इत्यादि।

११५ प्रान्तीय भाषाओं के शब्द—भारत की प्रान्तीय भाषाओं का भी निरन्तर हिन्दी पर प्रभाव पड़ता रहा और उनके शब्दों को भी अपना कर अपना कोष बढ़ाया है।

(१) मराठी भाषा के हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले शब्द—बाड़ा, बाजू, चालू, लागू इत्यादि।

(२) बंगाली भाषा के हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले शब्द—प्राणपण, उपन्यास, भद्र, गल्प इत्यादि।

पर्यायवाची शब्द

११६. परिभाषा—पर्यायवाची शब्द अथवा प्रति शब्द उसे कहते हैं जिसका प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस शब्द के लिये उसका प्रयोग किया जाता है। पर्यायवाची शब्द की सहायता से किसी अर्थ की व्याख्या करने में सुगमता होती है। एक ही अर्थ को कई-कई पर्यायवाची शब्दों द्वारा व्यक्त करके उस पर बल दिया जाता है। पर्यायवाची शब्द का प्रयोग भी करते समय लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि वह शब्द मूल शब्द से अधिक क्लिष्ट न हो जाय।

पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करते समय जिस दूसरी बात का विद्यार्थियों को विशेष ध्यान रखना चाहिये वह यह है कि कहीं ऊपर से एक-सा दिखाई देता हुआ भी वह शब्द कोई अन्य अर्थ व्यंजित न करने लगे। बहुत से भाषा के शब्द ऐसे भी हैं जो ऊपर से एक-से दिखलाई देने पर भी अपने अर्थों में महान् भेद छुपाये हुए रहते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत ही समझ-बूझ के साथ न करने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है और उससे लेखक की विद्वता दिखलाई देने के विपरीत और नासमझी और अनभिज्ञता प्रदर्शित होने लगती है। इस लिये किसी भी शब्द का प्रयोग करते समय उसके केवल मोटे अर्थ पर ही विचार न करना चाहिये वरन् उसके गूढ़ार्थ पर भी विचार कर लेना नितांत आवश्यक हो जाता है। विद्वान् लेखक को चाहिये कि वह शब्द का प्रयोग करते समय अपने लेख के विषय और प्रसंग पर पूरा-पूरा ध्यान रखे। प्रत्येक शब्द का महत्त्व विषय और उसके स्थान के अनुसार होता है। जिस प्रकार गलत स्थान होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है उसी प्रकार उसका उचित प्रयोग होने पर भी रचना में चार चाँद लग जाते हैं। भावों में प्रभावात्मकता लाने के लिये उचित शब्दों का प्रयोग उचित स्थान पर लेखक को करना आवश्यक है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब लेखक को शब्द का पूर्ण ज्ञान हो और उनके प्रयोग करने की उसमें क्षमता हो। शब्दों द्वारा भाव-प्रकाशन करने के लिए उनके पर्यायवाची शब्दों की पूर्ण जानकारी होना नितान्त आवश्यक है। नीचे हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले कुछ पर्यायवाची शब्दों की सूची दी जाती है:—

(अ)

अंग—विग्रह, शरीर, मूर्ति, देह, कलेवर, गात्र, तन, काय, वपु, गात, जिस्म।

अग्नि—आग, वह्नि, पावक, अनल, वैश्वानर, जातवेद, रोहिताश्व, वायुसख, दहन, हव्यवाहन, हुताशन, दव, ऊष, धूम्रकेतु, ज्वलन, कृशानु।

[जल की अग्नि को बड़वाग्नि, जंगल की अग्नि को दावाग्नि तथा पेट की अग्नि को जठराग्नि कहते हैं।]

अनी—सेना, फौज, दल, कटक, चमू।

असुर—दनुज, दानव, दैत्य, राक्षस, इन्द्रारि, निश्चर, निशाचर, रजनीचर, तमीचर, मनुजाद।

अनुपम—अपूर्व, अनोखा, अद्भुत, अनूठा, अद्वितीय, अतुल।

अमृत— पीयूष, सुधा, अमिय।

अरण्य—जंगल, विपिन, वन।

अश्व—बाजि, हय, घोटक, वाह, सैन्धव, तुरंग, गन्धर्व, रवि-पुत्र।

(आ)

आँख—नेत्र, लोचन, नयन, चक्षु, दृग, अक्षि, चख, दीदा।

आकाश—द्यो, व्योम, अभ्रक, गगन, अभ्र, अम्बर, नभ, अन्तरिक्ष, आसमान, अनन्त, पुष्कर, शून्य, अनंग, दिव, वियत।

आनन्द—मोद, प्रमोद, हर्ष, आमोद, सुख, विहार, चैन, प्रसन्नता, आह्लाद, उल्लास।

(इ)

इच्छा—आकांक्षा, ईप्सा, उत्कण्ठा, अभिलाषा, चाह, कामना, मनोरथ, लालसा, स्पृहा, ईहा, वाञ्छा, लिप्सा, काम।

इन्द्र—सुरपति, शचीपति, मघवा, पाकशासन, शक्र-पुरन्दर, वासव, पुरहूत, मेघवाहन, पाकरिपु, जिष्णु, महेन्द्र, देवराज।

इन्द्राणी—शची, पुलोमजा, इन्द्रवधू, ऐन्द्री, शतावरी, जयवाहिनी, माहेन्द्री।

(क)

कपड़ा—वस्त्र, दुकूल, पट, वसन, अम्बर, चीर।

कमल—शम्बर, पारिजात, सरोज, जलज, अम्भोज, अब्ज, महोत्पल, पङ्कज, अरविन्द, उत्पल, पद्म, कञ्ज, राजीव, शतदल, अम्बुज, कोकनद, इन्दीवर, अम्भोरुह, कुवलय, पुण्डरीक, अङ्करुह, सरसिज, नलिन, सरसीरुह, तामरस, वारिज, पाथोरुह।

कामदेव—कुसुमेश, मदन, मन्मथ, मार, कन्दर्प, अनंग, पञ्चशर, शम्बरारि, मनसिज, पुष्पधन्वा, स्मर, मनजात, पुष्पचाप, रतिसखा, नन्दी, मनोभव, अतनु,

आत्मज, आत्मभू, पञ्चबाण, कन्दर्प, काम, कुसुम-बाण, मीनकेतु, रति। पति, विश्वकेतु, मनोज, मदन।

किरण—मरीचि, मयूख, अंशु, कर, रश्मि, किरन।

कुबेर—किन्नरेश, यक्षराज, धनद धनाधिप, राजराज।

क्रोध—कोप, अमर्ष, रोष।

(ग)

गणेश—लम्बोदर, एकदन्त, मूषकवाहन, गजवदन, गजानन, विनायक, गणपति, विघ्ननाशक, भवानीनन्दन, महाकाय, विघ्नराज, धूम्रकेतु, मोदक-प्रिय, मोददाता, गणनाथ, विद्यावारिधि, गणाधिप, गिरिजानन्दन, गौरीसुत।

गंगा—जाह्नवी, देवनदी, सुरसरि, भागीरथी, मन्दाकिनी, देवापगा, ध्रुवनन्दा, त्रिपथगा, नदीश्वरी, सुरापगा, विष्णुपदी, देवनदी।

गेह—घर, गृह, निकेतन, भवन, सदन, आगार, मन्दिर, अयन, आयतन, आवास, शाला, निलय, धाम, आलय, ओक, निकेत।

(च)

चतुर—विज्ञ, दक्ष, प्रवीण, निपुण, पटु, नागर, सयाना, कुशल, योग्य, होशियार।

चन्द्र—चाँद, इन्दु, चन्द्रमा, औषधीश, हिमांशु, सुधांशु, राकापति, द्विजराज, विधु, सुधाकर, सुधाधर, राकेश, शशि, सारंग, निशाकर, तारापति, मयंक, निशापति रजनीपति, क्षपानाथ, सोम, मृगांक, कलानिधि, शशांक।

चाँदनी—चन्द्रिका, कौमुदी ज्योत्स्ना, चन्द्रमरीची, अमृततरंगिणी।

(ज)

जल—नीर, सलिल, उदक, पानी, अम्बु, तोय, जीवन, वारि, पय, अमृत, घनरस, मेघ-पुष्प, सर्वमुख, कबन्ध, रस, पाथ, अम्बर, आप, सारंग, पानीय, वन।

जमुना—सूर्यसुता, सूर्यतनया, कालिन्दी, अर्कजा, तरणिजा, कृष्णा, रविसुता, यमुना, रवितनया, रविनन्दिनी।

(द)

दास—अनुचर, चाकर सेवक, नौकर, भृत्य, किंकर, परिचारक।

दुःख—पीड़ा, व्यथा, कष्ट, संकट, शोक, क्लेश, वेदना, यातना, यन्त्रणा, खेद, क्षोभ, विषाद, सन्ताप, उत्पीड़न।

दुर्गा—चण्डिका, अभया, कालिका, शाम्भवी, कुमारी, कल्याणी, कामाक्षी, रोहिणी, सुभद्रा, महागौरी, चामुण्डा, सिंहवाहिनी, वागीश्वरी, धात्री, अजा।

देवता—सुर, अमर, देव, निर्जर, विबुध, त्रिदश, आदित्य, गीर्वाण।

द्रव्य—धन, वित्त, सम्पदा, विभूति, दौलत, सम्पत्ति।

(न)

नदी:—सरिता, तटनी, अपगा, निम्नगा, निर्झरिणी, कुलंकषा, जलमाला, आपगा, नद, तरंगिणा।

नरक—यमालय, यमलोक, यमपुर, दुर्गति, संघात, रौवर।

नौका—नाव, तरिणी, जलयान, जलपात्र, पठानी, तरी, बेड़ा, डोंगी, वनवाहन, पतंग।

(प)

पत्नी:—भार्या, दारा, सहधर्मिणी, गृहणी, वधू, बहू, कलत्र, प्राणप्रिय, बल्लभा, तिया, त्रिय, जोय, वामा, वामांगी, त्रिया, अर्धांगिनी, कलत्री।

पति:—भर्त्ता, वल्लभ, स्वामी, बालम, अधिपति, भरतार, आर्य, ईश।

पवन:—हवा, वायु, समीर, मारुत, वात, बयार अनिल, प्रकम्पन, समीरण, जग प्राण, पवमान, प्रवमान, प्रभञ्जन, नभप्राण मृगवाहन।

पक्षी:—विहग, विहंग, खग, पखेरू, परिन्द, चिड़िया, शकुन्त, अण्डज, पतंग, द्विज शकुनि।

पर्वत:—भूधर, शैल, अचल, महीधर, गिरि, नग, भूमिधर, महीधर, मेरु, तुंग, अद्रि, पहाड़।

पण्डित:—सुधी, विद्वान्, कोविद, बुध, धीर, मनीषी, प्राज्ञ, विचक्षण।

पत्थर:—प्रस्तर, पाषाण, उपल, अश्व, पाहन।

पार्वती:—उमा, गौरा, ईश्वरी, शिवा, भवानी, रुद्राणी, अम्बिक, आर्या, दुर्गा, अपर्णा, सर्वमंगला, गिरजा, सती, शैलसुता, अभया, पतिव्रता।

पुत्र:—तनय, सनु, सुत, बेटा, लड़का, आत्मज, नन्द, पूत। नन्दन

पुत्री:—तनया, सुता, बेटी, लड़की, अत्मजा, दुहिता, नन्दिनी, तनुजा।

पृथ्वी:—भू, इला, भूमि, पुहुमि, धरा, रत्नावली, उर्वी, वसुमती, धरती, धरणी, वसुधा, श्यामा, बीजप्रसू, वसुन्धरा, अवनि, मेदिनी, क्षोणी, क्षिति, जगती, धरित्री।

प्रकाश:—प्रभा, छवि, द्युति, ज्योति, चमक, विकास।

पुष्प:—फूल, सुमन, कुसुम, प्रसून, मंजरी, लतान्त।

(ब)

बाण:—तीर, शर, विशिख, आशुग, शिलीमुख, नाराच, इषु।

बिजली:—चंचला, चपला, विद्युत, सौदामिनी, दामिनी, घनादाम, तड़ित, छटा, बीजुरी, क्षणप्रभा, घनवल्ली, सम्पा, अशनि।

ब्रह्मा:—आत्मभू, स्वयंभू, चतुरानन, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, विधि, विधाता, स्रष्ट, प्रजापति, नाभिजन्म, अब्जयोनि, कमलासन, अज, कर्तार, विरंचि, अण्डज, सदानन्द, नाभिजन्म।

(म)

मधुकरः—भौंरा, भ्रमर, भृंग, षट्पद, अलि, द्विरेफ, भंवर, मधुप।

मछली—मत्स्य, शफरी, झष, मीन, मकर, जल-जीवन, अण्डज।

महादेव—शम्भु, ईश, पशुपति, शिव, महेश्वर, शंकर, चन्द्रशेखर, भव, भूतेश गिरीश, हर, पिनाकी, मदनारि, कपर्दी, शितिकण्ठ, वामदेव, त्रिलोचन, कैलाशनाथ, भूतनाथ, नीलकण्ठ, गिरिजापति।

मेघ—अभ्र, धराधर, बलाहक, घन, जलधर, वारिद, जीमूत, बादल, नीरद, वारिधर, पयोद, अम्बुद, पयोधर, पुष्कर, जगजीवन।

मोक्ष—मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग, परमधाम, परमपद।

(य)

यम—सूर्यपुत्र, जीवनपति, अन्तक, धर्मराज, कोपल्त, शमन, दण्डधर, कीनाश, कृतान्त, श्राद्धदेव, जीवितेश, यमुना-भ्राता, हरि।

(र)

रात—शर्वरी, कादम्बरी, निशा, रैन, रात्रि, रजनी, यामिनी, निशीथ, त्रियामा, विभावरी, तमिस्त्र, तमरा।

राजा—नृप, भूप, महिप, महीपति, नरपति, नरेश, भूपति, राव, नरेश, सम्राट्।

रमाः—कमला, पद्मा, पद्मासना, लक्ष्मी, हरिप्रिया, इन्दिरा, तनया, समुद्रजा, भार्गवी, श्री।

(व)

विष्णुः—गरुडध्वज, अच्युत, जनार्दन, चक्रपाणि, विश्वम्भर, मुकुन्द, नारायण, हृषीकेश, दामोदर, केशव, माधव, गोविन्द, लक्ष्मीपति, विभु, विश्वस्वरूप, जलशायी वनमाली, उपेन्द्र, पीताम्बर, चतुर्भुज, मधुरिपु।

(स)

सबः—सर्व, समस्त, निखिल, अखिल, सकल, समग्र, पूर्ण, सम्पूर्ण।

समुद्रः—सागर, जलधि, पारावार, सिन्धु, नीरनिधि, उदधि, नदीश, पयोधि, अर्णव, पयोनिधि, रत्नाकर, अब्धि, वारिश, जलधाम, नीरधि।

समूहः—समुदाय, निकर, वृन्द, गण, संघ, पुञ्ज, राशि, समुच्चय, कलाप, दल, झुण्ड, मण्डली, टोली, जत्था।

सरस्वतीः—ब्राह्मी, भारती, भाषा, वाचा, गिरा, वाणी, शारदा, इला, वीणा-पाणि, वागीश, महाश्वेता, विधात्री, श्री ईश्वरी, वागीश्वरी।

सर्पः—अहि, भुजंग, विषधर, व्याल, फणी, उरग, पन्नग, नाग, साँप।

सोनाः—सुवर्ण, स्वर्ण, कंचन, हाटक, कनक, हिरण्य, हेम, जातरूप।

सूर्य:—मार्तण्ड, दिनकर, रवि, छायानाथ, भास्कर, मरीची, निदाघकर, प्रभा, कर, कमलबन्ध, सविता, पतंग, दिवाकर, हंस, आदित्य, भानु, अंशुमाली, ग्रहपति सहस्रांशु, तरणि ।

सिंह:—शार्दूल, व्याघ्र, पंचमुख, मृगराज, वन-पति, मृगेन्द्र, केशरी, केहरि, पारीन्द्र, केशी महावीर, नाहर, मृगारि, शेर, पुण्डरीक, बबर, नखायुध, बहुबल ।

सुन्दर:—रुचिर, चारु सुहावना, मनोहर, रमणीक, चित्ताकर्षक, ललित, कमनीय, उत्तम, उत्कृष्ट, ललाम, रम्य, सुरम्य, कलित, मञ्जुल, मन-भावन ।

स्त्री:—अवला, नारी, वनिता, महिला, ललना, कान्ता, रमणी, कलत्र, अंगना, कामिनी, प्रमदा ।

स्वर्ग:—द्यो, सुरलोक, नाक, दिव, अवरोह, फलोदय, देवलोक ।

सिन्धुर:—गज, हस्ती, द्विप, करी, कुञ्जर, दन्ती, हाथी, कुम्भी, नाग, द्विरद, वारण, फनग वितुण्ड ।

एकार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों का भेद

११७. अन्य भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी ऐसे शब्दों की संख्या कम नहीं है जिन्हें ऊपर से देखने पर उनके मोटे अर्थों पर दृष्टि डालने से उनमें कोई भेद नहीं दिखाई देता, परन्तु उनके गूढ़ार्थों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रयोग लेखों की भाषा में बिना पूर्ण रूप से विचार किये नहीं किया जा सकता। इन शब्दों का लेखकों को चाहिये कि बहुत सावधानी के साथ प्रयोग करें और प्रयोग करने से पूर्व उनके प्रदर्शित होने वाले अर्थ को भली प्रकार समझ लें। नमूने के लिये कुछ विशेष प्रयोग में आने वाले शब्दों की सूची नीचे दी जाती है।

अज्ञ, मूर्ख:—ज्ञानहीन को अज्ञ और बुद्धिहीन को मूर्ख कहते हैं।

अज्ञान अनभिज्ञ:—स्वभाव से मूर्ख को अज्ञान और कोई विशेष अनुमान न रहने पर अनभिज्ञ कहते हैं।

भिज्ञता, बहुदर्शिता, विज्ञता, वेदना, ज्ञान, पारंगत—भिज्ञता का अर्थ है विषय का साधारण परिचय, बहुदर्शिता का अर्थ है विषय के सब दृष्टिकोणों को समझने की क्षमता, विज्ञता का अर्थ है विषय का अच्छा ज्ञान, वेदना इन्द्रियजन्य ज्ञान को कहते हैं, ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त उस समझ-बूझ को कहते हैं जो व्यक्ति के हृदय और मस्तिष्क को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो और पारंगत पूर्ण पाण्डित्य को कहते हैं।

अस्वाभाविक, अलौकिक, असाधारण:—अस्वभाविक उस कार्य को कहते हैं जो मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हो अलौकिक का अर्थ है जो लोकों में दुर्लभ है और असाधारण से तात्पर्य है जो साधारण विचार तथा बुद्धिगम्य न हो।

बहुमूल्य, अमूल्य, दुर्मूल्य:—बहुमूल्य का अर्थ है बहुत कीमती, अमूल्य का अर्थ है जिसका मूल्य इतना अधिक हो कि मूल्यांकन ही न हो सके, और दुर्मूल्य उसे कहते हैं जिसका कि मूल्यांकन उचित मूल्य से अधिक किया जाता हो। जैसे कोई कला

बहुमूल्य वस्तु है। कमी के समय में जिन वस्तुओं के लिये काले बाजार मे जाना होता है वे दुर्लभ हैं और रत्न, जवाहरात इत्यादि बहुमूल्य वस्तुएँ होती हैं।

अस्त्र, शस्त्र—अस्त्र यन्त्र द्वारा संचालित शस्त्रों को कहते है और शस्त्र का प्रयोग हाथों द्वारा होता है। जैसे बन्दूक तोप मशीनगन इत्यादि अस्त्र है और तलवार भाला लाठी इत्यादि शस्त्र है।

अहंकार, अभिमान, दर्प, गर्व, गौरव, दम्भ, मान, अहंकार:—अभिमान-अहंकार में व्यक्ति अपनी शक्ति का उचित से अधिक महत्त्व दे डालता है, अभिमान में व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा के सम्मुख अन्य को नहीं गिनता, दर्प में व्यक्ति अपने प्रतिबन्धों को तोड़ कर गर्व से युक्त हो जाता है, गर्व में व्यक्ति को अपने यौवन, धन, विद्या इत्यादि पर अभिमान हो जाता है, गौरव में व्यक्ति अपने मान का उचित मूल्यांकन करता है, दम्भ में अज्ञानी व्यक्ति मूर्खता पूर्वक अभिमान करता है और मान में व्यक्ति अपने को पूज्य अथवा प्रशंसनीय समझता है।

अर्पित, प्रदान:—जो वस्तु छोटे आदमी बड़ों को देते हैं वे अर्पित कहलाती हैं और जो बड़े आदमी छोटों को देते हैं वे प्रदान कहलाती है।

व्यवहार, आचार—किसी विशेष व्यक्ति का विशेष व्यक्ति के प्रति किया गया कार्य व्यवहार कहलाता है और साधारण व्यवहार को आचार कहते हैं।

व्याधि, आधि—शरीर पर आने वाला कष्ट व्याधि कहलाता है और मानसिक पीड़ा को आधि कहते हैं।

आनन्दित, आह्लादित, आमोदित, उल्लसित, हर्षित, पुलकित, रोमांचित—प्रसन्नता का स्थायी और गम्भीर भाव आनन्द और क्षणिक तथा तीव्र भाव आह्लाद कहलाता है, आमोद मनुष्य की इन्द्रियों की तृप्ति का नाम है और उल्लास किसी कार्य की सफलता से उद्भूत होता है, हर्ष आनन्द की दूसरी स्टेज है और आनन्द तथा आह्लाद से रोमाञ्चित होने की दशा को पुलकित कहते हैं।

अवस्था, आयु—अवस्था जीवन के बीते हुए काल को कहते हैं और आयु में व्यक्ति की पूरी उम्र का उल्लेख होता है।

आशंका, शंका, भय, आतंक, त्रास—भविष्य के अमंगल की शंका को आशंका कहते हैं, यही अमंगल की सूचना का भाव शंका कहलाता है। भय मन के संकोच-भाव को कहते हैं, आतंक अपने से सबल के सामने आने पर छा जाता है और त्रास भय का ज्ञान, अज्ञान या संदिग्ध भाव है।

उत्साह, उद्योग, आभास, प्रयास, यत्न, चेष्टा—उत्साह मन की वह इच्छा है जो कर्मठता की प्रेरणा देती है, उत्साह के साथ जो व्यक्ति प्रयत्न करता है वह उद्योग कहलाता है, उद्योग की वह इच्छा जिस प्रेरणा से बल प्राप्त करती है उसे आभास कहते हैं, फिर कार्य पूर्ण करने का जो उद्योग होता है वह प्रयास कहलाता है। किसी कार्य को प्रारम्भ करने के लिये व्यक्ति यत्न करता है और उसे पूर्ण करने के लिये उसे चेष्टा करनी होती है।

उपकरण, उपादान:—किसी कार्य की सिद्धि के लिए जुटाई गई सामग्री उपकरण कहलाती है और किसी पदार्थ को बनाने वाली सामग्री उपादान।

कष्ट, क्लेश, दुःख, वेदना, व्यथा, यातना, यंत्रणा:—कष्ट का दुःखद प्रभाव मन और शरीर दोनों पर समान रूप से होता है, क्लेश केवल शरीर पर आने वाली आपत्ति और कष्ट का नाम है, दुःख का सम्बन्ध केवल मानसिक क्लेश से है, वेदना हृदय की एक दुःखद अनुभूति का नाम है, व्यथा का जन्म दुखद बात देखने या सुनने से होता है, (वेदना से व्यथा का प्रभाव अधिक होता है) यातना तीव्रतम व्यथा को कहते हैं और यंत्रणा उस दिये गये कष्ट का फल है जो व्यक्ति के शरीर और मन को सहन करना होता है।

तट, तीर, पुलिन, सैकत:—जहाँ पर किसी तालाब, नदी या समुद्र का जल जमीन से छूता है वह तट कहलाता है, उसके आसपास की जमीन तीर कहलाती है, किनारे पर भीगी हुई भूमि को पुलिन कहते हैं और वहाँ का बालू रेत सैकत कहलाता है।

निन्दा, अपवाद, कलंक, अपयश:—जब कोई सच्चा दोष बतलाया जाता है तो उसे निन्दा कहते हैं, झूठी निन्दा अपवाद कहलाती है। किसी की बुराई करने से उसके चरित्र पर जो परिणाम होता है वह कलंक कहलाता है और अपयश जीवन की वह स्थिति है जिसका जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है।

प्रेम, स्नेह, प्रणय, भक्ति, श्रद्धा—बराबर की आयु वालों में जो स्नेह होता है वह प्रेम, बड़ों पर छोटों का स्नेह और छोटों की बड़ों पर श्रद्धा और भक्ति कहलाती है। प्रणय दाम्पत्य-प्रीति का दूसरा नाम है।

अर्चना, पूजा:—पूजा भक्तिपूर्ण विनती को कहते हैं और देवता पर धूप, दीप, फूल इत्यादि से जो पूजा की जाती है वह अर्चना कहलाती है।

निवेदन, प्रार्थना:—निवेदन विनय-भाव से बड़ों के सम्मुख आकांक्षा का ध्यान रखते हुए करना होता है और प्रार्थना किसी विशेष आकांक्षा को लेकर कुछ प्राप्त करने के लिए करना होता है।

बन्धु, सुहृद, मित्र, सखा:—बन्धु उस सहोदर को कहते हैं जो वियोग सहन न कर सके, सुहृद उस प्रेमी जन को कहते हैं जो सहृदयता के कारण मित्र के प्रत्येक कार्य से सहमत हो। मित्रों के जीवन की क्रियाएँ समान रूप से संचालित होती हैं और सखा उस साथी को कहते हैं जो एक प्राण, एक मन और दो शरीर हो।

भजन, उपासना, आराधना:—ईश्वर और देवता की मानसिक उपासना को भजन कहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए जो भजन और क्रिया की जाती है उसे उपासना कहते हैं और देवता के निकट दया-याचना करने को आराधना कहते हैं।

प्रमाद, भ्रम:—प्रमाद में अभिमान और मूर्खता की भावना रहती है और जान-बूझकर लापरवाही दिखलाई जाती है तथा भ्रम असावधानी की भूल को कहते हैं।

बुद्धि, चित्त, मनः—मनुष्य की कर्त्तव्य को करने का निश्चय करने वाली शक्ति को बुद्धि, किसी बात को स्मरण रखने और भुला देने की शक्ति को चित्त और संकल्प-विकल्प करने वाली शक्ति को मन कहते हैं।

मुनि, ऋषिः—धर्म और मर्म-तत्त्वों पर विचार करने वाले मुनि तथा वेद-मंत्रों इत्यादि को प्रकाण्ड पंडित और उनकी व्याख्या करने वाले ऋषि कहलाते हैं।

युक्ति, परामर्श, मन्त्रणाः—एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब किसी कार्य को करने का कोई रास्ता सोचते हैं तो वह क्रिया युक्ति कहलाती है, आपस में समझ-बूझकर सलाह करने की क्रिया को परामर्श कहते हैं और किसी गूढ़ विषय पर गुप्त रूप से सलाह करने की युक्ति खोजने की क्रिया को मन्त्रणा कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग राजनीति के कार्यों में होता है।

अवसाद, प्रलाप, विलापः—अवसाद अत्यधिक कष्ट और खेद की मानसिक अवस्था का नाम है, प्रलाप महान् कष्ट में रोते हुए कुछ अटपटे शब्दों में कुछ-कुछ कहने को कहते हैं और विलाप किसी भी प्रकार वाणी द्वारा प्रकट किया गया शोक का प्रकाशन होता है।

परिश्रम, आयास, श्रम, व्यायामः—शरीर और मन का किसी भी प्रकार का श्रम परिश्रम कहलाता है, आयास में केवल मानसिक शक्ति का ही प्रयोग होता है, शारीरिक शक्ति का नहीं; श्रम में केवल शरीर का ही प्रयोग होता है और उसी के द्वारा किये हुए कार्य को श्रम कहा जाता है तथा व्यायाम में किसी कार्य के लिये शरीर को श्रम नहीं करना होता, यह श्रम केवल अंगसंचालन के लिए और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए ही होता है।

द्वेष, ईर्ष्या, स्पर्धाः—द्वेष, दूसरों के प्रति घृणा और शत्रुता रखने को कहते हैं, दूसरों को किसी कार्य में सफल होते हुए देखकर जो मन में जलन होती है उसे ईर्ष्या कहते हैं, और दूसरों को बढ़ता हुआ देखकर स्वयं बढ़ने की इच्छा रखने को स्पर्धा कहते हैं।

व्रीड़ा, ग्लानि, संकोच, लज्जाः—व्रीड़ा उस लज्जा को कहते हैं जो दूसरों के सामने कार्य करने में संकोच उत्पन्न करती है, ग्लानि उस पश्चात्ताप को कहते हैं जो कोई भी बुरा कार्य करने के पश्चात् मन में उत्पन्न होता है। किसी काम करने में टाल-मटोल करने को संकोच कहते हैं और बुरे कार्य के करने पर मन में जो संकोच का भाव उत्पन्न होता है वह लज्जा कहलाता है।

सम्वेदना, करुणा, कृपा, दया, अनुग्रह, अनुकम्पा, सहानुभूतिः—दूसरे के साथ उसके कष्ट में उतनी ही वेदना का अनुभव करना संवेदना कहलाता है, दूसरे को कष्ट में देख कर जो हृदय में व्याकुलता होती है उसे करुणा कहते हैं। दूसरों का कष्ट-निवारण करने की चेष्टा कृपा कहलाती है, दया दूसरों का दुःख दूर करने की स्वाभाविक इच्छा को कहते हैं। अनुग्रह इष्ट-सम्पादन को कहते हैं और अनुकम्पा दूसरों पर की जाने जाने वाली कृपा को कहते हैं।

नोट—उक्त शब्द-समूहों में ऊपर से देखने पर साम्यता प्रतीत होने पर भी उनके प्रयोग में बहुत बड़ा अन्तर है। इन शब्दों के अर्थ और प्रयोग का ज्ञान किये बिना ढीले रूप से किसी भी रचना में इनका प्रयोग कर लेने पर अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। इस लिए विद्यार्थियों को चाहिए कि वे इनका प्रयोग करते समय पूरी समझदारी से काम लें और किसी प्रामाणिक शब्द-कोष का आश्रय लेकर अपनी रचना में इनका प्रयोग करें।

अनेकार्थक शब्द

११८. शब्दों में अनेक कार्य-कला केवल हिन्दी-भाषा की ही विशेषता न होकर अन्य भाषाओं में भी पाई जाती है। इसका अर्थ प्र के अनुसार ही ग्रहण किया जाता है। संस्कृत में इस प्रकार के शब्दों का बाहुल्य है। कुछ अनेकार्थक शब्द निम्न-लिखित है:—

अंक:—गिनती के अंक, नाटक के अंक, परिच्छेद, चिन्ह, बोध इत्यादि।

अर्क:—ताम्र, इन्द्र, स्फटिक, रविवार, बड़ा भाई, पंडित, सूर्य, मदार का पौधा, रस इत्यादि।

अक्ष:—आँख, सर्प, ज्ञान, मंडल, रथ, चौसर का पासा, धुरी, पहिया, आत्मा, एक बाट इत्यादि।

अक्षर:—ब्रह्मा, विष्णु, अकारादि वर्ण, शिव, धर्म, गगन, मोक्ष, सत्य, नाश-रहित, जल, तपस्या इत्यादि।

अपवाद:—कलंक, किसी नियम का न लगना इत्यादि।

अम्बर:—आकाश, वस्त्र इत्यादि।

अमृत:—गिलोय, स्वर्ण, जल, पारा, दूध, अन्न इत्यादि।

अज:—मेष, राशि, बकरा, दशरथ के पिता, ब्रह्मा, शिव इत्यादि।

अग्र:—श्रेष्ठ, अगुवा, मुख्य, सिरा, एक राजा का नाम, पहले, आगे इत्यादि।

अन्तर:—व्यवधान, अन्तर्ध्यान, अवधि, अवसर, आकाश, मध्य, छिद्र इत्यादि।

अरुण:—रक्तवर्ण, सूर्य का सारथी, सूर्य इत्यादि।

अर्थ:—कारण, मतलब, धन इत्यादि।

आत्मा:—अग्नि, सूर्य, परमात्मा, ब्रह्म स्वरूप इत्यादि।

उत्तर:—उत्तर दिशा, जवाब, हल इत्यादि।

कनक:—धतूरा, सोना।

कर:—टैक्स, सूँड, किरण, हाथ इत्यादि।

गो:—केश, वाण, आँख, अम्बुकिरण, बज्र, भूमि, गाय, स्वर्ग, भारती, दिशा, एक ऋषि का नाम, सूर्य, बैल, गोमेध यज्ञ इत्यादि।

गुण:—गुन, रस्सी, शील, स्वभाव, कौशल इत्यादि।

घन:—बादल, अधिक घन, किसी संख्या को उसी संख्या से दो बार गुणा करना इत्यादि।

जीवन—जल, प्राण इत्यादि ।

जलज—कमल, शंख, मछली, मोती, चन्द्रमा, इत्यादि ।

तारा—देवी विशेष, बृहस्पति की स्त्री, बाली की स्त्री, नेत्रों की पुतली, नक्षत्र इत्यादि ।

तात—पूज्य, प्यारा, गर्भ, मित्र, बड़ा, भाई, पिता, प्रिय इत्यादि ।

दल—पक्ष, पत्ता, समूह इत्यादि ।

दण्ड—सजा, डंडा इत्यादि ।

द्विज—दाँत, चन्द्रमा, पक्षी, ब्राह्मण इत्यादि ।

धात्री—उपमाता, पृथ्वी, आँवला, माता इत्यादि ।

नाग—नागकेशर, हाथी, सर्प इत्यादि ।

निदेश—उचित, शिक्षा, संगीत, आधार, पात्र, आदेश, अनुमति, कथा इत्यादि ।

पक्ष—पन्द्रह दिन का समय, ओर, पंख, बल, सहाय, पार्टी इत्यादि ।

पतंग—पक्षी, सूर्य, चंग, पतिंगा, आकाश में कागज की उड़ाने वाली गुड्डी इत्यादि ।

पद—पैर, उद्यम, स्थान, रक्षा, चौथा भाग, देश, छन्द का एक चरण, उपाधि इत्यादि ।

पोत—बच्चा, नाव, स्वभाव, वस्त्र, गुड़िया इत्यादि ।

पत्र—पत्ता, चिट्ठी, पंख इत्यादि ।

बलि—राजा बलि, बलिदान, उपहार, कर इत्यादि ।

बल—सेना, शक्ति, बलराम इत्यादि ।

फल—नतीजा, पेड़ का फल, तलवार या चाकू का फल इत्यादि ।

मधु—शहद, शराब इत्यादि ।

भूत—प्रेत, प्राणी, गत समय, पृथ्वी आदि पंचभूत ।

मान—सम्मान, अभिमान, तोल-नाप इत्यादि ।

मित्र—दोस्त, सूर्य, प्रिय, सहयोगी इत्यादि ।

रस—पौधे का दूध, सार, आनन्द, स्वाद, जल, प्रेम, पारा इत्यादि ।

राग—प्रेम, गाने, रंग, राग का संगीत, दोनों पैरों के धड़ से मिलने के स्थान इत्यादि ।

वन—जल, जंगल इत्यादि ।

विग्रह—लड़ाई, शरीर इत्यादि ।

विधि—ईश्वर, ब्रह्मा, रीति, भाग्य इत्यादि ।

वर्ण—अक्षर, ब्राह्मण आदि जातियाँ, रंग ।

सारंग—राग विशेष, मोर, सर्प, मेघ, हरिण, पानी, देश-विदेश, पपीहा, हाथी, राजहंस, सिंह, कोयल, कामदेव, वर्ण, धनुष, भौंरा, मधुमक्खी, कपूर, कमल, भूषण, फूल, छत्र, शोभा, रात, दीपक, स्त्री, शंख, वस्त्र इत्यादि ।

हरि—विष्णु, इन्द्र, सर्प, मेंढ़क, सिंह, घोड़ा, सूर्य, चाँद, तोता, वानर, यमराज, हवा, ब्रह्मा, शिव, किरण, मोर, कोयल, हंस, आग, पहाड़, गज, कामदेव, हरा रंग इत्यादि।

भिन्न अर्थ वालें शब्द

११९. बहुत से शब्द भाषा में ऐसे भी देखने में आते है जिनके उच्चारण और उनकी उच्चारण-ध्वनि पर यदि विचार करें तो वे एक-से ही प्रतीत होते हैं। परन्तु उनके प्रयोग करने के अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है। ऐसे कई भाषाओं के शब्दों के हिन्दी में आ जाने के कारण बहुत अधिक प्रचलित हो गये हैं। कुछ शब्द उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

"आगा" (हि०)=अगवाड़ा, "आगा" सरदार। "आम" (हि०)=फल विशेष, "आम" (अ०) साधारण। 'आराम' (सं०)=बाग, "आराम" (फा०)=विश्राम। "एतवार" (हि०) =रविवार "एतबार" (फा०) विश्वास। "कन्द" (सं०) मूल, "कन्द" (फा०)=मिसरी। "कफ" (सं०)=बलगम, "कफ" (सं०)=फेन, "कफ" (अं०)=कमीज का कफ। "कुन्द" (सं०)=एक फूल, "कुन्द" (अं)=मन्द। कुल (सं०)=वश, "कुल" (अ०) सब। "कै" (हि०)=कितना, "कै" (अ०)=वमन। 'खैर" (हि०)=कत्था, "खैर" (फा०) कुशल। "गौर" (सं०)=गौरा, "गौर" (अ०) =ध्यान। "चारा" (हि०)=घास, "चारा" (फा०)=उपाय। जरा (सं०)=बुढ़ापा, "ज़रा" (फा०) =थोड़ा। "झख" (सं०)=मछली, "झख" (हि०)=खीझना। "तूल" (सं०)=रूई, "तूल" (हि०) =तुलना, "तूल" (अ०)=लम्बाई। देव (सं०)=देवता, "देवता" "देव" (फा०)=राक्षस। नाना (सं०) =विविध, "नाना" (हि०)=माता के पिता, "नाना" (सं०)=पोदीना नाला (हि०)=जल निकलने का मार्ग, "नाला" (फा०) =रोना। "पट" (सं) =परदा, कपड़ा' "पट" (हि०) =किवाड़, उलटा, तुरन्त। "रास" (स०)=नाच, "रास" (हि०)=बागडोर, 'रास" (फ०)=अन्तरीप। "शकल" (सं०)=टुकड़ा "शकल" (फा०) =चेहरा। "सर" (सं०) =तालाब, "सर" (फा०)=सिर, "सर" (अ०)=पदवी। "संग" (स०)=साथ, । "संग" (फा०)=पत्थर, "संग" (अ०) गाया। "सन" (हि०)=एक पौधा, "सन्" (अं०)=सम्बल। "हाल" (हि०)=पहिए का हाल, "हाल" (अ)=विवरण, "हॉल" (अं०)=एक बड़ा कमरा। "हार" (सं०)=माला "हार" (हि०)=पराजय।

समुच्चारित शब्द-समूह

१२०. भाषा के कुछ शब्द उच्चारण में एकता रहने पर भी अपने रूपों में बड़ा भारी भेद रखते हैं। इस प्रकार के कुछ शब्द भी नीचे दिये जाते हैं—

"अनल"	आग	"अनिल"	हवा
"अन्न"	अनाज	"अन्य"	दूसरा
"अनिष्ट"	बुराई	"अनिष्ठ"	निष्ठा-हीन

"अंत"	समाप्त	"अन्त्य"	नीच
"अंस"	कन्धा	"अंश"	हिस्सा
"अर्घ"	जलदान, मूल्य	"अर्घ्य"	पूजनीय तथा पूजा-द्रव्य
"अपेक्षा"	इच्छा	"उपेक्षा"	निरादर
"अनु"	एक उपसर्ग	"अणु"	कण
"अशक्त"	शक्ति-हीन	"आसक्त"	मोहित
"अभिहित"	उक्त, ज्ञान-हीन	"अविहित	अनुचित
"अवलम्ब"	सहारा	"अविलम्ब"	शीघ्र
"अशित"	खाया हुआ	"असित"	काला
"अपभोग"	बुरा व्यवहार	उपभोग"	आस्वादन
"अभिज्ञ"	जानने वाला	अनभिज्ञ"	अनजान
"आदि"	वगैरह	"आधि"	पीड़ा
"आहुत"	यज्ञ	"आहूत"	निमन्त्रण
"अभिराम"	सुन्दर	"अविराम"	लगातार
"आकर"	खान	"आकार"	सूरत
"इत"	इस ओर	"इति"	समाप्ति, ईति-आपदा
"उद्धत"	उद्दण्ड	"उद्यत"	तैयार
"कृत"	किया हुआ	"क्रीत"	खरीदा हुआ, कृत्य-काम
"केसर"	अयाल	"केशर"	कुंकुम
"कुल"	वंश	"कूल"	तीर, किनारा
"गड़ना"	चुभना	"गणना"	गिनती
"ग्रह"	सूर्य, चन्द्र आदि	"गृह"	घर
"जलज"	कमल	"जलद"	बादल
"चिर"	दीर्घ	"चीर"	वस्त्र
"छात्र"	विद्यार्थी	"क्षत्र"	क्षत्रिय
"छत्र"	छतरी	"क्षत्र"	क्षत्रिय
"जरा"	बुढ़ापा	"ज़रा"	थोड़ा
"तरणी"	नौका	"तरणि"	सूर्य, तरुणी, जवान स्त्री
"द्विप"	हाथी	"द्वीप"	टापू
"दूत"	सम्वाद दाता	"द्यूत"	जुआ
"देश"	राज्य	"द्वेष"	शत्रुता
"दार"	पत्नी	"द्वार"	दरवाजा
"दारा"	पत्नी	"द्वारा"	हेतु
"दिन"	दिवस	"दीन"	निर्धन
"नीर"	पानी	"नीड़"	घोंसला

“नारी”	स्त्री	“नाडी”	नब्ज
“परुष”	कठोर	“पुरुष”	आदमी
“प्रकार”	रीति	“प्राकार”	किले का एक अंग
“प्रमाण”	सबूत	“परिमाण”	मात्रा
“परमाणु”	कण मात्र	“प्रणाम”	नमस्कार करना
“प्रतिहार”	द्वारपाल	“प्रत्याहार”	निवारण
“प्रथा”	रीति	“पृथा”	अर्जुन की माता
“प्रसाद”	प्रसन्नता	“प्रासाद”	महल
“प्रकृत”	पदार्थ	“प्रकृति”	स्वभाव
“प्रहार”	मारना	“परिहार”	त्यागना
“प्रवाह”	बहाव	“परवाह”	चिन्ता
“पाणि”	हाथ	“पानी”	जल
“भवन”	घर	“भुवन”	ससार
“बलि”	बलिदान	“बली”	बीर
“मात्र”	केवल	“मातृ”	माता
“मनज”	कामदेव	“मनोज्ञ”	सुन्दर
“मूल”	जड	“मूल्य”	कीमत
“यक्ष”	वन-देवता	“अक्ष”	धुरी
“लक्ष”	लाख	“लक्ष्य”	निशाना
“वसन”	कपड़ा	“व्यसन”	बुरी आदत
“विष”	जहर	“बिस”	कमल-नाल
“वृन्त”	डण्ठल	“वृन्द”	समूह
“शर”	बाण	“सर”	तालाब
“शकल”	खण्ड	“सकल”	पूरा
“शारदा”	शरद ऋतु-सम्बन्धी	“सारदा”	सरस्वती
“शंकर”	महादेव	“संकर”	मिला हुआ
“शमीर”	एक पेड़	“समीर”	हवा
“शूर”	वीर	“सूर”	सूर्य
“शुल्क”	फीस	“शुक्ल”	स्वच्छ
“स्वपच”	स्वयंपाकी	“श्वपच”	चाण्डाल
“सुत”	पुत्र	“सूत”	सारथी
“सर्ग”	सृष्टि	“स्वर्ग”	देव-लोक
“हय”	घोड़ा	“है”	वर्तमान काल की क्रिया

विपरीत अर्थ वाले शब्द

१२१. कुछ शब्द भाषा में विपरीत अर्थ रखने वाले एक साथ और पृथक्-पृथक् भी प्रयोग में लाये जाते है। इन शब्दों के अर्थ एक दूसरे से बिलकुल विरोधी होते हैं। नीचे साथ-साथ और पृथक्-पृथक् प्रयोग में आने वाले दोनों प्रकार के शब्द दिये जाते हैं—

(अ) अन्धकार–प्रकाश। अथ–इति। अन्त–आदि। अमृत–विष। अस्त–उदय। आकाश–पाताल। आय–व्यय। आरम्भ–अन्त। आवाहन–विसर्जन। उदार–कृपण। उत्थान–पतन। ऊँच–नीच। कोमल–कठोर। गंगा–कर्मनाश। गुरु–लघु, गुण–दोष। थोड़ा–बहुत। धनी– दरिद्र। ज्येष्ठ–कनिष्ठ। जड़–चेतन। जीवन–मरण। दिन–रात। निद्रा–जागरण। नूतन–पुरातन। पण्डित–मूर्ख। परकीय–स्वकीय। परमार्थ–स्वार्थ। पाप–पुण्य। प्राचीन–नवीन, अर्वाचीन। पाश्चात्य–पौर्वात्य। बन्धन–मोक्ष। बद्ध–मुक्त। भला–बुरा। मिलन–बिछोह। योगी–भोगी। लाभ–हानि। विधि–निषेध। सृष्टि–प्रलय। स्थूल–सूक्ष्म। स्वर्ग–नरक। सुख–दुःख। स्तुति–निन्दा। स्थावर-जंगम। सफल–विफल। शीत–उष्ण।

(आ) अ–अन्–योगद्वारा–आचार–अनाचार। आदि–अनादि। आपप–अनातप। आतुर–अनातुर। ईश–अनीश। उचित–अनुचित। ऐश्वर्य–अनैश्वर्य। कल्याण–अकल्याण। कुटिल–अकुटिल। चर–अचर। ज्ञान–अज्ञान। न्याय–अन्याय। मङ्गल–अमङ्गल शान्ति–अशान्ति।

(इ) उपसर्ग द्वारा—क्रय–विक्रय। कीर्ति–अकीर्ति। मान–अपमान। यश–अपयश।। राग–विराग। योग–वियोग। घात–प्रतिघात। वाद–प्रतिवाद। विवाद–निर्विवाद। जय–पराजय। सम–विसम। श्वाँस–उच्छवास।

(ई) उपसर्ग परिवर्तन द्वारा—सयोग–वियोग। सुगम–दुर्गम। स्वतन्त्र–परतन्त्र। आदान–प्रदान। अतिवृष्टि–अनावृष्टि। अनुकूल–प्रतिकूल। अनुराग–विराग। अनुग्रह-विग्रह। उत्कर्ष–अपकर्ष। उत्कृष्ट–निकृष्ट। उन्नति–अवनति। आकर्षण–विकर्षण। उपकार–अपकार। सरस–नीरस। सधवा–विधवा। सज्जन–दुर्जन। सजीव–निर्जीव। सुगन्ध–दुर्गन्ध। संश्लेषण–विश्लेषण। साकार–निराकार।

(उ) लिंग-परिवर्तन द्वारा—पुरुष–स्त्री। पिता–माता। राजा–रानी। धोबी-धोबिन। मजदूर–मजदूरिन। घोड़ा–घोड़ी। नर–नारी।

(ऊ) एक साथ आने वाले विपरीतार्थक शब्द—सुख–दुःख। पाप–पुण्य। साधु-असाधु। देव–दानव। गुण–दोष। हित–अहित। न्याय–अन्याय। शुभाशुभ–धर्माधर्म आहार–विहार। आय–व्यय। आदान–प्रदान। कुपात्र–सुपात्र। हँसना–रोना। मरना-जीना। शीतोष्ण, अहर्निश, न्यूनाधिक, सत्यासत्य, भद्राभद्र।

एकार्थक वर्ण विन्यास भिन्न शब्द

१२२. भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके वर्ण-विन्यास में भिन्नता रहने पर

भी अनेक अर्थों में समता पाई जाती है। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग लेखक अपनी रुचि के अनुसार किसी भी वर्ण-विन्यास के साथ कर सकता है; परन्तु जिस लेख में भी वह उसका प्रयोग करे, उसे आद्योपांत एक ही ढंग से करना चाहिए। एक ही लेख में दो प्रकार के वर्ण-विन्यास का प्रयोग करना उचित नहीं है। कहीं एक और कहीं दूसरा वर्ण-विन्यास उपस्थित करने से लेख पाठक के लिये भ्रामक हो जाता है और इससे लेखक की अपरिपक्वता भी टपकती है। कविता में कभी-कभी शब्दों के विन्यास का स-प्रयास बदलना प्राचीन कवियों की कृतियों में अधिक देखने को मिलता है। लम्बे, क्लिष्ट और कर्णकटु शब्दों को मधुर बनाने के लिए भी कवि उनके विन्यास में परिवर्तन कर देते हैं। आधुनिक कवियों में इस प्रणाली का अभाव है। कभी-कभी अन्त्य तुक मिलाने के लिए भी यह परिवर्तन किया जाता है। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व कर देना तो साधारण-सा परिवर्तन है। व के स्थान पर ख और श के स्थान पर स का प्रयोग भी बहुत देखने को मिलता है। इस प्रकार का परिवर्तन गद्य-लेखक करना उचित नहीं समझते और उनकी दृष्टि से यह भाषा को व्यर्थ के लिए बिगाड़ना-मात्र समझा जाता है। एक अर्थ के वर्ण विन्यास में भिन्नता रखने वाले कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं:—

अँगुली, उँगली,। अजलि, अंजली। अन्तरिक्ष, अन्तरीक्ष। अमिय, अमी। अभिवन्दन, अभिवादन। अवनि, अवनी। अलि, अली। अमावस्या, अमावस्या। आँचल, आँचर, अँचरा। आलि, अली। इन्धन, ईंधन। कटि, कटी। कलश, कलस। कशलय, किसलय। कोश, कोष। कौशल्य, कौसल्य। गड्हा, गढ़ा। गदहा, गधा। चरित, चरित्र। डाल, डार। तुरग, तुरंग। तेल, तैल। दश, दस। धूलि, धूली। प्रतिकार, प्रतीकार। पृथ्वी, पृथिवी। पूर्णिमा, पूर्णमासी। बहन, बहिन। भुजंग, भुवंग, भुजंगम। भूमि, भूमी। महि, मही। मणि, मणी। मूषल, मूसल। रात्रि, रात्री। लहू, लोहू। वशिष्ठ वसिष्ठ। विहग, विहंग, विहंगम। शावक, सावक। शूकर, सूकर। श्रेणी, श्रेणि। श्वसुर, ससुर। साड़ी, सारी। हिंसक, हिंस्रक।

एक धातु के भिन्नार्थक शब्द

१२३. कुछ मूल शब्द संस्कृत में ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न उपसर्गों के योग से भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। इन शब्दों का प्रयोग भाषा में भी ज्यों-का-त्यों किया जाता है। इस प्रकार के कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं:—

[अ] हृ धातु से बने शब्द—प्रहार—आघात। संहार—विनाश। आहार—भोजन। विहार—भ्रमण, भोग। व्यवहार—आचरण। परिहार—परित्याग। उपहार—भेंट। अपहरण—चोरी। प्रतिहार—द्वारपाल। प्रत्याहार—विवरण।

[आ] ईक्ष धातु से बने शब्द—अपेक्षा—आकांक्षा। उपेक्षा—अनादर निरीक्षण—देख-भाल। परीक्षा—जाँच। प्रतीक्षा—राह देखना।

[इ] गम धातु से बने शब्द—अनुगमन—पीछे चलना। निर्गमन—निकलना। प्रतिगमन—लौटना। आगमन—आना। उद्गम—पैदा होना। संगम—मिलना।

[ई] कृ धातु से बने शब्द—अनुकरण–नकल। प्रतिकार बदला। संस्कार–जीर्णोद्धार। विकार–परिवर्तन। अधिकार–स्वामित्व। उपकार–भलाई। अपकार–बुराई। प्रकृत–यथार्थ। प्रकार–ढंग। आकार–रूप। आकृति–शक्ल। दुष्कर–असाध्य।

[उ] नी धातु से बने शब्द—अपनीत–हटाया गया। आनीत–लगा हुआ। अभिनीत–खेला हुआ। अनुनय–प्रार्थना। उपनीत–उपस्थित। परिणीत–विवाहित। प्रणीत–रचित।

[ऊ] भू धातु से बने शब्द—अनुभूत–जाना हुआ। अभिभूत–पराजित। उद्भूत–निकाला हुआ। पराभूत–पराजित। प्रभूत–प्रचुर। सम्भूत–उत्पन्न।

[ए] वद् धातु से बने शब्द—अभिवादन–वन्दना। अपवाद–अपयश। अनुवाद–उल्था। परिवर्तन–बदला। प्रतिवाद–विरोध। प्रवाद–अफवाह। विवाद–झगड़ना। संवाद–खबर।

[ऐ] वृत् धातु से बने शब्द—अनुवर्तन–अनुसार, चलना। आवर्तन–घूमना। निवृत्त–विरत। प्रवृत्त–उद्यत।

[ओ] ज्ञा धातु से बने शब्द—अवज्ञा–अनादर। अनुज्ञा–अनुमति। अभिज्ञान–स्मारक। परिज्ञान–सम्यक् ज्ञान–प्रतिज्ञा-वाद विशेष ज्ञान।

[औ] चर धातु से बने शब्द—अनुचर–सहचर। संचार–विस्तार। परिचर-भृत्य, विचार–अभिप्राय।

[अं] चि धातु से बने शब्द—अपचय–क्षति। उपचय–वृद्धि। निश्चय–निर्णय। परिचय–पहचान। संचय–संग्रह।

[अः] ग्रह धातु से बने शब्द—अनुग्रह–दया। आग्रह–हठ। निग्रह–शासन। परिग्रह–ग्रहण। प्रतिग्रह–दान लेना। संग्रह–संचय।

[क] पत् धातु से बने शब्द—उत्पात–उपद्रव। प्रपात–झरना। निपात–विनाश। सम्पात–गिरना।

[ख] स्था धातु से बने शब्द—अवस्था–स्थिति। अधिष्ठान–स्थिति। अनुष्ठान–सम्पादन। अवस्था–हालत। उत्थान–उठना। व्यवस्था–स्थिरता। संस्था–योजना।

[ग] दा धातु से बने शब्द—आदान–ग्रहण। उपादान–सामग्री। प्रदान–अर्पण। प्रतिदान–विनिमय। निदान–मूल कारण। सम्प्रदान–कारण विशेष।

[घ] दिश धातु से बने शब्द—आदेश–आज्ञा। उपदेश–शिक्षा। निर्देश–आदेश। प्रदेश–छोटा देश। प्रत्यादेश–खण्ड। विदेश–अन्य देश।

[ङ] धा धातु से बने शब्द—अनुसन्धान–खोज। अभिधान–शब्द-कोश। उपधान–तकिया। परिधान–वस्त्र। प्रधान–खास। निधान–भण्डार। विधान–विधि। व्यवधान–अन्तर।

[च] युज् धातु से बने शब्द—अनुयोग–प्रश्न, खोज। अभियोग–नालिश।

अपयोग—कुव्यवहार। उद्योग—चेष्टा। उपयोग—व्यवहार। नियोग—आदेश। दुर्योग—षड्यन्त्र। प्रयोग—व्यवहार। प्रतियोग—बाधा। वियोग—विरह। संयोग—मिलाप। योग—अवसर।

प्रत्यय-समान शब्द

१२४. भावों में कुछ शब्दों का प्रयोग प्रत्यय के समान किया जाता है। ये शब्द हिन्दी-भाषा में सीधे संस्कृत से आये हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए हैं:—

अन्वित—आश्चर्यान्वित, विस्मयान्वित, क्रोधान्वित।
आच्छन्न—शोकाच्छन्न, मेघाच्छन्न, तिमिराच्छन्न, मायाच्छन्न।
कर्म—शिल्प-कर्म, कृषि-कर्म, कुकर्म, अपकर्म, सत्कर्म, शुभ कर्म।
चर—अनुचर, खेचर, भूचर, रजनीचर, निशिचर, सहचर।
च्युत—पद-च्युत, धर्म-च्युत, राज-च्युत, स्वर्ग-च्युत।
प्रिय—अप्रिय, ज्ञान-प्रिय, प्राण-प्रिय, सत्य-प्रिय, शान्ति-प्रिय।
पति—पशुपति, श्रीपति, भूपति, नृपति, विश्वपति, रमापति।
परायण—सत्य-परायण, न्याय-परायण, धर्म-परायण, ज्ञान-परायण।
भ्रष्ट—स्थान-भ्रष्ट, धर्म-भ्रष्ट, तपो-भ्रष्ट, आचार-भ्रष्ट।
मुख—विमुख, सम्मुख, सुमुख, पराङ्मुख।
लोक—इहलोक, परलोक, गोलोक, सुर-लोक, देव-लोक।
रूप—अनुरूप, कुरूप, स्वरूप, विश्वरूप।
यात्रा—जीवन-यात्रा, समुद्र-यात्रा, तीर्थ-यात्रा।

उपसर्ग-समान शब्द

१२५. हिन्दी में संस्कृत से आये हुए कुछ ऐसे शब्द हैं, जो उपसर्ग के समान प्रयोग में आते हैं। ऐसे शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

अर्थ—अर्थ-विचार, अर्थ-गौरव, अर्थ-नीति, अर्थ-लाभ, अर्थ-मन्त्री, अर्थ-बोधक अर्थ-हीन।

आत्मा—आत्म-तत्त्व, आत्म-गरिमा, आत्म-घात, आत्म-चिन्ता, आत्म-ज्ञान, आत्म-गौरव, आत्म-त्याग, आत्म-दान, आत्म-दोष, आत्म-द्रोह, आत्म-प्रशंसा, आत्म-प्रसाद, आत्म-निश्चय, आत्म-विसर्जन, आत्म-सम्मान, आत्म-विस्मृति, आत्म-निर्भर, आत्म-प्रतिष्ठा, आत्म-शासन, आत्म-श्लाघा, आत्म-शुद्धि, आत्म-संयम, आत्म-समर्पण।

कर्म—कर्म-वीर, कर्म-योग, कर्म-काण्ड, कर्म-भोग, कर्म-फल, कर्म-प्रिय, कर्म-निष्ठा, कर्म-कौशल, कर्म-हीन।

धर्म—धर्म-बुद्धि, धर्म-ज्ञान, धर्म-शील, धर्मात्मा, धर्म-भीरु, धर्म-द्वेषी, धर्म-युद्ध, धर्म-हीन।

राज—राजाज्ञा, राज-कर, राज-दण्ड, राज-द्रोह, राजधानी, राजग्रह, राज-नीति, राजपथ, राजभोग, राज-लक्ष्मी, राज-वंश, राजसूय, राजस्व, राजहंस, राजसभा

राज-द्वार, राज-सिंहासन, राजधर्म, राजपूत, राज-कन्या, राजकुमार, राजदरबार, राज-कर्मचारी, राज-रानी, राजदुलारी ।

बल—बलवान्, बलशाली, बलहीन, बल-विक्रम, बल-प्रयोग, बलपूर्वक, बलाधिकृत ।

लोक—लोक-मत, लोक-चर्चा, लोक-नाथ, लोक-प्रिय, लोक-पाल, लोकापलद, लोक-निन्दा, लोक-लज्जा, लोक-भय ।

विश्व—विश्ववरणीय, विश्व-प्रेम, विश्वपति, विश्वजित, विश्वविजय, विश्व-व्यापी, विश्वविद्यालय, विश्वम्भर, विश्वनाथ, विश्व-विख्यात, विश्व-कोष ।

सर्व—सर्वनाम, सर्वनाश, सर्वसम्मति, सर्वकाल, सर्वाधिकारी, सर्वसाधारण, सर्वमय, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा, सर्वोपरि, सर्वानन्द, सर्वेश्वर, सर्वजन, सर्वश्री, सर्वांग ।

पदांश परिवर्तन द्वारा निर्मित शब्द

१२९. भाषा में कुछ यौगिक पदों के पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध को बदलकर उसके स्थान पर किसी अन्य मधुर शब्द को जिसका कि अर्थ वही रहता है, जोड़ दिया जाता है। इससे पद के सौन्दर्य में वृद्धि होती है और छंद-रचना में इस प्रकार का प्रयोग विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार का शब्द-संगठन लेखन-कला में चमत्कार उत्पन्न कर देता है और रचना में विशेष आकर्षण हो जाता है। यह परिवर्तन किसी अंश के स्थान पर अथवा सभी अंशों के स्थान पर किया जाता है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

[अ] पूर्व-पद परिवर्तन—नृसिंह, नरसिंह, । कनककशिपु, हिरण्यकशिपु । भूपति, महीपति, पृथ्वीपति । नृपति, नरपति । प्राणाधार, जीवनाधार । सुरबाला, देवबाला । भूपाल, महीपाल, पृथ्वीपाल । कर्णगोचर, श्रुतिगोचर । हेमलता, कनकलता, स्वर्णलता । खेचर, रजनीचर, निशिचर ।

[आ] उत्तर-पद परिवर्तन—राजकन्या, राजपुत्री, नरनाथ, नरपाल, कमलिनी-नायक, कमलिनी-वल्लभ । निशिनाथ, निशिपति । रजनीकान्त, रजनीपति । प्राण-नाथ, प्राणेश्वर, प्राणवल्लभ, प्राणाधार । जगदीश, जगन्नाथ । मृगाक्षी, मृगनयनी ।

कुछ संख्यावाचक उपयोगी शब्दों को नीचे दिया जाता है। इन संख्याओं के प्रयोग आने से ही पाठक या श्रोता को तुरन्त निम्नलिखित अर्थों का आभास होने लगता है—

एक—ईश्वर । दो—फल । तीन—काल, गुण, दोष, देव, लोक, अग्नि, ऋण, ताप, काण्ड, राम, वायु के गुण, शिव-नेत्र । चार—वर्ण, युग, आश्रम, थल, वेद अवस्थाएँ, दिशाएँ, सेना के अङ्ग, ब्रह्मा के अङ्ग, मस्तक, धाम । पाँच—प्राण, तत्व, ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचामृत, काम के बाण, शिव के मस्तक, देवता । छः—ऋतु, शास्त्र, रस, वेदांग, इतियाँ, स्कन्द, मुख । सात—ऋषि, लोक, वार, सागर, द्वीप, जल, पर्वत, । आठ—वसु, सिद्धियाँ पहर, योग के अङ्ग । नव—ग्रह, निधियाँ, रस, दुर्गा, भक्ति, नन्द, अंक, । दस—दिशाएँ ।

इन्द्रियाँ, विष्णु के अवतार, रावण मुख । ग्यारह–इन्द्रियाँ, रूद्र । बारह–महीने, राशियाँ आदित्य, दर्शन में बारह चीजें । चौदह–लोक, मनु, रत्न, विद्याएँ । पन्द्रह–तिथियाँ । सोलह–कलाएँ, शृंगार, संस्कार, रुपये में सोलह आने । अठारह–पुराण, उप पुराण, विद्याएँ, स्मृतियाँ, नरक । बीस–नख, रावण के हाथ, कोड़ी, बीघे के बिस्वे । चौबीस–तत्त्व । पच्चीस–तत्त्व, विष्णु के अवतार । सत्ताईस–नक्षत्र, भोग । तीस–राशि के अंश, महीने के दिन । तैंतीस–देवता । चालीस–मन के सेर । उनचास पवन । चौंसठ–कलाएँ । चौहत्तर–चतुर्युगी । अस्सी–वात-विकार । चौरासी–लक्षयोनियाँ, आसन । एक सौ आठ–माला के दाने । एक सौ ग्यारह–रामानन्दी तिलक । सहस्र–शेषनाग के फन, इन्द्र की आँखें ।

कुछ अन्य उपयोगी संख्या-वाचक शब्द

१२७. कुछ उपयोगी रूढ़ार्थक शब्द नीचे दिये जाते हैं :—

द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, पक्षी ।

तीन तृष्णा—लोक-बड़ाई, धन-राज्यादि, स्त्री-पुत्र आदि ।

तीन कर्म–संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण । तीन काण्ड–कर्म, उपासना, ज्ञान । तीन काल–भूत, वर्तमान, भविष्यत । तीन गुण–सत, रज, तम । तीन दोष–वात, पित्त, कफ़ । तीन देव–ब्रह्मा, विष्णु महेश । तीन लोक–स्वर्ग, मृत्यु, पाताल । तीन अग्नि–बड़वाग्नि, दावाग्नि, जठराग्नि । तीन ऋण–देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण । तीन ताप–दैहिक, दैविक, भौतिक । तीन श्रोत–मुक्त, मुमुक्षु, विषयी ।

चतुरङ्गिणी सेना—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल । चार योनियाँ–जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, । चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, । चार प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान । चार रिपु–काम, क्रोध, लोभ, मोह, । चार युग–सतयुग (१७२८००० वर्ष), त्रेता (१२९६००० वर्ष), द्वापर(८३४००० वर्ष),कलियुग (४१२००० वर्ष) । चार फल– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । चार वर्ण–ब्राह्मण,, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र । चार वेद–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद । चार उपवेद–ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का, धनुर्वेद, सामवेद का गांधर्ववेद, अथर्ववेद का स्थापत्य । चार अवस्थाएँ–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि । चार भक्त–आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी । चार उपाय–साम, दाम, दण्ड, भेद ।

पंचगव्य —गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घृत । पंचामृत–दूध, दही, घृत, शहद, शक्कर । पाँच तत्त्व– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, । पाँच कोश–अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय । पाँच प्राण–प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान । पाँच यज्ञ–संध्या, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, पितृ-यज्ञ, अतिथि यज्ञ, । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ–हाथ, पाँव, वाणी, नासिका और चक्षु स्थान ।

छः ऋतुएँ—बसन्त (चैत, बैसाख), ग्रीष्म (ज्येष्ठ, आषाढ़), वर्षा (श्रावण, भाद्रपद), शरद् (कुआर, कार्तिक), हेमन्त (अगहन, पौष), शिशिर (माघ, फाल्गुन) ।

छः इतियाँ—बहुत बरसाना, सूखा, चूहे, टीड़ी, तोता, राजा की चढ़ाई। छः कर्म—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना। छः दर्शन—न्याय, साँख्य, वैशेषिक, योग, वेदान्त, कर्म-मीमांसा। छः रस—मीठा, खारा, चरपरा, कसैला, कड़वा, खट्टा। छः वेदांग—छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण।

सात ऋषि—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, वशिष्ठ, जमदग्नि। सात तल—अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल, सात द्वीप—जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मली, गोमेद, पुष्कर। सात अंग—(राज्य के) मन्त्री, शस्त्र, घोड़ा, हाथी, देश, कोष, गढ़। सात रंग लाल, नारंगी, पीला हरा, नीला, आसमानी, बैंजनी। सात सागर-लवण, इक्षु, दधि, क्षीर, मधु, मदिरा, घृत।

अष्ट छाप—(व्रज के ८ कवीश्वर) सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास, गोस्वामी,। आठ पहर—दिन के चार पहर—पूर्वार्द्ध, मध्याह्न, अपराह्न, सायं तथा रात के चार प्रहर—प्रदोष, निशीथ, त्रियामा, ऊषा। आठ अंग—(योग के) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। आठ सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व।

नवग्रह—रवि, सोम, मंगल, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु। नवनिधि—महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन। नवरात्रि चैत्र, शुक्ल और कुआर शुक्ल की प्रतिपदा से लेकर नवमी तक।

दस अवतार—मच्छ, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि। दस दिशाएँ—उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे, नैऋत्य, वायव्य, ईशान आग्नेय। दस दिग्पाल—पूर्व के इन्द्र, आग्नेय कोण की अग्नि, दक्षिण के यमराज, नैऋत्य कोण के नैऋत्य, पश्चिम के वरुण, वायव्य कोण के पवन, उत्तर के कुबेर, ईशान कोण के महादेव, ऊपर की दिशा के ब्रह्मा, नीचे की दिशा के विष्णु।

बारह आदित्य राशियाँ—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन।

चौदह रत्न—लक्ष्मी, मणि, रम्भा, वारुणी, अमृत, शंख, हाथी, धनु, धन्वन्तरि, धेनु, शशि, कल्पद्रुम, विष, बाजि।

सोलह कलाएँ—अमृता, मानदा, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा, पूर्णामृता।

सोलह शृंगार—शौच, उबटन, स्नान, केश-बन्धन, अंगराग, अञ्जन, महावर, दन्तरंजन, ताम्बूल, वसन, भूषण, सुगन्ध, पुष्पहार, कुंकुम, भाल-तिलक, चिबुक बिन्दु।

सोलह संस्कार—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जात कर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्तिम संस्कार।

अठारह पुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड।

सत्ताईस नक्षत्र—अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रावण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती।

तैंतीस देवता—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति।

अध्याय ६

शब्दों का शुद्ध प्रयोग

१२८. निबन्ध-लेखन में शुद्ध भाषा लिखने का उतना ही बड़ा महत्व है जितना कि उसमें भाव और वस्तु का संगठन। भाषा का शुद्ध लेखन उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि लेखक का ज्ञान शब्दों के लेखन और उनके अर्थ के विषय में पूर्ण न हो। देवनागरी-लिपि ध्वनि के विचार से शुद्ध-लेखन में विशेष रूप से अपनी सहयोगिता रखती है, परन्तु फिर भी लिखते समय लेखक बहुत-सी अशुद्धियाँ कर डालते हैं। जो अशुद्धियाँ प्रायः लेखों में मिलती हैं उनका संक्षेप में वर्णन नीचे किया जाता है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे उन्हें समझ कर अपने लेखों को अशुद्धियों से मुक्त रखने का प्रयत्न करें।

१२९. वर्ण और मात्रा-सम्बन्धी अशुद्धियाँ—वर्ण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ विशेष रूप से उच्चारण की अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप होती हैं। कभी-कभी लेखक की असावधानी से भी इस प्रकार की अशुद्धियाँ लेखन में समाविष्ट हो जाती हैं।

(१) **न तथा ण की अशुद्धियाँ** – हिन्दी खड़ी बोली के आधुनिकतम स्वरूप में न और ण का स्पष्ट भेद जाने बिना काम नहीं चल सकता। ब्रज और अवधि भाषा में न और ण दोनों के स्थान पर न का ही प्रयोग चलता था परन्तु आज की हिन्दी भाषा के तद्भव रूप से तत्सम की दिशा में अग्रसर हो चुकी है। इसलिए न और ण का उचित प्रयोग जान लेना लेखक के लिए नितान्त आवश्यक हो गया है। निम्नलिखित नियमों का पालन करने से इस भेद को सरलतापूर्वक निभाया जा सकता है:—

ष, र, ऋ, के पश्चात् स्वर-मुक्त न या दोनों के बीच स्वर, कवर्ग, पवर्ग, या व, ह में से कोई आता है तो न के स्थान पर ण हो जाता है। जैसे—प्राण, हरण, बरण, भरण, निर्माण, कल्याण, इत्यादि।

संस्कृत की ण वाली धातुओं के हिन्दी में आने पर भी ण ही रहता है। जैसे—गुण, तृण, अणु, गण, निपुण, क्षण, प्राण, इत्यादि।

(२) **श तथा ष की अशुद्धियाँ**:—विद्यार्थियों को लेखन में प्रायः न और ण की अपेक्षा श और ष के प्रयोग में कठिनाई होती है और अशुद्धियाँ रह जाती हैं। ये दोनों ही भिन्न अक्षर हैं और इनके प्रयोग भी पृथक्-पृथक् हैं। इनके शुद्ध लेखन के निम्नलिखित प्रधान नियम हैं।

(क) संस्कृत और हिन्दी-तत्सम शब्दों में च और छ से पूर्व श ही आता है। जैसे—निश्चित, निश्चित, निश्छल, दुश्चरित्र।

(ख) क् और ग् का प्रयोग श के साथ होता है। जैसे—दिग्गज, दिग्दर्शन, दिग्मंडल, दिग्पाल, दिक्पति इत्यादि।

(ग) जिन शब्दों के संस्कृत के मूल धातुओं में ष का प्रयोग होता है उनके हिन्दी तत्सम शब्दों में भी ष ज्यों-का-त्यों रहता है जैसे—पुष धातु से—पोष, पुष्टि, पुष्ट, पोषक, पोष्य, पुष्य, पौष। रुष धातु से—रोष, रुष्ट। शिष् धातु से—शिष्ट, शिष्य, शेष, विशेष।

(घ) कवर्ग, अ तथा आ के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर और य, र, ल, व, ह में से किसी भी अक्षर के पश्चात् प्रयुक्त स ष हो जाता है। जैसे:—

अभि + सेक = अभिषेक।

नि + सिद्ध = निषिद्ध।

वि + सम = विषम।

(ङ) क, ख, ट, ठ, प, फ से पूर्व यदि सधि हो तो ष हो जाता है। जैसे:—

नि: + फल = निष्फल, नि: + काम = निष्काम।

नि: + कलंक = निष्कलंक, नि: + पाप = निष्पाप।

(च) मनुष्य, पुरुष पुष्प, मेघ, वृषभ, भीष्म, दुष्यन्त, वाष्प, कृष्ण, इत्यादि कुछ शब्दों में भी ष का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के प्रयोगों का ज्ञान प्रधान रूप से अभ्यास पर आधारित है।

(३) श और ख की अशुद्धियाँ:— इनके प्रयोग में किसी नियम विशेष का यहाँ पर निर्देशन नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही समझ लेना आवश्यक है कि विशुद्ध संस्कृत-शब्दों में ख का प्रयोग नही होता, वहाँ ष का ही प्रयोग रहता है। तद्भव शब्दों में ष के स्थान पर ख का प्रयोग हुआ है परन्तु यदि फिर उनके स्थान पर ष का ही प्रयोग कर दिया जाय तो अशुद्ध न होगा। आज की खड़ी बोली की प्रणाली में ख का प्रयोग न के ही तुल्य होता है। जैसे:—

पुरुख—पुरुष, विसेख—विशेष।

(४) क्ष और छ की अशुद्धियाँ—क्ष, क और श के मिश्रण से बना हुआ संयुक्ताक्षर है। इसके प्रयोग का भी कोई विशेष नियम नहीं है, केवल अभ्यास से ही इसका उचित प्रयोग जाना जाता है। जिन संस्कृत-शब्दों में क्ष का प्रयोग होता था वे शब्द जब तद्भव होकर हिन्दी में प्रयुक्त हुए तो उनमें क्ष के स्थान पर छ का प्रयोग किया गया। परन्तु आधुनिकतम प्रयोगों में फिर शब्दों में विशुद्ध क्ष को ही लिखने की प्रणाली अधिक जागरूक है। ब्रज और अवधि में छ का प्रयोग अधिक मिलता है। जैसे—

लछमन—लक्ष्मण, छमा—क्षमा, नछत्र—नक्षत्र।

छत्र—क्षत्र, छेम—क्षेम, प्रत्यच्छ—प्रत्यक्ष।

लच्छन—लक्षण, तच्छन—तत्क्षण, समच्छ—समक्ष।

(५) व और ब की अशुद्धियाँ—ये अशुद्धियां प्रधान रूप से बोल-चाल में शब्द

का विशुद्ध रूप प्रयोग में न आने के कारण होती है। संस्कृत में अधिकांश शब्दों में ब का प्रयोग न होकर व का ही प्रयोग होता है। इस प्रयोग का पूर्ण ज्ञान भी अभ्यास और शुद्ध उच्चारण पर ही आधारित है। इसके प्रयोग के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। शब्दों में अशुद्धियाँ निम्नलिखित रूप में होती हैं:—

वन—बन, वर—बर, वह—बह।

वार—बार, वीज—बीज, विम्ब—बिम्ब।

वन्धु—बन्धु, विनाश—बिनाश, व्यवहार—ब्यवहार।

विकराल—बिकराल, विलास—बिलास, विम्ब—बिम्ब।

उक्त प्रयोगों में कुछ तो ऐसे हैं कि जिनमें व के स्थान पर ब या ब के स्थान पर व होने में गलती हो जाती है और कुछ ऐसे हैं कि जिनके दोनों ही प्रकार के प्रयोग चलते हैं। जहाँ व और ब दोनों लिखना शुद्ध हो वहाँ पर भी लेखक को चाहिए कि वह अपनी रचना में जिस शब्द का भी प्रयोग करे एक ही प्रकार का करे। इसमें यह नहीं होना चाहिए कि कहीं तो वह ब लिखे और कहीं व।

(६) ड़ और ड की अशुद्धियाँ—ड और ड़ के उच्चारण में पर्याप्त भेद है। उच्चारण की भूल के कारण ही ड और ड़ लेखन में अशुद्धियाँ रह जाती हैं। ठीक से ध्यान देकर लिखने से यह भूल नहीं होगी। इनका प्रयोग निम्नलिखित है:—

पीड़ा, फोड़ा, छोड़ा, भाड़ा, कोड़ा, कीड़ा, क्रीड़ा, कूड़ा इत्यादि।

ड—पंडित, खंडित, गंडित इत्यादि।

(७) ड—ड़ और ण की अशुद्धियाँ:—इन दो अक्षरों के उच्चारण में बहुत भेद है इसलिए इनकी अशुद्धियाँ केवल वही विद्यार्थी करते हैं जिन्हें भाषा का बिलकुल ज्ञान नहीं होता। थोड़ा-सा ध्यान देने पर ही यह अशुद्धि ठीक की जा सकती है।

(८) ढ और ढ़ की अशुद्धियाँ—ये अशुद्धियाँ उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार कि विद्यार्थी ड और ड़ की अशुद्धियाँ करते हैं। उच्चारण दोनों का पूर्ण रूप से भिन्न-भिन्न और स्पष्ट है। तनिक-सा ध्यान देने से ही शुद्ध लेखन में कठिनाई नहीं होगी। इनका प्रयोग निम्नलिखित है:—

ढ़—काढ़ा, पढ़ना, काढ़ना इत्यादि।

ढ—ढकना, ढालना, इत्यादि।

(९) ए और ऐ की अशुद्धियाँ—ए और ऐ के लेखन में कुछ विद्यार्थी चाहिए, लिए, किए, पिए, दिए, इत्यादि शब्दों को चाहिऐ, किऐ, दिऐ लिख डालते हैं। यह अशुद्ध प्रयोग है क्योंकि ऐ इस प्रकार का कोई अक्षर नागरी लिपि में नहीं है।

(१०) ऋ और रि की अशुद्धियाँ—ऋ का प्रयोग केवल संस्कृत से लिये गये तत्सम शब्दों में ही होता है अन्यत्र नहीं। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग में विद्यार्थी विशेष रूप से भूल कर डालते हैं। इन भूलों का निराकरण अभ्यास पर ही आधारित है, किसी नियम विशेष पर नहीं। ऋ का प्रयोग शब्दों के आदि, मध्य और अन्त तीनों

स्थानों पर होता है। जैसे—ऋषि, मातृ, मातृत्व इत्यादि। ऋ के और रि का भेद केवल उच्चारण और अभ्यास के ही आधार पर जाना जाता है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो ऋ और रि दोनों से लिखे जाने लगे हैं। जैसे—तृपुर-त्रिपुर, तृपुंड,-त्रिपुंड, त्रिफला-त्रफला इत्यादि। कुछ स्थानों पर ऋ के स्थान पर रि लिखने से अशुद्ध भी हो जाता है। जैसे—मातृ का मात्र, गृह का ग्रह इत्यादि।

(११) ये और ए की अशुद्धियाँ—ये और ए की अशुद्धि आज की हिन्दी में बहुत ही प्रचिलत है। इससे प्रेस-कर्मचारियों को भी बड़ी ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ शब्दों को ए और ये दोनों प्रकार से लिखा जाता है। जैसे—लिये-लिए, चाहिये-चाहिए, किए-किये रुपए-रुपये इत्यादि। इन प्रयोगों की शुद्धि और अशुद्धि का विचार शब्दों के मूल रूप को परख लेने पर ही हो सकता है। लिये, लिया का बहुवचन है परन्तु जब इसका प्रयोग अव्यय के रूप में हो तो यह लिए ही लिखा जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी ए और ये का प्रयोग समझना चाहिए। शुद्ध हम दोनों को ही मानते हैं। परन्तु लेखक को चाहिए कि वह अपने लेख में आद्योपान्त एक ही प्रकार का प्रयोग करें।

(१२) ई और यी की अशुद्धियाँ—हिन्दी में ई और यी दोनों का ही प्रयोग होता है। जैसे:—गई-गयी, आयी-आई, पायी-पाई, खायी-खाई इत्यादि में हम दोनों को ही शुद्ध मानते हैं परन्तु लेखक को चाहिए कि वह एक ही प्रकार का प्रयोग करे।

(१३) आ और वा की अशुद्धियाँ—ई और यी की भाँति आ और वा का भी प्रयोग दोनों प्रकार से प्रचलित है। इस प्रकार के अधिकांश प्रयोगों में आ ही शुद्ध ठहरता है। वा का प्रयोग भाषा-भ्रष्टता का सूचक-मात्र है। लेखकों को वा का प्रयोग त्याग कर आ ही प्रयोग में लाना चाहिए। जैसे—हुवा, अशुद्ध है और हुआ शुद्ध है। इसी प्रकार खावेगा, जावेगा, लावेगा के स्थान पर खायगा, जायगा, लायगा आदि शुद्ध हैं।

(१४) विदेशी शब्दों का प्रयोग—विदेशी शब्दों का हिन्दी में तत्सम रूप न लेकर हिन्दी में प्रचलित तद्भव रूप का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—लैंटर्न, बाइकॉट हिन्दी में लालटैन और बाइकाट लिखना अधिक उपयुक्त होगा। इसी प्रकार और अनेकों विदेशी शब्द हिन्दी के अपने बन गये हैं।

(१५) एक वर्ग के अक्षरों का संयोग—एक ही वर्ग के अक्षरों का जहाँ संयोग होता है वहाँ केवल उसी वर्ग के प्रथम और तृतीय अक्षर का ही संयोग हो सकता है, द्वितीय और चतुर्थ का नहीं। इसी नियम को ध्यान में रख कर एक अक्षर को दूसरे अक्षर के साथ मिलाने में भूलों से विद्यार्थियों को बचाना चाहिए। यह प्रयोग इस प्रकार होता है:—

सुग्गा, चुग्गा, मक्खी, चक्खी, खट्टा, बट्टा, मट्टा इत्यादि।

(१६) अनुस्वार का संयुक्ताक्षर होना:—इस परिवर्तन के कुछ साधारण नियम नीचे दिये जाते हैं:—

(क) अनुस्वार के सामने जिस वर्ग का अक्षर आये, अनस्वार उसी वर्ग के पाँचवें अक्षर में बदल जाता है। जैसे—चंदा शब्द में द तवर्ग का अक्षर है और इस वर्ग का पाँचवाँ अक्षर न है। इसलिए चंदा के स्थान पर चन्दा हो सकता है चण्दा नहीं। इसी प्रकार घंटा में ट तवर्गीय अक्षर होने से संयुक्त होने पर घण्टा होगा घन्टा नहीं। इस प्रकार के प्रयोगों में विद्यार्थी साधारणतया भूल कर जाते हैं।

(ख) जहाँ अनुस्वार के पश्चात् य, र' ल, व, श, ष, स अक्षर आयें वहाँ अनुस्वार को संयुक्ताक्षर बनाना भूल है। जैसे—संशोधन को सन्शोधन या सांशोधन नहीं लिखा जा सकता। इसी प्रकार संयम में सन्यम या सण्यम का प्रयोग नहीं किया जा सकता। स्वयम्वर लिखना भी गलत प्रयोग है। इसे स्वयंवर ही लिखना चाहिए।

(१७) **र के योग की अशुद्धियाँ**—र के प्रयोग में विद्यार्थी कभी-कभी बड़ी भारी भूल कर डालते हैं। उन्हें र और रेफा का ज्ञान ही नहीं होता। इस विषय में निम्नलिखित नियमों का पालन करने से शुद्ध लेखन में सहायता मिलेगी :—

र का विशुद्ध रूप र+अ है। र में से अ स्वर का लोप हो जाने से रेफा बन जाता है। र के उच्चारण में पूरा समय लगता है और रेफा के उच्चारण में आधा। रेफा का प्रयोग जिस अक्षर के साथ होता है वह उससे आगे वाले अक्षर के ऊपर चढ़ता है। र का प्रयोग पूर्ण र और रेफा के अतिरिक्त अक्षर के नीचे लगाकर भी होता है। जैसे—क्रम, भ्रम, श्रम इत्यादि। इस प्रयोग में जिस अक्षर के साथ र का प्रयोग होता है वह उसी के नीचे लगता है। यही नीचे आने वाला र का स्वरूप ट ड में ट्र और ड्र प्रकार से होता है।

(१८) **स की अशुद्धियाँ**—स सम्बन्धी अशुद्धियाँ उसके पूर्ण अथवा हलन्त लिखने के कारण होती हैं। शब्दों के आदि में आधे स से पूर्व कभी-कभी लेखक अ और इ स्वर का प्रयोग कर डालते हैं। यह प्रयोग अशुद्ध होता है। जैसे:—स्त्री-इस्त्री, स्नान, अस्नान। कभी-कभी लेखक अज्ञान-वश आधे स के स्थान पर पूरे स का प्रयोग कर डालते हैं। जैसे— बिस्तर-बिसतर, परस्पर-परसपर, रास्ता-रासता, आस्मान-आसमान, इत्यादि।

(१९) **चन्द्र बिन्दु और अनुस्वार की अशुद्धियाँ**—अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रयोग में साधारणतया अच्छे-अच्छे लेखक भूलें करते हैं। लिखते समय इन दोनों पर विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है। इनके प्रयोग के लिए निम्नलिखित कुछ नियम विद्यार्थियों को सहयोगी सिद्ध होंगे :—

(क) लघु अक्षरों में अनुस्वार लगाने पर वह गुरु हो जाते हैं परन्तु अर्ध-चन्द्राकार लगने पर वह लघु के लघु ही बने रहते हैं। जैसे:—

अनुस्वार के साथ गुरु—अंश, कंश, वंश दंश इत्यादि।

अर्धचन्द्राकार के साथ लघु—अँगिया, कँगला, बँगला इत्यादि।

(ख) जिस अक्षर पर अनुनासिक ध्वनि होती है यदि उसके बाद का अक्षर संयुक्त होता है तो उस अक्षर पर सिद्धान्त रूप से अनुस्वार हो जाता है।

(ग) जब उच्चारण खींचकर किया जाता है तब बिन्दी का प्रयोग होता है और जब उच्चारण हल्का होता है तो अनुस्वार का प्रयोग होता है।

(२०) **हल की अशुद्धियाँ**—हल् का प्रयोग संस्कृत प्रयोग है। हिन्दी-लेखक बहुधा इसका प्रयोग नहीं करते परन्तु फिर भी कुछ प्रचलित शब्दों में हल् का प्रयोग किये बिना वह अशुद्ध प्रयोग-सा ही प्रतीत होता है। श्रीमान्, राजन्, वृहत् इत्यादि। शब्दों में हल् का प्रयोग हिन्दी में भी चलता है और इस प्रकार के प्रयोगों में केवल अभ्यास से ही दक्षता प्राप्त हो सकती है।

सन्धि-विषयक अशुद्धियाँ

१३०. लेखक सन्धि-विषयक अशुद्धियों से सन्धि के साधारण नियमों का ज्ञान होने पर मुक्त हो सकता है। सन्धि के नियम हम पीछे दे चुके हैं। पीछे दिये गये नियमों के अतिरिक्त इतना और जान लेना आवश्यक है कि यदि शब्द के आदि में स्वर हो और फिर उसमें किसी व्यंजन के मिलने से सन्धि हो तो उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जैसे—अति + अधिक = अत्यधिक। इसमें अ के स्थान पर आ नहीं होगा।

समास-विषयक अशुद्धियाँ

१३१. समास द्वारा शब्द बनाने की क्रिया हम पीछे दे चुके हैं। उस क्रिया में किसी प्रकार अशुद्धियाँ रह जाती हैं और जो साधारण भूलें लेखकों की मिलती हैं उनका संक्षेप में उल्लेख नीचे किया जाता है। लेखकों की असावधानी से कुछ शब्दों के निम्नलिखित अशुद्ध प्रयोग मिलते हैं :—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
पुरुषार्थीगण	पुरुषार्थिगण	महाराजा	महाराज
महात्मागण	महात्मगण	भ्रातागण	भ्रातगण
कृतघ्न	कृतघ्नी	मातृभक्ति	माता भक्ति
मुनीगण	मुनिगण	पितृभक्ति	पिताभक्ति
ज्ञानीगण	ज्ञानिगण	शशिभूषण	शशीभूषण
अनुरागीगण	अनुरागिगण	पक्षशावक	पक्षिशावक
त्यागीगण	त्यागिगण	दुरवस्था	दुरावस्था
रजनीभूषण	रजनिभूषण	निर्धन	निर्धनी
पक्षीसमूह	पक्षिसमूह	दिवारात्रि	दिवारात्र

प्रत्यय की अशुद्धियाँ

१३२. प्रत्यय-सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने के लिए तथा विद्यार्थियों की आसानी के लिए नियम नीचे दिये जाते हैं। इसका ध्यान रखते हुए प्रत्ययों का शुद्ध प्रयोग करने में आसानी होगी। हिन्दी के लेखक प्रत्यय के प्रयोगों में साधारणतया भूल कर बैठते हैं।

(१) भाव प्रत्ययान्त शब्दों के बाद प्रत्यय लगाना अशुद्ध प्रयोग है। जैसे— ऐक्य मे ऐक्यता, गौरव से गौरत्व या गौरवता, आधिक्य से आधिक्यता, सौन्दर्य मे से श्याम सौन्दर्यता, आलस्य से आलस्यता, मनुष्यत्व से मनुष्यत्वता इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं।

(२) बहुव्रीहि समास वाले पद से यदि अर्थ-बोध में आपत्ति न हो तो प्रत्यय लगाना अशुद्ध और अनुपयुक्त है उदाहरण-स्वरूप सनाथिनी से सनाथा, सगुणी से सगण, निर्गुणी से निर्गुण निरोगी से निरोग, श्वेतांगिणी से श्वेतांगी, सुकेशिनी से सुकेशी, सुवेशिणी से सुवेशी इत्यादि शब्दो का प्रयोग शुद्ध है।

(३) विशेषण शब्दों के पश्चात् विशेषार्थक प्रत्ययों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। यह प्रयोग अनुपयुक्त है, उदाहरणस्वरूप अपेक्षाकृत के स्थान पर अपेक्षित, अभीष्टित के स्थान पर अभीष्ट, आवश्यकीय के स्थान पर आवश्यक, पूज्यनीय के स्थान पर पूज्य, एकत्रित के स्थान पर एकत्र, प्रफुल्लित के स्थान पर प्रफुल्ल इत्यादि का ही प्रयोग अधिक युक्ति-संगत ठहरता है और इसी को अधिक शुद्ध भी गिनना चाहिए।

(४) किसी भी प्रत्यय के बाद अन्य तदर्थवाची प्रत्यय या तदर्थ-बोधक कोई अन्य शब्द प्रयोग करने से अर्थ भ्रामक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप आधीन के स्थान पर अधीनस्थ, स्वाधीन के स्थान पर स्वाधीनस्थ, मूलता के स्थान पर समूलता, यश-स्विता‌युक्त के स्थान पर यशस्वी, मेधावियुक्त के स्थान पर मेधावी इत्यादि ही विशुद्ध प्रयोग हैं। विद्यार्थियों को अर्थ प्रत्यय मिलाकर शब्द को बढ़ाने का भ्रामक प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(५) जैसा कि हम ऊपर भी दे चुके हैं, विद्यार्थी कुछ शब्दों के अन्त में ई और यी लिखने में काफी भूल करते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है जिन शब्दों का अन्तिम अक्षर य हो वहाँ पर ई का प्रयोग न करके यी का ही प्रयोग करना उचित है। जैसे— विजय-विजयी, विजई नहीं। अजय से अजयी, अजई नहीं, पराजय से पराजयी, पराजई नही; इस प्रकार के अन्य बहुत से शब्द हैं जैसे—न्याय से न्यायिक, न्याइक नहीं; नायक से नायिका, नाइका नहीं; गायक से गायिका, गाइका नहीं।

(६) निज शब्दों के पहले स सहा या यथा हो और उसके पश्चात् वशात: अनुसार या पूर्वक होता है उनके प्रयोगों में विद्यार्थियों से साधारणतया भूल हो जाती है। उदाहरण-स्वरूप कातर का सकातर प्रयोग अशुद्ध है; जातीय का सजातीय प्रयोग व्यर्थ है, मूलत: के स्थान पर समूलत: लिखना अशुद्ध है। विनय-पूर्ण का अर्थ सविनय-पूर्ण बनाना अच्छा नहीं जँचता, स्पष्ट का अर्थ सस्पष्ट कर लेना उचित नहीं है। इस प्रकार से व्यर्थ प्रयोग विद्यार्थियों को अपनी रचनाओं में नहीं करने चाहिएँ।

(७) बहुवचनार्थक विशेषण, प्रत्यय और शब्द के साथ बहुवचनार्थक प्रत्यय, विभक्ति योग या शब्द-सहित समास का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उदाहरणस्वरूप दल-समूह, सेना समूह, रेवड़-समूह इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं इनके स्थान पर सैन्य-समूह

दल्य-समूह, रैवड़-समूह, होना उपयुक्त था ।

'तू' अक्षर से समाप्त होने वाले शब्दों के अन्त में 'त्व' प्रत्यय में जोड़कर जब भाव-वाचक संज्ञा बनती है तो विद्यार्थी बहुधा उसके लिखने में भूल कर डालते हैं। जैसे—महत्+त्व=महत्त्व, परन्तु विद्यार्थी इसे महत्व ही लिख डालते हैं। परन्तु यह प्रयोग अशुद्ध है ।

विशेषण की अशुद्धियाँ

१३३. विद्यार्थी जो साधारणतया भूल करते हैं वे यह है कि व्यर्थ के लिए समानार्थक शब्दो को एक ही स्थान पर प्रयोग कर डालते हैं। प्रयोग अशुद्ध है। जैसे वृद्धावस्था लिखना व्यर्थ है, जब वृद्ध लिखने से भी व्यर्थ का बोध होता है। इसी प्रकार यौवनावस्था लिखना अशुद्ध है जब यौवन भी उसी अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार अश्रु का अश्रु-जल, सम का समतुल्य, विविध का विविध प्रकार स्वत्व का स्वत्वाधिकार प्रयोग करना अनुपयुक्त और अशुद्ध है परन्तु कुछ विशेष स्थानों पर भाव को बल देने के लिए दो समानार्थक शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करना, कलात्मक और भाव वर्द्धक दोनों माने जाते हैं। जैसे—भाई-बन्धु, लालन-पालन, अनुनय-विनय, देखा-देखी, पालन-पोषण, आचार-विचार, लाज-शर्म, वैर-विरोध, विघ्न-बाधा, काम-काज, हँसी-खुशी, इत्यादि ।

वचन की अशुद्धियाँ

१३४. विद्यार्थी एक वचन को बहुवचन में लाते समय साधारणतया भूल करते हैं। निम्नलिखित कुछ नियम उन्हें इन अशुद्धियों से बचने में सफल होंगे :—

(१) आकारान्त शब्दों के अन्त में स्वर का ही प्रयोग करना चाहिए। जैसे :— संख्याएँ, कन्याएँ, विद्याएँ समस्याएँ, आवश्यकताएँ, महिलाएँ इत्यादि ।

(२) ईकारान्त शब्दों के अन्त में य का प्रयोग अनाशुद्ध है। जैसे :– लड़कियें, बेटीये, रोटियें, घाटियें इत्यादि ।

(३) उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में भी स्वर का ही प्रयोग करना शुद्ध है। जैसे :—गउएँ से गउओं, भालू से भालुओं, झगड़ालू से झगड़ालुओं इत्यादि ।

लिंग की अशुद्धियाँ

१३५. लिंग-सम्बन्धी अशुद्धियाँ प्रायः बंगला इत्यादि भाषा के विद्यार्थियों की होती हैं। हिन्दी के वातावरण में पले हुए विद्यार्थी ऐसी भूल प्रायः नहीं करते। कुछ शुद्ध और अशुद्ध शब्दों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। उन्हें देखकर विद्यार्थी साधारणतया उन अशुद्धियों से अपनी रचनाओं को मुक्त कर सकते हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
श्रीमान् रानी	श्रीमती रानी	विद्वान् रानी	विदुषी रानी
गुणवान् स्त्री	गुणवती स्त्री	बुद्धिमान् बालिका	बुद्धिमती बालिका
मेधावान् स्त्री	मेधावती स्त्री	प्रतिभाशाली महिला	प्रतिभाशालिनी महिला

मूर्तिमान करुण	मूर्तिमती करुणा	जलवाली नदी	जलवाहिनी नदी

विभक्ति की अशुद्धियाँ

१३६. विभक्ति का प्रयोग शब्दों से मिलाकर और पृथक् दोनों ही प्रकार से आज लेखक करते हैं और दोनों ही शुद्ध भी हैं। किसी एक को शुद्ध तथा किसी एक को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में हम यहाँ पर विद्यार्थियों के लिए केवल यही संकेत करेंगे कि वह अपनी रचना में जो क्रम भी निभायें उसे आद्योपांत निभाने का प्रयत्न करें; कहीं पृथक् और कहीं संयुक्त करके खिचड़ी न बना डालें।

सर्वनामों के साथ जो विभक्ति आती है उनका प्रयोग संयुक्त रूप से ही करना अधिक उपयुक्त है। जैसे:—उसने, किसने, जिसने, तिसने, हमको, आपको, तुमको, उनको, इनको, जिनको, मैंने, तैंने इत्यादि।

लिपि की अशुद्धियाँ

१३७. भाषा में आने वाली शाब्दिक अशुद्धियों को ऊपर उल्लेख करने के पश्चात् अब हम लिपि की अशुद्धियों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे। जिन साधारण नियमों का हमने ऊपर विवरण किया है उन्हें ध्यान में रखकर लिखने से विद्यार्थियों को अपनी शैली के परिमार्जन में विशेष सहायता मिलेगी और भाषा में निम्न श्रेणी की अशुद्धियाँ नहीं आ सकेंगी। कुछ साधारण नियम निम्नलिखित हैं:—

(१) विसर्ग-स्वर के पश्चात् और अनुस्वार के ऊपर ऋ की भी मात्रा व्यंजन के नीचे लगती है।

(२) व्यंजन से पूर्व-स्वर का रूप नहीं बदलता और व्यंजन के बाद वाले स्वर का रूप बदल जाता है।

(३) एक व्यंजन में एक समय में दो मात्राएँ नहीं लग सकतीं। 'क्रि' या 'क्रिं' लिखना अशुद्ध है।

(४) र के साथ उ या ऊ की मात्रा 'ु' या 'ू' के रूप में न लगकर 'रु' या 'रू' के रूप में लगती हैं।

(५) दो या अधिक व्यंजनों के बीच में स्वर न रहने पर दोनों व्यंजन संयुक्त होकर संयुक्ताक्षर बना लेते हैं।

(६) व्यंजन दो प्रकार के हैं, एक अन्त में खड़ी पाई वाले और दूसरे बिना पाई के जैसे—प, भ, थ, च' म, त इत्यादि तथा दूसरे द, ट' क, ड, ढ़, ढ इत्यादि।

खड़ी पाई वाले अक्षर जब दूसरे अक्षर में मिलते हैं तो उनकी बाद वाली खड़ी पाई का लोप हो जाता है जैसे:—

रम्य, साम्य, भाष्य, काव्य, कान्त, शान्त इत्यादि।

(७) ङ, ञ, ण, न, म का मेल केवल अपने ही वर्ग के व्यंजनों से होता है। जैसे:—

ङ:—अङ्क, रङ्क, डङ्क, भङ्ग, अङ्ग इत्यादि।

ञ:—चञ्चल, अञ्जल, कञ्जन, इत्यादि ।

ण:—काण्ड, पाण्डव, ताण्डव, पण्डा, कण्ठा, पण्डा इत्यादि ।

न:—कान्त, श्रान्त, पन्थ, मन्द, वन्द, हिन्द, कन्धा, इत्यादि ।

म:—अम्मा, अम्बा, पम्पा, चम्पा, गुम्फित इत्यादि ।

नीचे विद्यार्थियों द्वारा कुछ साधारणतया अशुद्ध लिखे जाने वाले शब्दों की सूची प्रस्तुत की जाती है:—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
असंतोश	असंतोष	सृष्टी	सृष्टि
आदर्नीय	आदरणीय	वृष्टी	वृष्टि
उन्नतशील	उन्नतिशील	द्रष्टी	दृष्टि
अव्य	अव्यय	पुष्टी	पुष्टि
उपलक्ष	उपलक्ष्य	प्राप्ती	प्राप्ति
औसर	अवसर	शक्ती	शक्ति

अध्याय १०

वाक्य-विचार

१३८. भाषा प्रारम्भः—जैसा कि पीछे हम शब्द-विचार-अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं भाषा का प्रारम्भ शब्द से न होकर शब्द-वाक्यों से होता है। बच्चा प्रारम्भ में शब्द बोलना न सीखकर वाक्य बोलना ही सीखता है। उसके विचारों का स्पष्टीकरण शब्दों में न होकर वाक्यों और संकेतो में ही होता है। शब्दों और पदों का ज्ञान तो बहुत बाद की बात है। भाषा का विश्लेषण भाषा बन चुकने के पश्चात् व्याकरण के आचार्यों ने किया है। मानव चिन्तन और विश्लेषण-प्रिय है और इसी से अपनी सुविधा के लिए वह वाक्य के विभिन्न अवयवों का विच्छेदन करता है। ध्वनि, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग पद इत्यादि की कल्पना वाक्य और भाषा बनने के बहुत बाद की वस्तु है। परन्तु यह सब विश्लेषण भाषा को जाँचने, परिमार्जित करने और सुसंस्कृत बनाने के लिए किया जाता है। इसलिए यह सत्य होते हुए भी वाक्य ही भाषा का चरमावयव है और व्यवहार और शास्त्रीय दृष्टिकोण से शब्द ही आज भाषा का चरमावयव है। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण भाषा के प्रयोजन से और भी स्पष्ट हो जायगा। भाषा द्वारा हमारे विचारों का स्पष्टीकरण होता है इसीलिए इसे हम अपने विचारों का भौतिक रूप भी कहते हैं, और भाषा का निर्माण मानव के विचारों के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। शब्द किसी विचार अथवा भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति न होकर अपूर्ण अभिव्यक्ति है; और वाक्य, विचार अथवा भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति। किसी भी भाव का पूर्णरूपेण प्रकाशन अथवा अर्थ-बोध हमें वाक्य में ही मिलता है, शब्दों में नहीं।

१३९. वाक्य क्या है?:—भाषा का चरमावयव वाक्य है। हमारे मानस की विभिन्न विचार और भाव-धाराओं का स्पष्टीकरण वाक्यों द्वारा ही किया जाता है। मनुष्यों के मुख से निकलने वाली वे सभी सार्थक ध्वनियों के समूह वाक्य कहलाते हैं, जिनमें उनके भावों और विचारों का स्पष्टीकरण सन्निहित रहता है। जिस प्रकार एक शब्द एक ध्वनि विशेष का संकेत करता है उसी प्रकार एक वाक्य एक विशेष ध्वनि-समूह को सार्थक करता है। व्याकरण की दृष्टि से वाक्य की परिभाषा देनी पड़े तो इस प्रकार कहना उचित होगा कि, "वाक्य वह ध्वनि अथवा शब्द-समूह है जिसको कि माध्यम बनाकर लेखक अथवा वक्ता लिखकर अथवा बोलकर अपने भाव और विचारों को पाठक अथवा श्रोता पर स्पष्ट करके उनके अर्थ का उन्हें बोध कराता है।"

१४०. वाक्य भाव और अर्थ की सन्धि है:—ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं प्रत्येक वाक्य को अर्थ-पूर्ण तथा भाव-पूर्ण होना आवश्यक है। पाठक अथवा श्रोता के हृदय तक लेखक अथवा वक्ता की बात को पहुंचने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह बात अर्थ-पूर्ण हो और साथ ही भाव-पूर्ण भी। कोई वाक्य समर्थ होने पर भी भाव-शून्य हो सकता है। ऐसा वाक्य पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर प्रभाव डाल सके, यह सम्भव नहीं। भाव अर्थ से गूढ़ वस्तु है और जिस वाक्य में अर्थ और भाव का सामंजस्य रहता है वही वाक्य अधिक प्रभाव-पूर्ण होता है। भाव अर्थ से गूढ़ होने के कारण कभी-कभी पाठक अथवा श्रोता अर्थ समझने पर भी वाक्य का भाव समझने में असमर्थ रह जाता है।

१४१. वाक्य में भावों का प्रकाशन:—

(१) साधारणतया भाव अर्थान्तरगत ही होते हैं और अर्थ में भी उनका गूढ़ रहस्य छिपा रहता है। जब पाठक अथवा श्रोता उस वाक्य के अर्थ को पूर्ण रूप से समझने में सफल हो सकता है तब उसका भाव उसकी समझ में स्वयं ही आ जाता है।

(२) कभी-कभी भाव, वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ प्रयोग में आने वाली क्रियाओं पर भी आधारित रहते हैं।

(३) कुछ भावों का प्रकाशन प्रसंगाधारित रहता है। इस प्रकार के भाव को केवल वाक्य का अर्थ-मात्र समझने से नहीं जाना जा सकता। लेख अथवा भाषण के पूर्व प्रसंग को जानना आवश्यक हो जाता है। ऐसे भाव को जानने के लिए यदि पाठक अथवा श्रोता आदि से अन्त तक सतर्क नहीं रहता है, तो उसके लिए समझना कठिन हो जाता है।

संक्षेप में यही समझना चाहिए कि भाषा अर्थ और भावानुगामिनी है और इसीलिए वही वाक्य सार्थक है जिसमें अर्थ और भाव की सन्धि हो सके। इन दोनों के बिना वाक्य निरर्थक हैं और इस प्रकार के निरर्थक वाक्यों से बना लेख अथवा भाषण भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। लेखक अथवा वक्ता को चाहिए कि वह वाक्यों में शब्दों का और भाषण अथवा लेख में वाक्यों का चयन प्रसंगानुसार निर्दिष्ट स्थान पर सतर्कतापूर्वक करें। ऐसा न करने से, न केवल भाषण अथवा लेख के सौन्दर्य को ही आघात पहुँचता है वरन् कहीं-कहीं पर अर्थ का अनर्थ होने की भी सम्भावना हो जाती है।

१४२. वाक्य का प्रयोजन—वाक्य का प्रधान प्रयोजन मानव के भाव और अर्थ का भाषा में स्पष्टीकरण है। बिना वाक्य के भाषा नहीं बन सकती और बिना भाषा के मनुष्य मूक है; वह न अपने विचारों का ही स्पष्टीकरण कर सकता है और न अन्य के विचारों से ही अपना सामंजस्य स्थापित कर सकता है। वाक्य भाषा का वह महत्त्वपूर्ण अंग है कि जिसे हम अपने भावों और विचारों के स्पष्टीकरण में आधारस्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। जब लेखक को कोई अनुभूति होती है और वह उसका प्रकाशन लोक-हित के लिए करना चाहता है तो अपने विचारों के स्पष्टीकरण

के लिए उसके पास वाक्यों का ही साधन रहता है। लेखक की रचना उसके वाक्यों की रचना से अनुप्राणित होकर अपनी शैली का निर्माण करता है। किसी भी रचना का सौन्दर्य, उसका गाम्भीर्य, उसका सारल्य, उसकी प्रभावात्मकता, उसके गुण तथा दोष, सब उसके वाक्य-रचना और वाक्य संगठन पर ही आधारित रहते हैं। इस प्रकार किसी भी रचना के लेखक में वाक्यों का बहुत ही महत्वपूर्ण प्रयोजन रहता है। हमारी मानसिक जिज्ञासा की तृप्ति वाक्यो द्वारा ही होती है। भाषा का कलात्मक सौन्दर्य, भावनात्मक प्रसार और विचारात्मक गठन वाक्यो पर ही निर्भर करता है। भाषा का चरम-विकास बिना सुन्दर वाक्य-योजना के कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए भाषा का सुन्दर वाक्य-विन्यास और वाक्य-चमत्कार ही सुन्दर-सुगठित भाषा का चमत्कार है।

१४३. *वाक्य के गुण*—साधारण रूप से यह समझ लेना आवश्यक है कि अर्थ और भाव के प्रकाशन में जो वाक्य जितने भी सफल हैं, वे उतने ही गुणों मे सम्पन्न हैं। सफल और सुन्दर वाक्य द्वारा यह आवश्यक है कि लेखक अथवा वक्ता के विचारों, भावों अनुभूतियों और कल्पनाओं का वह उचित स्पष्टीकरण पाठक अथवा श्रोता पर हो सके। वाक्य का यही उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति में जो वाक्य जहाँ तक सफल हो सकेंगे वे अपनी कलात्मक उपयोगिता को वहीं तक सिद्ध करते है। वाक्य के आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधान, ये तीन प्रधान गुण ह। तीनों की संक्षेप में व्याख्या नीचे दी जाती है:—

(१) आकांक्षा:—एक पद सुनने अथवा पढ़ने के पश्चात् लेखक अथवा वक्ता के भावों और विचारों को जानने के लिए पाठक अथवा श्रोता के मन में दूसरा पद पढ़ने अथवा सुनने की जो स्वाभाविक उत्कंठा उत्पन्न होती है, उसे शास्त्रीय भाषा में आकांक्षा कहते है। जैसे 'राम वन जाते हैं' वाक्य में केवल 'राम' पद के पढ़ने अथवा सुनने से पाठक अथवा श्रोता के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है और वह तभी शान्त होती है जब वह 'वन जाते है' पद पढ़ अथवा सुन लेते हैं। इसे पढ़े अथवा सुने बिना पाठक अथवा श्रोता की जिज्ञासा बराबर बनी ही रहती है। वाक्य, पाठक अथवा श्रोता की इस जिज्ञासा की पूर्ति करता है और जो वाक्य जितनी भी सफलता-पूर्वक इस जिज्ञासा की पूर्ति करता है, वह वाक्य अपने भाव और विचार के प्रकाशन में उतना ही सफल और पूर्ण है।

(२) योग्यता—योग्यता-वाक्य का वह गुण है जिसके द्वारा वाक्य का अन्वय करने के पश्चात् उसके अर्थ-बोध में कोई भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। वाक्य में जैसे आकांक्षा गुण का होना जरूरी है उसी प्रकार उसमें योग्यता का भी होना नितान्त आवश्यक है। किसान हल से खेत जोतता है' यह पूर्ण सार्थक वाक्य है। इसका प्रत्येक पद अपने में अर्थ-बोधन की योग्यता रखता है और कहीं पर भी अर्थ के ग्रहण करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। परन्तु यदि हम लिखें—'किसान लाठी से खेत जोतता है' तो यहाँ पर पद-विन्यास में योग्यता का अभाव आ जाता है।

लाठी से ज़मीन जोतने का काम नहीं लिया जा सकता। जोतने का सम्बन्ध ही लाठी से नहीं है। इसलिए इस प्रकार के वाक्य में अयोग्यता आ जाने से वाक्य अर्थ-बोधक न रहकर निरर्थक—सा हो जाता है।

(३) सन्निधान—वाक्य का तीसरा आवश्यक गुण उसमें प्रयुक्त शब्दों का परस्पर सन्निधान है। योग्यता और आकांक्षा के रहने पर भी वाक्य-शब्दों के परस्पर सन्निधान न रहने से पूर्ण अर्थ का द्योतक नहीं हो सकता। उसका अर्थ भ्रामक हो जाता है। शब्दों का प्रयोग क्रमानुसार होने पर ही उचित अर्थ का बोध किसी वाक्य से हो सकता है। इसलिए वाक्य को सही अर्थों में सार्थक बनाने के लिए योग्यता और आकांक्षा के साथ-ही-साथ उसमें शब्दों का चयन और क्रम का होना आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि लेखक जो कुछ लिखे या वक्ता जो कुछ कहे, वह एक ही समय में शब्द-क्रम का ध्यान रखकर लिखे या कहे, उसके विचारों के साथ उसके शब्दों की शृंखला टूटनी नहीं चाहिए। एक ही वक्ता ने कुछ शब्द प्रातःकाल कहे, फिर कुछ दोपहर को कहे और कुछ सन्ध्या को, तो यह वाक्य नहीं बना। इसी प्रकार यदि किसी लेखक ने कुछ शब्द एक कापी पर लिखे, कुछ दूसरी पर और कुछ तीसरी पर लिख दिये तो यह भी वाक्य नहीं बना। यदि कोई कहे 'रोटी मैंने खाई' तो इस वाक्य में पदों का संगठन ठीक नहीं है। इसलिए यह वाक्य निर्दोष है। वाक्य लिखने के लिए उसमें आकांक्षा, योग्यता और शब्दों का क्रम होना अनिवार्य है।

१४४. वाक्य के साहित्य-सम्बन्धी गुण :—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधान ये तीनों ही व्याकरण-सम्बन्धी वाक्य के गुण हैं। जहाँ तक भाषा-परिमार्जन का सम्बन्ध है, वहाँ तक इन गुणों का वाक्यों में होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में भाषा के गुणों का रूप विद्वानों ने दूसरा ही निश्चित किया है और उन्हीं गुणों का वाक्यों में होना भी आवश्यक है, क्योंकि वाक्यों के संगठन का ही नाम तो भाषा है। वे गुण हैं—(१) **स्पष्टता** (२) **समर्थता** (३) **श्रुतिमधुरता**। तीनों की संक्षेप में व्याख्या नीचे दी जाती है:—

(१) **स्पष्टता**—लेखक अथवा वक्ता के वाक्यों को इतना सरल और स्पष्ट होना चाहिए कि पाठक अथवा श्रोता के हृदय में उन्हें पढ़ते या सुनते ही तत्क्षण उन्हीं भावनाओं और विचारों का उद्रेक हो उठे जिनसे अनुप्राणित होकर लेखक अथवा वक्ता ने उन वाक्यों को लिखा अथवा कहा है। स्पष्ट वाक्य की सार्थकता इसी में है कि वह पाठक या श्रोता के हृदय और मस्तिष्क पर सीधी चोट करे जिससे कि उनके प्रभावित होने में तनिक भी देर न लगे। स्पष्ट वाक्यों में ऐसे क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न रहना चाहिए कि जिनके कारण पाठक अथवा वक्ता अंकित करना चाहता है। स्पष्टता लाने के लिए, लेखक के वाक्यों और शब्दों में प्रसाद-गुण का होना अनिवार्य हो जाता है और सच तो यह है कि बिना प्रसाद-गुण के स्पष्टता आना कठिन है।

(२) **समर्थता**—समर्थ वाक्य वही है जो पाठक अथवा श्रोता की सुषुप्त भावनाओं को भी जाग्रत करने में समर्थ हो सके। ऐसा वाक्य शक्तिशाली होता है और

उसका गठन लेखक अथवा वक्ता द्वारा विशेष परिमार्जन के साथ प्रस्तुत किया जाता है। लेखक अथवा वक्ता के ज्ञान और चिन्तन का प्रकाशन उसके समर्थ वाक्यों द्वारा ही होता है। लेखक अथवा वक्ता का यह समर्थ वाक्य उसके लेख में मुख्यता प्राप्त कर लेता है। यह समर्थता पूर्ण रूप से विचारों के संगठन पर आश्रित है।

(३) श्रुतिमधुरता— श्रुतिमधुरता का अर्थ है कि वाक्य कर्ण-कटु न हो, सुनने में कानों के अन्दर रस का संचार करे, इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग रचना को प्रभावोत्पादक और व्यापक बनाता है। पाठक के लिए यह विशेष आकर्षण की वस्तु है। इस प्रकार के वाक्यों को पढ़ने और सुनने में आनन्द की प्राप्ति होती है।

१४५. वाक्य के स्वरूप-भेद—वाक्यों के व्याकरण और साहित्य-सम्बन्धी गुणों पर एक दृष्टि डाल लेने के पश्चात् अब हमें वाक्य के भेदों का निर्देशन करना है। आधुनिक वैयाकरणों का मत है कि रचना के अनुसार वाक्यों के तीन भेद किये जा सकते है – (१) सरल (२) मिश्रित और (३) संयुक्त। तीनों की संक्षेप में व्याख्या नीचे दी जाती है:—

(१) सरल वाक्य—जिस वाक्य में केवल एक क्रिया होती है वह वाक्य या पद-समूह सरल वाक्य कहलाता है। 'राम बन को जाता है' 'कृष्ण ने कंस को मारा' 'हरी ने रोटी खाई' इत्यादि सरल वाक्य हैं और इन में क्रिया स्पष्ट रूप से उच्चारित है। यह क्रिया कभी-कभी उच्चारित न रहकर प्रतीयमान भी रहती है। जैसे कोई कहे—'कौन ?' 'क्या ?' 'कहां ?' इनका अर्थ होता है—'कौन है ?' 'क्या कहा ?' 'कहाँ गये ?' इत्यादि। यहाँ पर 'है' 'कहा', 'गए' क्रियाएं प्रतीयमान हैं।

(२) मिश्रित वाक्य—मिश्रित वाक्य में एक मूल वाक्य के साथ एक या एक से अधिक और वाक्य भी जुड़े रहते हैं। जैसे:—'मेरे बैठते, राम खड़ा हो गया', 'मैंने देखा कि राम के खड़े होते ही उसकी प्याला गिरकर फूट गई।' इन में प्रथम में दो क्रियाएँ हैं और दूसरे वाक्य में तीन। इस प्रकार इन वाक्यों के क्रमशः दो और तीन सरल वाक्य भी पृथक्-पृथक् बन सकते हैं परन्तु लेखक ने मिश्रित वाक्य बनाकर दोनों और तीनों का एक-एक ही वाक्य बना दिया है। इस प्रकार के वाक्यों का प्रथम भाग अथवा पूर्वार्द्ध मुख्य वाक्य कहलाता है और उत्तरार्द्ध सहायक वाक्य। वैयाकरणी इस सहायक वाक्य को आश्रित उपवाक्य या आनुषंगिक वाक्य भी कहकर पुकारते हैं। सरल वाक्य और उपवाक्य का अन्तर यह है कि सरल वाक्य अपने में पूर्ण होता है और अपनी अर्थ-बोधकता के लिए इसे किसी पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु आश्रित वाक्य को मुख्य वाक्य के आश्रित रहना होता है। सारांश यह है कि सरल वाक्य पूर्ण है और आश्रित वाक्य अपूर्ण।

(३) संयुक्त वाक्य—संयुक्त वाक्य उस वाक्य-समूह को कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक सरल अथवा मिश्रित वाक्य संयोजक अव्ययों द्वारा जोड़े गये हों। इस प्रकार के वाक्य प्रायः काफ़ी लम्बे हो जाते हैं, और लम्बी बातों को एक सूत्र में बाँधने के लिए ही इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग लेखक अथवा वक्ता करता है। जैसे:—"मैं रोटी

खाकर लेटा कि पेट में दर्द होने लगा और वह दर्द इतना बढ़ा कि तुरन्त डाक्टर को बुलाना पड़ा।" इस वाक्य में संयोजक और द्वारा दो मिश्रित वाक्यों को मिलाकर संयुक्त वाक्य बनाया गया है। इसी प्रकार, "राम खाना खाकर चला गया और तुम अभी तक खा ही रहे हो।" इसमें दो सरल वाक्यों को और संयोजक द्वारा जोड़कर संयुक्त वाक्य बनाया गया है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि संयुक्त वाक्य में संयोजक द्वारा जुड़े रहने पर प्रत्येक वाक्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और वह एक दूसरे पर आश्रित नहीं रहता। ये **समानाधिकरण वाक्य** कहलाते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जब दो अथवा दो से अधिक वाक्य संयोजक अव्ययों जुड़कर किसी वाक्य के अन्तर्गत आते हैं तो वह वाक्य मिश्रित ही समझा जाता है और वे वाक्य आपस में **समानाधिकरण वाक्य** कहलाते हैं। परन्तु ऐसे वाक्य में एक मिश्रित वाक्य रहने पर और फिर शेष वाक्यों का सम्बन्ध उस मिश्रित वाक्य के मुख्य भाग से संयोजक अव्यय द्वारा होने पर वह वाक्य संयुक्त वाक्य कहलाता है।

१४६. वाक्य के साहित्य-सम्बन्धी भेद—ऊपर हमने वाक्य के व्याकरण-सम्बन्धी भेदों पर संक्षेप में दृष्टि डाली। इनके अतिरिक्त साहित्य की कसौटी पर कसने के लिए भी वाक्य के तीन भेद किये जा सकते हैं:—(१) **संयत**, (२) **शैथिल्य**, और (३) **संतुलन**। तीनों की संक्षिप्त व्याख्या नीचे दी जाती है:—

(१) **संयत वाक्य**:—जो वाक्य अन्त तक पाठक अथवा श्रोता की कुतूहलता को स्पष्ट न होने देकर अपने अन्दर छुपाये रखता है, वह संयत वाक्य कहलाता है। संयत वाक्य सरल अथवा मिश्रित दोनों प्रकार का हो सकता है और इसके आदि-भाग की अपेक्षा इसका अन्त-भाग, भाव और विचार-गाम्भीर्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। जैसे:—"वह दिन मुझे आज भी स्मरण है, आज भी मेरे मन और हृदय-पटल से उसका प्रभाव समाप्त नहीं हुआ, आज भी उसकी स्मृति मेरी भाव-लहरियों को तरंगित कर देती है, आज भी मेरा मन होता है कि उस प्राचीन काल में पहुँच जाऊँ जब प्रथम बार उस देवी के चंद्र-मुख की अलौकिक छाया मेरे नयनों में समा गई थी।" इस प्रकार का वाक्य अपने बहाव के साथ पाठक अथवा श्रोता को भी काव्यानन्द में बहा ले जाता है, और उनकी जिज्ञासा को उस समय तक शान्त नहीं होने देता जब तक कि वह वाक्य के अन्तिम भाग तक नहीं पहुँच जाता। इस प्रकार के वाक्य काव्य में साहित्यिक सौन्दर्य लाने की समर्थता रखते हैं। अपनी जिज्ञासा-पूर्ण प्रभावात्मकता द्वारा यह वाक्य सरल सौन्दर्य की सृष्टि करके पाठक अथवा श्रोता के हृदयों पर वह चित्र अंकित करने में सफल होते हैं कि जिन्हें लेखक अथवा श्रोता खींचना चाहता है।

(२) **शिथिल वाक्य**:—संयत वाक्य में मुख्य भाग अन्त में आता है और पाठक अथवा श्रोता की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है, इसके ठीक विपरीत शिथिल वाक्य में वाक्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग सबसे पहले आ जाता है, और पाठक की जिज्ञासा पहले ही समाप्त होकर वाक्य का आगे आने वाला भाग पढ़ते-पढ़ते ऊब उठता है।

इस प्रकार के वाक्य में पाठक अथवा श्रोता के मन और हृदय में कौतूहल और उत्कंठा उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रहती। जिस रचना में इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग अधिक होगा वह रचना उच्च कोटि की रचना नहीं कहला सकती। इसकी गणना निम्न कोटि की रचनाओं में की जायगी। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अपनी रचनाओं में शिथिल वाक्यों का प्रयोग बिल्कुल न करें। शिथिल वाक्य—"प्रसाद युग-प्रवर्तक कवि हैं, क्योंकि उन्होंने 'कामायनी' लिखी, सुन्दर उपन्यास लिखे, कहानी-क्षेत्र में नवीन रचनाएँ साहित्य को प्रदान कीं और इनके अतिरिक्त साहित्य की विभिन्न शैलियों को अपनी रचनाओं द्वारा सम्पन्न किया।" इस वाक्य में 'प्रसाद युग-प्रवर्तक कवि हैं,' यह वाक्य मुख्य है और लेखक को चाहिए था कि वह इसे वाक्य के अन्त में लिखता। पहले 'प्रसाद' युग की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करके तब यह लिखना था कि वह 'युग-प्रवर्तक' कवि हैं, इस प्रकार के वाक्यों में साहित्यक रोचकता, गाम्भीर्य-प्रभावोत्पादकता और जिज्ञासा का अभाव रहता है, इसलिए इस प्रकार के वाक्यों से सुगठित रचना कभी भी सुन्दर नहीं कहला सकती।

(३) संतुलित वाक्य:—जिस वाक्य के अंतर्वाक्य आपस में संतुलन करते हुए वाक्य की प्रभावोत्पादकता को प्रश्रय देकर प्रयुक्त किये जाते हैं, वह वाक्य संतुलित वाक्य कहलाता है और यह वाक्य साहित्यिक सौन्दर्य और उपयोगिता के दृष्टिकोण से पदों का सबसे सुन्दर संगठन है। संतुलित वाक्य में अंतर्वाक्य क्रम-बद्धता के साथ पारस्परिक आकर्षण को लेकर व्यवहृत होते हैं और इस प्रकार उसमें साहित्य का कलात्मक सौन्दर्य मुखरित हो उठता है। जैसे:—"साहित्य समाज का जीवन है, अजीवन नहीं; सौन्दर्य की अनुभूति है असुन्दर की नहीं; आदर्श और सभ्यता की कसौटी है, छिछले-पन और अभद्रता की नहीं। साहित्य समाज को जीवन प्रदान करता है, मृत्यु नहीं; सौन्दर्य प्रदान करता है, कुरूपता नहीं; कोमलता प्रसारित करता है, कठोरता नहीं; ज्ञान देता है, अज्ञान नहीं; बस अन्त में यही समझना होगा कि साहित्य समाज का प्राण है।"

उक्त वाक्य में संतुलन का स्पष्ट उदाहरण दिया गया है। इसमें आकर्षण है, प्रभावोत्पादकता है, जीवन है और सौन्दर्य की साहित्यिक कल्पना है। इस प्रकार के वाक्यों में लेखक विचार और भावना का ऐसा संतुलन रखता है कि उसमें चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और पाठक को उसे पढ़ने में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि यह शिथिल और संतुलित वाक्य संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्य के रूपान्तर ही हैं। शिथिल वाक्यों में प्रभावोत्पादकता का अभाव केवल इसी लिए रहता है कि उसमें सौन्दर्य की कमी हो जाती है परन्तु संतुलित वाक्यों में प्रभावोत्पादकता विशेष रूप से पाई जाती है और साहित्याचार्य इसी प्रकार के वाक्यों को रचना का प्राण मानते हैं।

१४७. वाक्य के अर्थ सम्बन्धी भेद:—वाक्य-रचना के आधार पर आचार्यों द्वारा किये गये वाक्य-भेदों को हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। अब साधारण रीति

से अर्थ के आधार पर किये गये वाक्य-भेदों पर विचार करता हूं। ये आठ प्रकार के होते हैं:—(१) विधिवाचक वाक्य, (२) निषेधवाचक, (३) आज्ञार्थक वाक्य, (४) प्रश्नार्थक वाक्य, (५) विस्मयादिबोधक वाक्य, (६) इच्छाबोधक वाक्य, (७) सन्देह-सूचक वाक्य और (८) संकेतार्थक वाक्य। इन भेदों की उदाहरण सहित संक्षेप में व्याख्या निम्नलिखित है :—

(१) विधिवाचक वाक्य:—विधिवाचक वाक्य वह कहलाता है जिससे कि किसी बात के होने का आभास मिलता है। जैसे:—

सरल वाक्य:—(१) राम वन को गये। (२) हमने खाना खा लिया। (३) मोहन पानी पी चुका। मिश्रित वाक्य—(१) तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया तो मेरा क्रोध बहुत बढ़ गया। (२) मैं भोजन कर चुका तो उसके पश्चात् मैंने एक सेब खाया। संयुक्त वाक्य—(१) राम ने सीता-स्वयम्बर में शिव-धनुष तोड़ दिया और सीता जी को वर लिया। (२) मैंने खाना खाया और मेरी भूख मिट गई।

(२) निषेधवाचक वाक्य— निषेध-वाचक वाक्यों से किसी भी बात के न होने का संकेत मिलता है और इसमें विशेष रूप से नकार का प्रयोग होता है। जैसे:—

सरल वाक्य—(१) हमने खाना नहीं खाया। (२) मोहन ने पानी नहीं पिया। मिश्रत वाक्य—(१) तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया इसीलिए मुझे क्रोध नहीं आया। (२) मैंने भोजन नहीं किया इसलिए मैंने फल नहीं खाया। संयुक्त वाक्य—रावण, सीता-स्वयंवर में शिव-धनुष नहीं तोड़ सका और इसीलिए वह सीता जी को वरने में भी समर्थ नहीं हो सका। (२) मैंने खाना नहीं खाया और इसी लिए मेरी भूख नहीं मिटी।

(३) आज्ञार्थक वाक्य—आज्ञार्थक वाक्य वे कहलाते हैं जिनमें किसी प्रकार की आज्ञा दी जाती है। जैसे:—

सरल वाक्य—(१) खाना खालो। (२) बाजार से फल लाओ। (३) स्कूल जाओ। मिश्रत वाक्य—(१) तुम्हारी कक्षा के मास्टर ने तुम्हें जो सवाल करने को दिये हैं तुरन्त बैठकर अपनी कापी पर उतार लो। (२) तुम्हारी माता जी ने तुम्हें जो आदेश दिया है उसका इसी समय पालन हो जाना आवश्यक है। संयुक्त वाक्य—(१) यह सामान उठाओ और ताँगे पर लादो। (२) खाना खाओ और पलंग पर सो जाओ। ( ) अपनी पुस्तक लो और पाठ याद करके सुनाओ।

(४) प्रश्नार्थक वाक्य:—प्रश्नार्थक वाक्य वे होते हैं जिनमें किसी प्रकार का प्रश्न किया जाता है। जैसे:—

सरल वाक्य—(१) तुम क्या खा रहे हो? (२) तुम्हारा क्या नाम है? (३) तुम कहाँ के रहने वाले हो? मिश्रित वाक्य—(१) क्या तुम्हें इस बात का ज्ञान है कि मोहन कितने बजे घर लौटता है? (२) क्या तुम जानते हो कि राम के पिता का क्या नाम है? संयुक्त वाक्य—(१) क्या तुम्हें पता है कि मोहन कितने बजे स्कूल से आया और फिर कितने बजे घर से चला गया? (२) क्या तुम जानते हो कि

मोहन के कितने मित्र हैं और उन सब के घर कहाँ हैं ?

विस्मयादिबोधक वाक्य:—विस्मयादिबोधक वाक्य वे होते है जिनमें आश्चर्य प्रकट होता हैं। जैसे:—

सरल वाक्य:—(१) कैसा सुन्दर नगर है !(२) तुम आ गये! मिश्रित वाक्य—ओह ! तुम आज ही आ गये तो कितना सुन्दर हुआ। संयुक्त वाक्य—वह स्थान कितना रमणीय है और उस स्थान में बैठकर कितना मन लगता है।

(६) इच्छाबोधक वाक्य:—इच्छाबोधक वाक्य ये होते हैं जिनमें किसी प्रकार की इच्छा का उल्लेख किया जाता है। जैसे:—

सरल वाक्य:—(१) तुम अपने कार्य में सफल हो। (२) तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो। मिश्रित वाक्य—(२) मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम्हें तुम्हारे उद्देश्य में सफलता मिले। (१) मेरी मनोकामना है कि तुम अपने इच्छित लक्ष को प्राप्त कर सको। संयुक्त वाक्य—(१) भगवान् करे तुम परीक्षा में सफल हो और जीवन में कोई महान् कार्य सम्पन्न कर सको। (२) भगवान् तुम्हें बल प्रदान करें और तुम उस बल का उपयोग व्यक्तियों को सहायता पहुँचाने में लगाओ।

(७) सन्देह-सूचक वाक्य:—सन्देह-सूचक वाक्य वह होता है जिसमें किसी भी बात के अन्दर सन्देह प्रकट करता है। जैसे:—

सरल वाक्य—उसने भोजन कर लिया होगा। मिश्रित वाक्य—यदि उसने औषधि का प्रयोग किया होगा तो आज संभवत: ज्वर शान्त हो गया होगा। (२) यदि उसने भोजन कर लिया होगा तो क्षुधाग्नि अवश्य शान्त हो गई होगी। संयुक्त वाक्य-उसने खाना खा लिया होगा और आराम भी कर लिया होगा तो निश्चय ही उसकी थकान दूर हो गई होगी।

(८) संकेतार्थक वाक्य:—संकेतार्थक वाक्य वह होता है जिससे सम्पूर्ण अर्थ का बोध न होकर संकेतमात्र मिलता है। इसमें एक शर्त के प्रकार के वाक्य बनते हैं। सरल और संयुक्त वाक्य संकेतार्थक नहीं होते केवल मिश्रित वाक्यों में ही इसका प्रयोग होता है। जैसे:—

मिश्रित वाक्य—(१) यदि तुम खाओ तो मैं भी खाऊँ। (२) यदि तुम स्नान करो तो मैं भी स्नान कर लूँ। (३) यदि तुम यात्रा पर चलो तो मैं भी चलूँ।

१४७. क्रिया के आधार पर वाक्य भेद:—ऊपर हम वाक्य-भेदों की विवेचना वाक्य की रचना, आकार, साहित्यिक दृष्टिकोण और अर्थ के आधार पर संक्षेप में कर चुके हैं। परन्तु वाक्य के उक्त अवयवों के अतिरिक्त वाक्य में प्रयुक्त होने वाली क्रिया का भी वाक्य में विशेष स्थान है। क्रिया के अनुरूप ही वाक्य अपना रंग बदलता है। इसलिए क्रिया के आधार पर वाक्य के किस प्रकार भेद किये जा सकते हैं, यहाँ यह जानकारी भी प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। क्रिया के विचार से वाक्य के तीन प्रधान भेदों का उल्लेख विद्वानों ने किया है। यह भेद (१) कर्तृप्रधान, (२) कर्मप्रधान, और (३) भावप्रधान हैं। इन तीनों भेदों की संक्षेप में उदाहरण—

सहित व्याख्या नीचे दी ज ती है।

(१) कर्तृप्रधान वाक्य:—कर्तृप्रधान वाक्य में कर्त्ता और कर्य अपने-अपने स्थान पर स्थिर होते हैं और क्रिया-पद की स्वतन्त्रता नहीं होती। इस प्रकार के वाक्य की क्रिया कर्तृवाच्य होती है। यहाँ प्रत्येक कर्तृवाच्य क्रिया में अनिवार्य नहीं है कि कर्म का होना आवश्यक है। जैसे:—

(क) मोहन खाना खाता है।

(ख) मोहन खाता है।

(२) कर्मप्रधान वाक्य—कर्मप्रधान वाक्य में क्रिया कर्मवाच्य होती है, और कर्मकर्त्ता के रूप में तथा कर्त्ता कारण के रूप में प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य में कर्म का होना नितान्त आवश्यक है। जैसे:—

(क) मेरे द्वारा पुस्तकें पढ़ी गईं '

(ख) राम से उसकी स्त्री पीटी गई।

(ग) मोहन माली द्वारा फूलों की खेती की गई।

(३) भावप्रधान वाक्य—भावप्रधान वाक्य में अकर्मक क्रिया पद-युक्त कर्तृ-वाच्य के कर्त्ता का रूप करण के समान हो जाता है। इस प्रकार के वाक्य में स्वयं क्रिया ही प्रधान रहती है। जैसे:—

(क) तुमसे खाया भी नहीं गया।

(ख) तुमसे बोला भी नहीं गया।

१४६. वाक्य के विभिन्न अंग:—सरल, मिश्रित और संयक्त तीनों प्रकार के वाक्यों और उसके विभिन्न प्रकार के भेदों का संक्षेप में ज्ञान कर लेने के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक है कि वाक्य के प्रधान रूप से दो ही अंग होते है, उद्देश्य और एक दूसरा विधेय। इन दोनों का भी संक्षेप में व्याख्या नीचे दी जाती है—

१५०. वाक्य का उद्देश्य:— उद्देश्य वाक्य का वह अंग है जिसमें किसी वस्तु के विषय में कुछ कहे जाने वाले पदों का प्रयोग लेखक अथवा वक्ता ने किया हो। जैसे उदाहरण के लिए ले लीजिए:—

'राम वन को जा रहे हैं, यह सरल वाक्य है। इस वाक्य में लेखक अथवा वक्ता ने जो-कुछ भी लिखा या कथन किया है वह राम के विषय में है। इसलिए यहाँ पर राम ही इस वाक्त में उद्देश्य है।

विधेय:—विधेय वाक्य के उस नाम को कहते हैं जिसमें उद्देश्य के विषय में कुछ कहा जाता है। जैसे:—

'राम वन को जा रहे हैं' इस वाक्य में ऊपर बता चुके हैं कि उद्देश्य 'राम' है, और राम के विषय में कहा गया है, 'वन को जा रहे हैं'। इसलिए वाक्य का यही अंश विधेय कहलाया। नीचे दिए गए वाक्यों में प्रथम शब्द उद्देश्य और आगामी भाग विधेय है।

(१) मोहन खाना खा रहा है।

(२) जवाहरलाल नेहरू विदेश-यात्रा पर जा रहे हैं।

(३) महात्मा गांधी हमारे राष्ट्र के पिता हैं।

(४) सुभाषचन्द्र बोस आजादी के युद्ध का सबसे वीर सैनिक था।

नोट—वाक्य में उद्देश्य और विधेय को खोज लेना कठिन कार्य नहीं, क्योंकि साधारणतया ये दोनो स्पष्ट ही रहते हैं। परन्तु कभी-कभी इसमें किसी का लोप भी हो जाता है और कभी-कभी दोनो का ही लोप हो जाता है। भाववाच्य में प्रायः यह देखा जाता है कि उद्देश्य क्रिया में ही मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो देता है। जैसे :—

(१) 'राम ने खाना खाया।' इस वाक्य में 'राम' उद्देश्य और 'खाना खाया' विधेय। दोनों ही स्पष्ट हैं।

(२) 'किसने खाना खाया ?' उत्तर दिया 'राम ने'। इस दूसरे वाक्य में उत्तर इतने संक्षेप में दिया गया है कि विधेय 'खाना खाया' का लोप हो गया है।

(३) 'खाना खा लो।' यह एक वाक्य है, जिसमें उद्देश्य 'तुम' या 'आप' लुप्त है।

(४) 'क्या राम ने खाना खा लिया ?' उत्तर मिला, 'नहीं'। यह वाक्य अपने में पूर्ण है और श्रोता अथवा पाठक की समझ में भी आ गया कि लेखक अथवा वक्ता का क्या अभिप्राय है। इस वाक्य में उद्देश्य और विधेय दोनों का लोप है।

(५) 'मुझ से खाया नहीं जाता।' इस वाक्य में उद्देश्य क्रिया के अर्थ में मिला हुआ है। इस वाक्य में भाववाच्य स्पष्ट है।

१४१. वाक्यांश:—वाक्य के भेद और उपभेदों की संक्षेप में विवेचना हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। अब हमें वाक्य और वाक्यांश के पारस्परिक भेद पर विचार करना है। वाक्य और वाक्यांश के अर्थ और रूप दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। वाक्यांश कोई भी दो या दो से अधिक शब्दों का वह योग हो सकता है जिससे किसी पूर्ण अर्थ का बोध न होता हो। जिस प्रकार शब्दों का सार्थक समूह वाक्य कहलाता है उसी प्रकार शब्दों का निरर्थक समूह, परन्तु ऐसा समूह जिनके क्रम में कोई तब्दीली किये बिना कुछ शब्द मिला देने से सार्थक वाक्य बन सके, वाक्यांश कहलाता है। वाक्य में पूर्ण अर्थ के साथ-साथ पूर्ण विचार भी रहता है परन्तु वाक्यांश में केवल एक अथवा एक से अधिक भावनाएँ-मात्र सन्निहित रहती हैं। यह तो हुआ अर्थ और विचार का सम्बन्ध, परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं वाक्य और वाक्यांश के रूप में भी बहुत बड़ा अन्तर है। वाक्य में क्रिया रहती है और वाक्यांश में प्रायः सम्बन्धसूचक अव्यय या क्रन्दन मात्र ही रहता है। जैसे:—'राम खाना खाकर सो गया।' यह सम्पूर्ण वाक्य है। यदि इसमें से 'राम खाना खाकर' इन शब्दों को पृथक् कर दिया जाय तो यह शब्दांश हुआ। इसी प्रकार यदि इस वाक्य के अन्तिम तीन शब्दों, खाकर सो गया' को पृथक् कर दिया जाय तो यह भी वाक्यांश है। इन वाक्यांशों में वाक्य के अर्थ, विचार और रूप तीनों का अन्तर है।

संक्षिप्त—इस अध्याय में वाक्य के विभिन्न रूपों और उपभेदों तथा वाक्यांशों पर विचार कर लेने के पश्चात् और उन्हें भली प्रकार समझने के पश्चात् यह जान लेना आवश्यक है कि इनका केवल शास्त्रीय अध्ययन भर कर लेने मात्र से कोई विद्यार्थी कुशल लेखक नहीं बन सकता। वाक्य भाषा के गठन का वह अंग है जिस पर लेखक की शैली का कलात्मक सौन्दर्य, उसकी रोचकता और गम्भीरता आधारित रहती है। यह सत्य है, परन्तु सुन्दर वाक्य-रचना में दक्षता या प्रवीणता विद्यार्थी में आनी केवल तभी सम्भव है, जब वह विभिन्न शैलीकारों का अध्ययन करे और उनके प्रयोगों को शास्त्रीय कसौटी पर कस-कसकर अपने नवीन प्रयोगों का निर्माण करे। ऐसा करने के लिए वाक्य-रचना का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है और इसी ज्ञान के आधार पर वह अपनी रचना को चमत्कृत करने में फलीभूत होकर सफल लेखक तथा शैलीकार बन सकता है।

वाक्यों का संगठन और शैली का निर्माण विषय के अनुकूल होता है। जब तक लेखक लेखन-कला के इस गम्भीर तत्त्व की पूरी तरह से परख नहीं कर लेता उस समय तक वह सफल लेखक तथा शैलीकार नहीं बन सकता। सरल, मिश्रित और संयुक्त वाक्यों का प्रयोग भी विषयानुकूल ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई लेखक छोटे बच्चों की पुस्तकों में मिश्रित तथा संयुक्त वाक्यों का प्रयोग करता है तो यह उसकी भूल है। उसी प्रकार यदि कोई दर्शन, योग अथवा इसी प्रकार के किसी शास्त्रीय विषय का विवेचन सरल वाक्यों में करेगा तो उसके सामने भी कठिनाई उपस्थित होगी और विषय का विवेचन भी अधूरा, अधकचरा और छिछला ही रह जायगा। इसलिए विद्यार्थियों को चाहिए कि वह वाक्यों की रचना विषय के अनुकूल करें और उसी आधार पर अपनी शैली का भी निर्माण करें।

अध्याय ११

वाक्य का गठन और उसके प्रधान तत्व

१५२. पद-संगठन (शब्दों का क्रमबद्ध संगठन) :—व्याकरण के नियमों के आधार पर शब्दों का आवश्यकतानुसार आकृतियाँ बदलकर, शृंखलाबद्ध करना ही वाक्य का निर्माण करना है। जैसा पिछले अध्याय में बतला चुके हैं वाक्य अथवा व्याकरण के अनुसार शृंखलाबद्ध किये इस शब्द या पद-समूह में एक ही विचार का आद्योपान्त चलना आवश्यक है। शब्द पृथक्-पृथक् रहकर अपने अर्थों का बोध तो पाठक को अवश्य कराते हैं, परन्तु किसी विचारधारा को सार्थक रूप देने में समर्थ नहीं हो सकते। जैसे:— राम, वन, जाते, हैं। यह चारों शब्द और शब्दांश पृथक्-पृथक् रहकर उस विचारधारा को सार्थक नहीं कर सकते जिसे इनका क्रमबद्ध संगठन अर्थात् 'राम वन जाते हैं।' यह वाक्य करने में सफल होता है—इस वाक्य-निर्माण करने के संगठन का नाम पद-संगठन है।

१५३. शब्द पद और विभक्ति:—शब्द जब तक किसी वाक्य का अंग नहीं बन जाता तब तक वह शब्द ही रहता है परन्तु वाक्य में प्रयुक्त होने पर वह पद कहलाता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर उसकी आकृति और रूप में परिवर्तन किया जाता है। इस परिवर्तन के सहायक शब्दांश को व्याकरण में विभक्ति कहते हैं। विभक्ति वाक्य के प्रत्येक पद में गुप्त अथवा प्रकट रूप से वर्तमान रहती है। वास्तव में विभक्तियुक्त शब्द को ही पद कहा जाता है। 'राम वन को जाता है,' यह एक सम्पूर्ण सरल वाक्य है। इसमें राम, वन को, जाता है, ये तीन पद हैं। यहाँ 'राम' पद में विभक्ति का प्रत्यक्ष रूप नहीं है, 'वन को' में 'को' कर्मकारक का चिन्ह है और 'जाता है, में 'ता है' स्पष्ट विभक्ति है। इसी प्रकार वाक्य में शब्द, पद और विभक्ति तीनों के रूप पृथक्-पृथक् वर्तमान रहते हैं और तीनों के संगठन से ही सार्थक वाक्य का निर्माण होता है।

१५४. पद और वाक्य:—उक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया कि वाक्य पद-समूह का दूसरा नाम है। वैयाकरणियों ने पद-समूह पाँच प्रकार के माने हैं १.:—संज्ञा-पद, २. सर्वनाम-पद, ३. विशेषण-पद, ४ क्रिया-पद और ५. अव्यय पद। वाक्य में प्रयुक्त होने पर इन सभी के रूप में परिवर्तन होता है केवल अव्यय-पद में कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु अव्यय-पद भी जब विशेषण-पद के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है तब

उसका रूप भी बदल जाता है। यह रूप परिवर्तन लिंग, वचन और कारक के प्रभावों का फल होता है।

१५५. वाक्य-विन्यासः—वाक्य-विन्यास द्वारा वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त की जाती है। जिन-जिन शब्दों के संयोग से वाक्य का गठन हुआ और उसके विचार का स्पष्टीकरण हुआ है उसके उन शब्दों के केवल मात्र रूपांतर और प्रयोग की ही जानकारी विद्यार्थी के लिए पर्याप्त नहीं वरन् उसे चाहिए कि वह उन प्रयुक्त शब्दों अथवा पदों के पारस्परिक सम्बन्धों से भी जानकारी प्राप्त करे। यही वाक्य-विन्यास की उपादेयता है। वाक्य-विन्यास करते समय शब्दों को उनके परस्पर सम्बन्धों के अनुसार रखा जाता है और उनसे किस प्रकार वाक्य का निर्माण हुआ, इस रीति का भी दिग्दर्शन कराया जाता है। वाक्य-विन्यास के नियमित न रहने पर वाक्य में बहुत से अर्थहीनता, भ्रामकता, शिथिलता, जटिलता, अस्पष्टता जैसे दोष आ जाते हैं। इस प्रकार के दोष कभी भी प्रौढ़ रचना-शैली में क्षम्य नहीं गिने जा सकते। शाब्दिक द्विरुक्ति अथवा पुनरुक्ति वाक्य-रचना के प्रधान दोषों में से हैं, इसलिए विद्यार्थियों को अपनी रचना इन दोनों से मुक्त रखनी चाहिए। वाक्य में सार्थक शब्दों का उचित प्रयोग हो, इसके लिए वाक्य-विन्यास की क्रिया से लाभ उठाना चहिए। वाक्य-विन्यास हमें यह बतलाता है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, वह एक दूसरे पर कहाँ और किस हद तक आधारित है तथा वह किस क्रम से प्रयोग में लाये गये हैं। इसी लिए वाक्य-विन्यास में अन्वय, अधिकार और क्रम, बस ये ही तीन प्रधान तत्त्व हैं।

१५६. अन्वयः—दो शब्दों के पारस्परिक वचन, कारक, लिंग, पुरुष और काल की जो समानता रहती है वह अन्वय कहलाती है जैसेः—काली भैंस चारा खाती है। यह एक वाक्य है। इसमें 'काली' शब्द का भैंस शब्द से वचन और लिंग का अन्वय है। क्योंकि यदि 'भैंस' के स्थान पर भैंसा' होता तो 'काली' के स्थान पर 'भैंसे' बहुवचन हो जाता तो 'काली' के स्थान पर 'काले' शब्द का प्रयोग होकर लिंग के साथ-साथ वचन में भी अन्दर आ जाता। इससे आगे इसी प्रकार शब्द 'खाती' है, भैंस शब्द से लिंग पुरुष और वचन में अन्वित है।

१५७. अधिकारः—अधिकार शब्दों का वह सम्बन्ध है जिससे किसी एक शब्द के प्रयोग से दूसरा सर्वनाम अथवा संज्ञा किसी विशेष कारक में प्रयुक्त हो। जैसेः—आदमी जेल से डरते हैं। यह एक वाक्य है। इसमें डरना क्रिया के प्रयोग से जेल शब्द अपादान कारक में आया है।

१५८. क्रमः—किसी वाक्य में शब्दों का संगठन उनके अर्थ और सम्बन्ध के विचार से किया जाता है। शब्द रखने का यह नियम कहलाता है। यह अलंकृत और सादा दो प्रकार का होता है। सादा पद क्रम वह होता है जिसमें व्याकरण नियमों का पालन करते हुई वाक्य-रचना की जाती है। इस वाक्य के पढ़ने या सुनने से पाठक या श्रोता के अन्दर अर्थ-बोध तो तुरन्त हो जाता है परन्तु कोई विशेष आकर्षण या

चमत्कार पैदा नहीं होता। अलंकृत क्रम में वाक्य-क्रम सादा न रहकर कुछ उलट-फेर के साथ लेखक अथवा वक्ता द्वारा किसी विशेष प्रसंग पर चमत्कृत कर दिया जाता है।

१५९. वाक्य की रचना:—रचना शब्दों अथवा पदों के संगठन का दूसरा नाम है। जब शब्द एक स्थान पर एकत्रित किये जाते हैं तो इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी लेखक अथवा वक्ता द्वारा निर्धारित किया जाता है। पाठक अथवा श्रोता शब्दों के इस पारस्परिक सम्बन्ध को दो रीति से जान पाता है। इन रीतियों को हम वाक्य-रचना और वाक्य विश्लेषण कहते हैं। शब्दों के अर्थ और प्रयोग को ध्यान में रखकर जो उनका संगठन किया जाता है वह वाक्य-रचना है और इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर वाक्य के अवयवों को पृथक्-पृथक् किया जाता है। इस प्रकार शब्दों का परस्पर सम्बन्ध उन्हें आपस में मिलाने और पृथक् करने की क्रिया से जाना जाता है। वाक्य विश्लेषण (Para Phrasing) की रीति हिन्दी में अंग्रेजी से ली गई है। इसका सम्बन्ध केवल व्याकरण से ही है परन्तु वाक्य-रचना का सम्बन्ध केवल व्याकरण तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध भाषा से प्रधान है।

१६०. वाक्य-रचना और भाषा:—वाक्य रचना का सर्वप्रथम ज्ञान न तो भाषा से होता है और न व्याकरण से, वह होता है अनुकरण से। एक बच्चा अपने माता-पिता, भाई-बन्धु अथवा सगे-सम्बन्धियों को जिस प्रकार बोलता देखता है उसी प्रकार अनुकरण करके बोलना और वाक्य बनाना सीख जाता है। जब बच्चा बड़ा होने पर पठन के क्षेत्र में उतरता है और उन्हीं वाक्यों को अ, आ, ई इत्यादि वर्ण-माला का ज्ञान कर लेने के पश्चात् लिपिबद्ध करना चाहता है तो उसे भाषा और व्याकरण के नियमों का ज्ञान करना होता है। इसलिए वाक्य-रचना के क्षेत्र में पहले भाषा आती है और बाद में व्याकरण और इसीलिए हम व्याकरण का जन्म रचना से न मानकर विश्लेषण से मानते हैं जिसका आविर्भाव हर दिशा में रचना के पश्चात् ही ठहरता है। भाषा के विचार से वाक्य-रचना को निम्नलिखित साधारण नियमों द्वारा संचालित किया जा सकता है।

१६१. भाषा के विचार से वाक्य-रचना:—**(१) भाव और अर्थ के अनुसार शब्द-प्रयोग**—वाक्य में शब्दों का प्रयोग करने से पूर्व लेखक अथवा वक्ता को यह ध्यान में रखना होता है कि वह शब्द उसके भाव और विषय का ठीक-ठीक प्रतिपादन करने में समर्थ है अथवा नहीं।

(२) सरल और गम्य शब्दों का प्रयोग:—वाक्य में शब्दों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह इतने सरल और गम्य हों कि पाठक अथवा श्रोता उन्हें पढ़ या सुनकर अर्थ का अनर्थ न कर डालें।

(३) अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग:—वाक्य में प्रयुक्त शब्द इतने अर्थपूर्ण होने चाहिएँ कि लेखक अथवा वक्ता के अभिप्राय को पूर्ण रूप से पाठक अथवा श्रोता के पास तक पहुँचा सकें। पाठक अथवा श्रोता को उन्हें पढ़ अथवा सुनकर समझने में

कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

(४) अप्रचलित शब्दों का त्याज्य:—वाक्य में विद्यार्थियों को चाहिए कि वह अप्रचलित शब्दों का प्रयोग न करें। ऐसा करने से अर्थ-बोध और भाव-स्पष्टीकरण में कठिनाई होती है।

(५) विजातीय शब्दों का त्याज्य:—विद्यार्थियों को चाहिए कि वह विजातीय शब्दों का प्रयोग वाक्यों में न करें। ऐसा करने वाले लेखक के विषय में यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसे भाषा का समुचित ज्ञान नहीं है और उसके शब्द-कोष में समर्थ शब्दों की कमी है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वह अपनी लेखन-शैली में इस दोष को जहाँ तक भी बन सके न आने दें।

(६) वाक्य की गुम्फित शैली:—वाक्य को अर्थ के लिए गुम्फित नहीं बना देना चाहिए। जहाँ तक हो सके उसे छोटा ही बनाने का प्रयत्न करें। लम्बे वाक्य लिखने अथवा बोलने से लेखक अथवा वक्ता के भाव का पाठक या श्रोता पर विकृत प्रभाव पड़ता है; भाव-श्रृंखला टूट जाती है और पाठक अथवा श्रोता की स्मरण-शक्ति आद्योपांत साथ नहीं निभा पाती। इससे विचार-श्रृंखला खंडित हो जाती है और लेखक तथा पाठक का सम्बन्ध स्थापित होने से रुक जाता है।

(७) भाषा-प्रवाह:—वाक्य-रचना ऐसी होनी चाहिए कि भाषा के प्रवाह में कोई बाधा न उपस्थित हो। भाषा-प्रवाह में बाधा आ जाने से भाषा की रोचकता नष्ट हो जाती है और पाठक उसे पढता-पढ़ता ऊब उठता है।

(८) भाषा-शक्ति और भाषा-सौंदर्य:—वाक्य में पदों का सन्निवेश भाषा-शक्ति और भाषा-सौंदर्य के विचार से करना चाहिए। लेखक को कोई भी प्रयोग ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे कि भाषा की प्रभावात्मकता, उसकी सबलता और सौंदर्य पर आघात पहुँचे। इसके लिए समुचित पदों का सन्निवेश नितांत आवश्यक है। यही वाक्य के सौंदर्य में वृद्धि करता है और यही उसे शक्ति देता है।

(९) व्यर्थ पद-सन्निवेश:—केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए व्यर्थ पदों का सन्निवेश करने से वाक्य सशक्त होने के स्थान पर अशक्त तथा शिथिल हो जाता है। पदों का अनावश्यक प्रयोग और अभाव दोनों ही भाषा-सौंदर्य और भाषा की सशक्तता में बाधक हैं। पदाभाव के कारण अर्थ, विचार और भाव के स्पष्टीकरण में बाधा उपस्थित हो जाती है।

(१०) उचित पद-प्रयोग:—वाक्य में उचित पद का सन्निवेश ही उचित अर्थ का बोधक हो सकता है। जब तक उचित पदों का सन्निवेश नहीं होगा तब तक लेखक अथवा वक्ता के हृदय की वास्तविक भावनाओं और कल्पनाओं का दिग्दर्शन पाठक अथवा श्रोता के सम्मुख नहीं हो सकता।

(११) पदों की पुनरुक्ति:—वाक्य-रचना में पदों की पुनरुक्ति नहीं होनी चाहिए। पद-पुनरुक्ति एक बड़ा दोष है।

(१२) कम पदों में अधिक अर्थ—जो लेखक जितने भी कम-से-कम पदों में

अपने अधिक-से-अधिक भावों को व्यक्त करने की क्षमता रखता है वह उतना ही सफल लेखक है। लेखक की यह रचना-कला लाघव कहलाती है। लाघव-कला से रचना में उत्कृष्टता आती है। किसी बात को सूक्ति-रूप में कहना साधारण योग्यता की बात नहीं। बात का सार तत्त्व निकालना लेखक की योग्यता और भाव-गम्यता पर आधारित है।

(१३) वाक्य में लाघवत्व:—लाघव भाषा का एक गुण अवश्य है परन्तु इसका प्रयोग हर स्थान पर नहीं होता। जब किसी विषय पर बल देना होता है तो वहाँ लाघव-गुण का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वहाँ तो एक ही बात को कई प्रकार से कहकर बल दिया जाता है। जैसे:—राम सर्वशक्तिशाली है, बलवान है, जन-पालक है और महान् है।

(१४) वाक्य रचना में अध्याहार:—वाक्य रचना में पूर्ण अध्याहार से काम लेना आवश्यक है। अध्याहार से वाक्य थोड़े में बहुत कुछ रहने की क्षमता रखने लगता है और उसकी रचना मुहावरेदार हो जाती है। इस प्रणाली के अनुसार वाक्य रचना करते समय ऐसे शब्दों का लोप कर दिया जाता है जिनके न रहने से वाक्य के अर्थ में कोई बाधा न उपस्थित हो। जैसे—अपनी-ही-अपनी कहना और दूसरे की न सुनना, मूर्खता है। इस वाक्य में बात शब्द का लोप कर दिया गया है परन्तु पाठक अथवा श्रोता को अर्थ समझने में कठिनाई नहीं हो सकती।

पूर्ण अध्याहार के उदाहरण:—

(१) अध्याहार में कर्ता का लोप—सुनना, देखना और कहना क्रियाओं के वर्तमान तथा आसन्नभूत कालों में बहुधा कर्ता का लोप कर दिया जाता है। जैसे:—

क:—सुना है तुम परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण हुए हो। यहाँ 'मैंने' कर्त्ता का लोप है।

ख:—देखता हूँ तुम अब काम करने योग्य नहीं रह गए हो। यहाँ 'मैं' कर्ता का लोप कर दिया गया है।

ग:—कहा है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरों का बुरा मिलता है। यहाँ 'किसी ने' कर्ता का लोप है।

(२) विधि काल में कर्ता का लोप। जैसे:—बैठिये, आराम कीजिये। यहाँ पर "आप" कर्ता का लोप है।

(३) जानना क्रिया के सम्भाव्य भविष्य में अनिश्चयवाचकता के अन्दर कर्ता का लोप। जैसे:—न जाने तुम्हारे कार्य का क्या हुआ? यहाँ कर्ता का लोप है।

(४) गुजरना, बीतना, कटना इत्यादि क्रियाओं के साथ अवस्था या समय सूचक क्रिया का लोप। जैसे:—वहाँ नहीं जाना मित्र! आज-कल कैसे बीत रहा है?

(५) क्रियाविशेषण और समुच्चयबोधक अव्ययों के साथ होना, हो सकना और बनना आदि क्रियाओं के आने से कर्ता का लोप। जैसे:—जहाँ तक बन सके सच ही बोलो, जैसे बने कार्य पूरा करो।

(६) व्यापक अर्थ वाली सकर्मक क्रिया के कर्म का लोप जैसे:—अच्छा समझ

तो सकता है, परन्तु बोल नहीं सकता।

अपूर्ण अध्याहार के उदाहरण—

क:—एक वाक्य में कर्ता देकर दूसरे में उसका लोप। जैसे:—आप परिश्रम कीजिये और फल अवश्य मिलेगा।

ख:— अनेक विशेषणों का एक विशेषण और उससे एकवचन का बोध होने पर उसका एक ही बार उल्लेख। जैसे:—काला, लाल, पीला और नीला कपड़ा। हरा, गुलाबी, सफ़ेद, और बसंती कागज़।

ग:— कई उद्देश्यों से एक ही क्रिया का अन्वय और उसका केवल एक बार उल्लेख। जैसे:—मास्टर, हैड-मास्टर, क्लर्क, नौकर और विद्यार्थी सब एक दरी पर बैठे हैं। प्रेसीडेंट, प्राइम मिनिस्टर, मेम्बर तथा दर्शक सबने एक साथ करतल-ध्वनि की।

घ:—अनेक मुख्य क्रियाओं की एक सहायक क्रिया। यहाँ कपड़े नापे, काटे, छाँटे, सिये तथा तह किये जाते हैं।

ङ:—उपमानवाचक वाक्यों में उपमान के विधेयार्थक लोप। जैसे:—वह इतना चालाक है जैसे बन्दर। वह इतना मूर्ख है जैसे गधा। इन दोनों वाक्यों में आदमी पद का लोप है।

च:—मिश्रित वाक्य के उत्तरार्द्ध में पदों का लोप। जैसे:—यदि आप बाजार चलेंगे तो मैं भी। यहाँ बाजार चलूँगा पद का लोप है।

प्रत्ययों का अध्याहार:—जिस प्रकार ऊपर हमने शब्दों का लोप दिखलाया है उसी प्रकार प्रत्ययों का भी अध्याहार होता है। प्रत्यय-अध्याहार के कुछ उदाहरण और नियम नीचे दिये जाते हैं:—

क:—एक ही विभक्ति का कई संख्याओं के साथ प्रयोग होना होता है तो पहली संख्याओं का विकृत रूप देकर विभक्ति को केवल अंतिम संज्ञा के साथ जोड़ दिया जाता है। जैसे:—एक, दो, तीन, चार, पाँच से कोई अंतर नहीं पड़ता, वहाँ तो न जाने कितने खप सकते हैं।

ख:—कर्म, करण और अधिकरण के प्रत्ययों का लोप। जैसे—खाना खालो, पानी पीलो, नहालो, धोती धोलो, मोटर चढ़लो, गाना गालो इत्यादि।

ग:—कर, वाला, मय, पूर्वक इत्यादि प्रत्ययों का लोप। जैसे:—खा-पीकर उठो। खाने और पीने वाले आदमी ही दुनियाँ में कुछ कर सकते हैं। यह झूठ है। आनंद और श्रद्धा-पूर्वक कार्य कीजिये। श्रद्धा और प्रेममय व्यवहार करना चाहिये।

(१४) कर्कश शब्दों का त्याज्य:—वाक्य-रचना में कर्कश शब्दों की जितनी कमी और श्रवण-सुखद तथा उच्चारण-सुलभ शब्दों का जितना भी आधिक्य रहेगा वह वाक्य उतना ही सुन्दर और पाठक के लिए गम्य होगा। ऐसे वाक्यों से सुगठित भाषा सुन्दर और कलात्मक मानी जायगी। केवल वीर और रौद्र रस की रचनाओं में कर्णकटु तथा कर्कश शब्दों का प्रयोग किया जाता है। वीर और रौद्र रस के अतिरिक्त सभी रसों में मधुर और सरल पदावली ही शोभा देती है।

(१६) अर्थ और औचित्य के आधार पर शब्द प्रयोग:—वाक्य रचना में शब्द का प्रयोग उसके अर्थ और औचित्य का ध्यान रखकर करना चाहिए। ऐसा न करने से लेखक की अनभिज्ञता और रचना की अपूर्णता प्रकट होती है। जैसे:—बन्दूक एक बहुत ही उपयोगी शस्त्र है। शस्त्र शब्द का प्रयोग हाथ से चलाये जाने वाले हथियारों के लिए होता है। यह प्रयोग उचित नहीं है। बन्दूक के साथ अस्त्र का प्रयोग उचित है।

(१७) वाक्य में असंदिग्ध अर्थ:—वाक्य रचना करते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उस वाक्य से जो अर्थ निकले वह संदिग्ध न हो, भ्रामक न हो। जैसे:—यदि कोई कहे; राम और सोहन की पत्नी में बड़ा प्रेम है, यहाँ इसका अर्थ यह भी हो सकता है। राम की स्त्री और सोहन की स्त्री में बड़ा प्रेम है और यह भी हो सकता है कि सोहन की स्त्री और राम में प्रेम है। इस प्रकार के वाक्य से पाठक लेखक का अभीष्ट अर्थ निकालने से असमर्थ रह जाता है।

(१८) वाक्य-रचना में पद-क्रम:—वाक्य रचना में पद-क्रम पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। जिस पद की जहाँ पर आवश्यकता है, उसका प्रयोग वहीं पर होना उचित है अन्यथा वाक्य-रचना का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। वाक्य में दुष्क्रमता आ जाने से न केवल वाक्य-सौंदर्य ही नष्ट होता है वरन् कभी-कभी अर्थ का भी अनर्थ हो जाने की सम्भावना बन जाती है। जैसे—एक, दो, तीन, चार, कितने ही व्यक्ति क्यों न हों, सब को साथ-साथ मिलकर चलना है। यह क्रम ठीक है। इसे ही—एक, तीन, दो, चार कितने ही व्यक्ति···। इस प्रकार लिखना दुष्क्रमता में आ जाता है।

(१९) वाक्य में प्रचलित शब्दों का प्रयोग:—वाक्यों को अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से जहाँ तक भी हो सके बचाना चाहिए। भाषा में जितना भी प्रचलित शब्दों का प्रयोग अधिक होगा भाषा उतनी ही सर्व-गम्य और भावपूर्ण होगी। लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसने जिन शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ के लिए किया है वह शब्द उस अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ हो। नये लेखकों को शब्दों के प्रयोग में विशेषरूप से सतर्क रहने की आवश्यकता है। कभी-कभी वह सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अव्यवहारिक और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर डालते हैं। ऐसा करने से रचना सुन्दर होने की अपेक्षा उल्टी सदोष हो जाती है।

(२०) वाक्य में उपमा:—लेखक को किसी वाक्य में यदि कोई उपमा प्रस्तुत करनी हो तो उपमेय और उपमान पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उपमेय और उपमान में पूर्ण सादृश्यता होनी चाहिए। सादृश्यता न होने से उपमा का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता और वाक्य में प्रभावात्मकता नहीं आती।

(२१) वाक्य में पर्यायवाची शब्द:—पर्यायवाची शब्दों का वाक्य में प्रयोग बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। एक शब्द के अर्थ वाले अनेक शब्द भाषा में होते हैं परन्तु उन सबका आविर्भाव भाषा में किसी विशेष अभिप्राय से ही हुआ है। उस अभिप्राय को जाने बिना लेखक उस शब्द का उचित प्रयोग नहीं कर सकता। इसलिए इस प्रकार के शब्दों का साधारण लेखन में प्रयोग न करके केवल विशेष

लेखों में ही करना उचित है। जैसे—कृष्ण के अनेकों नाम हैं और वह उनके जीवन के विविध कार्य-कलापों से सम्बन्धित हैं और उन्हीं कार्य-कलापों अथवा सम्बन्धों के कारण उन शब्दों का भाषा में आविर्भाव भी हुआ है। राधिका-रमण, कंस-रिपु, देवकी-सुत, सुदर्शनधारी इत्यादि शब्दों का निर्माण कृष्ण के राधिका, कंस, देवकी और सुदर्शनचक्र से सम्बन्ध के कारण हुआ है। इसलिए इन शब्दों का प्रयोग भी यों ही हर स्थान पर न करके केवल उन्हीं प्रसंगों में करना उचित है जहाँ से इनका सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार भूमि के लिए—वसुधा, विश्वम्भरा, धरित्री, धरणि, भूमि इत्यादि शब्दों का प्रयोग भाषा में किया जाता है।

(२२) वाक्य में विशेषण का प्रयोगः—वाक्य में विशेषण का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण होता है परन्तु उसका उपयोग लेखक को तभी करना चाहिए जब वह उस विशेषण के महत्त्व को पूर्ण रूप से जानता और समझता हो। विशेषण पद का प्रयोग लेखक किसी भ्रम अथवा व्यभिचार की भावना का लोप करने के लिए करता है। जब कोई आशंका मन में आती है और साधारण अर्थ से उसका निवारण नहीं हो पाता तो उसके साथ किसी विशेषण पद को लगा देना अभीष्ट होता है। जैसे—किसी ने कहा आम; परन्तु आम शब्द से खट्टा आम, मीठा आम, छोटा आम, बड़ा आम, लाल आम, पीला आम, बम्बइया आम, सिंदूरी आम, लंगड़ा आम, सभी का बोध होता है। इन सभी भ्रमों को दूर करने के लिए विशेषणों का प्रयोग करना होता है। विशेषण द्वारा ही लेखक पाठक को किसी वस्तु का विशेष सम्पूर्ण का ज्ञान कराता है। जैसे—वह कहे लम्बा, मोटा, सिंदूरी, बनारसी, लंगड़ा आम। इतने विशेषणों के साथ आम शब्द को पढ़ या सुनकर पाठक अथवा श्रोता के मानसपटल पर आम का जो चित्र अंकित होता है वह अपना एक मूर्तिमान स्वरूप स्थापित कर देता है। इस प्रकार विशेषण के उचित प्रयोग द्वारा वाक्य के अभिप्रेत अर्थ में जो व्यभिचारी भाव रहता है वह स्थायी बन जाता है। विशेषण सामान्य अर्थ में संकोच की भावना लाकर उसे किसी निश्चित स्थान पर केन्द्रित कर देता है। विशेषण लेखक की कल्पना, भावना, विचार और अनुभूति को चित्रित करके सजीवता प्रदान करता है और विशृंखला, कल्पना तथा भावना को केन्द्रित करके स्थूल रूप देने में असमर्थ होता है। विशेषण द्वारा भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीन काल के वास्तविक तथा काल्पनिक चित्र लेखक उपस्थित करता है और उन्हें पाठक के मस्तिष्क पर जमा देता है। इसलिए वाक्य में विशेषण का प्रयोग बहुत ही समझ-बूझकर होने की आवश्यकता है।

(२३) वाक्य में क्रिया-पद का प्रयोगः—क्रिया-पद का प्रयोग संज्ञा पद की भाँति उतनी स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं किया जा सकता। संज्ञा पद का पर्यायवाची पद मिल सकता है परन्तु क्रिया पद का नहीं। इसलिए क्रिया-पद का प्रयोग बहुत ध्यान-पूर्वक न करने से अर्थ का अनर्थ हो सकता। जैसे—कर लूँगा, किया जायगा, देख लूँगा, देखा जायगा, लिख लूँगा, लिखा जायगा; इत्यादि प्रयोगों में कितना अन्तर है। एक से दूसरे के अर्थ में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। क्रिया-पद का प्रयोग

करने से पूर्व लेखक को पूर्णरूप से समझ लेना चाहिए कि उस पद से वह अर्थ और भाव व्यक्त होता है या नहीं जिसे कि वह व्यक्त करना चाहता है।

संक्षिप्त—संक्षेप में उक्त भाषा-विषयक वाक्य-रचना के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया है उस पर ध्यान रखकर लिखने से विद्यार्थी सफलतापूर्वक शुद्ध, प्रभावात्मक, सुन्दर, अर्थपूर्ण और बलवती भाषा की रचना करने में समर्थ हो सकेंगे। वाक्य रचना की सफलता लेखक के समझने से सम्बन्धित न होकर श्रोता अथवा पाठक के समझने पर आधारित है। लेखक जो कुछ लिखता है या जो कुछ बोलता है वह अपने लिए नहीं लिखता और न अपने ही लिए बोलता है। वह जिनके लिए लिखता या बोलता है उन्हीं का उसे समझना और हृदयंगम कर लेना अधिक आवश्यक है। इसलिए लेखक अथवा वक्ता को वाक्यों में उन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए कि जो सर्वसाधारण की समझ में सरलतापूर्वक आ सकें और उनका स्पष्ट चित्र उसके मानस-पटल पर अंकित हो सके। यही वाक्य की सफलता है और यही भाषा की।

व्याकरण के विचार से वाक्य-रचना

१६२. वाक्य-रचना के लिए जिस प्रकार भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों और *कमियों का न रहना आवश्यक है उसी प्रकार वाक्यों को व्याकरण सम्बन्धी कमियों* से भी दूर रखना चाहिए। लेखक अथवा वक्ता के भाव-प्रदर्शन में जिस प्रकार भाषा सम्बन्धी कमियाँ बाधक होती हैं उसी प्रकार व्याकरण सम्बन्धी कमियाँ भी उसमें बाधक होती हैं। सुन्दर और भावपूर्ण शब्द योजना के साथ-ही-साथ व्याकरण के नियमों का पालन करना भी लेखक के लिए नितांत आवश्यक है।

१६३. **रूपांतर**:—किसी भी शब्द के अर्थ फेर-बदल करने से उसके रूप में भी फेर-बदल हो जाता है। रूप का यही फेर-बदल रूपांतर कहलाता है। रूपांतर के विचार से शब्द दो प्रकार के होते हैं:—एक अविकारी और दूसरे विकारी।

(१) **अविकारी**:—अविकारी शब्द वह होते हैं जिन पर शब्द के अर्थ में फेर-बदल होने से भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह ज्यों-के-त्यों अपने ही रूप में वर्तमान रहते हैं। क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, सम्बन्धसूचक, और विस्मयादिबोधक शब्द सब इसी श्रेणी में आते हैं।

(२) **विकारी**:—विकारी शब्द वह होते हैं जिन पर शब्दों के अर्थों का फेर-बदल अपना प्रभाव डालता है और उनके रूपों को कुछ इधर-उधर करके बदल देता है। इनके रूप में विकार उत्पन्न हो जाते हैं इसीलिए यह विकारी कहलाते हैं। संज्ञा सर्वनाम, क्रिया और विशेषण शब्द विकारी होते हैं और इनके रूपों में अन्तर आ जाता है।

नीचे हम विकारी और अविकारी शब्दों के प्रयोगों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे। इस विवेचना को ध्यानपूर्वक पढ़ जाने से विद्यार्थियों को शब्दों के वाक्यों में प्रयोग करने के अन्दर बड़ी सहायता मिलेगी और वह अपनी भाषा को व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों से मुक्त कर सकेंगे।

अविकारी शब्दों का प्रयोग

१६४. क्रियाविशेषण का प्रयोग:—हिन्दी में अव्यय कहलाने वाले शब्द सभी अविकारी होते हैं। क्रियाविशेषण की विशेषता बतलाने वाले अव्यय क्रिया-विशेषण कहलाते हैं। क्रिया के साथ-ही-साथ क्रियाविशेषण, विशेषण और क्रिया-विशेषण की भी विशेषता बतलाते हैं। क्रियाविशेषण, का वर्गीकरण करने के तीन आधार हैं:—प्रयोग रूप, और अर्थ। इन तीनों ही आधारों पर नीचे संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

(१) प्रयोग:—प्रयोग के अनुसार भी क्रियाविशेषण के वैयाकरणों ने तीन भेद किये हैं: — साधारण, संयोजक और अनुबद्ध।

साधारण क्रियाविशेषण का प्रयोग वाक्य से स्वतन्त्र होता है। जैसे:—हाय ! रे ! राम कुए में गिर पड़ा।

संयोजक क्रियाविशेषण का प्रयोग अवधारण के लिए हर एक शब्द के साथ किया जा सकता है। जैसे:—मैंने वह बात सुनी तक नहीं, तुमसे झूठा ही बोलते रहे हैं, मैं तो तब से खाना ही खाता रहा हूँ। मैंने तो गाना ही गाया है।

(२) रूप:—रूप के विचार से भी क्रियाविशेषण के तीन भेद माने गये हैं, मूल, यौगिक और स्थायी।

मूल क्रियाविशेषण का जन्म किन्हीं दूसरे शब्दों से नहीं होता। वह मूलतः ही क्रियाविशेषण के रूप में भाषा के अन्दर आये हैं। जैसे:—दूर, फिर, नहीं, ठीक, अचानक इत्यादि।

यौगिक क्रियाविशेषण वह होते हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में प्रत्यय या अन्य शब्द जोड़ कर बनाया जाता है। यह संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, धातु और क्रिया-विशेषणों से बनाये जाते हैं। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

१६५. संज्ञा से:—आगे, क्रमशः, सवेरे, दिन भर, रात भर, रात तक, प्रेमपूर्वक ध्यानपूर्वक, मानपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, पीछे, दुपहरे, इत्यादि।

सर्वनाम से:—यहाँ, वहाँ, कहाँ, अब, जब, कब, तब, इस लिए, जिस लिए, तिस पर, इस पर, जिस पर, उस पर इत्यादि।

विशेषण से:— इतने में, उतने, में जितने में, कितने में, धीरे, हलके, चुपके, मंदे, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, ऐसे, वैसे इत्यादि।

अव्यय से:—वहाँ तक, कहाँ तक, यहाँ तक, जहाँ तक, कब का, जब का, तब का, अब का, ऊपर की, नीचे की, झट से, खट से, चट से, वहाँ पर, यहाँ पर, कहाँ पर, जहाँ पर, इत्यादि।

धातु से:—आते, जाते, खाते, पीते, रोते, धोते, करते, मरते, भरते, फिरते, बोलते, खोलते, तौलते, डोलते, देखते हुए, खाते हुए, पीते हुए, चाहते हुए, चाहकर, देखकर, फिरकर, बैठे हुए, लेटे हुए इत्यादि।

क्रियाविशेषण से:—यही, अभी, तभी, आते ही, पहले ही इत्यादि।

निम्नलिखित शब्दों के मेल से संयुक्त क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं :—

संज्ञाओं की द्विरुक्ति:—हाथों-हाथ, बातों-बात, लातों-लात, घड़ी-घड़ी, दिन-दिन, रात-रात, इत्यादि।

भिन्न संज्ञाओं की द्विरुक्ति:—दिन-रात, घर-बार, देश-विदेश इत्यादि।

विशेषणों की द्विरुक्ति:—साफ़-साफ़, ठीक-ठीक, एकाएक इत्यादि।

क्रियाविशेषण की द्विरुक्ति:—धीरे-धीरे, हल्के-हल्के, कहते-कहते, सुनते-सुनते, चलते-चलते, करते-करते, जाते-जाते खाते-खाते, बैठते-बैठते इत्यादि।

भिन्न क्रियाविशेषणों की द्विरुक्ति:—यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ, ज्यों-त्यों, जब-तब, अब-कब, कल-परसों, आज-कल, इत्यादि।

समान अथवा असमान क्रियाविशेषणों के बीच में न लगाकर:—कभी-न-कभी, कुछ-न-कुछ, धड़ा-धड़ इत्यादि।

अनुकरणवाचक शब्दों की द्विरुक्ति:—सट-पट, गट-पट, सटा-सट, तड़-तड़, कड़-कड़, धड़ा-धड़, फटा-फट, खटा-खट, पटा-पट चटा-चट इत्यादि।

संज्ञा और विशेषण के मेल से:—एक बार, एक साथ, हर घड़ी, हर दिन, हर रात, हर साल, लगातार इत्यादि।

अव्यय और अन्य शब्दों के मेल से:—यथाक्रम, प्रतिवर्ष, प्रतिदिन, अनजाने, अनदेखे, अनबूझे, इत्यादि।

विशेषण और पूर्वकालिक कृदन्त से:—दो-दो करके, तीन-तीन करके इत्यादि।

नोट:—जो शब्द बिना रूपांतर के क्रियाविशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं वह स्थानीय विशेषण कहलाते है। जैसे:—तुम मेरा साथ खाक दोगे। तुम मेरा साथ क्या दोगे? वह मुझे क्या मारेगा? इत्यादि। यहाँ खाक, क्या इत्यादि के रूप में कोई अन्तर नहीं हुआ। इसलिए यह स्थानीय क्रियाविशेषण हुए।

(३) अर्थ के विचार से वैयाकरणों ने क्रियाविशेषण के चार भेद किये हैं, स्थानवाचक, कालवाचक, परिमाणवाचक और रीतिवाचक।

स्थानवाचक क्रियाविशेषण:—स्थानवाचक क्रियाविशेषण भी दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थितिवाचक और (२) दिशावाचक।

(१) स्थितिवाचक:—यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, तहाँ, आगे, ऊपर, पीछे, तले, नीचे, आगे, सामने, बाहर, भीतर, पास, सर्वत्र, अन्यत्र इत्यादि।

(२) दिशावाचक:—दाहिने, बाएँ, दूर, परे, इधर, उधर, किधर, जिधर, आर-पार, सर्वत्र, इस ओर, उस ओर, किस ओर इत्यादि।

कालवाचक क्रियाविशेषण:—कालवाचक क्रियाविशेषण तीन प्रकार के होते हैं:—(१) समयवाचक (२) अवधिवाचक और (३) पौन पुण्यवाचक।

(१) समयवाचक:—आज, कल, परसों, फिर, तुरन्त, तभी, पहले, इतने में, उतने में, कितने में, जितने में, इत्यादि।

(२) अवधिवाचक:—आज, कल, परसों, तरसों, नित्य, सदा, एकदम, अब भी, जब भी, दिन भर, रात भर, महीने भर, कब का, जब का, अब का, रात भर का,

दिन भर का इत्यादि।

(३) पौन पुण्यवाचक—बार-बार, प्रतिदिन, प्रतिसप्ताह, प्रतिमास, प्रतिवर्ष, हर बार, कई बार इत्यादि।

परिमाणवाचक क्रियाविशेषण:—परिमाणवाचक क्रियाविशेषण अनिश्चित संख्या अथवा परिमाण का बोध कराते हैं। इसके पाँच भेद हैं:—(१) अधिकता-बोधक, (२) न्यूनताबोधक, (३) पर्याप्तवाचक, (४) तुलनावाचक और (५) क्रम-बोधक।

(१) अधिकताबोधक:—भारी, अधिक, बहुत, निरा, पूर्णतया, अतिशय, महा इत्यादि।

(२) न्यूनताबोधक—थोड़ा, लगभग, कुछ, अनुमान, किंचत् इत्यादि।

(३) पर्याप्तवाचक:—चाहे यथेष्ठ, बस, केवल, ठीक, अस्तु, इत्यादि।

तुलनावाचक:—इतना, उतना कितना, जितना. अधिक, थोड़ा, बढ़कर, घटकर, बराबर-बराबर इत्यादि।

(५) क्रमबोधक:—यथाक्रम, बारी-बारी से, थोड़ा-थोड़ा इत्यादि।

रीतिवाचक क्रियाविशेषण:—रीतिवाचक क्रियाविशेषण कितने हैं इनकी गणना करनी कठिन है। इनका प्रयोग (१) प्रकार, (२) निश्चय, (३) अनिश्चय, (४) स्वीकार, (५) कारण, (६) निषेध और (७) अवधारण के अर्थ में होता है।

प्रकार के अर्थ में प्रयोग:—कैसे, वैसे, ऐसे, मानो, यथा, तथा, पैदल, अचानक, यथाशक्ति, रीत्यानुसार इत्यादि।

(२) निश्चय के अर्थ में प्रयोग:—निःसन्देह, यथार्थ में, वस्तुतः, अवश्य, सही-सही, ठीक-ठीक, निश्चित इत्यादि।

(३) अनिश्चय के अर्थ में प्रयोग:—यथासम्भव, कदाचित् इत्यादि।

(४) स्वीकार के अर्थ में प्रयोग:—ठीक, सच, जी, हाँ इत्यादि।

(५) कारण के अर्थ में प्रयोग:—इस लिए, उस लिए, किस लिए, जिस लिए, क्यों, अतः इत्यादि।

(६) निषेध के अर्थ में प्रयोग:—मत, न, नहीं इत्यादि।

(७) अवधारण के अर्थ में प्रयोग:—तक, सा, भर, मात्र, ही, तो इत्यादि।

नोट:—कुछ क्रियाविशेषणों का प्रयोग विशेष और विभिन्न अर्थों में होता है। उनके कुछ प्रमुख उदाहरण और प्रयोगों के प्रकार नीचे दिये जाते हैं।

परसों और कल:—इन दोनों का प्रयोग भूत और भविष्य दोनों में होता है। जैसे:—

(१) भूतः—मैं परसों देहली आया, मैं कल देहली आया।

(२) भविष्यत्:— मैं परसों बम्बई जाऊँगा, मैं कल बम्बई जाऊँगा।

कभी:—कभी का प्रयोग चार अवसरों पर पृथक्-पृथक् रूप से होता है। जैसे:—

(१) अनिश्चित काल में:—हम से कभी सुन लेना, हम से कभी-न-कभी पा ही जाओगे।

(२) निषेधवाचक रूप में—शठों से कभी न बोलना, कड़वा फल कभी न खाना, शत्रु से कभी अचेत न रहना।

(३) क्रमगत काल में:—कभी तुम खाओ और कभी अपने छोटे भाई को खाने दो; कभी तुम आराम करो और कभी अपने छोटे भाई को आराम करने दो।

(४) तिरस्कार अथवा आश्चर्यबोधक:—तुमने कभी सेव जैसा फल खाया है ? तुमने कभी आगरे का ताजमहल देखा है ?

इसलिए:—इसलिए का प्रयोग क्रियाविशेषण और समुच्चयबोधक दोनों ही रूपों में होता है। जैसे:—

(१) क्रियाविशेषण:—वह इसलिए खाता है कि उसे भूख लगी है। वह इसलिए काम करता है कि उसे रुपये की आवश्यकता है।

(२) समुच्चयबोधक:—मैं सो रहा हूँ, इसलिए तुम्हें जागते रहना है। भोजन थोड़ा ही है, तुम खालोगे, इसलिए मैं आज उपवास करूँगा।

कहीं:—कहीं का प्रयोग अत्यन्त, कदाचित् और अनिश्चित तीनों प्रकार से होता है। जैसे:—

(१) अत्यन्त के रूप में:—वह मुझ से कहीं अधिक स्वस्थ है; मैं उस से कहीं अधिक विद्वान हूँ; मेरे पिताजी मुझ से कहीं अधिक दयालु हैं।

(२) कदाचित् के रूप में:—कहीं बिल्ली ही इस खाने को न खा गई हो; कहीं तुमने ही वह झूठ बोलकर तमाम काम न बिगाड़ दिया हो।

(३) अनिश्चय के रूप में:—कहीं जा रहे हो ! कहीं बैठ जाओ तुम; कहीं कुछ कर भी सकोगे तुम, मुझे सन्देह है।

न, नहीं और मत—न, नहीं और मत के प्रयोगों में अन्तर है। इनका एक ही रूप में प्रयोग करके लेखक साधारणतः भूल करते हैं।

न:—स्वतन्त्र शब्द है। इसलिए न का प्रयोग शब्द और प्रत्यय के बीच में कभी नहीं करना चाहिए। न का प्रयोग दो अथवा दो से अधिक में निषेध प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। जैसे:—राम ने न आम, न संतरा, न गुलाबजामुन, न पेड़ा, कुछ भी तो नहीं खाया। साधारण विधि से मत के लिये भी न का प्रयोग होता है। जैसे—तुम इस घर में न रहना। तुम स्टेशन न जाना इत्यादि। न प्रश्नवाचक अव्यय भी है। जैसे—खाना खाओगे न ? पानी पीना है न ? न-न समुच्चयबोधक भी है। जैसे—न उन्होंने खाना खाया न पानी पिया।

नहीं—जहाँ न से केवल निषेध का बोध होता है वहाँ नहीं में निश्चयवाचक बलवती ध्वनि आ जाती है। जैसे—वह न आया, वह नहीं आया। वह न खायगा, वह नहीं खायगा इत्यादि। साधारण रूप से नहीं के प्रयोग की परिभाषा यह ठहरती है कि नहीं का प्रयोग सामान्य वर्तमान, तात्कालिक वर्तमान, आसन्न भूत तथा किसी

प्रश्न के उत्तर में होता है।

(१) सामान्य वर्तमान:—मैं नहीं खाता।

(२) तात्कालिक वर्तमान:—मैं नहीं खा रहा।

(३) आसन्न भूत:– आज मैंने खाना नहीं खाया।

(४) किसी प्रश्न के उत्तर में:–राम आया था? उत्तर:—नहीं।

मत—मत का प्रयोग केवल विधि मेंहोता है। जैसे:—तुम मत खाना। तुम आज संध्या को स्टेशन पर मत जाना।

बहुधा और प्राय:—बहुधा और प्राय: का प्रयोग बड़े विस्तार वाले सर्वव्यापक विधानों को सीमित करने के अभिप्राय से होता है। प्राय: की अपेक्षा बहुधा का प्रयोग अधिक सीमित क्षेत्र में किया जाता है। जैसे:—वह बहुधा यहाँ आते हैं; वह प्राय: यहाँ आते हैं।

तो—यह शब्द 'निश्चय और आग्रह' का सूचक है। इसका प्रयोग प्रत्येक शब्द के साथ किया जा सकता है। जैसे:– पिता तो अपने बच्चों का पालन करेगा ही:—यह निश्चय के अर्थ में प्रयोग हुआ। आप तो खाना खाइये—यहाँ आग्रह के रूप में प्रयोग हुआ। जहाँ तो का प्रयोग भी या नहीं के साथ होता है वहाँ यह संयुक्त अक्षर के रूप में समुच्चयबोधक होता है। जैसे—तुम न चलोगे तो भी मैं चलूँगा। मैं तो नहीं जाऊँगा।

भर:—यह प्राकार—विशेषण के रूप में परिमाणवाचक संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—दो मुट्ठी भर दाना, चार चौंच भर पानी। भर का प्रयोग सब के लिए भी होता है। घरभर में रोशनी हो रही है। राज्यभर में प्रसन्नता की लहर दौड़ रही है।

मात्र—संज्ञा और विशेषण के साथ मात्र 'ही' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—चोरी होने पर केवल उसके वस्त्र-मात्र बचे थे। मात्र का प्रयोग कभी-कभी मात्र के अर्थ में भी होता जैसे—भारतवासी-मात्र महात्मा गाँधी जी के ऋणी हैं।

नोट—जिस प्रकार के शब्दों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उसी प्रकार के भाषा के अन्य अनेकों शब्द हैं जिनका प्रयोग करना लेखक का कार्य है और वह कभी कभी शब्दों का प्रयोग अपनी मर्ती के अनुकूल भी कर सकता है। परन्तु प्रारम्भ में विद्यार्थियों को ऐसा करने से सतर्क रहना चाहिए और इसीलिए शब्दों के प्रयोगों की ओर ध्यान देना उनके लिए नितान्त आवश्यक है।

सम्बन्धवाचक अव्यय:—सम्बन्धवाचक अव्यय वाक्य में प्रयुक्त संज्ञा अथवा सर्वनाम का सम्बन्ध किसी अन्य उसी वाक्य के शब्द से स्थापित करता है। जैसे:—खाना चौके में रखा है। फूलदाल कानस पर रखा है। यहाँ में और पर से खाने और चौके तथा फूलदान और कानस का सम्बन्ध सूचित होता है।

सम्बन्धसूचक अव्यय दो प्रकार के होते हैं—१. असम्बद्ध और २. अनुबद्ध।

असम्बद्ध सूचक:—विभक्तियों के आगे होता है। जैसे—खाने के बिना; पानी

के बिना; मूर्ख की तरह, गधे की तरह।

अनुबद्ध सम्बन्धसूचक :—इनका प्रयोग संज्ञा के विकृत रूपों के साथ किया जाता है। जैसे—स्त्री समेत, दिल्ली तक, गंगा के किनारे तक इत्यादि।

व्युत्पत्ति के विचार से सम्बन्धसूचक अव्यय दो प्रकार के होते हैं :—१. मूल तथा २. यौगिक। मूल सम्बन्धसूचक अव्यय स्वतन्त्र होते हैं और यौगिक शब्द भेदों से मिलकर बनते हैं।

मूल :—पूर्वक, नाईं, बिना, पर्यन्त इत्यादि।

यौगिक :—(संज्ञा से बने अपेक्षा, नाम विषय इत्यादि।

(विशेषण से) समान तुल्य, सरीखा, उलटा, योग्य, जैसा इत्यादि।

(क्रिया से) मारे, करके, लिए इत्यादि।

१६६. सम्बन्धसूचक अव्ययों के प्रयोगों के साधारण नियम—

(१) सम्बद्ध सम्बन्धसूचक अव्ययों से पूर्व के विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे:—कुछ व्यक्ति खाने के लिए जीते हैं और कुछ जीने के लिए खाते हैं।

(२) कभी-कभी बिना, तले, आगे, पीछे इत्यादि सम्बन्धसूचक बिना विभक्ति के भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे :—बैठक के आगे झाड़ू लग रही है। दिया-तले अँधेरा हो रहा है। पीठ-पीछे झूठ बोलना बुरी बात है। मेरे बिना यह कार्य कोई नहीं कर सकता।

(३) कुछ सम्बन्धसूचक अव्ययों से पूर्व विभक्ति न आने से उनके अर्थ में बहुधा अन्तर पड़ जाता है। जैसा, ऐसा और सा का प्रयोग देखिये—

जैसा :—राम-जैसा व्यक्ति; राम के जैसा व्यक्ति।

ऐसा :—घर ऐसा खाना; घर के ऐसा खाना।

सा :—घोड़े-सा दिलेर जानवर; घोड़े के जैसा दिलेर जानवर।

नोट :—इन तीनों प्रयोगों में राम जैसा, घर ऐसा और घोड़े-सा से एकार्थ का बोध होता है और दूसरे तीनों अर्थों में भिन्नार्थ का अर्थ होता है।

(४) कुछ विशेषण शब्द सम्बन्धसूचक अव्ययों के स्थान पर प्रयुक्त होकर भी संज्ञा की विशेषता ही बतलाते हैं। जैसे :—समान, तुल्य, सरीखे, योग्य, सदृश को देखिये—

समान—क्या तुम मुझे पुत्र के समान नहीं मानते ?

तुल्य :—तुम मेरे पुत्र के तुल्य हो।

सरीखे :—(सरीखे शब्द से पूर्व अधिकतर विभक्ति का प्रयोग नहीं होता) राम (के) सरीखे व्यक्ति को मैंने जीवन में नहीं देखा।

योग्य :—वह पुस्तक राम के योग्य है।

सदृश :—क्या तुम्हारी गति इस समय चींटी के सदृश नहीं है ?

(५) अपेक्षा सम्बन्धसूचक अव्यय संस्कृत संज्ञा है और इस संज्ञा से पूर्व 'की' का प्रयोग होता है। जैसे:—राम की अपेक्षा, कृष्ण की अपेक्षा, भगवान् बुद्ध की अपेक्षा

इत्यादि ।

(६) 'करके' सम्बन्धसूचक अव्यय का प्रयोग कभी-कभी 'समान' के रूप में भी होता है । जैसे :—

समान के अर्थ में—वह पण्डित जी ही करके प्रसिद्ध है । वह शर्मा जी करके ही वहाँ पुकारे जाते हैं ।

१६७. समुच्चयबोधक अव्यय :—समुच्चयबोधक अव्ययशब्दों, शब्द-समूहों और वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं । समुच्चयबोधक अव्यय दो प्रकार के होते हैं :—१ समानाधिकरण और २. व्याधिकरण ।

समानाधिकरण :—समानाधिकरण समुच्चयबोधक अव्यय वह होते हैं जिन शब्दों द्वारा मुख्य वाक्यों को जोड़ा जाता है । इनके चार उपभेद भी होते हैं— १. संयोजक, २. विभाजक, ३. विरोध-दर्शक, ४. परिणाम दर्शक ।

संयोजक—और, व, एवं, तथा, भी इत्यादि ।

विभाजक—अथवा, या, वा, किंवा, कि, या-या, चाहे-चाहे, न-न, न-कि इत्यादि ।

विरोध-दर्शक :—पर, परन्तु, किन्तु, लेकिन, मगर, बल्कि, वरन्, अन्य इत्यादि ।

परिणाम-दर्शक :—फलतः, अतएव, अतः, सो, इसलिए इत्यादि ।

उक्त समुच्चयबोधक अव्ययों का साधारण ज्ञान नीचे दिया जाता है—

१. और, व, तथा, और एव :—यह सभी पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु वह का शिष्ट हिन्दी में कम प्रयोग मिलता है । यह उर्दू का शब्द है ।

२. भी: —भी का प्रयोग पूर्वकथित बात से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किया जाता है । जैसे:—जो तुमने किया वही मैं भी करूँगा ।

दो वाक्यों के बीच में और आजाने पर भी केवल साधारण अर्थ देता है । जैसे—मैंने आज खाना बनाया और खाया भी ।

भी कुछ स्थानों पर अवधारणबोधक अव्यय के समान भी प्रयुक्त होता है । जैसे :—कल लड़ाई में एक भी व्यक्ति घायल तक नहीं हुआ ।

भी का प्रयोग आश्चर्य और संकेत के प्रकट करने के लिए भी किया जाता है । जैसे: —साधु भी कहीं पत्थर-दिल हो सकता है !

कभी-कभी भी आग्रहसूचक प्रयोग भी प्रदर्शित करता है । जैसे—अजी खाइये भी, जाना-आना तो लगा ही रहता है ।

३. वा, या, अथवा, किंवा :—वा, या, अथवा, किंवा इत्यादि साधारणतया देखने में पर्यायवाची प्रतीत होते हैं और साधारण अर्थों में भी या उर्दू का शब्द है और शेष तीनों की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा से है । द्विरुक्ति के निवारणार्थ कभी-कभी वा, अथवा का एक साथ प्रयोग भी किया जाता है । जैसे—कोई मास्टर अथवा हैड मास्टर वा उनका कोई प्रतिनिधि डिप्टी साहेब के पास तक नहीं पहुँच सका ।

४. कि:—कि का प्रयोग बहुधा कविता में होता है ।

५. या-याः—या-या का प्रयोग दोनों या के साथ ही हो सकता है। जैसे—या तो मैं खाना खाकर उठूँगा या यहीं प्राण दे दूँगा।

६. क्या-क्याः—क्या-क्या भी जोड़े के साथ आकर समुच्चयबोधक अव्यय बन जाते हैं। जैसेः—क्या तुम और क्या मैं सबको सच बोलना चाहिए।

७. न-नः—न-न समुच्चयबोधक के रूप में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—न मैं खाना खा सकता हूँ, न पानी पी सकता हूँ।

इससे आवश्यकता का बोध होता है। जैसे—न मैं खाना ही खा सकूँगा, न पानी ही पी सकूँगा, काम ही इतना अधिक है।

कभी न-न से कार्य-कारण भी सूचित होता है। जैसे—न तुम आते और न मुझे चलना होता।

८. नकिः—यह संयुक्त अव्यय न और कि से मिलकर बनता है। यह दो बातों का प्राथम्य प्रदर्शित करता है। जैसे—तुम्हें यह कार्य करना है, न कि वह।

९. नहीं तोः—'नहीं तो' संयुक्त क्रिया विशेषण है। इसका प्रयोग समुच्चय-बोधक अव्यय के रूप में भी किया जाता है। जैसेः—मनुष्य को चाहिए कि वह नेक कर्म करता रहे नहीं तो उसे नर्क का अधिकारी होना पड़ेगा।

१०. पर, परन्तु, लेकिन, मगर, वरन्, किन्तुः—ये साधारण अर्थों में पर्याय-वाची शब्द हैं। इनमें मगर उर्दू का शब्द है और पर हिन्दी का। शेष सभी संस्कृत से सीधे लिये गये हैं।

वरन्ः—एक बात को दबाकर दूसरे को प्रधानता देने के लिए प्रयोग में आता है। वरंच और बल्कि इसके पर्यायवाची हैं। किन्तु और वरन् का निषेधवाचक वाक्यों के पश्चात् प्रयोग किया जाता है। जैसे—पाश्चात्य सभ्यता को कुछ व्यक्ति उन्नति का प्रतीक मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना भारतीय हितों का घातक है।

इसलिए, अतः, सो, अतएवः—साधारण अर्थों में ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं। यह अव्यय बतलाते हैं कि इनसे आगे आने वाला वाक्य पिछले वाक्य का परिणाम है, फल है।

इसलिएः—मैं भोजन कर चुका, इसलिए अब स्वस्थ हूँ।

अतः—वह मर गया, अतः अब उसके शव को जला दिया जायगा।

सोः—वह किसी काम का नहीं है, सो उसे साथ रखना व्यर्थ है।

अतएवः—आप समर्थ हैं अतएव आपका कार्य सर्वथा सिद्ध होगा।

नोट १ः—इसलिए के स्थान पर इस कारण, इससे, इस वास्ते इत्यादि का भी प्रयोग होता है।

२. सः का कभी-कभी अर्थ तब और परन्तु भी होता है।

१४८. व्याधिकरण समुच्चयबोधक अव्ययः—व्याधिकरण समुच्चयबोधक अव्यय वह होता है जो मुख्य वाक्य में एक या अधिक वाक्यों का मेल करता है, उन्हें जोड़ता

है। इसके चार प्रधान भेद हैं—१. कारणवाचक, २. उद्देश्यवाचक, ३. संकेतवाचक और ४. स्वरूपवाचक।

१. कारणवाचकः—(क्योंकि, जोकि, इसलिए, कि) जो वाक्य कारणवाचक अव्ययों से प्रारम्भ होते हैं वह अपने पूर्व वाक्य का समर्थन नहीं करते। जैसे—मैं खाना खा रहा हूँ, क्योंकि मुझे बहुत देर से भूख लगी हुई थी।

इसलिए:—इसलिए और कि साथ-साथ भी प्रयोग में आते हैं और पृथक्-पृथक् भी। जैसे—मैं श्री स्वामी जी के पास जाऊँगा इसलिए कि मुझे उनसे कुछ आदेश लेना है। मैं तुम्हारे साथ इसलिए रहता हूँ कि तुम एक भले आदमी हो।

जो कि:—इस अव्यय का प्रयोग अधिकतर कानूनी भाषा में किया जाता है।

२. उद्देश्यवाचकः—(जो, कि, ताकि, इसलिए कि) यह सभी अव्यय समानार्थी में होने के कारण पर्यायवाची हैं। जो वाक्य उद्देश्यवाचक से प्रारम्भ होते हैं वह अपने पूर्व वाक्य के उद्देश्य अथवा हेतु का समर्थन करता है। जैसे:—

जो:—उसने वह फल पाया जो उसका था।

कि:—मैंने उसे इसलिए पीटा कि उसे पिटकर अक्ल आए।

ताकि:—उसे घर में बन्द कर दिया गया ताकि वह घर से भागकर बाहर दंगे में भाग न लेने लगे।

इसलिए कि:—उनके साथ अच्छा व्यवहार किया गया इसलिए कि वह भी हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें।

साधारणतया उद्देश्यवाचक वाक्य पहले वाक्य के पश्चात् आता है परन्तु कभी-कभी वह पूर्व भी रखा जाता है। जैसे:—हम तुम्हें सहारनपुर भेजना चाहते हैं ताकि तुम वहाँ के अच्छे चावल अपनी आँख से देखकर खरीद सको।

नोट:—'जो' के स्थान पर जिससे अथवा जिसमें भी प्रयुक्त होता है।

३. संकेतवाचकः—(जो, तो, यदि, सो, यद्यपि, तथापि, चाहे, परन्तु, कि) यह सब संकेतवाचक अव्यय हैं। इन अव्ययों में कि के अतिरिक्त शेष सभी अव्ययों का प्रयोग दो-दो का एक साथ मिलकर जोड़े से होता है। इन अव्ययों से जुड़ने वाले वाक्यों में एक में जो, यद्यपि और चाहे आता है और दूसरे वाक्य में क्रमशः तो, तथापि, या परन्तु आता है। जो, यद्यपि और चाहे वाला वाक्य पूर्ववाक्य कहलाता है और तो, तथापि तथा परन्तु वाला वाक्य उत्तरवाक्य। संकेतवाचक अव्यय इसे इसलिए कहा जाता है कि पूर्ववाक्य में दूसरे वाक्य की घटना का संकेत पाया जाता है।

जो-तो:—जो आपने मेरा साथ दिया तो मैं भी आपको दिखला दूँगा कि मैं क्या हूँ?

यदि-तो:—यदि आपने यह कार्य कर दिया तो आप जानेंगे कि इसका क्या महत्त्व है?

यद्यपि-तथापि:—यद्यपि वह इस योग्य नहीं है तथापि उसे हम योग्य बनाया

जा सकता है, यह मेरा विश्वास है।

चाहे-परन्तु :—चाहे आपकी इच्छा हो या न हो परन्तु आपको यह कार्य मेरे आदेशानुसार करना ही होगा।

नोट (१) :—जो का प्रयोग साधारण भाषा में होता है और यदि का शिष्ट भाषा में।

(२) कभी-कभी यदि के लिए कदाचित् का भी प्रयोग किया जाता है।

(३) यद्यपि और तथापि का प्रयोग जिन वाक्यों में होता है उनके निश्चयात्मक विधानों में विरोध रहता है। जैसे—यद्यपि मैं आज तमाम दिन के अनर्थक परिश्रम से बहुत थक गया हूँ तथापि मैं आपका हर कार्य में साथ दूँगा।

(४) यद्यपि के स्थान पर कभी-कभी चाहे का भी प्रयोग किया जाता है। चाहे सम्बन्धवाचक सर्वनाम, विशेषण और क्रियाविशेषण के साथ प्रयुक्त होने पर उनकी विशेषता का बोध कराता है। साथ ही प्रयोगानुसार यह क्रियाविशेषण भी रहता है। जैसे :—चाहे जितना भी क्यों न रटो परन्तु रटा हुआ पाठ बिना समझे याद नहीं रहता। चाहे का प्रयोग जब संकेतवाचक अव्यय के लिए होता है तब इसका अर्थ ज्योंही होता है।

४. स्वरूपवाचक :—(कि, जो, अर्थात्, याने, मानो) यह सभी स्वरूपवाचक अव्यय हैं। कि इत्यादि अव्यय केवल प्रयोग के अनुसार ही कारणवाचक, उद्देश्यवाचक, संकेतवाचक और स्वरूपवाचक होते हैं। मुख्य वाक्य में ऐसा, इतना, यहाँ तक, अथवा इत्यादि विशेषण होते हैं और उसका स्वरूप प्रकट करने को कि लिखकर आश्रित वाक्य को रखा जाता है जिससे कि उसका स्वरूप प्रकट हो। जैसे :—मैंने इतना खाया कि पेट फटने लगा।

यहाँ तक :—इतना लिखा, यहाँ तक कि उँगलियाँ चूर-चूर हो गईं।

अर्थात्, याने, मानो :—यह तीनों शब्द समानार्थी हैं। जब किसी शब्द या वाक्य का अर्थ भ्रामक रह जाता है तो इनकी सहायता से उन्हें और स्पष्ट किया जाता है। जैसे:—वह मूर्ख है, वह कुछ नहीं समझता; तुम इस सवाल को हल नहीं कर सकोगे याने तुम इसे समझ नहीं सकोगे, तुम इस तरह बनकर बातें कर रहे हो मानो कुछ जानते ही नहीं।

१६६. विस्मयादिबोधक अव्यय :—विस्मयादिबोधक अव्ययों का सम्बन्ध वाक्य से नहीं रहता। यह वक्ता के मन में उठने वाले शोक, हर्ष इत्यादि को प्रकट करते हैं। वाक्य में जहाँ पर मुख्यार्थ की अपेक्षा अधिक बल देने की आवश्यकता होती है वहाँ पर उस अव्यय का प्रयोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न विस्मयादिबोधक अव्यय भिन्न-भिन्न मनोविकारों के द्योतक होते हैं। हिन्दी में निम्नलिखित विस्मयादिबोधक अव्यय प्रयोग में आते हैं :—

(१) हर्षसूचक :—आहा ! वाह ! धन्य-धन्य ! शाबाश !

(२) शोकसूचक :—हाय-हाय-हाय ! आह ! हा राम ! हा दैव ! हा भाग्य !

अरे ! अरे बाप रे ! हा विधाता ! हा भगवान् ! राम-राम !

(३) आश्चर्यसूचक :—ओहो ! हैं ! क्या ! अरे ! ओहो, यह बात ! अच्छा जी ! वाह जी !

(४) अनुमोदसूचक—ठीक ! अच्छा ! हाँ हाँ ! क्यों नहीं ! अवश्य !

(५) तिरस्कारबोधक—छि: ! हट ! धिक ! चुप ! बस !

(६) स्वीकारबोधक—अच्छा ! ठीक ! हाँ !

(७) सम्बोधनसूचक—हे ! अरे ! अजी ! क्योंजी ! हो !

१७०. कृदन्त अव्यय—अव्यय अविकारी कृदन्त को कहते हैं। इनका प्रयोग क्रियाविशेषण और सम्बन्धसूचक के समान होता है। कृदन्त अव्यय चार प्रकार के होते हैं—१. पूर्वकालिक कृदन्त, २. वर्तमानकालिक कृदन्त, ३. अपूर्ण क्रियाद्योतक, और ४. पूर्ण क्रियाद्योतक।

(१) पूर्वकालिक अव्यय—पूर्वकालिक कृदन्त अव्यय से उस व्यापार का बोध होता है जो मुख्य क्रिया से पूर्व समाप्त हो गया हो। इसके अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रिया निम्नलिखित अर्थों का भी बोध कराती है :—

कार्य-कारण—वह इतना गिर गया कि कोई टके का चार भी नहीं पूछता।

रीति—वह ठूँसकर खाता है।

द्वारा—जुआ खेल कर बर्बाद होना।

विरोध—तुम आर्य होकर संस्कृत से अनभिज्ञ हो।

(२) वर्तमान कृदन्त अव्यय—वर्तमानकालिक कृदन्त अव्यय बनाने के लिए वर्तमानकालिक कृदन्त के ता को त करके उसके आगे ही जोड़ दिया जाता है। जैसे :— जाते ही, खाते ही, गाते ही, पीते ही, सोते ही, रोते ही, धोते ही इत्यादि। मुख्य क्रिया के साथ होने वाले व्यापार के समाप्त होने का इससे बोध होता है। जैसे :—उसने खाना खाते ही पलँग पर पसरना प्रारम्भ कर दिया।

(३) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त अव्यय—अपूर्ण क्रियाद्योतक अव्यय भी तात्कालिक कृदन्त अव्यय के समान केवल ता को ते करने से बन जाता है। जैसे :—सोता से सोते, रोता से रोते, होता से होते, खोता से खोते, धोता से धोते इत्यादि। यह मुख्य क्रिया के साथ होने वाले कार्य की अपूर्णता का संकेत करता है। जैसे :—मुझे सोते-सोते रात हो गई, मुझे गप्पें लगाते-लगाते रात बीत गई इत्यादि।

(४) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त अव्यय—पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त अव्यय बनाने के लिये भूतकालिक कृदन्त विशेषण के अन्त्य आ का ए करने से बनता है। इस कृदन्त से मुख्य क्रिया के साथ सम्बन्धित व्यापार की समाप्ति का बोध होता है। जैसे :—तुम दिन बीते पर चले हो।

विकारी शब्दों का प्रयोग

१७१. ऊपर हम अविकारी शब्दों के प्रयोगों के विषय में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर चुके हैं। नीचे विकारी शब्दों के प्रयोगों पर प्रकाश डाला जायगा।

संज्ञा का प्रयोग—संज्ञा किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के नाम को व्याकरण द्वारा दिया गया नाम है। हिन्दी वैयाकरणों ने संज्ञा के तीन भेद किये हैं :—१. जातिवाचक संज्ञा, २. व्यक्तिवाचक संज्ञा, और ३. भाववाचक संज्ञा। इनके संक्षेप मे नाम हम पीछे भी गिना चुके हैं। निबन्ध-लेखन में विद्यार्थियों के लिए कुछ लाभदायक प्रयोगों पर नीचे संकेत किया जाता है :—

(१) जातिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के रूप में—जैसे :—देवी कहने से एकदम दुर्गा भवानी का रूप ही सामने आता है। इसी प्रकार कुछ शब्द कुछ व्यक्ति विशेषों के लिये रूढ़ि हो गये हैं। पुरी शब्द सभी पुरों के लिए प्रयुक्त हो सकता है परन्तु पुरी का निर्देश होने से एकदम जगन्नाथपुरी का भान हो आता है।

(२) भाववाचक संज्ञा का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा के रूप में—यह बहुत सुन्दर खाने हैं; यह बहुत सुन्दर गाने हैं, आपकी बड़ी कृपाएँ हैं।

(३) व्यक्तिवाचक संज्ञा का जातिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग—गांधी अपने समय का कृष्ण था।

नोट—भाववाचक और व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ बहुवचन में प्रयुक्त नहीं होतीं। जब उनका प्रयोग बहुवचन में किया जाता है तो वह जातिवाचक संज्ञाएँ बन जाती है। जैसे :—आशाएँ, अभिलाषाएँ इत्यादि।

(४) क्रियाविशेषण का प्रयोग संज्ञा के रूप में—अच्छे व्यक्ति का अन्दर बाहर एक सा होता है।

(५) क्रियाविशेषण का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा के रूप में—आप गरीबों की सदा सहायता करते रहिये।

(६) विस्मयादिबोधक अव्यय का संज्ञा के रूप में प्रयोग—आप लोगों ने यह पर क्या हाय-हाय मचा रखी है?

सर्वनाम का प्रयोग—हिन्दी व्याकरण में सर्वनाम छः प्रकार के होते हैं :—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, सम्बन्धसूचक और प्रश्नवाचक। इनका प्रयोग संज्ञा के स्थान पर होता है।

(१) पुरुषवाचक सर्वनाम—(यह पुरुषों के नाम के स्थान पर आते हैं। उत्तम पुरुष, मध्य पुरुष और अन्य पुरुष। यह तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम पुरुष में लेखक और वक्ता आते हैं, मध्यम पुरुष में पाठक और श्रोता आते हैं तथा अन्य पुरुष में लेखक और वक्ता के अतिरिक्त सब आते हैं।) उत्तम पुरुष—मैं। मध्यम पुरुष—तुम और आप। अन्य पुरुष—वह, वे इत्यादि।

(२) निजवाचक सर्वनाम—आप निजवाचक सर्वनाम है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह आप पुरुषवाचक आप से भिन्न है। निजवाचक सर्वनाम आप दोनों वचनों में एक ही रूप से आता है और पुरुषवाचक आप एक का वाचक होकर भी बहुवचन में प्रयुक्त होता है। पुरुषवाचक आप मध्यम और अन्य पुरुष में ही प्रयुक्त होता है और निजवाचक आप का प्रयोग तीनों पुरुषों में होता है।

(३) *निश्चयवाचक सर्वनाम*—निश्चयवाचक सर्वनामों से वक्ता अथवा लेखक के पास अथवा दूर की निश्चयवाचक वस्तु का बोध होता है। वह, यह, सो सभी निश्चयवाचक सर्वनाम है।

(४) अनिश्चयवाचक सर्वनाम— अनिश्चयवाचक सर्वनामो से किसी भी वस्तु का निश्चय ज्ञान नही होता। कोई और कुछ अनिश्चयवाचक सर्वनाम है।

(५) सम्बन्धवाचक सर्वनाम— सम्बन्धवाचक सर्वनाम वाक्य में एक सर्वनाम का सम्बन्ध दूसरे सर्वनाम से स्थापित करते हैं। जो सम्बन्धवाचक सर्वनाम है और इसी के साथ सो तथा वह भी आते है। सो और वह निश्चयवाचक सर्वनाम है परन्तु सम्बन्धवाचक सर्वनाम के साथ प्रयुक्त होकर यह नित्य सम्बन्धी सर्वनाम कहे जाते हैं। जैसे :—जो कार्य मैंने किया सो कोई नही कर सकता।

(६) प्रश्नवाचक सर्वनाम—प्रश्नवाचक सर्वनामो का प्रयोग प्रश्न करने के लिए किया जाता है। क्या और कौन प्रश्नवाचक सर्वनाम है।

हिन्दी मे सर्वनाम कुल ११ हैं—मैं, तुम, आप, यह, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या। विद्यार्थियो को इनके शुद्ध प्रयोग में सहायता मिल सके इसलिए कुछ संकेत नीचे दिये जाते हैं :—

(१) अपने सम्बन्ध में मैं, मुझे, हम, हमें इत्यादि सर्वनाम प्रयोग मे आते है। हम का प्रयोग जब बहुवचन मे करना होता है तो हम के साथ सब या लोग शब्दों को जोड़ दिया जाता है। जैसे :—हम सब वहाँ जा रहे हैं, हम लोग वहाँ जा रहे है।

(२) पाठक अथवा श्रोता के लिए लेखक अथवा वक्ता तू, तुम, आप का प्रयोग करता है। तू का प्रयोग या तो बहुत बड़े के लिए होता है या बहुत निकृष्ट व्यक्ति के लिए।

बड़े के लिए—गाधी ! तू धन्य है जो तूने भारत को स्वतन्त्र करा दिया। हे राम ! अब तू ही मेरा एक मात्र सबल है।

निरादरसूचक—रामू ! तू इतना गधा है कि कोई कार्य ठीक नही कर सकता। साधारण प्रयोगों में भी हिन्दी मे एकवचन के अन्दर तुम का ही प्रयोग किया जाता है। बड़ों के लिए तुम के स्थान पर आप शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि वह एक ही लेख में एक ही व्यक्ति के लिए एक ही प्रकार के सर्वनाम का प्रयोग करे। कही किसी व्यक्ति के लिए तुम और कही आप लिखने से असम्बद्धता प्रकट होती है और यह लेखक के विचारों की अनिश्चितता की द्योतक है।

(३) निजवाचक आप का प्रयोग किसी संज्ञा या सर्वनाम के आधार और दूसरे व्यक्ति के निराकरण के लिए होता है। यहाँ आपका अर्थ स्वयं होता है। जैसे—मैं आप वही कार्य कर रहा हूँ जो आप कहते है। अर्थात् मै स्वयं वही कार्य कर रहा हूँ जो आप कहते है। आप का प्रयोग सर्वसाधारण के अर्थ में भी होता है। जैसे :—आप क्यों इकट्ठे हुए बैठे हैं ?

(४) वह का प्रयोग दो प्रकार से होता है—(१) पृथक् प्रयोग दूर की वस्तुओं के लिए होता है। जैसे :—वह बहुत ऊँचे स्थान पर रखी है। वह कलकत्ते में देखा होगा आपने। (२) दो कथित वस्तुओं में से प्रथम के लिए संकेत। जैसे :—उन दोनों कहानियों में से वह तुम्हारी है।

(५) यह का प्रयोग तीन प्रकार से होता है।—(१) पास की वस्तु के लिए। जैसे :—यह सब कुछ मैं ही तो कर रहा हूँ। यह मेरा घर है। (२) पहले कही हुई वस्तु के लिए। जैसे :—कल आपने यह कहा था ·····। (३) आने वाली वस्तु के लिए। जैसे :—कल आपको यह करना होगा।

(६) सो का प्रयोग जो सम्बन्धसूचक सर्वनाम के साथ होता है। जैसा संज्ञा का वचन होता है उसके अनुसार इसका प्रयोग भी वह या वे के अर्थों में होने लगता है। साधुओं और कम पढ़े लिखों की भाषा में इसका प्रयोग बाहुल्य के साथ मिलता है।

(७) कोई अज्ञात व्यक्तियों के लिए प्रयोग में आता है। जैसे :—इस कार्य को और कोई कर ही लेगा। कोई का दूसरा प्रयोग निषेधवाचक वाक्य में होता है। वहाँ इसका प्रयोग सब के अर्थ में होता है। जैसे :—इस कार्य को कोई नहीं कर सकता। कोई का तीसरा प्रयोग आदर और आधिक्य के लिए भी होता है। जैसे :—इस कार्य को कोई-कोई ही कर सकता है। कोई तो इस कार्य को कर सकेगा। कोई न कोई इस कार्य को अवश्य कर सकेगा। यह तीनों ही प्रयोग कोई के विभिन्न अर्थों के सूचक हैं।

(८) कुछ का प्रयोग विशेषण की तरह होता है, इसका रूपान्तर नहीं होता। समान प्रयोग में इसका अर्थ कभी अथवा पदार्थ और विभिन्न तथा अवधारण के लिए किया जाता है। जैसे :—पानी में कुछ मिला हुआ है। तुम कुछ-का-कुछ समझ गये।

(९) निर्धारण के अर्थ में कौन कभी, प्राणी और पदार्थ तीनों के लिए आता है। कौन का प्रयोग आश्चर्य तथा तिरस्कार के लिए भी होता है। जैसे :—कौन मेरे कार्य में कंटक बन सकता है? तुम कौन होते हो मुझे कुछ कहने वाले?

(१०) क्या किसी वस्तु के प्रति अनादर या तिरस्कार सूचित करने के लिए उस वस्तु का लक्षण जानने के लिए, आश्चर्य प्रकट करने के लिए, किसी वस्तु की स्थिति का ज्ञान कराने के लिए या प्रश्न के लिए प्रयोग में लाया जाता है। जैसे—मनुष्य क्या है? हम आपके साथ जाकर क्या करेंगे? क्या सच! तुम हमारा क्या कर सकते हो? हम क्या-से-क्या बन गये? क्या तुम वास्तव में आज जा रहे हो?

(११) निजवाचक, पुरुषवाचक और अनिश्चयवाचक सर्वनामों के अवधारण के लिए ही या ई जोड़ दिया जाता है। जैसे:—मैं ही, तुम्हीं, आप ही, वही, यही, वे ही, ये ही इत्यादि।

(१२) अव्यय अनिश्चयवाचक सर्वनामों में भी जोड़ा जाता है। जैसे—कोई भी, कुछ भी।

१७२. विशेषण का प्रयोग—विशेषण के भेद और उपभेदों तथा उनके प्रकारों

के विषय में पीछे संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। वाक्य-रचना करते समय उसके अन्दर विशेषण का प्रयोग संज्ञा और क्रिया के साथ होता है। इनमें पहला विशेष्य विशेषण और दूसरा विधेय विशेषण कहलाता है। विशेष्य-विशेषण विशेष्य के साथ रहता है और उसकी स्थिति विशेष्य से पूर्व रहती है। विधेय-विशेषण का प्रयोग क्रिया के साथ होता है।

विद्यार्थियों को विशेषण का प्रयोग निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर करने से सुविधा रहेगी :—

(१) लेखक को ध्यान रहना चाहिए कि वह विशेषण के स्थान पर विशेष्य और विशेष्य के स्थान पर विशेषण का प्रयोग न कर जाये। जैसे:—वह आनन्द हो गया प्रयोग न करके वह आनन्दित हो गया ही कहना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार वह क्रोध हो गया के स्थान पर वह क्रोधित हो गया लिखा जायगा।

(२) जहाँ बहुत-सी संख्या या मात्रा का प्रयोग करना हो वहाँ या तो विशेषण को ही बहुत के अर्थ में प्रयोग करना चाहिए या विशेष्य को, दोनों को नहीं करना चाहिए। जैसे:—पक्षीगण या बहुसंख्यक पक्षी के स्थान पर बहुसंख्यक पक्षिगण लिखना अशुद्ध है। इसी प्रकार लिखा जाता है कि, वहाँ पर असंख्य घोड़ा इकट्ठा था, वहाँ असंख्य घोड़े इकट्ठे थे लिखने की आवश्यकता नहीं।

(३) संज्ञा के साथ सा, नामक, सम्बन्धी तथा रूपी इत्यादि शब्दों का संयोग से भी विशेषण बनाया जाता है। जैसे:—मनुष्य-सा, मनुष्य रूपी, मनुष्य सम्बन्धी, मनुष्य नामक, गुलाब-सा, चाँद-सा, मोती-सा, दशरथ नामक, कृष्ण नामक, भीम नामक, कामरूपी, वासनारूपी, क्षुधारूपी, खेलकूद सम्बन्धी, गायन सम्बन्धी इत्यादि।

(४) विशेषण का प्रयोग संज्ञा और सर्वनाम की तरह भी किया जाता है। जैसे:—यह तो भाई गरीबों का जमाना है। एक का आना और एक का जाना तो लगा ही रहता है।

(५) लगभग या प्राय: इत्यादि शब्दों का निश्चयबोधक संज्ञाओं से पूर्व प्रयोग करने से अनिश्चयबोधक विशेषण बन जाता है। जैसे:—वह लगभग बीस आम लाया था, वह लगभग पच्चीस वर्ष का होगा। प्राय: वहाँ पर पाँच व्यक्ति बैठे रहते हैं।

(६) दो भिन्न पूर्णांक संख्याओं को एक साथ लिखने से अनिश्चयबोधक विशेषण बनते हैं। जैसे:—करीब तीन-चार आदमी होंगे, दो-तीन कार्यकर्त्ता रहे होंगे इत्यादि।

१७३. क्रिया का प्रयोग:—क्रिया सकर्मक और अकर्मक दो प्रकार की होती है, यह संकेत हम पीछे कर चुके हैं। मूल शब्द धातु में विकार उत्पन्न होने से क्रिया का जन्म होता है। धातु के अन्त में ना का योग हो जाने से क्रिया का साधारण रूप बनता है। यह रूप क्रिया नहीं है परन्तु इसका प्रयोग संज्ञा के रूप में ही होता है। केवल विधिकाल के रूप में ऐसा नहीं होता। कुछ धातुओं का भी प्रयोग भाववाचक

संज्ञाओं के रूप में होता है। जैसे:—गाना, नाच, पढ़ना इत्यादि।

क्रिया के भेदों के विषय में विद्यार्थियों को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ:—

(१) कुछ क्रियाएँ अपने प्रयोगों के अनुसार ही सकर्मक या अकर्मक होती हैं। जैसे—मेरी आवाज भारी है और मैंने अपनी आवाज भारी की है।

(२) सकर्मक क्रिया के कर्म का निर्देशन आवश्यक है। जैसे:—विद्यार्थी गायनशाला में गाना गाते हैं। बच्चे पुस्तक पढ़ते है। जानवर चारा खाते हैं।

(३) जब सकर्मक क्रिया के व्यापार का फल किसी एक पर न पड़कर सभी पर समान रूप से पड़ता हो तो उसका कर्म प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे:—यहाँ कितने विद्यार्थी हैं?

(४) कुछ अकर्मक क्रियाओं का मतलब केवल कर्त्ता से पूरी तरह प्रकट नहीं होता। इन क्रियाओं के साथ इसीलिए संज्ञा अथवा विशेषण का प्रयोग होता है। यह क्रियाएँ अपूर्ण अकर्मक क्रियाएँ कहलाती हैं और उद्देश्य की पूर्ति करने वाले शब्द उद्देश्य पूर्ति कहलाते हैं। होना, करना, बनना, निकलना, दीखना, दिखाना, बुलाना इत्यादि सब अपूर्ण अकर्मक क्रियाएँ हैं?

(५) साधारण अर्थ में कभी-कभी अपूर्ण क्रिया पूर्ण अर्थ भी देती है। जैसे:—रात हुई, दिन हुआ, रात है, दिन है इत्यादि।

(६) वास्तव में यदि देखा जाय तो अकर्मक और सकर्मक दोनों ही क्रियाएँ अपूर्ण होती हैं, परन्तु दोनों की अपूर्णता में भेद है। अपूर्ण सकर्मक क्रिया की पूर्ति से उसके कर्म का बोध होता है और इसके ठीक विपरीत अपूर्ण अकर्मक क्रिया की पूर्ति से उसके कर्त्ता की स्थिति सूचित होती है।

(७) कुछ सकर्मक क्रियाओं के दो कर्म पाये जाते हैं—एक प्रधान और दूसरा गौण। कहना, बताना, सुनना, बनाना इत्यादि दो कर्मों वाली क्रियाएँ हैं। जैसे—हमने बच्चों को फल बाँटे। हमने बच्चों को किताबें तकसीम कीं। इसमें फल प्रधान हैं और बच्चे अप्रधान। कभी-कभी अप्रधान कर्म का लोप भी हो जाता है। जैसे—हमने फल बाँटे, हमने किताबें तकसीम कीं इत्यादि।

(८) कभी-कभी कुछ सकर्मक क्रियाओं के अभिप्राय की पूर्ति कर्म के होने पर भी नहीं होती। यह पूर्ति करने के लिए उनके साथ कोई संज्ञा अथवा विशेषण लगा दिया जाता है। इस प्रकार की क्रियाएँ अपूर्ण सकर्मक क्रियाएँ होती हैं और उनकी पूर्ति कर्म-पूर्ति कहलाती है। जैसे:—आपको मैंने ज्ञानी करके गिना था। यहाँ ज्ञानी कर्म-पूर्ति है। मैंने राम को मूर्ख समझा था। यहाँ मूर्ख कर्म पूर्ति है।

(९) अपूर्ण सकर्मक क्रियाओं का साधारण अर्थों में प्रयुक्त होने पर कर्मपूर्ति की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे:—मैं आपको जानता हूँ; मैं उनको अच्छी तरह समझता हूँ।

(१०) कुछ सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं के साथ उनकी धातु से बनी हुई

भाववाचक संज्ञाओं का भी प्रयोग होता है। यह सजातीय कर्म और सजातीय क्रियाएँ कहलाती हैं। जैसे—वह खूब लिखाई लिखता है। वह अच्छी पढ़ाई पढ़ता है। वह अच्छी चाल चलता है। वह अच्छी दौड़ दौड़ता है। वह अच्छी कूद कूदता है। वह अच्छी भाग भागता है। वह अच्छा गाना गाता है।

धातुओं के भेद:—

धातुओं के व्युत्पत्ति के विचार से दो भेद किये जा सकते हैं:—(१) मूल धातु तथा (२) यौगिक धातु। मूल धातु वह होती है जो किसी अन्य शब्द से नहीं बनाई जाती और जो अन्य शब्दों से बनाई जाती है वह यौगिक कहलाती है।

१७४. यौगिक धातु:—यौगिक धातुओं का निर्माण तीन प्रकार से होता है:—(१) प्रेरणार्थक धातु (२) नाम धातु और (३) संयुक्त क्रियाएँ। इन तीनों यौगिक धातु के भेदों पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जाता है:—

१. प्रेरणार्थक धातु:—कर्त्ता पर किसी कार्य की प्रेरणा प्रदर्शित करने वाली धातु का वह रूप जो मूल से विकृत होकर बनता है प्रेरणार्थक धातु कहलाता है। जैसे:—वह मुझसे भोजन बनवाता है। आना, जाना, होना, पाना, सकना इत्यादि धातुओं के अतिरिक्त शेष धातुओं से दो प्रकार की प्रेरणार्थक धातुएँ बनती हैं। प्रेरणार्थक धातुएँ सभी सकर्मक होती हैं, अकर्मक नहीं। कुछ धातुओं के दो प्रेरणार्थक रूप देखिये:—

भूलना:—भुलाना, भुलवाना।
खाना:—खिलाना, खिलवाना।
रोना:—रुलाना, रुलवाना।
हँसना:—हँसाना, हँसवाना।

नोट:—गाना इत्यादि धातुओं से केवल एक ही प्रकार की प्रेरणार्थक क्रिया बनती है।

(अ) घबराना, इठलाना इत्यादि प्रेरणार्थक क्रियाएँ नहीं हैं।

२. नाम धातु:—धातु के अतिरिक्त अन्य भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रत्यय लगा कर जिन धातुओं को बनाया जाता है वह सभी नाम धातुएँ कहलाती हैं। संज्ञा तथा विशेषण के अन्त में ना लगाने से प्रायः नाम धातु बनाई जाती है। जैसे:—भूल से भूलना, चूक से चूकना, रंग से रंगना, अपनी से अपनाना, लूट से लूटना, दौड़ से दौड़ना, बँट से बाँटना इत्यादि।

नोट:—नाम धातुओं के स्थान पर लेखक प्रायः संयुक्त क्रिया का प्रयोग कर लेते हैं। जैसे:—भूलना के स्थान पर भूल करना, चूकना के स्थान पर चूक करना या होना, रँगना के स्थान पर रँग देना या लेना, लूटना के स्थान पर लूट करना या लेना और दौड़ना के स्थान पर दौड़ लगाना इत्यादि।

३. संयुक्त क्रियाएँ:—संयुक्त क्रियाएँ धातुओं के कुछ विशेष कृदन्तों के सामने दूसरी क्रियाओं के योग से बनती हैं। इस प्रकार क्रियाओं में एक प्रधान और दूसरी

गौण या अप्रधान होती है। इसमें मुख्य क्रिया का कृदन्त सहायक क्रिया के काल के रूप में मिलता है। जैसे:—वह पानी पी जायगा। इसमे पी जायगा संयुक्त क्रिया है। पी जायगा में पीना का पी और जाना का भविष्यकालिक रूप है। दोनों के योग से यह संयुक्त क्रिया बनी है। इसमें पीना प्रधान क्रिया है और जायगा गौण। प्रधान और गौण क्रिया को पहचानने के लिए वाक्य के अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। केवल आगे या पीछे आने पर ही क्रिया प्रधान या गौण नहीं बन जाती है। रूप के विचार से संयुक्त क्रियाएँ आठ प्रकार की होती हैं:—

(क) क्रियार्थक संज्ञा के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ:—(साधारण) आना पड़ा, जाना पड़ा, खाना पड़ा, रोना पड़ा, लड़ना पड़ा, (विकृत) पीने लगे, आने लगे, खाने लगे, रोने लगे, लड़ने लगे, चलने न पायेगा, खाने न पायेगा, रोने न पायेगा इत्यादि।

(ख) वर्तमानकालिक कृदन्त के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ:—गाता रहता है, पीता रहता है, खाता रहता है, रोता रहता है, जाता रहेगा, लिखता रहेगा, गाता रहेगा, पीता रहेगा, देखता रहेगा इत्यादि।

(ग) भूतकालिक कृदन्त के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ—चला गया, चला जाता था, भेजना चाहते थे, रोना चाहते थे, गाना चाहते थे इत्यादि।

(घ) पूर्वकालिक कृदन्त के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ—बोल उठना, खेल पड़ना, चौंक उठना, खो बैठना, देख आना, चले आना, छिन जाना, लुट बैठना, समझा देना, छीन लेना, सो जाना, रख छोड़ना, खो जाना, चीर डालना, काट डालना, तोड़ डालना इत्यादि।

(ङ) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ—रोते ही बनता है, खाते ही बनता है, पीते ही बनता है, बैठते ही बनता है इत्यादि।

(च) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के योग से बनी संयुक्त क्रियाएँ—दिये जाता है, खाये जाता है, दुत्कारे डालता है, भींचे डालता है, खाये जाओ, पिये जाओ, रोये जाओ इत्यादि।

(छ) संज्ञा तथा विशेषण के मेल से बनी संयुक्त क्रियाएँ—खाक होना, रंग देना, बात करना, खाली करना, पूरा करना, स्वीकार करना।

(ज) पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ—खाना-पीना, रोना-गाना, खेलना-कूदना, बोलना-चालना, समझना-बूझना, गाना-बजाना, हँसना-खेलना, आना-जाना, रोना-पीटना, लेना-देना, करना-धरना इत्यादि।

(११) ऐसी विकारयुक्त क्रिया जिसके द्वारा विधान किया जाता है समापिका क्रिया कहलाती है। जैसे—बच्चा रोता है। इस वाक्य में रोता है क्रिया समापिका क्रिया है।

(१२) क्रिया का वह रूपान्तर जो वाक्य में कर्त्ता, कर्म और भाव के विधान का ज्ञान कराता है वाच्य कहलाता है। वाच्य तीन प्रकार का होता है—१. कर्तृवाच्य,

२. कर्मवाच्य और ३. भाव वाच्य।

कर्तृवाच्य—कर्तृवाच्य क्रिया का वह रूपान्तर है जिससे कि कर्त्ता वाक्य का उद्देश्य ठहरता है। जैसे—राम गाता है।

कर्मवाच्य—कर्मवाच्य क्रिया का वह रूपान्तर है जिससे कर्म वाक्य का उद्देश्य ठहरता है। जैसे—खाना खाया गया।

भाववाच्य—भाववाच्य में वाक्य के अन्दर उद्देश्य न कर्म पर ही स्थित हो पाता है और न कर्त्ता पर ही, वहाँ पर केवल भाव की ही प्रधानता रहती है—जैसे—आज खाया नहीं जाता। आज जाया नहीं जाता।

नोट—(१) कर्तवाच्य अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं में पाया जाता है।

(२) कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियाओं में पाया जाता है।

(३) भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं में पाया जाता है।

१७५. क्रिया का काल—काल क्रिया का वह रूपान्तर है जो क्रिया के व्यापार का समय और उसकी अवस्था का ज्ञान कराता है। हिन्दी में क्रिया के तीन काल माने गए हैं—(१) वर्तमान, (२) भूत और, (३) भविष्यत्। इनमें भूत और वर्तमान की पूर्णता और अपूर्णता के विचार से वैयाकरणों ने दो-दो भेद किये हैं।

(१३) क्रिया की जो अवस्था केवल काल मात्र का बोध कराती है और व्यापार की पूर्णता अथवा अपूर्णता की ओर कोई संकेत नहीं कराती वह काल की सामान्य अवस्था कहलाती है। कालों के निम्नलिखित भेद वैयाकरणों ने इन्हीं सामान्य अपूर्ण और पूर्ण अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए किये हैं—

१. सामान्य वर्तमान काल—सामान्य वर्तमान काल से पता चलता है कि व्यापार का प्रारम्भ बोलने के ही समय हुआ है। जैसे—रेल चलती है, मोटर चलती है, पानी बहता है, हवा चलती है इत्यादि।

२. अपूर्ण वर्तमान काल—जो कार्य वर्तमान काल में हो रहा है वह अपूर्ण वर्तमान काल कहलाता है। जैसे—वह खाना खा रहे हैं, वह गाना गा रहे हैं, मोहन पाठ याद कर रहा है, सोहन बंसी बजा रहा है इत्यादि।

३. पूर्ण वर्तमान—पूर्ण वर्तमान काल बतलाता है कि व्यापार वर्तमान काल में ही सम्पूर्ण हो गया है। जैसे—मैं पानी पी चुका, मै भोजन कर चुका, राम गाना गा चुका, वृक्ष भूमि पर गिर चुका इत्यादि।

४. सामान्य भूत काल—सामान्य भूत का अर्थ होता है कि व्यापार लिखने अथवा बोलने से पूर्व समाप्त हो चुका। जैसे—राम आया, मोहन ने भोजन खाया, राम ने मोहन को मारा इत्यादि।

५. अपूर्ण भूत काल—अपूर्ण भूतकाल का अभिप्राय है कि कार्य भूत काल में समाप्त नहीं हुआ और चलता रहा। जैसे—राम खाना खाता था, सोहन गाना गा रहा था, मोहन फल खा रहा था, राम पाठ याद कर रहा था इत्यादि।

६. पूर्ण भूत काल—पूर्ण भूत काल का अभिप्राय है कि कार्य भूत काल में ही सम्पूर्ण हो चुका था। जैसे—राम ने गाना गाया था, सोहन ने एम० ए० की परीक्षा पास की थी, इत्यादि।

७. सामान्य भविष्यत् काल—सामान्य भविष्यत् काल से पता चलता है कि कार्य निकट भविष्य में प्रारम्भ होने को है। जैसे—राम खाना खायगा, सोहन गाना गायेगा, चन्द्रमा अभी निकलेगा इत्यादि।

(१४) क्रिया का वह रूप जो विधान करने की रीति का बोध कराता है, उसका अर्थ कहलाता है। वैयाकरणों ने क्रिया के पाँच मुख्य भेद माने हैं—(१) निश्चयार्थ, (२) सम्भावनार्थ, (३) संदेहार्थ, (४) आज्ञार्थ और (५) संकेतार्थ।

१. निश्चयार्थ—निश्चयार्थ क्रिया का वह रूप है जिसमें किसी विधान का निश्चय अर्थ सूचित होता है। जैसे—मैंने खाना नहीं खाया, राम ने गाना गाया है, सोहन स्कूल में पीटा गया है। यहां खाया गया है और गया है क्रियाएँ निश्चयार्थ हैं।

२. सम्भावनार्थ—सम्भावनार्थ क्रिया से कार्य की संभावना, इच्छा और अनुमान का ज्ञान होता है। जैसे—शायद वह कल मेरठ जाए, सम्भवतः वह कल इस कार्य को समाप्त कर सकेंगे। यहाँ कार्य में सम्भावना तो है परन्तु शायद और सम्भवत: के प्रयोग से उसमें निश्चयार्थकता नहीं आई।

३. सन्देहार्थ—संदेहार्थ क्रिया से कार्य के होने में संदेह प्रकट होता है। जैसे—वह जाता होगा, वह रोता होगा इत्यादि। यहाँ जाने और रोने का आभास तो है परन्तु उसमें संदेह की मात्रा मिली हुई है।

४. आज्ञार्थ—आज्ञार्थ क्रिया में किसी कार्य को करने की आज्ञा, उपदेश, निषेध आदि पाया जाता है। जैसे—तुम खाना खाओ, तुम पाठ पढ़ो, तुम मेरे साथ बम्बई चलो, क्या मैं तुम्हारे साथ चलूँ? क्या तुम अपना पाठ याद कर चुके? यदि पाठ याद करोगे तो विद्वान् बनोगे इत्यादि।

५. संकेतार्थ—संकेतार्थ क्रिया से ऐसी दो घटनाओं की पूर्ति होती है जिनमें परस्पर कारण का सम्बन्ध हो। जैसे—यदि तुम मुझे दस रुपये दे देते तो मैं मेरठ चला जाता, यदि तुम दंगा न करते तो मेरे चोट न लगती।

(१५) प्रयोग वाक्य में होने वाले उस अन्वय या अनन्वय को कहते हैं जो कर्त्ता या कर्म के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है। हिन्दी में वैयाकरणों ने तीन प्रयोग माने हैं—(१) कर्त्तरि प्रयोग, (२) कर्मणि प्रयोग और (३) भाव प्रयोग।

१. कर्त्तरि प्रयोग—कर्त्ता के लिंग, वचन और पुरुष को ध्यान में रखकर जिस क्रिया का रूपान्तर होता है वह क्रिया का कर्त्तरि प्रयोग है। जैसे :—मैं खाता हूँ, मैं गाता हूँ इत्यादि।

२. कर्मणि प्रयोग—कर्मणि प्रयोग में क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के समान होते हैं। जैसे:—मैंने खाना खाया, मैंने गाना गाया, मैंने खाना बनाया, मैंने चित्र बनाया इत्यादि।

३. भाव प्रयोग :—भाव प्रयोग में क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष न कर्त्ता के अनुसार होते हैं और न कर्म के ही अनुसार। जैसे :—तुमसे खाया नहीं जाता, तुमसे गाया नहीं जाता इत्यादि।

(१६) कृदन्त क्रिया के उन रूपों को कहते हैं जिनका प्रयोग दूसरे शब्दों के समान होता है। हिन्दी में कृदन्त विकारी और अविकारी दो प्रकार के होते हैं। यह भेद रूप के अनुसार किये गये हैं। विकारी कृदन्तों का प्रयोग संज्ञा और विशेषण के रूप में होता है। वैयाकरणों ने इनके चार भेद किये हैं :—(१) क्रियार्थक संज्ञा, (२) कर्तृवाच्य संज्ञा, (३) वर्तमानकालिक कृदन्त और (४) भूतकालिक कृदन्त।

(१) क्रियार्थक संज्ञा:—क्रियार्थक संज्ञा क्रिया के पश्चात् ना लगाने से बनती है। (यह संकेत ऊपर भी कर चुके हैं) जैसे—दौड़ से दौड़ना, भाग से भागना इत्यादि। यह संज्ञा तथा विशेषण दोनों के समान केवल पुल्लिग और एकवचन में प्रयुक्त होता है। जैसे:—जाने को, खाने को, पीने को, रोने को, धोने को इत्यादि।

जब क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग विशेषण के समान होता है तब उसके रूप में भी उसके कर्म के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तन हो जाता है। जैसे :—तुम्हें जाँच करनी है।

(२) कर्तृवाचक संज्ञा:—कर्तृवाचक संज्ञा बनाने के लिए क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप के अन्त में वाला लगा दिया जाता है। जैसे:—बेचने वाला, खाने वाला, रोने वाला, हँसने वाला, देखने वाला इत्यादि। इसका प्रयोग कभी-कभी भविष्यकालिक कृदन्त विशेषण के रूप में भी मिलता है। जैसे:—आज जवाहरलाल इस नगर में आने वाले हैं, आज फुटबाल का मैच होने वाला है इत्यादि। कर्तृवाचक संज्ञा का रूपांतर विशेषण और संज्ञा के ही समान किया जाता है और इसके रूप में आकारान्त विशेषण के समान परिवर्तन होता है।

(३) वर्तमानकालिक कृदन्त :—वर्तमानकालिक कृदन्त धातु के अंत में ता लगाने से बनता है जैसे :—छलता, खलता, चलता, हिलता, खिलता इत्यादि। इसका रूप आकारान्त विशेषण के समान बदलता है और इसका प्रयोग विशेषण के समान होता है। जैसे:—रोता बच्चा, सोता आदमी इत्यादि। वर्तमानकालिक कृदन्त का प्रयोग कभी-कभी आकारांत पुल्लिग संज्ञा के समान भी होता है। जैसे :—सोता हुआ क्या कर सकता है? मरता क्या न करता?

(४) भूतकालिक कृदन्त :—भूतकालिक कृदन्त धातु के अन्त में आ जोड़ने से बनता है। जैसे:—खेलना से खेला, पीटना से पीटा, छूना से छुआ इत्यादि। इसका प्रयोग प्रायः विशेषण के ही समान होता है। कभी-कभी इसका प्रयोग संज्ञा के समान भी हो जाता है। जैसे :—लुटा व्यक्ति, खोया धन, बीता समय (यह विशेषण प्रयोग हैं। लुटे को क्या लूटना, मरे को क्या मारना, बीते को बिसराना ही अच्छा है। यह संज्ञा-प्रयोग हैं।)

(१) सकर्मक क्रिया से बना भूतकालिक कृदन्त विशेषण कर्मवाच्य होता है।

जैसे—मरा हुआ आदमी, लूटा हुआ आदमी, किया हुआ काम इत्यादि।

उक्त क्रिया-प्रयोगों पर ध्यान देने के पश्चात् निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखते हुए विद्यार्थियों को प्रयोग करना चाहिए—

वाक्य-रचना में कालों के प्रयोग में विद्यार्थी साधारणतया भूल कर जाते हैं और भूत के साथ वर्तमान और वर्तमान के साथ भविष्य को जोड़ डालते हैं। ऐसा करते समय विद्यार्थियों को सतर्क रहने की आवश्यकता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा करना आवश्यक भी होता है। जैसे—तुलसीदास ने कहा है, कालिदास ने लिखा है इत्यादि।

(२) वक्ता के कथन में क्रोध या उदासी आजाने पर क्रिया कभी-कभी लुप्त हो जाती है। जैसे—आपको क्या लेना? आपने यह क्यों किया? इत्यादि।

(३) सामान्य वर्तमान क्रिया के सामने नहीं आने पर क्रिया का आमतौर पर लोप हो जाता है। जैसे—मैं रोटी नहीं खाता, मैं पाठ याद नहीं करता।

(४) धमकी इत्यादि के अर्थ में भविष्यत् काल के लिए भूतकाल का प्रयोग होता है। जैसे—तुमने यह कार्य किया तो बुरा होगा।

प्रयोग के अनुसार शब्द-भेद

हिन्दी के कुछ शब्द जब-जब जिस प्रयोग में आते हैं तब-तब उनके रूप में भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं।

अच्छा—

(१) संज्ञा—अच्छों के काम आओगे तो जग में नाम होगा।

(२) विशेषण—अच्छे काम करने से ही व्यक्ति का सम्मान होता है।

(३) क्रियाविशेषण—तुम्हें यह कार्य अच्छी तरह करना है।

(४) अव्यय—अच्छा! तुम खाना खा रहे हो।

और—

(१) संज्ञा—औरों की बात पर विश्वास न कीजिये।

(२) विशेषण—कुछ समय बाद और बहुत से सज्जन आने को हैं।

(३) समुच्चयबोधक अव्यय—मैं और आप मिलकर यह कार्य कर लेंगे।

एक—

(१) सर्वनाम—एक रोता है, एक गाता है, यह दुनिया है।

(२) विशेषण—उसे एक कार्य यह करना ही होगा कि वह व्यर्थ की बातों में न फँसे।

(३) क्रियाविशेषण—मैं केवल एक उनका ही तो साथी हूँ।

कुछ—

(१) सर्वनाम—कुछ जानते भी हो या व्यर्थ की चापलूसी ही किया करते हो।

(२) विशेषण—(अ) संख्यावाचक—कुछ व्यक्ति आ रहे हैं।

(आ) परिमाणवाचक—आज कुछ माल खिलाओ तब हम जानें।

(३) क्रियाविशेषण—तुम राम से कुछ बड़े प्रतीत होते हो।

(४) समुच्चयबोधक—कुछ तुमने प्राप्ति भी की ?

कोई—

(१) सर्वनाम—मैंने तो वहाँ पर कोई नहीं पाया।

(२) विशेषण—इस कार्य को कोई व्यक्ति नहीं कर सकता।

(३) क्रियाविशेषण—इस कार्य के सम्पूर्ण होने में कोई दस घंटे लगेंगे।

क्या—

(१) सर्वनाम—तुम इस समय क्या कहना चाहते हो ?

(२) विशेषण—तुम क्या बात करते हो जी ?

(३) क्रियाविशेषण—आप खाते क्या हैं, निगलते हैं।

(४) समुच्चयबोधक—क्या हम और क्या आप, सभी को यह कार्य सम्पूर्ण करना होगा।

जो—

(१) सर्वनाम—जो मेरे इस कार्य को सफलता से करेगा वह इस फर्म का मैनेजर नियुक्त किया जायेगा।

(२) विशेषण—आपने जो कार्य किया निरर्थक किया।

(३) अव्यय—मुझ में इतनी बुद्धि कहाँ जो आपकी बात समझ सकूँ।

यह—

(१) सर्वनाम—यह क्या कार्य करते हैं आप ?

(२) विशेषण—वह यह कार्य सिद्ध नहीं कर सकते।

(३) क्रियाविशेषण—उन्होंने यह करना ही चाहा था।

साथ—

(१) संज्ञा—अरे साहब ! कौन साथ देता है ?

(२) सम्बन्धबोधक अव्यय—मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता।

(३) क्रियाविशेषण—साथ चलना पीछे चलने से पृथक् है।

सीधा—

संज्ञा—सीधे का कार्य तो सर्वदा बीच में ही अटकता है।

विशेषण—सीधा व्यक्ति ही जीवन में सुखी रह सकता है।

क्रियाविशेषण—सीधा चलना जीवन को संकट से मुक्त रखना है।

हाँ—

संज्ञा—व्यर्थ किसी की हाँ में हाँ मिलाना मूर्खता है।

अव्यय—हाँ हाँ ! सुन लिया।

क्रियाविशेषण—हाँ, मैं यही खाना खाता हूँ।

अध्याय १२

लिंग और कारक-विचार

पिछले अध्याय में हम हिन्दी भाषा के विकारी शब्दों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अविकारी शब्दों पर लिंग, वचन और कारक के कारण कोई प्रभाव नही पड़ता और विकारी शब्दों का रूप बदल जाता है। यहाँ पहिले हम लिंग पर विचार करेंगे। लिंग चिन्ह को कहते हैं। यह चिन्ह स्त्री और पुरुष का ज्ञान कराता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त से लिंग दो प्रकार के हुए---स्त्रीलिंग और पुल्लिग।

शब्दों का लिंग---ज्ञान उनके अर्थ और रूप दोनों से होता है। प्राणिवाचक संज्ञाओं का लिंग उनके अर्थ तथा अप्राणिवाचक संज्ञाओं का लिंग उनके रूप से जाना जाता है। लिंग ज्ञात करने की तीसरी रीति व्यवहार है जिसका कि प्रयोग अर्थ और रूप के पश्चात् आता है।

१७६. अर्थ द्वारा लिंग-भेद निर्णय---१. प्राणिवाचक संज्ञाओं का प्रायः जोड़ा होता है। इस जोड़े में पुरुषबोधक संज्ञा पुल्लिग और स्त्रीबोधक संज्ञा स्त्रीलिंग कहलाती है। जैसे---घोड़ा, घोड़ी; पुरुष, स्त्री; नर, नारी; हिरन, हिरनी; कबूतर, कबूतरी; मोर, मोरनी इत्यादि पुल्लिग और स्त्रीलिंग रूप हैं।

२. कुछ नाम ऐसे हैं जिनका व्यवहार और प्रयोग के अनुसार ही लिंग-भेद होता है। जैसे---(देखने में पुल्लिग परन्तु प्रयोग दोनों प्रकार से होता है) कौवा, उल्लू, भेडिया, तोता, खटमल, केंचुआ, पक्षी इत्यादि। इसी प्रकार ऐसी भी संज्ञाएँ हैं जो देखने में स्त्रीलिंग परन्तु प्रयोग में दोनों लिंगों में प्रयोग होती हैं। जैसे---मछली, चील, दीमक, तितली, मैना, गिलहरी, जोंक, कोयला इत्यादि। इन संज्ञाओं से पूर्व नर और नारी लगाकर पुल्लिग और स्त्रीलिंग बना लिया जाता है।

नोट---इन उपसर्गों के लगाने से पुल्लिग और स्त्रीलिंग बना तो लिया जाता है परन्तु उनके मूल लिंग में भेद नहीं आता।

३. समुदायों के नामों की संज्ञाओं का स्त्रीलिंग या पुल्लिग में प्रयोग भी उनके व्यवहार के अनुसार ही होता है। जैसे---(पुरुषवाचक) कुटुम्ब, संघ, दल, झुंड इत्यादि। (स्त्रीवाचक) सभा, प्रजा, टोली, सेना, फ़ौज इत्यादि।

४. अप्राणिवाचक संज्ञाओं का लिंग-भेद प्रधानतया उनके अर्थ से न जाने जाकर उनके रूप से जाना जाता है। परन्तु रूप के अतिरिक्त कुछ विशेष नियम भी उसे परखने के लिए वैयाकरणों ने निर्धारित किये हैं। वह नियम साधारणतया अपने क्षेत्र में पूर्ण और व्यापक सिद्ध नहीं हो सके हैं, परन्तु तब भी विद्यार्थियों के लिए उन्हें

जान लेना लाभकार ही होगा। इसी विचार से हम उनका भी उल्लेख यहाँ पर करते है—

शरीर के अवयवों के नाम प्रायः पुल्लिग होते हैं। जैसे—नाक, कान, मुँह, दाँत, ओंठ, पाँव, हाथ, गाल, मस्तक, तालु, बाल, अँगूठा, गोड़ा, मुक्का, नाखून, नथना, गट्टा, रीढ़ इत्यादि। परन्तु इसके अपवाद भी कम नहीं है। जैसे—कोहनी, कलाई, जीभ, ठोड़ी, खाल, बाँह, नस, हड्डी, इन्द्रिय, काँख इत्यादि।

रत्नों के नाम प्रायः पुल्लिग होते हैं। जैसे—मोती, माणिक, पन्ना, हीरा, जवाहर, मूँगा, नीलम, पुखराज, लाल इत्यादि। इसके अपवाद भी कम नहीं हैं। जैसे—मणि, चुन्नी, लालड़ी इत्यादि।

धातुओं के नाम प्रायः पुल्लिग होते हैं। जैसे—ताँबा, लोहा, सोना, सीसा, फौलाद, कांसा, राँगा, पीतल, मैगनीज, रूपा, टीन इत्यादि। साथ ही अपवाद भी हैं। जैसे—चाँदी इत्यादि।

अनाजों के नाम पुल्लिग होते हैं। जैसे—जौ, गेहूँ, चावल, बाजरा, चना, अरारोट, तिल, तरा इत्यादि। साथ ही अपवाद भी देखिये—जैसे—मक्की, जुआर, अरहर, मूँग इत्यादि।

वृक्षों के नाम प्रायः पुल्लिग में होते हैं। जैसे—पीपल, बड़, देवदारु, दयार, चीढ़, आम, शीशम, सागौन, कटहल, अमरूद, शरीफा, नींबू, अशोक, तमाल, सेब, अखरोट इत्यादि। साथ ही अपवादों की भी कमी नहीं। जैसे—ईख, सेम, लीची, नाशपाती, नारंगी, खिरनी इत्यादि।

द्रव पदार्थों के नाम प्रायः पुल्लिग होते हैं। जैसे—पानी, घी, तेल, अर्क, शर्बत, इत्र, सिरका, आसव, काढ़ा, रायता इत्यादि। परन्तु इसके भी अपवाद हैं। जैसे—छाछ, स्याही, शराब, इत्यादि।

जल तथा स्थल के विभागों के नाम प्रायः पुल्लिग में होते हैं। जैसे—देश, नगर, रेगिस्तान, द्वीप, पर्वत, समुद्र, सरोवर, पाताल, आकाश, वायुमण्डल, नभमण्डल, प्रान्त इत्यादि। साथ ही अपवाद भी देखिये। जैसे—पृथ्वी, झील, घाटी, शैल-माला, सरिता, वनस्थली, मरुस्थला इत्यादि।

सरिताओं के नाम प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं। जैसे—गंगा, जमना, महानदी, ब्रह्म-पुत्र, गोदावरी, सिंध, सतलुज, व्यास, रावी, चुनाव, झेलम, ताप्ती इत्यादि।

वर्णमाला के अक्षरों के नाम प्रायः स्त्रीलिंग में होते हैं—जैसे—ए, ऐ, इ, ई इत्यादि। परन्तु साथ ही अ, आ, उ, ऊ इत्यादि इसके अपवाद भी हैं।

नक्षत्रों के नाम प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं—भरणी, अश्विनी, रोहणी इत्यादि। परन्तु साथ ही अपवादों की भी कमी नहीं। जैसे—मंगल, बुद्ध इत्यादि।

किराने की चीज़ों के नाम प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं। जैसे—लौंग, इलायची, मिर्च, दारचीनी, चिरौंजी, हलदी, जावित्री, केसर, सुपारी इत्यादि। परन्तु साथ ही अपवाद भी कम नहीं है। जैसे—जीरा, धनिया, गर्म मसाला, हींग, नमक, तेजपात

इत्यादि।

भोजनों के नाम प्रायः स्त्रीलिंग में होते हैं। जैसे—कचौड़ी, पूड़ी, खीर, दाल, दही, पकौड़ी, रोटी, चपाती, तरकारी, भाजी, सब्जी, खिचड़ी इत्यादि। साथ ही अपवादों की भी कमी नहीं है। जैसे—चीला, परांठा, हलुआ, भात, रायता, कोफ्ता इत्यादि।

१७७. रूप द्वारा लिंग भेद निर्णय—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि प्राणिवाचक संज्ञाओं के लिंग शब्दों के अर्थ से तथा अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग शब्दों के रूप से जाने जाते हैं। आज के हिन्दी शब्द-कोश में केवल संस्कृत पर संस्कृत से आये हुए शब्दों का ही जमाव नहीं है, वरन् वहां तो आज उर्दू, फारसी, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों की भी संचित निधि वर्तमान है। इसलिए इस प्रसंग में हम हिन्दी के इन सभी भाषाओं के शब्दों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

१७८. हिंदी संज्ञाओं के लिंग-ज्ञान विषयक कुछ साधारण नियम—

(१) गुणवाचक संज्ञाओं के अतिरिक्त हिंदी में प्रयुक्त सभी आकारान्त संज्ञाएँ पुल्लिंग हैं। जैसे:—रुपया, खाना, चना, आटा, कपड़ा, लँगोटा इत्यादि।

(२) ना, आव, पन और पा से अन्त होने वाली भाववाचक संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—गाना, आना, जाना, सोना, रोना, बढ़ाव, चढ़ाव, लगाव, बड़प्पन, छुटप्पन, हलकापन, भारीपन, छुटापा, बुढ़ापा, रँडापा इत्यादि।

(३) कृदन्त की नकारान्त संज्ञाएँ जिनकी धातु नकारान्त न हो और जिनका उपान्त्य वर्ण आकारान्त होता है वह पुल्लिंग होते हैं। जैसे—चालान, गान, मिलान, ध्यान, उठान इत्यादि।

(४) ईकारान्त संज्ञाएँ अधिकांश में स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—चिट्ठी, गिन्नी, चवन्नी, अठन्नी, दुवन्नी, उदासी, नदी। इसके अपवादों की भी कमी नहीं। जैसे—घी, मोती, दही, पानी बढ़ई इत्यादि।

(५) गुणवाचक आकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—लुटिया, डिबिया, खटिया, फुड़िया, खड़िया इत्यादि।

(६) तकारान्त संज्ञाएँ साधारणतया स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—लात, बात, रात, आँत, पाँत, छत। इसके अपवादों की भी कमी नहीं है। जैसे—मत, खत, भात, सूत, भूत, दाँत, खेत, रेत इत्यादि।

(७) ऊकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—लू, तराजू, बालू, दारू, आबरू इत्यादि। इसके अनेकों अपवाद भी हैं। जैसे—कचालू, चाकू, डमरू, पिंडालू, रतालू इत्यादि।

(८) अनुस्वारान्त संज्ञाएँ अधिकांश स्त्रीलिंग में होती हैं। जैसे—भौं, आँखें, चालें, डालें, छाजें। इसके अपवाद भी अनेकों हैं। जैसे—गेहूँ इत्यादि।

(९) सकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—खटास, मिठास, प्यास, बास, रास, साँस, आस, तास, सास इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—काँस, बाँस,

मांस, प्रकाश, आकाश, निवास, विश्वास, निश्वास इत्यादि।

(१०) नकारान्त कृदन्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—जलन, सूजन, चलन, रहन-सहन, पहचान। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—मिलान, चाल-चलन, इत्यादि।

(११) ख से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ भी स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—राख, आंख, दाख, भीख, भीख, चीख, ईख, देख-रेख इत्यादि। इसके अनेकों अपवाद भी हैं। जैसे—लाख, रुख, पंख, सांख इत्यादि।

(१२) आई, हट, वट इत्यादि से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—भलाई, दलाई, खवाई, रुलाई, रुकावट, सजावट, बनावट, चिल्लाहट इत्यादि।

१७६. संस्कृत संज्ञाओं के लिंग-ज्ञान विषयक कुछ साधारण नियम :—

(१) अकारान्त संज्ञाएँ प्रायः पुल्लिंग होती हैं। जैसे—चित्र, पत्र, पात्र, मित्र, गोत्र इत्यादि।

(२) नकारान्त संज्ञाएँ अधिकांश में पुल्लिंग हैं। जैसे—थकन, दमन, गमन, श्रवण, पोषण, शोषण, पालन, लालन इत्यादि।

(३) जकारान्त संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—मलयज, जलज, उरोज, इत्यादि।

(४) त्व, त्य, व तथा र्य से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—स्त्रीत्व, सतीत्व, कृत्य, मृत्यु, लाघव, वीर्य, माधुर्य्य, कार्य इत्यादि।

(५) आर, आय तथा आस से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—प्रकार, प्रहार, विहार, प्रचार, सार, विस्तार, अध्याय, स्वाध्याय, उपहास, ह्रास, भास इत्यादि। इसके अपवादस्वरूप सहाय उभयलिंग और आय स्त्रीलिंग हैं।

(६) अ अंत्ययान्त संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—लोभ, मोह, क्रोध, बोध, मोद इत्यादि। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—पुस्तक, पराजय, विजय, शपथ इत्यादि। विनय उभयलिंग है।

(७) जिन शब्दों के अन्त में ख होता है वह पुल्लिंग होते हैं। जैसे—नख, मुख, शिख, दुःख, शंख इत्यादि।

(८) आकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग की होती हैं। जैसे—प्रार्थना, ईर्षा, दया, भाषा, अभिलाषा, आज्ञा, प्रज्ञा इत्यादि।

(९) उकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—वस्तु, ऋतु, वायु, रज्जु, मृत्यु इत्यादि। इसके अनेकों अपवाद भी हैं। जैसे—विन्दु, अणु, साधु, मधु, तालु, सेतु इत्यादि।

(१०) ता, ति प्रत्यय से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—लघुता, दीनता, दुर्बलता, दासता, निवृत्ति, कृति, श्रुति, गति, पति। देवता को इस नियम के अपवादस्वरूप ग्रहण कर सकते हैं।

(११) इकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—छवि, रुचि, राशि, नारि, कटि इत्यादि। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—गिरि, ऋषि, वारि, मुनि, जलधि, रवि, पाणि, त्रिपुरारि इत्यादि।

(१२) इमा प्रत्यय से अन्त होने वाली संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—महिमा गरिमा, पूर्णिमा, अरुणिमा इत्यादि।

नोट—हिन्दी में अधिकांश शब्द संस्कृत से ही आये हैं। उनके आज की हिन्दी में या तो तत्सम रूप मिलते हैं या तद्भव। जो शब्द संस्कृत में पुल्लिंग और नपुंसक लिंग के अन्तर्गत आते हैं वह सब हिन्दी में पुल्लिंग में ही अपना लिये हैं। स्त्रीलिंग प्रायः स्त्रीलिंग ही रहे हैं। फिर भी कुछ शब्दों के लिंग हिन्दी में परिवर्तित हो गये हैं। जैसे—देह, अग्नि, आत्मा, महिमा, यह संस्कृत में पुल्लिंग हैं परन्तु हिन्दी में इनका प्रयोग स्त्रीलिंग में होता है। इसी प्रकार तारा, व्यक्ति और देवता संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हिन्दी में पुल्लिंग में प्रयुक्त होते हैं। कुछ तद्भव शब्दों के भी लिंग बदलते हैं।

१८०. विदेशी संज्ञाओं के लिंग ज्ञान-विषयक कुछ साधारण नियम—

(१) आब से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—महताब, लाब, खिजाब, जवाब इत्यादि। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—मिहराब, किताब, शराब इत्यादि।

(२) ह से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। (हिन्दी में यह ह आ में परिवर्तित होकर अन्त्य स्वर में समा जाता है)। जैसे—दगाई, तँबूरा, चश्मा, पर्दा, किस्सा, हिस्सा, दफा इत्यादि इस नियम के अपवाद हैं।

(३) आर या आन से समाप्त होने वाली संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—बाजार, इश्तिहार, दूकानदार, ईमानदार, जानदार, अखबार, मकान, मेहमान, इन्सान, हैवान इत्यादि। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—दीवार, सरकार, दूकान, तकरार इत्यादि।

(४) ईकारान्त संज्ञाएँ अधिकाँश में स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—सरदी, गरमी, बाँसरी, पसेरी, दुसेरी, बीमारी, ग़रीबी, अमीरी, दुकानदारी, मेहमानदारी, दियानत-दारी इत्यादि।

(५) शकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—कोशिश, नालिश, बारिश, मालिश, लाश, तलाश, ख्वाहिश इत्यादि। इसके अपवादस्वरूप हम ताश, होश इत्यादि को ले सकते हैं।

(६) तकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—कीमत, इज्जत, हजामत, आदत, अदालत, हजामत, कसरत, दावत, लियाकत, मुलाक़ात, वफ़ात, कमायत, शौकत, पियानत, अमानत इत्यादि। इसके अपवाद भी अनेक हैं। जैसे—दरख्त, वक्त, तख्त, खत, सबूत, दस्तखत इत्यादि।

(७) हकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—तरह, राह, सलाह,

निगाह, आह इत्यादि। इसके अपवाद—शहंशाह, वाहवाह, माह, गुनाह इत्यादि अनेक हैं।

(८) आकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिंग होती हैं। जैसे—दुनिया, हवा, दवा, संज्ञा इत्यादि। इसके अपवादस्वरूप मज़ा उभयलिंग और दगा पुल्लिग हैं।

नोट—अरबी, फारसी, इत्यादि भाषाओं के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग प्रायः उन्हीं लिंगों में हुआ है जिनमें उनका प्रयोग उन भाषाओं में प्रचलित था। परन्तु कहीं कहीं कुछ शब्दों में लिंग-भेद भी हो गया है। जैसे—'मुहावरात' अरबी में स्त्रीलिंग है और हिन्दी में मुहावरे का प्रयोग पुल्लिग में होता है।

१८१. कुछ अन्य साधारण नियम—

(१) अंग्रेजी शब्दों में लिंग का निर्णय उनके अर्थ और रूप दोनों के आधार पर होता है।

(२) सामासिक शब्दों का लिंग प्रायः अन्य शब्दों के आधार पर निश्चित किया जाता है। जैसे— (पु०) गिर्जाघर, रसोईघर, स्वास्थ्यालय, न्यायालय, दवाईघर इत्यादि। (स्त्री०) दवाईशाला, आबहवा, धर्मशाला, प्रयोगशाला इत्यादि।

(३) यूनानी, पुर्तगाली और ईरानी शब्द जो हिन्दी में आगे वह आज हिन्दी के अपने शब्द बन चुके हैं और उनका लिंग-निर्णय व्यापार के अनुसार होता है।

१८२. पुल्लिग शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने के कुछ साधारण नियम—

(१) अकारान्त और आकारान्त शब्दों को ईकारान्त करने से स्त्रीलिंग बन जाता है। जैसे—गधा से गधी, घोड़ा से घोड़ी, दास से दासी, नट से नटी, चमार से चमारी, लुहार से लुहारी, सुनार से सुनारी, गँवार से गँवारी, कुल्हाड़ा से कुल्हाड़ी, हथौड़ा से हथौड़ी, दादा से दादी, नाना से नानी, चाचा से चाची, ताया से तायी, बकरा से बकरी, चकवा से चकवी इत्यादि।

(२) आकारान्त शब्दों को अकारान्त कर देने से भी स्त्रीलिंग बन जाता है। जैसे—भैंसा से भैंस।

(३) अकारान्त पुल्लिग संज्ञाओं के अन्त में ई लगाने से स्त्रीलिंग संज्ञाएँ बनाई जाती हैं। जैसे—मोर से मोरनी, हंस से हंसनी, नाग से नागनी, शेर से शेरनी ऊँट से ऊँटनी इत्यादि।

(४) पुल्लिग संज्ञाओं के अन्तिम स्वर को हटाकर उनके स्थान पर इन लगा देने से स्त्रीलिंग बन जाता है। जैसे—चमार से चमारिन, गँवार से गँवारिन, सुनार से सुनारिन, तेली से तेलिन, धोबी से धोबिन, मालिक से मालकिन इत्यादि।

(५) कभी-कभी पुल्लिग संज्ञाओं के अन्तिम स्वर को लोप करके आइन लगाने से स्त्रीलिंग बनता है। जैसे—मास्टर से मास्ट्राइन, ठाकुर से ठकुराइन, बनिया से बनियाइन इत्यादि।

(६) पुल्लिग संज्ञा के अन्त्य स्वर को इया कर देने से स्त्रीलिंग बन जाता है। जैसे—बेटा से बिटिया, कुत्ता से कुतिया, लोटा से लुटिया, बाट से बटिया, खाट से

खटिया, पट्ठा से पठिया इत्यादि ।

(७) दोनों लिंगों में समान रूप से युक्त होने वाली संज्ञाओं के पूर्व नर और मादा लगाकर लिंग-भेद किया जाता है। जैसे—नर कव्वा, मादा कव्वा; नर चील, मादा चील; नर भेड़िया, मादा भेड़िया; नर गेंडा, मादा गेंडा इत्यादि ।

१८३. प्रत्ययों के योग से लिंग-भेद करना—

(१) कुछ पुल्लिग संज्ञाओं के अन्त में आ प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिंग बना लिया जाता है। जैसे—बाल से बाला, सुत से सुता, प्रिय से प्रिया, शिव से शिवा इत्यादि।

(२) अक प्रत्ययान्त शब्दों के अन्त में अ के स्थान पर आ लगाकर स्त्रीलिंग बनाया जाता है। जैसे—बालक से बालिका, सचालक से संचालिका, उपदेशक से उपदेशिका, गायक से गायिका, पाठक से पाठिका इत्यादि ।

(३) पुल्लिग संज्ञा के सामने आनी लगाकर भी कभी-कभी स्त्रीलिंग बनाया जाता है। जैसे—इन्द्र से इन्द्राणी, रुद्र से रुद्राणी, भव से भवानी इत्यादि ।

नोट—(१) जैसा ऊपर संकेत कर चुके है विद्यार्थियों को ध्यान रखना चाहिए कि सामासिक शब्दों का लिंग-ज्ञान उनके अन्तिम शब्द से ही होता है ।

नोट—(२) कुछ शब्दों के स्त्रीलिंग रूपान्तर से बनाये नहीं जाते वरन् वह भिन्न-भिन्न ही होते हैं। जैसे—बैल, गाय; पुरुष, स्त्री; पिता, माता; राजा, रान इत्यादि ।

वचन-अध्ययन

१८४. वचन संज्ञा और विकारी शब्दों की संख्या का ज्ञान कराता है। वचन शब्द के विषय में संकेत करता है कि उसका प्रयोग एक वस्तु के लिए हुआ है अथवा बहुत सी वस्तुओं के लिए। हिन्दी में एकवचन और बहुवचन, दो वचन माने गए हैं।

(१) **एकवचन**—एकवचन एक वस्तु का बोध करता है। जैसे—बेटा, लड़का, लड़की, कलम, पेंसिल, किताब, पेटी, रोटी, दाना, चना, गाना इत्यादि ।

(२) **बहुवचन**—बहुवचन एक से अधिक वस्तुओं का बोध कराता है। जैसे—बेटे, लड़के, लड़कियाँ, कलमें, पेंसिलें, किताबें, पेटियाँ, रोटियाँ, दाने, चने, गाने इत्यादि ।

उदाहरण—१. लड़का पढ़ रहा है। (एकवचन)
२. लड़के पढ़ रहे हैं। (बहुवचन)
१. बेटा पेंसिल बना रहा है। (एकवचन)
२. बेटे पेंसिलें बना रहे हैं। (बहुवचन)
१. लड़का खाना खा रहा है। (एक वचन)
२. लड़के खाना खा रहे हैं। (बहुवचन)

१८५. एकवचन से बहुवचन बनाने के कुछ साधारण नियम—

(१) अकारांत शब्दों के अन्त में अ के स्थान पर एँ कर देने से बहुवचन बन जाता है। जैसे—गाय से गाएँ, बूटी से बूटिएँ, रोटी से रोटिएँ, चलनी से चलनिएँ, डाली से डालिएँ इत्यादि।

(२) कुछ आकारांत संज्ञाओं के अंत में अनुस्वार लगा देने से बहुवचन बन जाता है। जैसे—गुड़िया से गुड़ियाँ, लुटिया से लुटियाँ, चुटिया से चुटियाँ, पटिया से पटियाँ, गठिया से गठियाँ इत्यादि।

(३) कुछ इकारांत शब्दों के ई के स्थान पर इ करके अन्त में याँ जोड़ दिया जाता है। जैसे—लड़की से लड़कियाँ, बच्ची से बच्चियाँ, रानी से रानियाँ, जननी से जननियाँ, बिल्ली से बिल्लियाँ, लाठी से लाठियाँ, बाली से बालियाँ, ताली से तालियाँ, जाली से जालियाँ, साली से सालियाँ, डाली से डालियाँ इत्यादि।

(४) कुछ इकारांत स्त्रीलिंग शब्दों के पश्चात् याँ जोड़ दिया जाता है। जैसे—तिथि से तिथियाँ, मिती से मितियाँ, गति से गतियाँ, प्रति से प्रतियाँ, क्षति से क्षतियाँ, रीति से रीतियाँ, नीति से नीतियाँ, भित्ति से भित्तियाँ इत्यादि।

(५) कुछ आकारांत शब्दों के अन्त में एँ लगा देने से बहुवचन बन जाता है। जैसे—बाला से बालाएँ, शाला से शालाएँ, गाथा से गाथाएँ, विद्या से विद्याएँ, कला से कलाएँ, कलिका से कलिकाएँ, लतिका से लतिकाएँ इत्यादि।

(६) कुछ अकारांत शब्दों के अन्त में ए करने से भी बहुवचन बनाया जाता है। जैसे—बेटा से बेटे, लोटा से लोटे, डंडा से डंडे, बस्ता से बस्ते, तख्ता से तख्ते, गन्ना से गन्ने, मुन्ना से मुन्ने, चना से चने, तना से तने।

नोट—बहू ऊकारांत शब्द भी अन्त में एँ लगने से बहुवचन हो जाता है। जैसे—बहू से बहुएँ।

कारक

१८६ कारक संज्ञा अथवा सर्वनाम का वह रूप है जिसके द्वारा उसका सम्बन्ध वाक्य में क्रिया अथवा किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकट होता है। कारक द्वारा ही वाक्य स्पष्ट और सार्थक बनता है। कारकों की पहचान के लिए जिन शब्दों का प्रयोग संज्ञा तथा सर्वनाम के साथ होता है। उन्हें विभक्तियाँ कहते हैं। हिन्दी में कारकों की संख्या आठ है।

(१) कर्त्ता कारक—कर्त्ता कारक वह संज्ञा अथवा संज्ञा के स्थान पर आने वाला शब्द है जिसके विषय में क्रिया द्वारा कुछ कथन किया जाय। कर्त्ता वाक्य में प्रधान (उक्त) तथा अप्रधान (अनुक्त) दोनों रूप से आता है। प्रधान अथवा उक्त रूप से जहाँ पर प्रयोग होता है वहाँ क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष कर्त्ता के समान होता है परन्तु जहाँ कर्त्ता का अप्रधान और अनुक्त रूप से प्रयोग होता है वहाँ पर क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष कर्त्ता से भिन्न हो जाता है। जैसे—(१) मोहन रोटी खा रहा है और मोहन ने रोटी खाई। (२) सोहन बाँसरी बजा रहा है और सोहन ने

बाँसरी बजाई। (३) कृष्ण नौका खे रहा है और कृष्ण ने नौका खेई इत्यादि। इन वाक्यों में मोहन, मोहन और कृष्ण का प्रयोग प्रधान और अप्रधान दोनों प्रकार के कर्त्ताओं के रूप मे प्रयोग किया गया है।

(२) कर्म कारक—कर्म कारक संज्ञा का वह रूप है जिस पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है। सकर्मक क्रियाओं के साथ कर्म कारक दो प्रकार मे आता है, एक प्रधान और दूसरे अप्रधान। प्रधान में कर्म कारक तथा क्रिया का लिंग, वचन तथा पुरुष समान रहता है तथा अप्रधान में अन्तर आ जाता है। जैसे—१. राम से रोटी खाई जाती है और राम रोटी खाता है। २. मोहन से कमीज पहनी जाती है और मोहन कमीज पहनता है। इन उदाहरणों में रोटी और कमीज का प्रयोग प्रधान और अप्रधान रूप में किया गया है। इन प्रयोगों को प्रधान और अप्रधान के स्थान पर उक्त कर्म और अनुक्त कर्म भी कहते हैं।

कुछ सकर्मक क्रियाएँ द्विकर्मक होती हैं। यह दो प्रकार के कर्म मुख्य तथा गौण कहलाते हैं। मख्य कर्म में वस्तु का बोध होता है तथा गौण कर्म में प्राणि का बोध होता है। किसी अकर्मक क्रिया के साथ उसी धातु से बना हुआ कर्म आने पर सजातीय कर्म कहलाता है। जैसे—१. उसने एक खाना खाया। २. उसने एक रोना रोया। ३. उसने एक गाना गाया इत्यादि। इन वाक्यो में खाना, रोना और गाना सजातीय कर्म हैं। कर्म के चिह्न को का इन वाक्यों में लोप है।

(३) करण कारक—क्रिया का कार्य संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप के द्वारा होता है उसे करण कारक कहते हैं। जैसे—राम ने सोहन को गिलास से पानी पिलाया। यहाँ कार्य गिलास द्वारा किया गया है इसलिए गिलास से करण कारक है। से करण कारक का चिह्न है। कहीं-कहीं पर चिह्न का लोप भी रहता है। जैसे—आँखों देखा हाल, कानों सुनी सूचनाएँ इत्यादि।

(४) सम्प्रदान कारक—संज्ञा का वह रूप, जिसके लिए कोई कार्य किया जाय या जिसे कोई वस्तु दानस्वरूप दी जाय सम्प्रदान कारक कहलाता है। जैसे—उसने राम को रोटी दी। इस वाक्य में राम का सम्प्रदान कारक है।

(५) अपादान कारक—अपादान कारक संज्ञा अथवा सर्वनाम का वह रूप है, जिससे किसी वस्तु का अलग होना पाया जाता है। जैसे—१. वृक्ष से पत्ता गिरा। २. नल से पानी गिरा। ३. छत से लड़का गिरा इत्यादि। इन वाक्यों में वृक्ष से, नल से, और छत से पत्तों, पानी और लड़के का पृथक् होना जाना जाता है। इसलिए यह अपादान कारक हैं। से अपादान कारक का चिह्न है।

(६) सम्बन्ध कारक—वाक्य में जिस संज्ञा अथवा सर्वनाम का सम्बन्ध किसी दूसरी वस्तु से होता है वह सम्बन्धकारक कहलाता है। जैसे:—१. यह मेरा बस्ता है। २. यह मेरा बेटा है। ३. यह मोहन की किताब है इत्यादि। सम्बन्ध कारक के चिह्न का, के, की हैं परन्तु यह सर्वनाम में रा, रे, री और ना, ने, नी हो जाते हैं।

(७) अधिकरण कारक—अधिकरण कारक वह संज्ञा अथवा सर्वनाम शब्द

है जो किसी क्रिया के आधार हों। जैसे—१. राम खाट पर सो रहा है। २. सोहन कुर्सी पर बैठा है। इन वाक्यों में खाट पर और कुर्सी पर अधिकरण कारक हैं। में, पै, पर अधिकरण कारक के चिह्न हैं।

(८) सम्बोधन कारक—सम्बोधन कारक संज्ञा का वह रूप है जिसके द्वारा कोई किसी को पुकारता है। जैसे—१. हे भगवान्! तुम तो सुनो! २. हे दीन-दयाल तुम क्या कर रहे हो। ३. हे राम! तुम कितने महान् हो! हे, हो, अरे, अरी, रे, री इत्यादि सम्बोधन कारक के चिन्ह हैं।

१८७. कारकों के विषय में कुछ विशेष ज्ञातव्य बातें नीचे दी जाती हैं—

(१) समानाधिकरण शब्दों में से यदि एक शब्द किसी कर्त्ता या अन्य कारक में हो तो दूसरा शब्द भी उसी कारक में होगा। जैसे—१. श्याम के पिता प्रताप नारायण जी बड़े धनाढ्य हैं। १. मैंने रेलगाड़ी में श्याम के पिता प्रतापनारायण जी को देखा था। इन दोनों वाक्यों में पिता और प्रतापनारायण जी भिन्न-भिन्न कारकों में हैं। प्रथम वाक्य में इनका प्रयोग कर्त्ता कारक में है और द्वितीय कर्म कारक में।

(२) करण और अपादान कारकों में अधिकतर से चिन्ह का प्रयोग होता है। इसी चिन्ह का प्रयोग कभी-कभी कर्म कारक में भी पाया जाता है। जैसे—१. राम ने चाकू से खरबूजे को काटा। २. वृक्ष से फल गिरा। ३. राम ने सोहन से सवाल पूछा। प्रथम वाक्य में चाकू से करण कारक में है, क्योंकि चाकू की सहायता से खरबूजा काटा गया। दूसरे वाक्य में वृक्ष से फल पृथक् हुआ इसलिए वृक्ष से अपादान कारक में है। तीसरे वाक्य में सवाल पूछने का प्रभाव सोहन पर पड़ा इसलिए सोहन से कर्म कारक में है।

(३) को चिह्न का प्रयोग कर्म और सम्प्रदान कारकों के साथ होता है। इसलिए इनके पृथक्-पृथक् करके पहिचानने में कभी-कभी बड़ी कठिनाई भी उपस्थित हो जाती है। जैसे—१. मोहन ने श्याम को पीटा। २. कोतवाल ने चोर को छोड़ दिया। यहाँ पहिले वाक्य में पीटने का प्रभाव श्याम पर पड़ा। इसलिए श्याम को कर्म कारक में है। दूसरे वाक्य में छोड़ देने की क्रिया चोर के लिए की गई है। इसलिए चोर को सम्प्रदान कारक में है।

(४) परिमाण, व्याप्ति, अवस्था, मूल्य, समय, सम्पूर्णता आदि का अर्थ जहाँ पर प्रकट होता है वहाँ पर सम्बन्ध कारक होता है।

(५) शोभना, भाना, सुहाना, रुचना इत्यादि के अर्थ में जहाँ प्रयोग होता है वहाँ पर सम्प्रदान कारक होता है।

(६) लज्जा, भय, आरम्भ, परे, अपेक्षा, भिन्नता, अतिरिक्त, रहित, तुलना इत्यादि के अर्थ में जहाँ प्रयोग होता है वहाँ अपादान कारक रहता है।

विभक्तियाँ और उनके प्रयोग

१८८. कारक की विभक्तियों का मेल संस्कृत-विभक्तियों से बिल्कुल नहीं

जाता, क्योंकि यह सीधी संस्कृत से न अपनाई जाकर प्राकृत से हिन्दी में ली गई है। वचन के आधार पर इन विभक्तियों में कोई भेद नहीं होता, दोनों वचनों में इनका प्रयोग समान रूप से ही होता है।

इन विभक्तियों का प्रयोग कारकों के साथ मिलाकर भी होता है और पृथक् भी। दोनों ही प्रकार का प्रयोग हिन्दी में मिलता है। संस्कृत व्याकरण को मानने वाले इन्हें मिलाकर लिखते हैं और हिन्दी व्याकरण वाले पृथक्-पृथक्। यह दोनों ही मत आज हिन्दी में मान्य हैं और दोनों ही शुद्ध भी।

नोट १.—सम्बन्ध कारक में आने वाली विभक्तियों का पृथक् लिखना **अशुद्ध** है। उन्हें साथ ही लिखना चाहिए।

२. सम्बोधन कारक का चिह्न शब्द से पूर्व अलग से लिखा जाता है।

अध्याय १३

विराम-चिह्न इत्यादि

१८९. हिन्दी के प्राचीन काव्यों में विराम के स्थान पर केवल एक और दो खड़ी पाई का ही प्रयोग मिलता है। परन्तु जब हिन्दी अंग्रेजी सम्पर्क में आई और हिन्दी के विद्वानों ने अंग्रेजी भाषा के व्यवस्थित विराम-नियमों का अध्ययन किया तो उन्होंने उन्हीं का प्रयोग हिन्दी में भी करना आरम्भ कर दिया। हिन्दी भाषा को अंग्रेजी की यह अपूर्व देन है। विराम-चिह्नों द्वारा भाषा की रचना को बड़ा सहयोग मिलता है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि बिना ठीक-ठीक विराम-चिन्हों के भाषा में भावों की उचित अभिव्यक्ति होनी असम्भव है। भाव तथा विचारों का भाषा में नियमित रूप से क्रम उसी समय स्थापित होता है जब विराम चिन्हों का उचित प्रयोग हो। विराम-चिन्हों द्वारा लेखक समय-समय पर ठहरकर अपने एक विचार तथा भाव को दूसरे से पृथक् करके समझाता हुआ चलता है।

१९०. आज की हिन्दी में प्रयुक्त विराम-चिन्ह—(१) पूर्ण विराम, (२) अर्ध विराम, (३) अल्प विराम, (४) विस्मयादिबोधक, (५) अवतरण चिन्ह, (६) निर्देशक, (७) कोष्ठ्य (८) विभाजक इत्यादि।

१. पूर्ण विराम—हिन्दी में विराम चिह्न जिसे अंग्रेजी में Full stop कहते हैं, के स्थान पर खड़ी पाई (।) लगा दी जाती है। इसका प्रयोग वाक्य के पूर्ण समाप्त होने पर होता है। इसके अतिरिक्त पद्यों की अर्द्धाली के पश्चात् भी हिन्दी कविता में खड़ी पाई का प्रयोग मिलता है।

२. अर्ध विराम—अर्ध विराम, जिसे अंग्रेजी में Semi Colon कहते हैं, विराम के पश्चात् आता है। इसका ठहराव विराम से कम और अल्प विराम Comma) से अधिक होता है। इसके द्वारा एक वाक्य का दूसरे वाक्य से दूर का सम्बन्ध दिखलाया जाता है। यह चिह्न (;) इस प्रकार लिखा जाता है। निम्नलिखित स्थानों पर इसका प्रयोग किया जा सकता है—

(१) जब संयुक्त वाक्यों के प्रधान वाक्यों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता तो अर्ध विराम लगाया जाता है। जैसे—फलों में आम का फल सर्वश्रेष्ठ माना गया है; परन्तु काश्मीर में और ही प्रकार के फल विशेष रूप से पाये जाते हैं।

(२) विकल्प से अन्तिम समुच्चयबोधक द्वारा जोड़े जाने वाले पूरे वाक्यों में इस चिह्न का प्रयोग होता है। जैसे—मैं वहाँ पहुँचा; वह मिले; मुझे देखा भी.

परन्तु बातें न हो सकीं।

(३) एक ही मुख्य वाक्य पर ठहरे हुए वाक्यों के बीच में भी अर्ध विराम का ही प्रयोग होता है। जैसे - जब तक हम भूखे हैं; वस्त्र-हीन हैं; निर्बल हैं तब तक उन्नति नहीं कर सकते।

३. अल्प विराम—अल्प विराम को अंग्रेज़ी में Comma कहते हैं। इसे (,) इस प्रकार लिखा जाता है। हिन्दी में भी इसका लिखने का यही रूप अपना लिया गया है। इस चिह्न का प्रयोग भाषा में निम्नलिखित अवसरों पर होता है—

(१) कॉमा का प्रयोग एक ही शब्द-भेद के दो शब्दों के बीच में समुच्चय-बोधक होने पर होता है। जैसे—मैं योग, अर्थशास्त्र, इतिहास और आख्यान सभी कुछ पढ़ता हूँ।

(२) कॉमा का प्रयोग समानाधिकरण शब्दों के बीच में होता है। जैसे—विश्वविद्यालय के प्रोफेसर, हरिभाऊ जी, बड़े ही ज्ञानी व्यक्ति हैं।

(३) जोड़े से आने वाले शब्दों में प्रत्येक जोड़े के पश्चात् कॉमा लगाया जाता है। जैसे—रोना और गाना, खाना और पीना, पहनना और ओढ़ना, आज कौन नहीं जानता है ?

(४) समुच्चयबोधक शब्द से जुड़े दो शब्दों पर जब विशेष अवधारण दिया जाता है तो कॉमा चिह्न का प्रयोग होता है। जैसे—तुम्हारा कार्य निन्दनीय, और इसलिए त्याज्य, है।

(५) क्रियाविशेषण वाक्यांशों के बाद भी कॉमा आता है। जैसे—गौतम बुद्ध ने, संसार के दुःख को देखकर, तप प्रारम्भ किया। वह बूढ़ा, संसार से ऊबकर, गंगा में डूब मरा।

(६) किसी वाक्य में कई वाक्यांशों या खंड वाक्यांशों को पृथक् करने के लिए भी कॉमा चिह्न का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—अच्छा भोजन करने से शरीर बलवान् बनता है, रक्त अधिक बनता है, शरीर के साथ विचार-शक्ति को भी बल मिलता है और मनुष्य की उन्नति होती है।

(७) समानाधिकरण प्रधान वाक्यों के बीच में कोई समुच्चबोधक शब्द न रहने पर भी कॉमा का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—वीरों से मैदान पट गया, दोनों ओर से दल के दल उमड़ पड़े, तीरों की वर्षा होने लगी, तलवारें चमकीं और बात-की-बात में रक्त की सरिता बह निकली।

(८) अस्तु, लो, हाँ इत्यादि के पश्चात् कॉमा लगाया जाता है।

(९) कहीं-कहीं कि का लोप करके कॉमा से काम चला लिया जाता है। जैसे—तुम ऐसा कार्य करो (कि), जिससे साँप मरे न लाठी टूटे।

४. प्रश्नबोधक चिह्न—प्रश्नबोधक चिह्न को अंग्रेज़ी में Question Mark कहते हैं। इसका प्रयोग प्रश्नबोधक वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम के रूप में किया जाता है। इसे भाषा में लिखते समय (?) इस प्रकार चिह्नित किया जाता है। इसका प्रयोग

निम्नलिखित अवसरों पर होता है—

(१) आज्ञासूचक और प्रश्न वाले वाक्यों के पश्चात् यह चिह्न आता है। जैसे—कहो, तुमने क्या-क्या कार्य किया ? तुम कहाँ जा रहे हो ? तुम यह कार्य क्यों कर रहे हो ?

(२) प्रश्नवाचक शब्दों का अर्थ सम्बन्धवाचक का सा होने पर, जैसे—तुम क्या करते हो मैं नहीं समझ सकता।

५. विस्मयादिबोधक—विस्मयादिबोधक चिह्न को अंग्रेजी में Mark of Exclamation कहते हैं। विस्मय, हर्ष, विषाद, आश्चर्य, करुणा, भय इत्यादि वृत्तियों को इस प्रकार के चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है। इसका चिह्न लिपि में (!) इस प्रकार का होता है। सेमीकोलन, कोलन, कॉमा इत्यादि की भाँति यह भी अंग्रेजी का चिह्न है और ज्यों-का-त्यों हिंदी में अपना लिया गया है। इसका प्रयोग निम्नलिखित अवसरों पर होता है—

(१) मनोविकारसूचक पदों या शब्दों के पश्चात्। जैसे—वाह जी ! कल तो हमें चकमा ही दे गये !

(२) सम्बोधन पदों के पश्चात्। जैसे:—हे भगवान् ! तुम मुझ से क्यों रूठ गये !

(३) उन प्रश्नवाचक शब्दों के अन्त में जो मनोविकारों को सूचित करते हों। जैसे—बस, यही है आपकी दयालुता !

(४) हृदय के तीव्र होते हुए मनोविकारों को प्रकट करने के लिए; जैसे—वाह ! खूब ! खूब ! यह तो खूब कहा आपने !

६. अवतरण—अवतरण चिह्नों को अंग्रेजी में Inverted Commas कहते हैं। इनका प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति के कहे या लिखे उद्धरण के आगे और पीछे (" ") इस प्रकार से चिह्नित किया जाता है। शब्दों पर यह एक-एक कॉमा भी लगाया जाता है।

७. निर्देशक—निर्देशक चिह्न को अंग्रेजी में Dash कहते हैं। डैश का प्रयोग हिन्दी में निम्नलिखित स्थानों पर होता है।

(१) समानाधिकरण वाक्यांशों, शब्दों तथा वाक्यों के बीच में डैश लगाया जाता है। जैसे—मैंने मोहन—रोटी दाल—खा लिया।

(२) किसी विषय के साथ तत्सम्बन्धी अन्य बातों की सूचना देने के लिए भी डैश लगाया जाता है। जैसे—मनुष्य के दो रूप हैं—एक उसकी आत्मा और एक उसका शरीर।

(३) किसी की बात को उद्धृत करने के लिए। जैसे—मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी—सूरदास।

उक्त चिह्नों के अतिरिक्त कोलन (:), कोलन डैश (:—), कोष्ठक (( ) [ ] { }), विभाजक, गुणा, योग इत्यादि चिह्नों का भी प्रयोग किया जाता है।

लिखते समय जब कोई शब्द रह जाता है तो (‸) इस प्रकार का चिह्न लगाकर उसे ऊपर लिख दिया जाता है। जब किसी लम्बी बात में से कुछ कहकर बात को छोड देना होता है तो (‥‥) यह चिह्न लगाकर छोड़ दिया जाता है। जब किसी शब्द या वाक्यांश की व्याख्या उसी प्रकार नीचे रूल डालकर दी जाती है तो उसके अन्त में फूल या स्टार लगा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ साधारण चिह्न होते हैं परन्तु उनका प्रयोग हिन्दी मे नहीं किया जाता। इसलिए यहाँ पर हम उनके विषय मे कुछ नहीं लिखेगे ।

अध्याय १४

मुहाविरे और लोकोक्तियाँ

१६१. परिभाषा—मुहाविरा शब्द हिन्दी में अरबी भाषा से आया है । इसका अर्थ होता है 'अभ्यास' या 'बातचीत' परन्तु आजकल भाषा में यह पारिभाषिक शब्द है । आज यदि मुहाविरे की परिभाषा करने बैठें तो समझना चाहिए कि कोई भी ऐसा वाक्यांश जिसका शब्दार्थ ग्रहण न करके कोई विलक्षण अर्थ ग्रहण किया जाता हो, वह मुहाविरा कहलाता है ।

१६२. उत्पत्ति—मुहाविरे के लाक्षणिक अर्थ और उसके शब्दार्थ में बहुत कुछ साम्य रहता है । वास्तव में किसी प्राचीन प्रचलन के भाव को ही लक्षणा द्वारा साहित्यिक जन मुहाविरे में प्रयुक्त करते हैं । जैसे **सिर मुँड़ाते ही ओले पड़ना—काला मुँह करना** इत्यादि । प्रारम्भ में कुछ घटनाओं के आधार पर कुछ वाक्यांशों का निर्माण हुआ और फिर कालान्तर में वह वाक्यांश रूढ़ि होकर मुहाविरे बन गये । बस, यही मुहाविरों का इतिहास है ।

१६३. मुहाविरों और भाषा में योग—जनता की प्रचलित भाषा में कालांतर के साथ-साथ स्वयं मुहाविरों का निर्माण हुआ है, यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं । इस प्रकार मुहाविरे जनता के हृदय और मस्तिष्क से निकले वह वाक्यांश हैं जिन्हें विशेष रोचक ढंग से साहित्यकारों ने प्रयोग करते-करते साहित्य में रूढ़ि कर दिया है । यह भाषा और जनता दोनों की वह संचित निधि है कि जिनके द्वारा लेखक की शैली को चार चाँद लग जाते हैं और उनकी व्यंजना, लक्षणा तथा प्रभावात्मकता बढ़ जाती है । मुहाविरे ही भाषा में लोकप्रियता का आभास प्रस्तुत करते हैं और इन्हीं के द्वारा उसमें सर्वप्रियता के गुण समाविष्ट होते हैं । मुहाविरों के सहयोग से साधारण भाषा भी चमत्कृत हो उठती है ।

१६४. मुहावरों में प्रयोग—मुहाविरों के प्रयोग से भाषा का चमत्कार, लालित्य, प्रवाह, भाव-गाम्भीर्य और इसी प्रकार के अन्य गुण प्रस्फुटित होते हैं । इनके द्वारा भाषा अनुप्राणित होती है । सरल और मधुर भाषा मुहाविरों की पुट पाकर इतनी सजीव हो उठती है कि रचना पाठक के हृदय को छूने में विलम्ब नहीं करती । उपर्युक्त कारणों से लेखक को चाहिए कि वह अपनी भाषा के प्रचलित मुहाविरों का सुन्दर अध्ययन करने के पश्चात् उनका उचित प्रयोग अपनी भाषा में यत्र-तत्र करे और भाषा को सजीव तथा प्रांजल बनाने का प्रयत्न करे ।

मुहाविरों को वाक्यों में जोड़ने का प्रयास करने से पूर्व मुहाविरे के लाक्षणिक अर्थ का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। यदि मुहाविरे का लेखक ने अशुद्ध प्रयोग कर दिया तो काव्य में सौन्दर्य आने की अपेक्षा और अर्थ का अनर्थ हो जायगा। मुहाविरों के प्रयोग के लिए अध्ययन और अभ्यास का होना नितान्त आवश्यक है। उचित अध्ययन और अभ्यास के न रहने पर मुहाविरों का प्रयोग भाषा को दूषित कर डालेगा। मुहाविरों का शुद्ध प्रयोग केवल मुहाविरे और उनके अर्थ भर रट लेने से नहीं होता। उसके लिए सिद्धहस्त लेखकों की रचनाओं का अध्ययन करना होगा और उनमे देखना होगा कि लेखक ने यत्र-तत्र किस प्रकार मुहाविरों का प्रयोग किया है। मुहाविरों की शब्दावली को अपनी इच्छानुसार तोड़-मोड़ न डालना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। साथ ही मुहाविरों का प्रयोग एक परिमाण में ही होना आवश्यक होता है। यदि परिमाण से ऊपर उठकर उनकी भाषा में भरमार कर दी जायगी तो वे भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि करने की अपेक्षा उसे भौंडी बना देंगे। इसलिए उनका प्रयोग केवल दाल में नमक के समान ही होना चाहिए। भोजन के साथ जिस प्रकार चटनी का प्रयोग भोजन को रुचिकर बनाता है उसी प्रकार मुहाविरे भी भाषा में रोचकता लाते हैं, परन्तु खाली चटनी को ही यदि भोजन का आकार दे दिया जाय तो भोजन करने वाले का सब आनन्द किरकिरा हो जायगा। इसलिए मुहाविरे के प्रयोग में जहाँ अभ्यास और अध्ययन का विशेष महत्त्व है वहाँ संतुलन को भी भुलाया नहीं जा सकता।

मुहाविरों का प्रयोग ग्रामों, नगरों और इन दोनों ही स्थानों के निम्न तथा उच्च कोटि के वर्गों में बहुतायत के साथ मिलता है। सब के इन्हें प्रयोग करने के अपने-अपने ढंग हैं। यहाँ हम जिन मुहाविरों का उल्लेख करने जा रहे हैं वह वह हैं जिनका प्रयोग साहित्यिक भाषा में किसी-न-किसी रूप में कहीं-न-कहीं पर किया गया है और जिनका ज्ञान विद्यार्थियों को होना आवश्यकीय है। नीचे कुछ मुहाविरे विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ दिये जाते हैं—

श्रीगणेश करना : आरम्भ करना।

श्रीगणेश होना : कोई कार्य आरम्भ होना।

इति श्री होना : कोई कार्य समाप्त होना।

अ, आ, ओ, औ, इ, ई, उ, ऊ

अँगूठा चूमना : बहुत विनय करना।

अँगूठा दिखाना : मना करना।

अकेले चना भाड़ नहीं फोड़ता : एक मनुष्य कठिन कार्य नहीं कर सकता।

अंजर-पंजर ढीला होना : अंग-अंग शिथिल हो जाना।

अंडा सेना : निठल्ला होना।

अंग अंग ढीला होना : थक जाना।

अंटा गुड़-गुड़ होना : गहरी चोट लगने पर लोट-पोट हो जाना।

अन्त भला तो सब भला : यदि परिणाम अच्छा हो तो कार्य भी अच्छा है।
अन्त भले का भला : अच्छे कार्य का परिणाम अच्छा होता है।
अच्छे घर वयना देना : अधिक बलवान से वैर-भाव रखना।
अन्धे के हाथ बटेर लग जाना : सौभाग्य से इच्छित वस्तु मिल जाना।
अन्तड़ियों में बल पड़ना : अधिक हँसना।
अन्धे को चिराग दिखाना : मूर्ख को उपदेश देना।
अन्धा क्या चाहे, दो आँखें : आवश्यक वस्तु बिना प्रयास के प्राप्त होना।
अन्धा बाँटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को देय : अधिकार-प्राप्त मनुष्य बार-बार अपने मित्रों और सम्बन्धियों का ही घर भरता है।
अन्धा पीसे कुत्ता खाय : किसी की पैदा की हुई सम्पत्ति पर दूसरे का मौज करना।
अन्धे के आगे रोना अपने दीदे खोना : निर्दय व्यक्ति के सामने दुःख सुनाना व्यर्थ है।
अन्धे को अंधेरे में बहुत दूर की सूझना : मूर्ख मनुष्य का बुद्धिमानी की बात करना।
अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा : मूर्ख सरकार।
अन्धे की लाठी : अवलम्ब, सहारा, आसरा।
अँधेरे घर का उजाला : सुलक्षण होना।
अन्धों में काना राजा : मूर्ख समुदाय में थोड़ा भी विद्वान् पण्डित होता है।
अक्ल के पीछे लट्ठ लिये फिरना : मूर्खता दिखलाना।
अक्ल चरने जाना : बुद्धि की कमी होना।
अक्ल पर पत्थर पड़ जाना : बुद्धि नष्ट होना।
अक्ल बड़ी कि भैंस : बड़ी उम्र वाले से बड़ी बुद्धि वाला श्रेष्ठ है।
अक्ल के घोड़े दौड़ाना : अनेक प्रकार की कल्पना करना।
अड्डा जमाना : नित्य रहना, जम जाना।
अपना-सा मुँह लेकर रह जाना : लज्जित होना।
अपना ही राग अलापना : अपनी ही बात मानना, दूसरों की न सुनना।
अपनी खिचड़ी अलग पकाना : पृथक् रहना।
अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी मारना : स्वयं अपना अहित करना।
अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना : स्वयं अपनी बड़ाई करना।
अगिया बैताल : खंडहर।
अटकलपच्चू : मन-गढ़न्त।
अढ़ाई चावल की खिचड़ी अलग पकाना : अपनी राय अलग करना।
अधजल गगरी छलकत जाय : नीच मनुष्य इतराकर चलता है।
अनमाँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख : भाग्यवान सब कुछ प्राप्त कर

सकता है, लेकिन भाग्यहीन कुछ नहीं पा सकता।

अन्न-जल उठना : जीविका का सहारा न रहना।

अपना उल्लू सीधा करना : बेवकूफ बनाकर काम निकालना।

अपनी बात पर आना : हठ करना।

अपनी करनी पार उतरनी : अपना कर्म-फल आप मिलता है।

अपनी कटे तो कटे दूसरों का सगुन तो बिगड़े : दूसरों की हानि के लिए अपनी भी हानि सहन करना।

अब पछताये होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत : समय निकल जाने पर पश्चाताप करना व्यर्थ है।

अफवाह गर्म होना : प्रसिद्ध होना।

अमरौती खाकर कोई नहीं आया : कोई अमर नहीं है।

अरहर की टट्टी और गुजराती ताला : छोटी वस्तु की रक्षा के लिए अधिक व्यय करना।

अल्पाहारी सदा सुखी : कम खाने वाला सदा स्वस्थ रहता है।

अशर्फियाँ लुटें और कोयले पर मुहर-छाप : एक तरफ अधिक खर्च करना पड़े और दूसरी ओर पैसे-पैसे का हिसाब रखना।

अस्सी की आमद चौरासी का खर्च : आय से अधिक व्यय।

आई मौज फकीर की दिया झोंपड़ा फूँक : साधु प्रकृति वाले मनुष्य को किसी वस्तु का लोभ नहीं होता।

आकाश-पाताल का अन्तर : बहुत अन्तर।

आकाश-पाताल एक कर डालना : बहुत परिश्रम करना।

आकाश से बातें करना : घमण्ड हो जाना, अधिक ऊँचा होना।

आसमान टूट पड़ना : एकाएक विपत्ति आना।

आसमान पर थूकना : बड़े लोगों को दोषी बनाना।

आसमान पर चकती लगाना : धूर्त होना।

आसमान सिर पर उठाना : बहुत शोर करना।

आँख खुलना : सचेत होना, होशियार होना।

आँख दिखाना : क्रोध आना।

आँख बन्द होना या करना : भूल जाना, बेखबर हो जाना।

आँख बिछाना : प्रेम से स्वागत करना।

आँख लगना : नींद आना, प्रेम करना, टकटकी बँधना।

आँख और कान में चार अँगुल का फर्क : बिना देखे विश्वास नहीं करना चाहिए।

आँख बची और माल यारों का : लापरवाही से किसी चीज की चोरी करना।

आँख के अन्धे नाम नयनसुख : गुण के विरुद्ध नाम।

आँख के अन्धे गाँठ के पूरे : मूर्ख होते हुए भी धनी।
आँख में चरबी छाना : घमण्डी होना।
आँख में धूल झोंकना : धोखा देना।
आँख में रात कटना या काटना : पलक से पलक न लगना।
आँखों में समाना : ध्यान पर चढ़ा रहना।
आँख से लहू टपकना : बहुत रोना।
आँख चार होना : देखा-देखी होना।
आँख चुराना : छिप जाना।
आँख नीली-पीली करना : क्रोध करना।
आँख फेर लेना : प्रतिकूल होना।
आँख बदल जाना : प्रेम में अन्तर आ जाना।
आँखों का काँटा होना : बुरा लगना।
आँखों का पानी गिर जाना : निर्लज्ज हो जाना।
आँख मिलाना : सामना करना।
आँखों पर पर्दा पड़ना : धोखा खाना।
आँखों पर बैठाना : आदर करना।
आँच न आने देना : अहित न करने देना।
आँचल पसारना : भीख माँगना।
आँचल में बाँधना : हर समय याद रखना।
आँसू पीकर रह जाना : दुःख सह लेना।
आस्तीन का साँप होना : विश्वासघात करना।
आग-बबूला हो उठना : अधिक क्रोध होना।
आग लगाय के बीबी जमालो अलग खड़ी : दूसरों में झगड़ा कराके अलग होना।
आगे नाथ न पीछे पगहा, सबसे भला कुम्हार का गदहा : जिसके कोई न हो।
आग में पानी डालना : झगड़ा मिटाना।
आगा-पीछा सोचना : समझ-बूझकर काम करना।
आटे-दाल का भाव मालूम होना : संसार की कठिनाइयों का ख्याल होना।
आठ कनौजिया नौ चूल्हे : अपनी खिचड़ी अलग पकाना, फूट होना।
आदमी जाने बसे, सोना जाने कसे : आदमी की परख उसके साथ रहने से होती है।
आदमी बनना : सभ्य होना।
आदमी होना : बुद्धि और विवेक होना।
आड़े हाथों लेना : क्रोध करना।
आधा तीतर आधा बटेर : दो बेतुकी और अधूरी बातों का समावेश।
आधी छोड़ सारी को धावे, सारी रहे न आधी पावे : बहुत लालची होना

बुरा है।

आड़े हाथों लेना : झिड़कना।

आप काज महा काज : अपना काम अपने हाथ ही से ठीक होता है।

आप न जावे सासुरे औरों को सिख देय : स्वयं न करके दूसरों को फँसा देना।

आप मरे जग परलै : स्वयं न होने से बड़ी हानि होती है।

आपा धापी पड़ना : अपनी ही धुन में मस्त होना।

आपे से बाहर होना : वश में न रहना।

आफ़त का परकाला : उपद्रवी होना।

आबरू में बट्टा लगना : इज्ज़त में धब्बा लगना

आम के आम गुठलियों के दाम : किसी वस्तु से दो लाभ।

आम खाने से काम, पेड़ गिनने से क्या काम : काम की बातें न करके बेकार बातें करना।

आये थे हरि-भजन को ओटन लगे कपास : निश्चित कार्य को त्यागकर किसी दूसरे कार्य में लग जाना।

आसन डोलना : चित्त चलायमान होना।

आसमान के तारे तोड़ना : कोई कठिन या असम्भव कार्य करना।

आहारे व्योहारे लज्जा न करनी चाहिए : भोजन और लेन-देन में संकोच न करना चाहिए।

आस्तीन का साँप : मित्र होकर शत्रुता करने वाला।

आह भरकर रह जाना : दिल मसोसकर रह जाना।

ओखली में सिर देना : जान-बूझकर आफत में पड़ना।

ओछे की प्रीति बालू की भित्ति : दुष्ट मनुष्य की मित्रता बहुत दिनों तक नहीं चलती।

ओस के चाटे प्यास नहीं बुझती : थोड़ी वस्तु प्राप्त होने पर सन्तुष्टि नहीं होती।

औंधी खोपड़ी का होना : मूर्ख होना।

औंधे मुँह गिरना : धोखा खाना।

इधर जायँ तो खाई उधर जायँ तो खन्दक : सब तरफ़ से मुसीबत आना।

इराकी पर ज़ोर न चला, तो गदही के कान उमेठे : बलवान मनुष्य पर ज़ोर न चलने से ग़रीबों पर क्रोध उतारना।

इन तिलों में तेल न होना : उद्देश्य-पूर्ति न होना।

इस कान सुनना उस कान उड़ा देना : ध्यान देकर न सुनना।

ईंट से ईंट बजाना : युद्ध करना या नष्ट करना।

ईमान बेचना : विश्वास उठा देना।

ईश्वर की माया, कहीं धूप कहीं छाया : भाग्य विचित्र है।

ईद का चाँद होना : बहुत दिनो बाद दर्शन देना।

उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ना : थोड़ा सहारा पाकर सब पर अधिकार जमा लेना।

उँगली पर नचाना : वश में रखना।

उँगली उठाना : दोषी बनाना।

उड़ती चिड़िया पहचानना : दिल की बात जानना।

उलटी गंगा बहाना : विपरीत बात करना।

उलटा पासा पड़ना : भाग्य बदल जाना।

उखड़ी-उखड़ी बातें करना : रूखी बातें करना।

उछल-कूद करना : प्रसन्न होना, व्यर्थ परिश्रम करना।

ऊँच-नीच सोचना : आगे-पीछे का विचार करना।

ऊँची दूकान फीका पकवान : अधिक आडंबर होना।

ऊँट किस करवट बैठता है : देखें क्या निर्णय होता है ?

ऊँट के मुँह में जीरा : बड़े पेट को थोड़ा सामान।

ऊधो का लेना न माधो का देना : स्वतन्त्र रहना।

एक लाठी हाँकना : एक ही व्यवहार सब के साथ रखना।

एक अनार सौ बीमार : एक स्थान के लिए बहुत से लोगों को प्रयत्न करना।

एक और एक ग्यारह होना : मिलकर शक्ति बढाना।

एक तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत : सम्पत्ति से स्वास्थ्य कई गुणा अच्छा होता है।

एक तो चोरी दूसरे सीनाज़ोरी : बुरा कार्य करके आँख दिखाना।

एक तो करेला कड़वा दूसरे नीम चढ़ा : उद्दण्ड को सहारा मिलना।

एक थैली के चट्टे-बट्टे : सब एक समान।

एक पंथ दो काज : एक परिश्रम में दो फल मिलना।

एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है : कुल का एक बुरा मनुष्य सारे कुल को कलंकित कर देता है।

एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकतीं : एक स्थान पर दो शक्तिशाली व्यक्ति कभी नहीं रह सकते।

एक हाथ से ताली नहीं बजती : एक के झगड़ालू होने से झगड़ा नहीं होता।

क, ख, ग, घ,

कंगाली में आटा गीला : आपदा पर आपदा आती हैं।

कड़ाई से निकला चूल्हे में गिरा : एक विपत्ति से छूटकर दूसरी आपत्ति में पड़ना।

कण्टकेनैव कण्टकम् : शत्रु को शत्रुता द्वारा नष्ट करना चाहिए।

कभी घी घना, कभी मुट्ठी भर चना और कभी वह भी मना : जो कुछ मिले उसी पर सन्तोष करना।

कभी नाव गाड़ी पर, कभी गाड़ी नाव पर : समयानुसार एक दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है।

करमहीन खेती करे, बैल मरे या सूखा पड़े : कर्महीन मनुष्य किसी काम में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

करेगा सो भरेगा : अपने किये कर्म को स्वयं भुगतना पड़ता है।

कन्धा देना : सहायता देना।

कन्धे से कन्धा मिलना : बहुत भीड़ होना।

कच्चा खाना : नष्ट कर देना, जल्दबाजी करना।

कच्चा चिट्ठा खोलना या सुनाना : गुप्त भेद खोलना।

कब्र में पैर लटकाये बैठना : मरने के निकट होना।

कलेजा निकालकर रख देना : भरसक प्रयत्न करना, सार-तत्त्व कह देना।

कलेजा ठंडा होना : शांति होना।

कलेजे पर साँप लोटना : ईर्ष्या से दिल जलाना।

कलेजा मुँह को आना : जी घबराना।

कलेजा ठंडा होना : तृप्ति होना।

कलेजा छलनी होना : कड़ी बात से जी दुखना।

कलेजा थामना : दुख सहने के लिए जी कड़ा करना।

कलेजा निकालकर रख देना : सर्वस्व दे देना।

कलेजा टूक टूक होना : दिल पर कड़ी चोट लगना।

कतर-ब्योंत करना : सोच-विचार में पड़ना।

कन्नी काटना : नजर बचाये फिरना।

कपड़े उतार लेना : एक दम लूट लेना।

कपास ओटना : दुनिया के धन्धों में फँसना।

कफ़न सिर से बाँधना : मरने पर तैयार होना।

कमर कसकर बाँधना : किसी कार्य को करने के लिए पक्का इरादा रखना।

कमर टूटना : निराश होना।

कमर सीधी करना : विश्राम करना।

कहीं का न रहना : किसी लायक न रहना।

कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली : दो असमान व्यक्तियों की तुलना करना।

कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा : अनावश्यक वस्तुओं से कोई निकम्मी वस्तु तैयार कर लेना।

कहने से धोबी गदहे पर नहीं चढ़ता : हठी पुरुष कहने पर काम नहीं करते।

काग़ज़ी घोड़ा दौड़ाना : क्रियात्मक रूप से कुछ न करना, लेखबद्ध कार्यवाही करना।

क़ाग़ज़ काला करना : व्यर्थ कुछ लिखना ।

काँटों में उलझना : आपत्ति में फँसना ।

काँटों में खिंचना : किसी की अत्यधिक प्रशंसा करके लज्जित करना ।

काटो तो खून नहीं : डर जाना ।

काठ की हाँडी : धोखे की चीज़ ।

काठ का उल्लू : मूर्ख ।

कान खड़े करना : सचेत होना ।

कान खाना : ज़ोर-ज़ोर से बातें करना ।

कान पकड़ना : अपनी भूल स्वीकार करना ।

कान कतरना : बहुत चालाक होना ।

कान पर जूँ न रेंगना : बार-बार कहने पर भी कुछ प्रभाव न पड़ना ।

कानोंकान खबर न होना : किसी को मालूम न होना ।

कान भरना : किसी के कान में दूसरे की शिकायत करना ।

कान में तेल या रूई डाले बैठना : बात सुनकर भी ध्यान न देना ।

काम तमाम करना : मार डालना ।

कायापलट हो जाना : परिवर्तन होना ।

काले कौवे खाना : बहुत दिनों तक जीना ।

काँवा काटना : आँख बचाकर दूसरी ओर निकल जाना ।

काजल की कोठरी में कैसो हू स्यानो जाय, एक लीक काजल की लागि है, पै लागि है : बुरे मनुष्य के पास बैठने से कुछ-न-कुछ बुराई अवश्य होगी ।

काबुल में क्या गधे नहीं होते : मूर्ख और बुरे मनुष्य सभी स्थान पर होते हैं ।

काम जो आवे कामरी का लै करै कमांच : जब छोटी चीज़ से काम चले तो बड़ी वस्तु की क्या ज़रूरत ?

काम प्यारा है चाम प्यारा नहीं : जब कोई नौकर इच्छा के विरुद्ध काम करता है ।

काला अक्षर भैंस बराबर : बिल्कुल अनपढ़ ।

किताब का कीड़ा : अधिक पढ़ना ।

किस खेत की मूली है : बड़ों के सामने छोटों का कम महत्त्व होता है ।

किनारा करना : अलग होना ।

किसी का हो रहना : किसी का गुलाम बनकर रहना ।

कुत्ते की मौत मरना : बुरी तरह मरना ।

कुएँ की मिट्टी कुएँ में ही लगती है : किसी जगह की कमाई वहीं समाप्त हो जाय ।

कुप्पा होना : फूल जाना, रूठना ।

कुल्हिया में गुड़ फोड़ना : छिपकर कोई काम करना ।

कोढ़ में खाज : दुख में दुख।
कोरा जवाब : स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार।
कोल्हू का बैल : अत्यन्त परिश्रम करना।
कौड़ी कौड़ी का मुहताज होना : अधिक गरीब हो जाना।
कौड़ी के तीन होना : बेकदर होना।
कौड़ी चित्त पड़ना : मतलब सिद्ध हो जाना।
कौड़ी के मोल बिकना : बहुत सस्ता होना।
कौड़ी कौड़ी जोड़ना : बहुत थोड़ा-थोड़ा करके धन एकत्रित करना।
क्या मुँह दिखाओगे : क्या जवाब दोगे ?
क्या पिद्दी, क्या पिद्दी का शोरबा : छोटी चीज से बड़ा काम पूरा नहीं हो सकता।
खग जाने खग ही की भाषा : किसी का असली हाल उसके साथी ही जानते हैं।
खटाई में डालना : उलझन करना।
खट्टा जी होना : अप्रसन्न होना।
खबर लेना : देखना।
खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है : देखादेखी साथियों के रंग-ढंग की तरह रंग-ढंग हो जाना।
खाक छानना : भटकना, अच्छी तरह तलाश करना।
खाक डालना : छिपाना।
खाने दौड़ना : ऊपर को चढ़ आना।
खाक में मिलाना : बरबाद करना।
खाय सो पछताय, न खाय सो पछताय : ऊपर से सुन्दर, अन्दर से खराब।
खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे : लज्जित होकर क्रोध करना।
खीस काढ़ना : बेढंगे तौर पर हँसना।
खून उबलना : क्रोध से शरीर लाल होना।
खून का प्यासा होना : जानी दुश्मन होना।
खून की नदी बहाना : बहुत मार-काट करना।
खून सूख जाना : भयभीत हो जाना।
खुदा गंजे को नाखून न दे : अत्याचारी को कोई अधिकार न देना चाहिए।
खेती खसम सेती : खेती और स्त्री अपने मालिक की देखभाल में ठीक रहती है
खेत रहना : मारा जाना।
खोदा पहाड़ और निकली चुहिया : अधिक परिश्रम पर थोड़ा फल मिलना।
खोपड़ी चाट जाना : दिमाग थका देना।
ख्याली पुलाव पकाना : मनमानी कल्पनाएँ करना।
गंगा नहाना : कृतार्थ होना, छुट्टी पाना।

गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमनादास : मुंह देखी बात करना।
गज भर की छाती होना : उत्साह बढ़ जाना।
गड़े मुर्दे उखाड़ना : पुरानी बातें दुहराना।
गरदन पर छुरी फेरना : अत्याचार करना।
गरदन पर सवार होना : पीछा करना
गले मढ़ना : जबरदस्ती कोई काम सोंपना।
गागर में सागर भरना : विशाल भाव को थोड़े शब्दों में प्रकट करना।
गाँठ का पूरा होना : मालदार होना।
गाढे का साथी होना : संकट में सहायक होना।
गाल बजाना : डींग मारना।
गुड़ गोबर करना : काम बिगाड़ देना।
गुड़ खाय गुलगुलों से परहेज : बनावटी परहेज।
गरदन नापना : बाहर निकलने के लिए गरदन पकड़ना।
गले का हार : चिर सहचर।
गले पड़ना : सिर पड़ना, न चाहने पर भी मिलना।
गले पड़ना या लड़ाना : किसी की इच्छा के विरुद्ध देना।
गले लगाना : प्रेम करना।
गहरी छनना : गाढ़ी मित्रता होना।
गीदड़ भभकी : खाली धमकी देना।
गुदड़ी का लाल : ऐसा धनी या गुणी जो रहन-सहन से प्रकट न हो।
गुरु घंटाल : बहुत बड़ा चालाक।
गुलछर्रे उडाना : स्वतन्त्र रूप से अधिक भोग-विलास करना।
गूँगे का गुड़ खाना : ऐसी बात जो कहते न बने।
गुड़ियों का खेल होना : सहज काम होना।
घड़ों पानी पड़ना : बहुत लज्जित होना।
घर का भेदी लंका ढाय : आपस की फूट हानिकारक होती है।
घर का और घाट का कहीं का न रहना : बेकार होना।
घर का बोझ उठाना : घर का प्रबन्ध करना।
घर की मुर्गी दाल बराबर : घर की वस्तु की अधिक प्रतिष्ठा नहीं होती।
घर काटने दौड़ना : सूनापन अनुभव करना।
घर का शेर होना : केवल घर में ही बल दिखाना।
घर सिर पर उठाना : शोर करना।
घर खीर तो बाहर भी खीर : धनी मनष्य की सब जगह प्रतिष्ठा होती है।
घाट-घाट का पानी पीना : अनुभवी होना।
घाव पर नमक छिड़कना : हृदय दुखाना।

घाव हरा होना : भूले हुए दुख की याद आना।

घोड़ा घास से यारी करे तो खाय क्या ? जो मनुष्य जिस काम को करता है, वह उसमें लाभ अवश्य चाहता है।

घोड़े को घर कितनी दूर : काम करने वाले को काम में देर नही लगती।

घोड़ा बेचकर सोना : बेफिक्र हो जाना।

घुयाद्दर न्याय : सच्चा न्याय।

घी के चिराग जलाना : खुशी मनाना।

घिग्घी बँध जाना : अधिक डर जाना।

घुट-घुटकर मरना : बहुत दुख उठाकर मरना।

घुन लगना : भीतर ही किसी वस्तु का क्षीण होना।

च, छ, ज, झ,

चन्दन की चुटकी भली, गाड़ी भला न काठ : अच्छा वस्तु थोड़ी ही अच्छी होती है, निकम्मी बहुत सी हों तो भी अच्छी नही।

चलती गाडी में रोडा अटकाना : बाधा डालना।

चाँद पर थूकना : व्यर्थ निन्दा करना।

चाँदी का जूता मारना : पैसे का लोभ देना।

चादर के बाहर पैर पसारना : हैसियत से ज्यादा व्यय करना।

चारों खाने चित्त होना : विकल हो जाना।

चाँद पर धूल डालना : निर्दोष को दोष लगाना।

चमडी जाय पर दमडी न जाय : अत्यन्त कंजूस होना।

चलती का नाम गाड़ी है : चलते काम की प्रतिष्ठा होती है।

चार दिन की चाँदनी फेर अँधेरी रात : धन, यौवन थोड़े दिन ठहरते हैं।

चिराग तले अँधेरा : जब कोई दूसरों को उपदेश दे और स्वयं वैसा कार्य न करे।

चिऊँटी के पर निकल आना : मौत समीप आ जाना।

चिकना घड़ा होना : निर्लज्ज होना।

चिकनी-चुपड़ी बातें करना : मीठी बातों द्वारा धोखा देना।

चिड़िया फँसाना : मालदार को फँसाना या किसी स्त्री को फँसाना।

चित्त पर चढ़ना : मन में बस जाना।

चिराग गुल होना : सन्तान की मृत्यु हो जाना।

चील के घर मांस कहाँ : दूसरों का माल खाने वाले से कुछ पाना असम्भव है।

चुटकी लेना : चुभती बात कहना।

चुल्लू भर पानी में डूब मरना : बहुत लज्जित होना।

चैन की वंशी बजाना : मौज करना।

चोटी एडी तक का पसीना बहाना : बहुत मेहनत करना।

चोटी हाथ में होना : वश मे होना ।

चोली दामन का साथ होना : हमेशा साथ रहना ।

चौकड़ी भूल जाना : कोई चाल न सूझना ।

चिराग लेकर ढूँढना : चारों ओर हैरान होकर ढूंढना ।

चीं चटाख करना : झगड़ा करना ।

चुपड़ी और दो-दो : उत्तम और अधिक ।

चूड़ियाँ पहनना : कायर या डरपोक हो जाना ।

चूल्हे में जाना व पड़ना : नष्ट-भ्रष्ट होना ।

चूहे का बच्चा बिल ही खोदेगा : जाति-स्वभाव नहीं छूटता ।

चेहरा तमतमाना : क्रोध के कारण चेहरा लाल होना ।

चोर की दाढ़ी में तिनका : वास्तविक अपराधी बिना पूछे ही बोल उठा ।

चोर के पैर नहीं होते : अपराधी मनुष्य परीक्षा की कसौटी पर नही ठहरता ।

चोर-चोर मौसेरे भाई : एक पेशे के मनुष्य आपस मे बहुत शीघ्र मिल जाते हैं ।

चोर से कहो चोरी करे, शाह से कहो जागते रहो : जब कोई मध्यस्थ बनकर दोनों दलों को लड़ाने का प्रयत्न करता है ।

चोली-दामन का साथ : घनिष्ट मित्रता ।

छछूँदर के सिर में चमेली का तेल : अयोग्य मनुष्य को बड़ी वस्तु मिल जाना ।

छक्के छुड़ाना : घबरा देना ।

छठी का दूध निकालना : बहुत कष्ट देना ।

छठी का दूध याद आना : सब सुख याद आना ।

छप्पर फाड़कर देना : बिना परिश्रम के देना ।

छाती पर मूँग दलना : अत्यन्त कष्ट पहुंचाना ।

छाती पर सांप लेटना : दुःख से कलेजा दहल जाना ।

छाती पर पत्थर रखना : रहम करना ।

छुरी खरबूजे पर गिरे तो खरबूजे की हानि, खरबूजा छुरी पर गिरे तो खरबूजे की हानि : जब दोनों ओर नुकसान दिखाई दे ।

छूमन्तर होना : चटपट गुप्त होना ।

छोटे मुँह बड़ी बात : योग्यता से बढ़कर बातें करना ।

छोटे मियां सो छोटे मियाँ, बड़े मियाँ सुभान अल्लाह : बड़ा छोटे से भी बुरा है ।

जंगल में मंगल होना : सुनसान स्थान में मंगल होना ।

जग-हँसाई करना : बदनामी का कार्य करना ।

जब चने थे तब दाँत न थे, जब दाँत हुए तब चने नहीं : जब धन था तो कोई उपयोग करने वाला न था और जब उपयोग करने वाले हुए तब धन नहीं रहा ।

जब तक साँस। तब तक आशा : मृत्यु के समय तक आशा बनी रहती है।

जबांशीरी मुल्कगीरी : मीठा बोलने वाला सब को वश में कर लेता है।

जल में रहकर मगरमच्छ से वैर : जिसके आश्रय में रहे उसी से शत्रुता।

जहँ जहँ चरन पड़े सन्तन के तहँ-तहँ कीज्यो बँटाधार : यह बात मनहूस आदमियों के लिए कही जाती है।

जहां गुड़ होगा वहीं चींटे होंगे : हुनर के पास प्रतिष्ठा करने वाले पहुँच जाते हैं।

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि : जहाँ सूर्य की किरण नही पहुँचती कवि-कल्पना वहाँ भी पहुँच जाती है।

जले पर नमक छिड़कना : अधिक गुस्सा दिलाना।

जबानी जमा-खर्च करना : केवल बात ही बात करना।

ज़माना देखना : बहुत कम अनुभव प्राप्त करना।

ज़मीन का पैरों तले से निकल जाना : होश-हवास जाते रहना।

ज़मीन पर पैर न पड़ना : बहुत अभिमान होना।

जलती आग में कूदना : जानकर भी विपत्ति में फँसना।

जली-कटी या जली-भुनी बात करना : चुभी हुई बात करना।

ज़मीन चूमने लगना : गिर जाना।

ज़हर उगलना : ईर्ष्या-पूर्ण बातें करना।

ज़हर का घूँट पीना : क्रोध सहन करना।

जान के लाले पड़ना : संकट में पड़ना।

जान पर खेलना : खुशी से प्राण देना।

जान में जान आना : जी ठिकाने होना।

जान लड़ाना : बहुत मेहनत करना।

जान से हाथ धोना : प्राण गँवाना।

जान बची लाखों पाए : आलसी और कायर लोग अपनी जान प्यारी समझते हैं।

जान मारे बानिया पहिचान मारे चोर : बनिये जाने हुए लोगों को बहुत ठगते हैं। क्योंकि वे मित्रता के कारण कुछ नहीं बोलते।

जाके पाव न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई : जिसे कभी दुःख नहीं हुआ वह दूसरे के दुःख का क्या अनुभव कर सकता है?

जामे में फूला न समाया : फूला न समाना।

जामे से बाहर होना : नाराज़ हो जाना।

ज़िन्दगी के दिन पूरे करना : दिन काटना।

जिसकी लाठी उसी की भैंस : शक्तिशाली मनुष्य की ही विजय होती है।

जी आना : किसी से प्रेम होना।

जी की जी में रहना : मनोरथ का पूर्ण न होना।

जी का बुखार निकलना : हृदय की बातें कहना।

जी का बोझ हलका करना : खटका खाना।

जी खट्टा होना : प्रेम न करना।

जी छोटा करना : निरुत्साह होना।

जी तोड़कर काम करना : अधिक परिश्रम करना।

जी टंगा रहना : खटका बना रहना।

जीती मक्खी निगलना : बेईमानी करना।

जुग-जुग जीना : बहुत दिनों तक जीना।

जूतियाँ चटकाते फिरना : दीनतावश इधर-उधर फिरना।

जूती की नोक पर मारना : तुच्छ समझना।

जैसा देश वैसा भेस, जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै : जैसा मौका वैसा काम।

जैसे सांपनाथ वैसे नागनाथ : जब दो समान पुरुषों का साथ हो।

जो गरजते हैं वह बरसते नहीं : डींग मारने वाले का काम नहीं होता।

जैसे हांडी काठ की चढ़े न दूजी बार : स्वार्थी मनुष्य के अधिकार में एक बार पड़कर कोई व्यक्ति दूसरी बार नहीं पड़ सकता।

जो तोकू काँटा बुवे ताहि बोहि तू फूल : बुराई करने वालों से तू भलाई कर।

झोंपड़ी में रहकर महलों के ख्वाब देखना : न मिलने वाली चीज़ की इच्छा करना।

झूँठ के पाँव नहीं होते : झूँठा आदमी विवाद में नहीं ठहर सकता।

ट, ठ, ड, ढ,

टट्टी की ओट शिकार : किसी के विरुद्ध गुप्त रूप से कार्यवाही करना।

टस से मस न होना : विचलित न होना।

टका-सा जवाब देना : साफ़ इनकार करना।

टाँग अड़ाना : दखल देना।

टाँग पसारकर सोना : निश्चिन्त होना।

टाँग-तले से निकलना : हार मानना।

टाँय-टाँय फिस्स : बकवास बहुत पर फल कुछ नहीं।

टाट उलटना : बहाना करना।

टालमटोल करना : बहाना करना।

टेढ़ी खीर : कठिन कार्य।

टुकड़ों पर पड़े रहना : दूसरों की कमाई खाना।

ठंडा लोहा गर्म लोहे को काट देता है : शांत मनुष्य क्रोधी को हरा देता है।

ठोकरें खाना : कष्ट उठाना।

डकार न लेना : चुप-चुप हज़म कर जाना।

डंका बजाना : किसी का शासन या अधिकार होना।

डींग मारना व हाँकना : अपनी झूठी बड़ाई करना।

डूब मरना : लज्जा के मारे मर जाना।

डूबते को तिनके का सहारा होना : संकट में अचानक सहायता मिल जाना।

डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाना : अलग राय रखना।

डेढ़ ईंट की जुदा मस्जिद बनाना : अलग रहना।

डोरी ढीली कर देना : देख-रेख न करना।

ढोल पीटना या बजाना : प्रचार करना।

ढेर करना : गिरा देना।

त, थ, द, ध, न

तकदीर का खेल : भाग्य के काम।

तबीयत फड़क उठना : उमंग के कारण बहुत प्रसन्न होना।

तबेले की बला बन्दर के सिर : जब दूसरे की बुराई किसी और के सिर पर मढ़ी जाय।

तलवे चाटना : खुशामद करना।

ताँता बँधना : क्रम न टूटना।

ताजिया ठण्डा होना : किसी बड़े आदमी का मर जाना।

तिनके का सहारा : थोड़ा सहारा।

तिनके की ओट पहाड़ : थोड़े सहारे पर बड़ा काम करना।

तिल का ताड़ करना : बात को बढ़ाकर करना।

तिल धरने की जगह न होना : ज़रा सी भी जगह खाली न होना।

तिरिया, तेल, हमीर-हठ चढ़े न दूजी बार : दृढ़ प्रतिज्ञा सदैव अटल रहती है।

तीन तेरह करना : तितर-बितर करना।

तीन में न तेरह में मुँदरा बजावे डेरे में : जो सब अलग रहते हैं, किसी के झगड़े में नहीं पड़ते।

तीन पाँच करना : बहाना करना।

तीर नहीं तो तुक्का ही सही : जब किसी काम का फल अनिश्चित हो।

तू डाल-डाल मैं पात-पात : चालाक से भी बढ़कर चालाक।

तूती बोलना : रौब होना।

तेल तिलों से ही निकलता है : उदार आदमी कुछ सहायता कर सकता है।

तेली का तेल जले, मशालची का दिल जले : खर्च और का पर दिल दूसरे का जलना।

तोते की तरह पढ़ना : बिना समझे पढ़ना ।
तोताचश्म होना : बेमुरौवत होना ।
तृण तोड़ना : किसी वस्तु को नष्ट करना ।
थाली का बैंगन होना : पक्ष बदलना ।
थूककर चाटना : कहकर मुकर जाना ।
दम निकलना : प्राण छूटना ।
दम मारने की फुर्सत न होना . कुछ भी समय न मिलना ।
दबी बिल्ली चूहों से कान कटाती है : शक्तिशाली व्यक्ति भी अपराध करने पर कमजोरों की बातें सुनता है ।
दमड़ी की बुढ़िया टके सेर मुँड़ाई : माल से अधिक माल पर खर्च करना पड़े ।
दंग रह जाना : आश्चर्य में होना ।
दबे पाँव निकल जाना : चुप चाप चले जाना ।
दाँत खट्टे करना : हराना ।
दाँत पीसकर रह जाना : क्रोध रोक लेना ।
दाँतों में जीभ का होना : शत्रुओं के बीच रहना ।
दाँतों में तिनका लेना : शरण लेना ।
दाँतों-तले अँगुली दबाना : आश्चर्य प्रकट करना ।
दाँव चूकना : हाथ से अवसर निकल जाना ।
दाग लगाना : कलंक लगना ।
दाना-पानी उठाना : जीविका न रहना ।
दाने-दाने को तरसना : खाना न मिलना, भूखे मरना ।
दाल लगना : प्रयोजन सिद्ध होना ।
दाल में काला होना : संदेह होना ।
दाल-भात का कौर : आसान काम ।
दाहिना हाथ होना : सहायक होना ।
दाहिने होना : अनुकूल होना ।
दिन को दिन और रात को रात न समझना : बहुत मेहनत करना ।
दिन दूना रात चौगुनी होना : तरक्की करना ।
दिन फिरना : अच्छा समय आना ।
दिमाग सातवें आसमान पर होना : घमण्ड हो जाना ।
दिमाग लड़ाना : बहुत सोचना ।
दिल भर आना : दया आना ।
दिल में घर करना : प्रेम करना ।
दिल में मैल आ जाना : प्रतिकूल हो जाना ।

दूध की मक्खी होना : तुच्छ होना ।

दूध के दाँत न उखड़ना : ज्ञान न होना ।

दुम दबाकर भागना : हार जाना ।

दूर की सूझना : गहरा विचार आना ।

दुधारू गाय की लात भली : लाभ देने वालों का सब कुछ सहन करना पड़ता है।

दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम : एक समय दो काम करने से दोनों में हानि ।

दुनिया ठगिए मक्कर से, रोटी खाओ शक्कर से : छल से संसार को ठगकर अपनी जिन्दगी आराम से व्यतीत करना ।

दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँककर पीता है : एक बार का धोखा खाया हुआ आदमी सावधानी से काम करता है ।

दूर के ढोल सुहावने : बिना अनुभव के दूर की वस्तु अच्छी लगती है ।

दूज का चाँद होना : बहुत दिनों के बाद आना ।

देखें ऊँट किस करवट बैठता है : क्या निर्णय होता है ?

देह धरे के दण्ड हैं : शरीरधारियों को दुख हुआ करता है ।

देखता का देखता रह जाना : असमर्थ हो रहना ।

दो टूक बात कहना : साफ़ कहना ।

दो दिन का मेहमान होना : थोड़े दिन रहना ।

दो नावों पर पैर रखना : दोनों तरफ़ रहना ।

दो आँसू डालना : शोक मनाना ।

धर दबाना : बलपूर्वक अधिकार में कर लेना ।

धज्जियाँ उड़ाना : दुर्गति करना ।

धता बताना : बहाना बनाकर टाल देना ।

धीरज, धरम, मित्र और नारी, आपत काल परखिए चारी : धीरज, धर्म, मित्र और स्त्री विपत्ति-काल में ही परखे जाते हैं ।

धूप में बाल सुखाना : कुछ भी अनुभव न होना ।

धोबी का टट्टू होना : तत्त्वविहीन होना ।

धोबी का कुत्ता घर का न घाट का : जो मनुष्य दोनों तरफ़ चाल चलने में सफ़ल नहीं हो, तो न इधर का रहे और न उधर का ।

नंग बड़ा परमेश्वर से : नंगे मनुष्य से सदैव डरना चाहिए ।

नंगी क्या नहाएगी क्या निचोड़ेगी : निर्धन लोग दूसरों की सहायता नहीं कर सकते ।

नजर लग जाना : बुरी दृष्टि का प्रभाव होना ।

नमक खाना : किसी का दिया खाना ।

नमक अदा करना : एहसान का बदला चुकाना ।

नमक-मिर्च लगाना : किसी बात को बढ़ाना ।

नक्कारखाने में तूती की आवाज : बड़े-बड़े स्थानों में छोटों की बात नहीं सुनी जाती ।

नदी-नाव संयोग : संयोग से मिलने पर ।

न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी : किसी बहाने से काम न करना ।

नया नौ दिन पुराना सौ दिन : नई चीजों का विश्वास नहीं ।

न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी : विवाद और झगड़े को जड़ से नष्ट करना ।

नक्कू बनना : अपने को प्रतिष्ठित बनाना ।

नया गुल खिलना : विचित्र बात पैदा होना ।

नशे में चूर होना : खूब नशा होना ।

नाक कट जाना : बदनामी होना ।

नाक-भौं चढ़ाना : नाराज होना ।

नाक में दम आना : तंग आना ।

नाक रगड़ना : दीनतापूर्वक प्रार्थना करना ।

नाकों चने चबाना : खूब तंग करना ।

नाच नचाना : हैरान करना ।

नाम कमाना : प्रसिद्धि पाना ।

नाम रख लेना : इज्जत कमाना ।

नाम धरना : बदनामी होना ।

नाम पर धब्बा लगाना : बदनामी करना ।

नाम बिकना : नाम से किसी वस्तु का आदर होना ।

नाई नाई बाल कितने, जिजमान अभी सामने आ जायेंगे : जब कोई ऐसी बात पूछे कि उसका जवाब तुरन्त ही उसके सामने आ जावे ।

नाई की बारात में सब ठाकुर ही ठाकुर : जहाँ कोई मालिक न हो वहाँ सभी अपने को मालिक समझते हैं ।

नानी कुवारी मर गई नवाँसे के नौ-नौ ब्याह : व्यर्थ शेखी मारना ।

नाम बड़ा दर्शन छोटे : ख्याति अधिक हो पर तत्त्व कुछ न हो ।

नामी चोर मारा जाय, नामी शाह कमा खाय : खुशनामी से लाभ, बदनामी से हानि ।

निर्बल के बल राम : जिसका सहारा देने वाला कोई न हो उसके भगवान् हैं ।

निन्यानवें के फेर में पड़ना : धन-संग्रह की चिन्ता में रहना ।

नींद हराम करना : व्यर्थ जागना ।

नीला पीला होना : रोष में आना ।

नीम हकीम खतरए जान : अज्ञानी मनुष्य से काम नहीं बनता ।

नेकी और पूछ-पूछ : उपकार में पूछने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

नौ-दो ग्यारह होना : भाग जाना।

नौबत बजना : उत्सव मनाना।

नौ नकद न तेरह उधार : कम कीमत पर, किन्तु नकद दाम पर वस्तु बेचना उधार से बहुत अच्छा है।

नौ दिन चले अढ़ाई कोस : बहुत सुस्त काम करने वाला।

प, फ, ब, भ, म

पलक न पसीजना : जरा भी दया न आना।

पलक बिछाना : प्रेम से स्वागत करना।

पसीने की जगह लहू बहाना : किसी के लिए अपनी जान देना।

पढ़े फारसी बेचें तेल, यह देखो कुदरत का खेल : भाग्य से शिक्षित मनुष्य मारे-मारे फिरते हैं।

पगड़ी उछालना : बेइज्जती करना।

पट्ट पड़ना : हार जाना।

पट्टी में आ जाना : बहकावे में आना।

पट्टी पढ़ाना : बुरी सलाह देना।

पते की कहना : रहस्यपूर्ण बात कहना।

पत्थर की लकीर हो जाना : दृढ़ या निश्चित हो जाना।

परछाईं से डरना : बहुत डरना।

परछाईं पकड़ना : असत्य बात के लिए परेशान होना।

पर लग जाना : स्वावलम्बी हो जाना।

पलड़ा भारी होना : पक्ष बलिष्ठ होना।

पसीना पसीना होना : अधिक थक जाना।

पहाड़ टूट पड़ना : मुसीबत आ जाना।

पाँच पंच मिल कीजे काज, हारे जीते आये न लाज : कई आदमियों के मेल से काम में हानि भी हो जाय तो भी किसी को लज्जित नहीं होना पड़ता।

पाँचों उँगलियाँ घी में होना : सब तरह लाभ होना।

पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं : सभी एक समान नहीं होते।

पाँव उखड़ जाना : हारकर भागना।

पाँव जमीन पर न पड़ना : घमण्ड हो जाना।

पाँच सवारों में नाम लिखाना : जब कोई छोटा आदमी बड़े लोगों से तुलना करता है।

पाँचवाँ सवार होना : अपने आपको भी बड़ों में जानना।

पानी पीकर जात पूछना : काम के पहले भलाई-बुराई पर विचार कर लेना चाहिए।

पानी उतर जाना : इज्जत जाती रहना ।

पानी के मोल : बहुत सस्ता ।

पानी फिर जाना : नष्ट होना ।

पानी-पानी होना : लज्जित होना ।

पानी में फेंकना : बरबाद करना ।

पापड़ बेलना : कष्ट से जीवन व्यतीत करना ।

पार पाना : अन्त पाना ।

पायजामे से बाहर होना : अत्यधिक क्रुद्ध होना, आनन्दित होना ।

पीठ दिखाना : हार जाना ।

पीर बवरची भिश्ती खर : पहाड़ी ब्राह्मणों के लिए कहा जाता है, क्योंकि वह समयानुसार सब कार्य करते हैं ।

पोल खोलना : दोष प्रकट करना ।

पौ बारह होना वा पड़ना : जीत होना ।

पेट का पानी न पचना : बात बिना कहे न रहना ।

पेट में चूहे कूदना : भूख लगना ।

पुल बाँधना : बढ़ा-चढ़ाकर कहना ।

पेट में दाढ़ी होना : चालाक होना ।

पैरों-तले से जमीन हट जाना : सहम जाना ।

पौने सोलह आने : अधिकांश ।

पौ फटना : सुबह होना ।

प्राण उड़ जाना : बहुत घबरा जाना ।

प्राणों से हाथ धोना : मर जाना ।

प्रभुता पाय काहि मद नाहीं : धन और ऐश्वर्य पाने पर किसे अभिमान नहीं होता ?

फिसल पड़े की हर गंगा : भूल से कार्य बिगड़ जाने पर यह सिद्ध करना कि जान-बूझकर बिगाड़ा गया है ।

फूँक-फूँक कर कदम या पाँव रखना : धीरे-धीरे काम करना ।

फूट-फूट कर रोना : बहुत रोना ।

फूटी आँखों न भाना : अच्छा न लगना ।

फूल सूँघकर रहना : कम खाना ।

फूला न समाना : अत्यन्त प्रसन्न होना ।

बछिया का बाबा या ताऊ : मूर्ख, सीधा-साधा ।

बट्टा लगना या लगाना : दोष आना ।

बड़े बोल का सिर नीचा : अहंकारी मनुष्य नीचा देखता है ।

बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ छोटे मियाँ सुभान अल्लाह : जब बड़ों से बढ़कर छोटा

कोई कार्य करता है।

बद अच्छा बदनाम बुरा : बुरा होने से झूठे कलंक का लगाना कहीं अधिक बुरा होता है।

बगुला भगत होना : कपट करना।

बगलें झाँकना : निरुत्तर होना।

बल्लियों उछलना : खूब खुश होना।

बाँह पकड़ना : सहायता देना।

बाएँ हाथ का खेल होना : सरल होना।

बाँछें खिल जाना : हर्षित होना।

बात का धनी होना : वायदे का पक्का होना।

बात की बात में : शीघ्र।

बात पर आना : कहने में आना।

बाँझ क्या जाने प्रसूति की पीड़ा : दुःख पाने वाले ही दुःख अनुभव करते हैं।

बाँबी में हाथ तू डाल मन्त्र में पढ़ूँ : कोई भय का कार्य दूसरे पर सौंपकर स्वयं आसान काम करना।

बाप न मारी मेंढकी (पोदनी) बेटा तीरंदाज : अधिक गप्प मारने वाला।

बारह बरस दिल्ली में रहे, भाड़ झोंका और खाया : अच्छी जगह से भी कुछ नहीं सीखा।

बावन तोले पाव रत्ती : जब कोई चीज बिल्कुल ठीक हो।

बाँसों उछलना : खुश होना।

बाग-बाग होना : फूला न समाना।

बाज़ार गर्म होना : किसी चीज़ का ज़ोर होना।

बारह बाट होना : अलग-अलग होना।

बाल की खाल निकालना : बारीक बातें निकालना।

बाल बाँका न होना : कुछ भी न बिगड़ना।

बाल-बाल बचना : साफ़ बच जाना।

बालू की भीत उठाना : व्यर्थ का काम करना।

बेड़ा पार लगाना : किसी को दुख से छुड़ाना।

बोलबाला होना : प्रसिद्ध होना।

बोली बात कहना : व्यंग बोलना।

बिन माँगे मोती मिलै माँगे मिलै न भीख : प्राप्त होने वाली वस्तु स्वयं मिल जाती है, और माँगने पर भीख भी नहीं मिलती।

बिना रोये माँ भी दूध नहीं पिलाती : बिना प्रयत्न के कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती।

बिल्ली के भाग छींका टूटा : संयोग से कोई काम अच्छा हो जाना।

बे पर की उड़ाना : झूँठी बात प्रसिद्ध करना ।

बे सिर-पैर की बातें करना : अंट-संट बोलना । बेकार की बातें करना ।

बैठे से बेगार भली : बैठे रहने से मुफ्त का काम करना अच्छा होता है ।

भण्डा फोड़ना : भेद खोलना ।

भनक पड़ना : कुछ हाल मिलना ।

भाड़ झोंकना : व्यर्थ समय नष्ट करना ।

भाड़े का टट्टू होना : किराये का आदमी होना ।

भागते भूत की लँगोटी ही सही : जिस स्थान से कुछ चीज न मिलने वाली हो वहाँ से थोड़ी मिल जाना ही अच्छा है ।

भूल गये राग रंग भूल गये छकड़ी, तीन चीज़ याद रहीं नौन, तेल, लकड़ी । जब आदमी गृहस्थी के चक्कर में पड़ जाता है ।

भूत सवार होना : क्रोधित होना ।

भेड़ियाधसान : अन्धानुकरण ।

भैंस के आगे बीन बजावें भैंस खड़ी पगुराय : मूर्ख के सामने अच्छा उपदेश व्यर्थ होता है ।

मछली के बच्चों को तैरना कौन सिखाये : जिसका जो स्वभाव है उसे वह आप से आप आ जाता है ।

मन चंगा तो कठौती में गंगा : जिसका हृदय पवित्र है उसके घर ही में गंगा है ।

मन मन भावे, मूँड हिलावे : इच्छा रहने पर भी मना करना ।

मन के लड्डू खाना : मन-ही मन प्रसन्न होना ।

मन की मन में रहना : अरमान पूरा न होना ।

मन खट्टा होना : तबियत फिर जाना ।

मन मारकर बैठ रहना : संतोष करके बैठ रहना ।

मरता क्या न करता : जो मरने के लिए तैयार है उसे कोई कार्य कठिन नहीं ।

मरे को मारना : दुखी को दुख देना ।

मान न मान मैं तेरा महमान : जब कोई जबरदस्ती गले पड़ता है ।

माया तेरे तीन नाम—परसू, परसा, परसराम : धनी लोगों की प्रतिष्ठा होती है । ग़रीब लोगों को लोग परसू कहते हैं । जब वह कुछ धनी हो जाता है तो परसा कहते हैं और जब वह एकाएक धनी हो जाता है तो लोग उसे परसराम कहते हैं ।

मार के आगे भूत भागे : मार से सभी डरते हैं ।

माले मुफ्त दिले बेरहम : जब कोई किसी दूसरे के धन को मनमाना खर्च करता है ।

माथा ठनकना : आशंका होना ।

माथे मढ़ना : जिम्मेदारी देना ।

माथे पर बल पड़ना : नाराज होना ।

मियाँ की जूती मियाँ के सर : किसी की वस्तु से जब उसी को हानि पहुँचे।

मियाँ बीबी राज़ी तो क्या करेगा काज़ी ? : जब दोनों आपस में मिल जायें, तो बीच में दखल देने की आवश्यकता नहीं।

मिट्टी के मोल बिकना : सस्ता बिकना।

मीन-मेख करना : बहाना करना।

मुँह की खाना : बुरी तरह हारना।

मुँह ताकना : सहायता की आशा करना।

मुँह-तोड़ उत्तर देना : खरा उत्तर देना।

मुँह देखी करना : पक्षपात करना।

मुँह धोना : आशा छोड़ना।

मुँह पकड़ना : बोलने से रोकना।

मुँह फैलाना : अधिक अच्छा करना।

मुँह बनाना : नाराज होना।

मुँह में कालिख लगाना : कलंक लगाना।

मुँह में पानी भर आना : लालच होना।

मुँह माँगी तो मौत भी नहीं मिलती : किसी की अभिलाषा पूर्णतया पूरी नहीं होती।

मुँह उतरना : उदास होना।

मुँह की बात छीन लेना : दूसरे के दिल की बात कर देना।

मुँह के बल गिरना : लज्जित होना।

मुँह पर थूकना : लज्जित करना।

मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक : जिस में काम करने की योग्यता और शक्ति सीमित हो।

मुट्ठी गरम करना : रिश्वत देना।

मुट्ठी में करना : अपने वश में करना।

मेंढकी को भी जुकाम हुआ है : जब कोई छोटा आदमी नखरा करता है।

मैदान मारना : लड़ाई जीतना।

मूँछों पर ताव देना : घमंड करना।

मौन सम्पत्ति लक्षणम् : चुप रहना सम्पत्ति का लक्षण है।

मौन स्वाध्यं साधनम् : चुप रहने से सब काम सध जाते हैं।

मौत का सिर पर खेलना : मौत नजदीक आना।

य, र, ल, व, श, स, ह,

यथा नाम तथा गुण : नाम के अनुसार ही गुण भी होना।

यहाँ के तो बाबा आदम ही निराले हैं : यहाँ सब बातें विचित्र होती हैं।

रँग जमाना : धाक जमाना।

रँग में रँग जाना : प्रभावित हो जाना ।
रँग उड़ना : डर जाना ।
रँग में भँग पड़ना : मजा किरकिरा होना ।
रँग लाना : प्रभाव दिखाना ।
रग-रग पहिचानना : अच्छी तरह परिचित होना ।
रँगा स्यार होना : धोखे की शक्ल बनाना ।
रक्त पानी की तरह बहाना : मरने की परवाह न करना ।
रफूचक्कर होना : भाग जाना ।
रस्सी जल गई पर ऐंठ न गई : जब कोई मनुष्य बरबाद होने पर भी अपनी आन नहीं छोड़ता ।
राई का पहाड़ बनाना : छोटी बात को बढ़ा देना ।
राजा-योगी किसके मीत : राजा और फकीर किसी के मित्र नहीं होते ।
रामकहानी कहना : बीती बात कहना ।
रास्ते पर लाना : सुमार्ग पर लाना ।
रुपया पानी की तरह बहाना : अधिक खर्च करना ।
रोते क्यों हो ? बोले, शक्ल ही ऐसी है : जिसकी रोनी सूरत हो ।
रोएँ खड़े होना : डर और दुःख से शरीर के बाल खड़े हो जाते हैं ।
लँगोटिया यार होना : घनिष्ठ मित्र होना ।
लम्बी-चौड़ी हाँकना : व्यर्थ बातें करना ।
लकीर का फकीर होना : पुरानी रीति पर चलना ।
लकीर पीटना : अवसर निकल जाने पर उद्योग करना ।
लल्लो-चप्पो करना : खुशामद करना ।
लकड़ी के बल मदारी नाचे : मूर्ख भय दिखाने से काम करता है ।
लड़ाई मोल लेना : झगड़ा करना ।
लपेट में आना : फँस जाना ।
लहू की घूँट लेना : कष्ट उठाना ।
लाल गुदड़ी में नहीं छिपते : अच्छे मनुष्य शोचनीय स्थिति में भी नहीं छिपे रहते ।
लाल-पीला होना : क्रोध करना ।
लुटिया डुबोना : काम बिगाड़ देना ।
लेने के देने पड़ना : लाभ के बदले हानि उठाना ।
लोहा लेना : सामना करना ।
लोहे के चने चबाना : अत्यन्त कठिन काम करना ।
लोहा मानना : हार मानना ।
वक्त पर काम करना : जरूरत पर काम निकालना ।

वहम की दवा लुकमान हकीम के भी पास नहीं है : शक्की मनुष्य को कोई नहीं समझा सकता।

विष उगलना : दुश्मनी निकालना।

विष की गाँठ : बुरा मनुष्य।

शहद लगाकर चाटना : किसी बेकार वस्तु को रखना।

शिकार हाथ लगना : आसामी मिलना।

शिकार के समय कुतिया हँगासी : काम करने के समय जी चुराना।

शेखी बघारना : डींग मारना।

शुभस्य शीघ्रम् : शुभ कार्य में शीघ्रता करनी चाहिए।

शैतान के कान काटना : शैतान से बढ़कर काम करना।

सन्नाटे में आजाना : हक्का-बक्का हो जाना।

सब्ज़ बाग दिखाना : धोखा खाना।

सफेद झूठ : सरासर झूठ।

समझ पर पत्थर पड़ना : बुद्धि-भ्रष्ट होना।

सदा दिवाली ताहि की जा घर गेहूँ होय : जिसके घर खाने-पीने की कमी नहीं उसके घर सदा त्यौहार है।

समरथ को नहिं दोष गुसाईं : बलवान को दोष करने पर भी दोष नहीं लगता।

साँप छछूंदर की दशा होना : असमंजस में पड़ना।

साँप मरे न लाठी टूटे : काम सिद्ध हो जाय और किसी को हानि भी न उठानी पड़े

सिक्का जमाना : प्रभुत्व स्थापित करना।

सिर आँखों पर : सादर स्वीकार।

सिर खाना : तंग करना।

सिर खुजलाना : सोचना।

सितारा चमकना : उन्नति पर होना।

सिर आँखों पर बैठाना : बड़ी इज्जत से बैठाना।

सिर उठाना : विरोधी बन जाना।

सिर ओखली में देना : जान पर खेलना।

सिर मुँडाते ही ओले पड़े : जब किसी काम के आरम्भ में ही विघ्न पड़े।

सिर धुनना : उदास होना।

सिर पटक के मारना : कोशिश करके थक जाना।

सिर पर पाँव रखकर उड़ जाना : तेज़ी से भागना।

सिर पर सवार होना : साथ न छोड़ना।

सिरस्माथे रखना : सादर ग्रहण करना।

सिर मारना : कोशिश करना।

सीधी उँगली से घी नहीं निकलता : बिल्कुल सिधाईपन हानिकारक होती है।

सूप बोले सो बोले छलनी भी बोले जिसमें बहत्तर छेद : जो स्वयं बुराइयों से भरा है वह दूसरों की शिकायत नहीं कर सकता।

सूरज नज़र न आना : दिखाई न देना।

सोना जाने कसे, और नर जाने बसे : सोने को तपाने से और आदमी के साथ रहने से परीक्षा होती है।

सोने में सुगन्ध : सुन्दरता में गुण आ जाना।

सौ बात की बात : सारांश, अनुभव की बात।

हक्का-बक्का रह जाना : चकित रहना।

हथियार डाल देना : हार मान लेना।

हैरान होना : कोई काम न हो सकना।

हवा से बातें करना : बहुत तेज़ चलना।

हवा बाँधना : घमण्ड करना, झूठी बात बनाना।

हवा बिगाड़ना : ज़माने का रंग बदल जाना।

हवा लग जाना : सोहबत का असर पड़ जाना।

हवा हो जाना : दिखाई न देना।

हर्र लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे : बिना खर्च किये काम बन जाना।

हथेली पर सरसों नहीं जमती : बात करते ही काम नहीं होता।

हाथ कंगन को आरसी क्या : प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या ज़रूरत है ?

हाथ का मैल : तुच्छ वस्तु।

हाथ पर हाथ रखकर बैठना : बेकार हो जाना।

हाथ को हाथ न सूझना : बहुत अँधेरा होना।

हाथ तंग होना : धन की कमी होना।

हाथ धो बैठना : खो देना।

हाथ धोकर पीछे पड़ना : बुरी तरह पीछा करना

हाथ-पाँव फूल जाना : भयभीत हो जाना।

हाथ-पैर मारना : परिश्रम करना।

हाथ मलते रह जाना : पश्चात्ताप करना।

हाथ साफ़ करना : खूब खाना, बेईमानी से लेना।

हाथ पसारना : माँगना।

हाथ खींचना : हिस्सा न बाँटना।

हाथ की कठपुतली होना : अपने अधिकार में होना।

हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और : कपट-पूर्ण काम करना। कहना कुछ और तथा करना कुछ और।

हाथी के पाँव में सबका पाँव : बहुत सी वस्तुओं का गुण एक ही बड़ी वस्तु में समाविष्ट हो जाना।

हुक्का-पानी बन्द करना : बिरादरी से बहिष्कृत करना ।

हिम्मत हारना : साहस छोड़ना ।

होश उड़ जाना : घबरा जाना ।

होश फाख्ता होना : होश उड़ जाना ।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात : किसी के कुलक्षण या सुलक्षण आरम्भ से ही मालूम होने लगते हैं ।

लोकोक्तियाँ

१६४. लोकोक्ति—जिस प्रकार किसी भाषा के प्रांजल और प्रभावशाली बनाने में उसमें प्रयुक्त मुहाविरों का महत्त्व है उसी प्रकार उस भाषा की लोकोक्तियाँ भी अपना विशेष स्थान रखती हैं । लोकोक्ति अथवा कहावत को हम पारिभाषिक रूप से ऐसा मुहाविरेदार वाक्य समझते हैं जिसे व्यक्ति अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करते हैं । किसी उपालम्भ, व्यंग्य अथवा चेतावनी के लिए भी लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है । लोकोक्ति वास्तव में वह तीखी उक्ति है जो श्रोता के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है । लोकोक्ति को कहावत, प्रवाद-वाक्य, जनश्रुति इत्यादि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है ।

१६५. मुहाविरे और लोकोक्ति में भेद—मुहाविरा वाक्यांश है और उसका स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता । लोकोक्तियाँ सम्पूर्ण वाक्य होती हैं और उनका प्रयोग स्वतंत्र रूप से होता है । यही दोनों का प्रधान भेद है । इसके अतिरिक्त लोकोक्ति का प्रयोग किसी घटना विशेष पर किया जाता है और उससे किसी फल की प्राप्ति होती है । मुहाविरे केवल वाक्यांश मात्र होते हैं जो भाषा को बल देने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं और उनसे किसी फल की आशा नहीं की जा सकती । जहाँ तक भाषा को बल देने और उसे प्रभावात्मक बनाने का सम्बन्ध है वहाँ तक यह दोनों एक ही श्रेणी में रखे जाते हैं और दोनों का महत्त्व एक दूसरे से बढ़कर है ।

१६६. लोकोक्ति का प्रभाव—लोकोक्तियों के प्रयोग से लेखक की भाषा अथवा वक्ता के भाषण में प्रभावात्मकता और युक्ति-संगति आ जाती है और विचारों को बल मिलता है । यह लोकोक्तियाँ वास्तव में मानवीय विचारों की आलोचक होती हैं और उनमें एक ऐसी सचाई छुपी रहती है जो श्रोता को एकदम प्रभावित करती है । यही कारण है कि श्रोता के हृदय पर इनका सीधा प्रभाव पड़ता है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सत्य रूप धारण करके उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ है । मानव के दैनिक व्यवहारों से सम्बन्धित होने के नाते मानव की भावनाओं में प्रवाह लाने की शक्ति लोकोक्तियों में विद्यमान रहती है । उचित स्थान पर कहावतों का प्रयोग होने से भाषा में जान पड़ जाती है और पाठक उसे पढ़कर वाह-वाह कह उठता है । वक्ता के मुख से वही बात भाषण देते हुए मंच से मुखरित होने पर श्रोता करतल-ध्वनि करते हैं और 'भाई खूब कहा, मन की बात कह डाली' इत्यादि वाक्य उनके

मुखों से उच्चरित होने लगते हैं। लोकोक्तियों द्वारा भाषा का शृङ्गार होता है और इसीलिए अलंकारशास्त्र के पण्डितों ने इसे एक अलंकार भी माना है।

१६७. प्रयोग—लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत ही सतर्कता के साथ करना चाहिए। प्रयोग गलत होने पर भाषा में प्रभावात्मकता आने की अपेक्षा उल्टा भद्दापन आ जाता है, और अर्थ का अनर्थ होने की भी सम्भावना रहती है। लोकोक्तियों का प्रयोग दाल में नमक के समान होना चाहिए। लोकोक्तियों को ठूँस-ठाँसकर भरमार कर देने से भी भाषा-सौन्दर्य में वृद्धि नही होती। लोकोक्ति का प्रयोग कहीं उपदेशात्मक नीति को अपनाकर अथवा कहीं उपालम्भ के लिए किया जाता है। बात को स्पष्ट न कहकर लोकोक्ति द्वारा घुमाने-फिराने में भी इसका प्रोयग होता है; परन्तु यह प्रयोग पूर्ण निरीक्षण और अनुभव के द्वारा किया जाना चाहिए। परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन हुए बिना यह उपहास का विषय भी बन सकती हैं। लोकोक्ति का वाच्यार्थ ग्रहण न करके उसके समान अर्थ ग्रहण किया जाता है और इस बात का प्रयोग-कर्त्ता को पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। लेखक अथवा वक्ता को चाहिए कि वह स्थान और परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान हुए बिना लोकोक्ति का प्रयोग न करें। कुछ प्रधान लोकोक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ

अंग-अंग ढीला होना : अंग शिथिल हो जाना।

अंगार उगलना : उबल-उबल कर बातें करना।

अगार बरसना : कड़ी धूप होना।

अँगूठा चूमना : चापलूसी करना।

अँगूठा दिखाना : लज्जित करना, उपहास करना।

अंटा चित्त होना : नष्ट होना।

अन्तड़ियों में बल पड़ना : पेट दुखना।

अन्धे की लकड़ी : एक मात्र आश्रय।

अन्धा क्या चाहे, दो आँखें : इच्छित वस्तु का मिल जाना।

अन्धा क्या जाने बसन्त की बहार : देखी हुई वस्तु के महत्त्व को ही जाना जाता है।

अंधा बाँटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को देय : स्वार्थी मनुष्य।

अन्धी नाइन, आयने की तलाश : ऐसी वस्तु को पाने का प्रयत्न करना जिसके वह अयोग्य हो।

अन्धी पीसे कुत्ता खाय : किसी की कमाई दूसरों द्वारा उड़ाया जाना।

अन्धे के आगे रोना, अपने दीदे खोना : मूर्ख पुरुष से अपना दुःख कहना।

अन्धे के हाथ बटेर लगना : असम्भव बात सम्भव होना।

अन्धों में काना राजा : मूर्खों में जो कम मूर्ख होता है वही सरदार होता है।

आगे कुआ पीछे खाई : दोनों ओर विपत्ति होना।

आठों गाँठ कुम्मैत : बड़ा चालाक आदमी।

आधे गाँव दिवाली, आधे गाँव फाग : मेल न होना।

आधी छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावे : लालच नहीं करना चाहिए।

आप करे सो काम, पल्ले पड़े सो दाम : हाथ का काम और गाँठ का दाम ही काम आता है।

आंब-आब कर मुए सिरहाने रखा पानी : किसी के सामने ऐसी बात कहना जो वह न समझे।

अँधेरे घर का उजाला : इकलौता बेटा।

अक्ल का दुश्मन : मूर्ख।

अक्ल के पीछे लट्ठ लिए फिरना : बुद्धिमानी के विरुद्ध कार्य करना।

अक्ल चरने जाना : ज्ञान की कमी होना।

अक्ल पर पत्थर पड़ जाना : बुद्धि नष्ट हो जाना।

अगर-मगर करना : बहाने करना।

अटकलपच्चू : मनगढ़न्त।

अठखेलियाँ करना : क्रीडा करना।

अड़ियल टट्टू : रुक-रुककर काम करना।

अड्डा जमाना : रुक जाना, डेरा डालना।

अपना उल्लू सीधा करना : मतलब गाँठना।

अपनी नींद सोना, अपनी नींद उठना : अपने मन की बात करना।

अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दीख पड़ता : बिना अपने किये काम नहीं होता।

अभी एक चने की दो दाल भी नहीं हुई : अभी सब एक में रहते हैं।

अपना-सा मुँह लेकर रह जाना : लज्जित होना।

अपनी खिचड़ी अलग पकाना : सब से पृथक् रहना।

आँख उठाकर न देखना : अभिमान करना।

आँख खुलना : सचेत होना।

आँखें दिखाना : क्रोध करना या धोखा देना।

आँखें पथरा जाना : आँखों का जम जाना या बेहोश हो जाना।

आँखों से गिरना : प्रतिष्ठा खोना।

आँखों का तारा : अत्यन्त प्यारा।

आँखों की पुतली समझना : अत्यन्त प्यार करना।

आँखों के आगे अँधेरा होना : संसार सूना दिखाई देना।

आँखों में धूल झोंकना : धोखा देना।

आँसू पोंछना : ढाढस देना।

आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाना : धूम मचाना।

आग बबूला होना : अधिक क्रोध करना

आटे-दाल के भाव मालूम होना : दुख अनुभव होना।

आड़े हाथों लेना : बुरा-भला कहना।

आपे से बाहर होना : अत्यन्त क्रोध करना।

आसन डोलना : चित्त चलायमान होना।

आसमान टूट पड़ना : सहसा विपत्ति आना।

आस्तीन का साँप : धोखेबाज मित्र।

आस-पास बरसे, दिल्ली खड़ी तरसे : जिसे चाहिए उसे न मिलकर दूसरे को मिले।

आसमान से गिरा खजूर में अटका : बीच में रह जाना।

इतनी-सी जान, गज भर की जबान : छोटी उम्र में बड़ी बातें करना।

इस हाथ देना उस हाथ लेना : तुरन्त फल मिलना।

इज्ज़त दो कौड़ी की न रहना : मान न रहना।

इस कान से सुनकर उस कान निकाल देना : ध्यान देकर न सुनना।

उँगली उठाना : हानि पहुँचाने का प्रयत्न करना।

उड़ती चिड़िया पहचानना : मन की बात ताड़ जाना।

उधार खाए बैठे रहना : ताक में रहना।

उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे : दोषी का निर्दोष पर दोष लगाना।

ऊखली में सर दिया तो मूसलों से क्या डर : काम और उसके लिए कष्ट सहने पर उतारू होना।

उगले तो अन्धा, निगले तो कोढ़ी : दोनों तरफ़ से मुश्किल।

उतर गई लोई तो क्या करेगा कोई : इज्जत जाने पर कोई क्या कर सकता है ?

उतावला सो बावला, धीरा सो गम्भीरा : जल्दबाजी का काम ठीक नहीं होता।

उत्तर जाय कि दक्खिन, वही करम के लच्छन : भाग्य हर जगह साथ रहता है।

उलटे बाँस बरेली जायँ : विपरीत काम करना।

ऊधो का लेना न माधो का देना : निश्चिन्त होकर रहना।

ऊँट की चोरी और झुके-झुके : बड़ा काम छिपकर करना।

ऊँट के मुँह में जीरा : अधिक वस्तु खाने वाले को थोड़ी वस्तु देना।

एक अनार सौ बीमार : वस्तु कम, चाहने वाले अधिक।

एक तो गिलोय और फिर नीम चढ़ी : बुरा और फिर बुरे का साथ होना और भी भयनाक हो जाता है।

एक बार जब दो से फँसी तो जैसे सत्तर वैसे अस्सी : एक का अनेक मार्ग पर जाना।

ओस के चाटे प्यास नहीं बुझती : थोड़े से क्या होता है ?

ओछे की प्रीति बालू की भींत : मूर्ख से दोस्ती नहीं चलती ।

क, ख, ग, घ

कफन सिर से बाँधना : मरने के लिए तैयार होना ।
कब्र में पाँव लटकाए रहना : मरने के निकट होना ।
कल पड़ना : चैन पड़ना ।
कलेजा छलनी होना : कड़ी बातों से जी दुखना ।
कलेजा थामना : दुख सहने के लिए कलेजा कड़ा करना ।
कलेजा थामकर रह जाना : मन मसोसकर रह जाना ।
कलेजे पर हाथ रखना : अपने हृदय से पूछना ।
कलेजा मुँह को आना : दिल में घबराहट पैदा होना ।
कान पर जूँ न रेंगना : बेखबर होना ।
काम आना : लड़ाई में मर जाना ।
काला अक्षर भैंस बराबर : बिल्कुल मूर्ख होना ।
काम तमाम करना : मार डालना ।
काजी जी दुबले क्यों शहर के अन्देशे से? : अपनी चिन्ता न करके सबकी चिन्ता करना ।
कोयले की दलाली में हाथ काले : बुराई करने में बुराई होती ही है ।
कोल्हू का बैल : सदैव काम करने वाला ।
कोसों दूर रहना : बहुत दूर रहना ।
कौवा चला हंस की चाल, अपनी चाल भी भूल गया : दूसरों की नकल बुरी बात है ।
किस खेत की मूली : किस गिनती में हैं ?
किस मर्ज की दवा : किस काम के ?
कुप्पा हो जाना : नाराज हो जाना ।
खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है : देखा-देखी काम करना ।
खिचड़ी पकाना : गुप्त रूप से सलाह करना ।
खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे : लज्जित होकर क्रोध करना ।
खुदा गंजे को नाखून नहीं देता : अनधिकारी को कोई अधिकार नहीं मिलता ।
खोदा पहाड़ निकली चुहिया : अधिक परिश्रम पर थोड़ा फल मिलना ।
ख्याली पुलाव पकाना : तरह-तरह की कल्पनाएँ करना ।
गज भर की छाती होना : बड़ा साहसी होना ।
गला घोंटना : जबरदस्ती करना ।
गरजे सो बरसे नहीं : बहुत बोलने वाला कुछ नहीं करता ।
गंजा पनिहारा गोखरू का कुँआ : मुसीबत पर मुसीबत पड़ना ।

गाँठ काटना : जेब काटना, कम देना।

गिरगिट की तरह रंग बदलना : सिद्धान्त का पक्का न होना।

गिनी रोटी नपा शोरबा : जितने आदमी उतने ही खर्च।

गुड़ गोबर कर देना : काम नष्ट कर देना।

गुल खिलना : झगड़ा खड़ा होना।

गुलछर्रे उड़ाना : मौज उड़ाना।

गुण्डों का गुण : ऐसी बात कही न जाय।

गेहूँ के साथ घुन पिसना : साथ रहकर दुःख झेलना।

घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध : घर वालों की कोई इज्जत नहीं होती।

घड़ी में घड़ियाल बजना : क्षण में कुछ का कुछ होना।

घर में भूजी भाग नहीं : बहुत ग़रीब।

घर ही में वैद्य, मरे कैसे : सब कुछ रहते काम कैसे बिगड़े ?

घड़ों पानी पड़ जाना : अत्यन्त लज्जित हो जाना।

घर-फूँक तमाशा देखना : घर की सम्पत्ति नष्ट करके आनन्द लेना।

घाट-घाट का पानी पीना : अनेक स्थानों में घूम-घूम कर अनुभव करना।

घात लगाना : अनुकूल मौके की खोज में रहना।

घाव पर नमक छिड़कना : दुःख के समय कड़ी बातों द्वारा जी दुखाना।

घड़ी में घर जले नौ घड़ी भद्रा : जरूरत के समय टालमटोल करना।

च, छ, ज, झ

चम्पत होना : भाग जाना।

चार दिन की चाँदनी फेर अँधियारी रात : थोड़े दिन का सुख।

चिऊँटी के पर निकल आना : मौत निकट आना।

चिराग तले अँधेरा : अपनी बुराई पर ध्यान न देकर दूसरे की बुराई करना।

चील के घोंसले में मांस कहाँ : भूखे घर में भोजन कहाँ ?

चेहरे पर हवाइयाँ उड़ना : डर जाना।

चोटी से एड़ी तक पसीना बहाना : बहुत कोशिश करना।

चोली-दामन का साथ : अधिक घनिष्ठता।

चोर चोर मौसेरे भाई : एक ही काम वाले मित्र होते हैं।

चौबे गए छब्बे होने दूबे ही रह गए : लाभ के लिए काम किया उलटे हानि हुई।

छक्के छूटना : हिम्मत हारना।

छक्के छुड़ाना : हारना।

छप्पर फाड़कर देना : बिना किसी की महनत के देना।

छप्पर पर फूँस न, ड्योढ़ी पर नक्कारा : बड़ाई मारना।
छोटे मुँह बड़ी बात : बढ़कर बोलना।
जबरदस्ती का ठेंगा सर पर : बली जो चाहता है कर लेता है।
जल में रहकर मगर से बैर : किसी के आश्रय में रहकर वैर करना।
जल-भुनकर खाक होना : क्रोधावेश में पागल होना।
जहर का घूँट पीना : क्रोध को दबाना।
जहाँ जाय भूखा तहाँ पड़े सूखा : दुखी को सब जगह दुःख।
जान के लाले पड़ना : दुःख में पड़ना।
जान में जान आना : मन में शान्ति होना।
जान है तो जहान है : दुनिया का आनन्द जान के साथ है।
जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा : जैसा खर्च वैसा काम।
जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ : जिसने परिश्रम किया उसे फल मिला।
जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना : अकृतज्ञ होना।
जी उचटना : तबियत न लगना।
जीती मक्खी कोई नहीं निगल सकता : जानकर झूठ नहीं बोला जाता।
जुबानी जमा-खर्च करना : बातें अधिक करना।
जूतियाँ चटकाते फिरना : बे मतलब इधर-उधर घूमना।
जैसे कन्ता घर रहे तैसे रहे विदेश : निकम्मे का घर रहना या बाहर रहना बराबर है।
जैसी जाकी भावना तैसी ताकी सिद्धि : विचारों के साथ ही सिद्धि होती है।
झक मारना : व्यर्थ समय बिताना।
झूठ को पाँव कहाँ : झूठा मनुष्य बहस नहीं कर सकता।

ट, ठ, ड, ढ

टट्टी की ओट शिकार : छिपे-छिपे बुरे काम करना।
टका-सा जवाब देना : मना करना।
टका-सा मुँह लेकर रह जाना : लज्जित होना।
टक्कर का : मुकाबिले का।
टके की बुढ़िया नौ टका मुँड़ाई : थोड़े काम के लिए अधिक व्यय करना।
टाट उलटना : दिवाला निकालना।
टेढ़ी खीर : कठिन काम।
टेढ़ी उँगली से घी नहीं निकलता : सिधाई से काम नहीं चलता।
टोपी उछालना : अपमान करना।
ठाली बनिया क्या करे, इस कोठी का धान उस कोठी में भरे : व्यर्थ काम करना।

ठिकाने आना : अपनी जगह पर आना।

डकार लेना : हज़म करना ।

डूबते को तिनके का सहारा : संकट में थोड़ी-सी सहायता भी बहुत है।

डूब मरना : शर्म के मारे मर जाना।

ढाई दिन के बाद शादी करना : थोड़े दिनों का शासन।

ढाक के वही तीन पात : सदा एक ही दशा में रहना।

ढिंढोरा पीटना : मशहूर करना।

त, थ, द, ध, न

तशरीफ रखना : बैठना।

तन नहीं लत्ता, पान खाए अलबत्ता : कोरी शेखी मारना।

तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत : स्वास्थ्य ही सबसे अच्छी वस्तु है।

तबेले की बला बन्दर के सिर : बदनाम पर ही दोष लगाना।

ताँत बजी राग बूझा : बोलने से योग्यता मालूम हो जाती है।

तिनके की ओट पहाड़ : थोड़ी-सी मदद में बड़ा काम ।

तीन लोक से मथुरा न्यारी : सबसे निराला ढंग।

तेली का तेल जले, मशालची का दिल जले : खर्च कोई करे बुरा किसी को लगे।

थूककर चाटना : बात कहकर छोड़ देना।

थका ऊँट सराय ताकता है : थकने पर घर ही याद आता है।

थोथा चना बाजे घना : सारहीन व्यक्ति अधिक शेखी मारता है।

दबे पाँव भाग जाना : चुपके से निकल जाना।

दम भरना : किसी का भरोसा करना।

दम के दम में : बहुत जल्द।

दमड़ी की हाँडी गई कुत्ते की जात पहचानी गई : थोड़ी हानि में बेईमानी मालूम होना।

दाँत पीसकर रह जाना : क्रोध रोकना।

दाई से पेट छिपाना : जानकार से बात छिपाना।

दाल में काला होना : सन्देह की बात होना।

दाल न गलना : काबू न चलना।

दाल-भात में मूसलचन्द : किसी काम में बेकार दखल देना।

दान की बछिया के दाँत नहीं देखे जाते : मुफ्त की वस्तु में खराबी नहीं देखी जाती।

दिया तले अँधेरा : अपनी खबर न रखना।

दीवार के भी कान होते हैं : घर में बैठकर किसी की बुराई नहीं करनी चाहिए।

दीदार होना : दर्शन होना ।
दूज का चाँद होना : बहुत दिनों के बाद दिखाई देना ।
दूध के दाँत न टूटना : ज्ञान न होना ।
दूर के ढोल सुहावने : हर वस्तु दूर से अच्छी लगती है ।
दो कौड़ी का आदमी : बहुत कम विचार का आदमी ।
दो दिन का मेहमान : शीघ्र मरने वाला ।
दौड़-धूप करना : कठिन मेहनत करना ।
दोनों हाथों ताली बजती है : दोनों के दोष से झगड़ा होता है ।
धता बताना : कपटपूर्वक टालना ।
धाक जमाना : रौब छाना ।
धूप में बाल सुखाना : बिना ज्ञान के उम्र बिताना ।
धोखे की टट्टी : भ्रम में डालने वाली चीज़ ।
धोती ढीली होना : भयभीत होना ।
धोबी का कुत्ता घर का न घाट का : कहीं ठिकाना न रहना ।
नजर लग जाना : बुरी दृष्टि का प्रभाव होना ।
नमक खाना : किसी का दिया खाना ।
नमक अदा करना : एहसान् का बदला चुकाना ।
नमक-मिर्च लगाना : किसी बात को बढ़ाना ।
न तीन में न तेरह में : जिसे कोई न पूछता हो ।
नया गुल खिलना : आश्चर्यमयी घटना होना ।
नक्कारखाने में तूती की आवाज : छोटों की बात बड़ों में चलना ।

नदी में रहकर मगरमच्छ से बैर : बलवान के पास रहकर उससे बैर नहीं करना चाहिए ।

न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी : किसी काम के लिए ऐसा प्रबन्ध करना जो न हो सके ।

नया नौ दिन पुराना सौ दिन : नयी वस्तु की अपेक्षा पुरानी बहुत अधिक काम आती है ।

न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी : जड़ से मिटा देना ।
नाक-भौं चढ़ाना : नाराजगी जाहिर करना ।
नाक पर मक्खी न बैठने देना : बहुत ही खरे स्वभाव का होना ।
नाक रगड़ना : परिश्रम करना ।
नाकों चने चबाना : खूब परेशान होना ।
नाक रख लेना : इज्ज़त बचा लेना ।
नाच नचाना : मनचाहा कर लेना ।
नाम पर धब्बा लगाना : बदनामी होना ।

नाम बिकना : किसी से किसी वस्तु का आदर होना ।
नादिरशाही : अत्यन्त अत्याचार ।
नाच न जाने आँगन टेढ़ा : अपनी अज्ञानता का दोष दूसरों पर लाना ।
नाम बड़े दर्शन थोड़े : गुण से अधिक बड़ाई ।
निन्यानवे के फेर में पड़ना : लोभ में फँसना ।
नींद हराम होना : व्यर्थ जागना ।
नीला-पीला होना : रोष में आना ।
नुक्ताचीनी करना : दोष निकालना ।
नेकी और पूछ-पूछ : बिना कहे भी भलाई करनी चाहिए ।
नौ दिन चले अढ़ाई कोस : बहुत सुस्त ।
नौ दो ग्यारह होना : भाग जाना ।

प, फ, ब, भ, म

पट्टी पड़ना : हार जाना ।
पट्टी में आ जाना : बहकावे में आना ।
पट्टी पढ़ाना : बुरी सलाह देना ।
पते की कहना : रहस्यपूर्ण बात करना ।
पत्थर का कलेजा करना : कठोर हृदय होना ।
पलड़ा भारी होना : पक्ष मजबूत होना ।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं : परतन्त्रता में सुख नहीं ।
परछाईं पकड़ना : असत्य बात के लिए परेशान होना ।
परछाईं से डरना : बहुत डरना ।
पर फड़फड़ाना : जान निकलना ।
पसीना-पसीना होना : थक जाना ।
पहाड़ टूट पड़ना : मुसीबत आ जाना ।
पाँचों उँगलियाँ घी में होना : खूब लाभ होना ।
पाँव उखड़ जाना : हारकर भाग जाना ।
पाँव ज़मीन पर न पड़ना : अभिमान हो जाना ।
पानी पानी हो जाना : बहुत लज्जित होना ।
पानी फिर जाना : सब नष्ट हो जाना ।
पानी का बुलबुला होना : क्षणभंगुर होना ।
पानी फेर देना : बिगाड़ देना ।
पान में फेंकना : बरबाद कर देना ।
पापड़ बेलना : कष्ट से जीवन व्यतीत करना ।
पार पाना : अन्त पाना ।

पिंड छुड़ाना : पीछा छुड़ाना।
पीछे पड़ना : हानि पहुँचाना।
पीठ दिखाना : हार जाना।
पुल बाँधना : बढ़ाकर कहना।
पेट में दाढ़ी होना : बहुत चालाक होना।
पेट का पानी न पचना : बिना कहे न रहा जाना।
पेट में चूहे कूदना : अच्छी तरह भूख लगना।
पैरों तले से ज़मीन निकल जाना : होश उड़ जाना।
पैरों तले से ज़मीन हट जाना : सहम जाना।
पोल खोलना : गुप्त बातें खोलना।
पौने सोलह आने : अधिकांश।
पौ फटना : सुबह होना।
पौ बारह होना : खूब लाभ होना
प्राण हथेली पर लिये तैयार रहना : जान देने के लिए तैयार रहना।
फड़क उठना : प्रसन्न होना।
फूँक-फूँक कर क़दम रखना : सोच-समझकर काम करना।
फूट-फूट कर रोना : बहुत रोना।
फूटी आँखों न भाना : अच्छा न लगना।
फूला न समाना : बहुत ज्यादा प्रसन्न होना।
बन्दर घुड़की या भभकी : प्रभावहीन धमकी।
बगलें झाँकना : बचने का रास्ता खोजना।
बगुला भगत होना : कपट करना।
बट्टा लगाना : कलंक लगना।
बल्लियों उछलना : खूब खुश होना।

बकरे की जान गई खाने वाले को मजा ही न मिला : ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे दूसरों को हानि पहुँचे।

बकरे की माँ कब तक खैर मनावेगी : यही हाल है तो किसी दिन विपत्ति में अवश्य फँसेगा।

बगल में लड़का शहर में ढिंढोरा : अपने घर की फिक्र न करना।
बहती गंगा में पाँव धोना : मौके पर काम करना।
बाँह पकड़ना : सहायता देना।
बाएँ हाथ का खेल : अत्यन्त आसान।
बाँछें खिल जाना : हर्षित होना।
बात का धनी होना : वायदे का पक्का होना।
बाग-बाग होना : प्रसन्न होना।

बाज़ार गर्म होना : ज्यादा काम होना ।
बात की बात में : बहुत शीघ्र ।
बात पर आ जाना : कहने में आना ।
बाल की खाल निकालना : व्यर्थ तर्क करना ।
बाल-बाल बचना : हानि होते हुए भी बच जाना ।
बाल बाँका न होना : ज़रा भी हानि न होना ।
बालू की भींत उठाना : व्यर्थ का काम करना ।
बिल्ली खाएगी नहीं तो लुढ़काएगी : दुष्ट मनुष्य व्यर्थ ही हानि पहुँचाते हैं।
बीड़ा उठाना : प्रतिज्ञा करना ।
बेगार टालना : दिल से काम न करना ।
बे सिर-पैर की बात करना : अंट-संट बात करना ।
बेड़ा पार लगाना : किसी को दुःख से छुड़ाना ।
बोलबाला होना : प्रसिद्ध होना ।
बोली बोलना : चुभती बात कहना ।
बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय : जैसा किया वैसा फल भोगा ।
भंडा फूटना : भेद खोलना ।
भनक पड़ना : कुछ समाचार मिलना ।
भाड़ झोंकना : समय नष्ट करना ।
भाड़े का टट्टू होना : किराये का आदमी होना ।
भागते भूत की लँगोटी ही सही : जाते हुए माल में से जो कुछ भी मिल जाय वही अच्छा है ।
भीगी बिल्ली बनना : विवश होना ।
भेड़ जहाँ जायगी वहीं मुँडेगी : मूर्ख जहाँ जायगा वहीं नुकसान उठायगा ।
भूत सवार हो जाना : क्रोधित हो जाना ।
भेड़ियाधसान : अन्धानुकरण ।
मक्खियाँ मारना : व्यर्थ घूमना ।
मक्खीचूस होना : कंजूसी करना ।
मगज़ चाटना : परेशान करना ।
मगज़पच्ची करना : व्यर्थ बकना ।
मज़ा किरकिरा होना : आनन्द में बाधा उपस्थित होना ।
मन के लड्डू खाना : मन में अनेक तरह के सुखों की कल्पना करना ।
मन चंगा तो कठौती में गंगा : श्रद्धा से सब कुछ हो जाता है ।
मन में राम बगल में छुरी : कपट का बर्ताव करना ।
मरे को मारना : दुखी को दुःख देना ।
मरता क्या न करता : आपत्ति में व्यक्ति बुरा काम कर डालता है ।

मान न मान मैं तेरा मेहमान : ज़बरदस्ती सिर पड़ना।
माथा ठनकना : आशंका होना ।
माथे मढ़ना : ज़िम्मेदार करना ।
माथे पर बल पड़ना : नाराज़ होना।
माई का लाल : अपनी माँ का प्यारा।
मुँह की खाना : बुरी तरह हारना ।
मुँह ताकना : सहायता की आशा करना।
मुँह तोड़ उत्तर देना : खरा उत्तर देना ।
मुँह देखी करना : पक्षपात करना।
मुँह धोना : आशा छोड़ना ।
मुँह पकड़ना : बोलने से रोकना ।
मुँह फैलाना : अधिक इच्छा करना।
मुँह बनाना : नाराज़ होना।
मुँह में कालिख लगना : कलंक लगना ।
मुँह में पानी भर आना : लालच हो आना ।
मुट्ठी गर्म करना : रिश्वत देना ।
मुट्ठी में करना : बस में करना।
मैदान मारना : लड़ाई जीतना ।
मोम होना : दयावान होना।
मौत सिर पर खेलना : मौत करीब आना ।

र, ल, व, श, स, ह

रस्सी जल गई पर ऐंठ न गई : बुरी दशा होने पर भी घमण्ड न गया।
रँग जमना : धाक जमना।
रँग में रँग जाना : प्रभावित हो जाना ।
रँग उड़ना : डर जाना ।
रँग में भंग पड़ना : आनन्द में बाधा पड़ना।
रँगा सियार : ढोंग रचना ।
रग-रग पहचानना : परिचित होना ।
रँग लाना : प्रभाव दिखाना।
रफूचक्कर होना : भाग जाना।
राई का पहाड़ बनाना : छोटी बात कोबड़ा देना।
रास्ते पर आना : सुमार्ग पर आना।
रोंगटे खड़े होना : शंका होना।
लँगोटिया यार : बचपन का साथी।
लकीर का फ़कीर होना : पुराने नियमों पर चलना।

लम्बी-चौड़ी बातें करना : व्यर्थ की बात करना ।
लड़ाई मोल लेना : झगड़ा करना ।
लपेट में आना : फँस जाना ।
लहू के घूँट लेना : क्रोध करना ।
लट्टू होना : मस्त होना ।
लकड़ी के बल बन्दरिया नाचे : डर से काम होता है ।
लालच बुरी बला है : लालच अन्याय कराता है ।
लिखे मूसा पढ़े ईसा : अपना ही लिखा आप न पढ़ा जाय ।
लुटिया डुबोना : काम बिगाड़ देना ।
लेने के देने पड़ना : लाभ के बदले हानि होना ।
लोहा लेना : सामना करना ।
लोहा मानना : अधीनता स्वीकार करना ।
लोहे के चने चबाना : अत्यन्त कठिन काम करना ।
वक्त पर काम आना : मुसीबत पर काम आना ।
वाह-वाह होना : प्रशंसा होना ।
विष उगलना : दुर्वचन कहना ।
विष की गाँठ : बुरा मनुष्य ।
शहद लगाकर चाटना : निरर्थक वस्तुओं की हिफ़ाज़त करना ।
श्रीगणेश करना : शुरू करना ।
शिकार हाथ लगना : आसामी मिलना ।
शेखी बघारना : डींग मारना ।
सफेद झूँठ : बिल्कुल झूँठ ।
सब्ज़ बाग दिखाना : प्रलोभन देना ।
सदा दिवाली स्वाद की जो घर गेहूँ होय : घर धन है तो हमेशा आनन्द है ।
सब दिन जात न एक समाना : दुख-सुख सदैव नहीं रहते ।
सब धान बाईस पंसेरी : सब की कदर एक समान ।
समझ पर पत्थर पड़ना : बुद्धि भ्रष्ट होना ।
साँप मरे न लाठी टूटे : किसी का नुकसान न हो, और काम भी बन जाय ।
सावन के अन्धे को हरा ही हरा दीखता है : धनवान को धन ही धन दीखता है ।
सिर चढ़ना : दिमाग खराब होना ।
सिर मारना : प्रयत्न करना ।
सिर से कफन बाँधना : मरने के लिए तैयार होना ।
सिर खाना : तंग करना ।
सिर-आँखों पर : सादर स्वीकृत ।

सिक्का जमाना : प्रभुत्व स्थापित करना।

सींग कटाय बछड़ों में मिलना : अपनी अवस्था से छोटा रूप बनाना।

हक्का-बक्का रह जाना : चकित रहना।

हजामत बनाना : लूटना।

हथियार डाल देना : हार मान लेना।

हराम होना : कोई काम न हो सकना।

हवा खाना : बिना सफलता के लौट जाना।

हवा लगना : साथ का प्रभाव होना।

हवा से बातें करना : बहुत तीव्र चलना।

हाथ को हाथ से न सूझना : घना अन्धकार हो जाना।

हाथ खींचना : मदद बन्द करना।

हाथ धोकर पीछे पड़ना : बुरी तरह पीछे लगना।

हाथ-पाँव फूल जाना : भय खाना।

हाथ साफ़ करना : मारना पीटना।

हाथ कंगन को आरसी क्या : प्रत्यक्ष बात के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

हाथ मलते रह जाना : पश्चाताप करना।

हाथोंहाथ बिकना : बहुत शीघ्र बिकना।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात : होनहार के पहले से ही लक्षण दृष्टिगत हो जाते हैं।

होश उड़ जाना : सुध-बुध न रहना।

हुक्का-पानी बन्द हो जाना : बिरादरी से बहिष्कृत होना।

कुछ सुन्दर उक्तियाँ

१६८. भाषा के कवियों की कविताओं से कुछ उक्तियाँ छाँट ली गई हैं, जिनका प्रयोग भी लोकोक्तियों की ही भाँति भाषा में लेखक और वक्ता अपने भाषणों में यत्र-तत्र करते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख विद्यार्थियों के लाभार्थ नीचे दी जाती हैं—

सांई घोड़न के अछत, गदहन पायो राज—विद्वानों के न रहने पर मूर्खों को अधिकार मिल जाता है।

फरा सो बरा, जो झरा सो बुताना—फल-प्राप्ति के पश्चात् नाश होना आवश्यक है।

चार दिन की चाँदनी फिर अँधयारी रात—जीवन में सुख के दिन गिने-चुने ही रहते हैं।

उस दाता से सूम भला जो ठाढो देय जबाब—व्यर्थ के लिए काम को लटकाकर 'हाँ-हाँ' कहने वाले व्यक्ति से ना कह देने वाला व्यक्ति सर्वदा अच्छा होता है।

खरी मजूरी चोखा काम—जिस कार्य में कार्य करने की मेहनत तुरन्त मिले वही काम अच्छा है।

सूरदास की काली कमरिया चढ़े न दूजो रंग—अर्थात् अपनी विचारधारा हा इतनी गाढ़ी हो कि दूसरे के कहने का उस पर कोई प्रभाव ही न पड़ सके।

ऊधो! मन न भये दस-बीस—अर्थात् 'मन में केवल एक के ही प्रति प्रेम और श्रद्धा हो सकती है।

तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर—कार्य उतना ही करना चाहिए जितने साधन हों।

रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून, पानी गए न ऊबरे मोती, मानुष, चून—अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आन पर बट्टा न आने दे और यदि वह अपने सम्मान की रक्षा नहीं करेगा तो सम्मान नहीं प्राप्त कर सकता।

पर स्वारथ के कारनै सज्जन धरत शरीर—भले आदमी दूसरों के लाभ के लिए ही जन्म लेते हैं।

सत मत छोड़े सूरमा, सत छोड़े पत जाय—जो व्यक्ति अपने को सूरमा कहता है उसे सत्य का पालन करना चाहिए।

निज कारण दुख ना सहे, सहे पराए काज—भले आदमी को दूसरों के कारण कष्ट सहना चाहिए।

तुलसी सन्त सुअम्ब तरु फूलि फले पर हेत—अच्छे व्यक्ति और अच्छे वृक्ष दूसरों के लाभ के लिए फलते-फूलते हैं।

खेती करै न बीजै जाय, विद्या के बल बैठा खाय—विद्वान् आदमी मेहनत का कष्ट सहन न करके मस्तिष्क के बल से खाता होता है; इसलिए विद्या पढ़नी चाहिए।

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम; दास मलूका कह गए, सबके दाता राम—रामाश्रय पर विश्वास करने वालों ने निठल्लों के लिए यह युक्ति बनाई है।

सदा दिवाली सन्त घर जो गुड़ गेहूँ होय—सन्त के घर पर सर्वदा आनन्द रहता है।

बूड़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल—जब भले घर में बुरी सन्तान हो जाय तो वंश का सर्वनाश हो जाता है।

काँटो बुरौ करील कौ अरु बदरी को घाम, सौत बुरी है चून की अरु साझे कौ काम—काँटा, बदली का घाम और सौत इनका होना कभी भी किसी को सुख नहीं पहुँचा सकता; कष्ट ही होता है।

बाँध कुदारी खुरपी हाथ, हँसिया लाठी-राखे साथ; काटै घास निरावै खेत, वहीं किसान करे निज हेत—मेहनत करने वाले व्यक्ति को ही फल की प्राप्ति होती है।

छाँटे खाद जोत गहराई, तब खेती का मजा उठाई—परिश्रम का फल मीठा होता है।

जोते खेत घास ना टूटै, ताको भाग साँझ ही फूटै—जो काम को अधूरा करता है उसे लाभ नहीं हो सकता।

जिसका ऊँचा बैठना जिसका खेत निचान, उसका बैरी क्या करे जिसका मीत दिवान—अच्छे आचरण के आदमियों में बैठना चाहिए, झुककर रहना चाहिए, और बड़ों से मेल रखना चाहिए।

रहिमन मोहि न सुहाव अमिय पियावै मान बिन—बिन सम्मान के सम्मानित व्यक्ति को चाहे जितना लाभ भी क्यों न होता हो, अच्छा नहीं लगता।

मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलै विरंचि-सम—मूर्ख व्यक्ति को यदि स्वयं परमात्मा भी गुरु बनकर आयें तो भी सद्‌बुद्धि नहीं दे सकते।

चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग—सद्‌गुण वाले व्यक्तियों को यदि दुष्टों के मध्य में भी रहना पड़े तब भी वह अपने अच्छे गुणों को नहीं त्यागते।

जेहि मारुत गिरि मेरु उडाहीं, कहहु तूल केहि लेखे माहीं:—जो कोई इतना शक्तिशाली है कि बड़े से बड़ा कार्य कर सकता है उसके सामने छोटे-छोटे कार्य क्या ठहर सकते हैं?

समरथ को नहिं दोष गुसाईं—समर्थ व्यक्ति को कोई दोष नहीं लगा सकता।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं—जो व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है उसे स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

तिरिया, तेल, हमीर-हठ, चढ़ै न दूजी बार—स्त्री, तेल और हमीर-हठ केवल एक बार ही अपनी सार्थकता दिखला सकते हैं।

अंधेर नगरी, चौपट्ट राजा; टके सेर भाजी, टके सेर खाजा—अज्ञानी राज्य में मूर्ख और विद्वान् की परख होनी कठिन है। वहाँ तो सब सामान एक ही भाव बिकते हैं।

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी—यह उक्ति गोस्वामी तुलसीदास जी की है। इसके अन्तर्गत उन्होंने मूढ़ता को प्रतीक मानकर कहा है कि मूढ़ता को ठीक करने के लिए बल की आवश्यकता है।

जो जस करै सो तस फल चाखा—अच्छा करे अच्छा फल, बुरा करे बुरा फल।

परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय—अपवित्र स्थान में पड़ी हुई मूल्यवान वस्तु को उठाने में कोई संकोच नहीं करता?

आया है सो जायगा राजा, रंक, फकीर—मृत्यु के सामने धन और समाज के प्रतिबन्ध नहीं ठहरते।

उपजहिं एक संग जग माहीं, जलज, जोंक जिमि गुण बिलगाहीं—एक ही स्थान पर रहने और पलने के पश्चात् भी विभिन्न वस्तुओं में अपने-अपने पृथक्-पृथक् गुण और अवगुण वर्तमान रहते हैं।

काम जो आवै कामरी का लै करै कमाँच—जिस स्थान पर जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वहाँ पर वही वस्तु प्रयोग में आती है। यदि उस कार्य की पूर्ति के

लिए आप उससे कहीं अधिक बड़ी वस्तु भी लायें तो वह भी व्यर्थ है।

खग जाने खग ही की भाषा—जो जैसा है उसके विचारों को वैसा ही व्यक्ति जानता है।

कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरी छाँड़ि होंहि का रानी—किसी के बड़े-छोटे होने से हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि हमारी जो स्थिति है उसमें कोई परिवर्तन होने वाला नहीं।

खाल ओढ़ाये सिंह की स्यार सिंह नहिं होय—वेष बदलने से कोई भी व्यक्ति अपने वास्तविक रूप को नही बदल सकता।

चन्दन की चुटकी भली, गाड़ी भरा न काठ—मूल्यवान वस्तु की थोड़ी-सी मात्रा भी ढेरों व्यर्थ वस्तुओं से कहीं अधिक उपयोगी होती है।

जग में देखन ही का नाता—संसार में जो कुछ होता है वह केवल आँख की शर्म से होता है।

स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती—संसार में सभी व्यक्ति केवल स्वार्थ-वश होकर प्रेम प्रदर्शित करते हैं। वस्तु-स्थिति का ज्ञान होना तो बहुत कठिन है।

दिनन के फेर ते सुमेर होत माटी सम—जब समय और भाग्य विपरीत हों तो लाख की सम्पत्ति खाक में मिल जाती है।

दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम—जो कोई भी कार्य स्थिर चित्त होकर नहीं किया जायगा उसमें किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

दूसरा खण्ड

अध्याय १५

कुछ प्रतिनिधि पत्र

(प्रत्येक पत्र के चार अनिवार्य अंग—१. प्रेषक का पता, २. अभिवादन, ३. प्रकृत विषय, ४. प्रेषक के हस्ताक्षर, इनके लिखने के ढंग, पत्रों के प्रकार पर आधारित होते हैं।)

व्यवसायात्मक पत्र—व्यवसायात्मक पत्रों में प्रेषक का पता तथा अभिवादन (सिरनामा) पत्र की बायीं ओर लिखा जाता है। जैसे—

प्रेषक

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६।

सेवा में,

श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस।

प्रिय आचार्य जी,

आपने ता० २३-१-५३ के पत्र में लिखा था कि आपको किसी भी पुस्तक-विक्रेता के यहाँ से आपकी आवश्यकता का पूरा माल उपलब्ध नहीं होता। परन्तु हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि हमारे यहाँ से आपको सभी माल प्राप्त हो सकेगा। प्रशंसा की दृष्टि से नहीं, सूचना की दृष्टि से हम सगर्व यह कह सकते हैं कि उत्तर भारत में हम से अच्छा हिन्दी की पुस्तकों का मेल रखने वाला कोई अन्य प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता नहीं है।

कमीशन इत्यादि के सम्बन्ध में आपको चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ से एक से ही नियमों का पालन किया जाता है। आशा है आप हमारे व्यवहार से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होंगे। कृपया अपने यहाँ का आर्डर भेजकर कृतार्थ करें।

भवदीय

भीमसेन

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

(कोई वस्तु मँगाने के लिए किसी दूकानदार को साधारण पत्र लिखना)

२२ हजरतगंज, लखनऊ
ता० १०-१-५३

प्रिय महोदय !

निम्नलिखित पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेजने की कृपा करें। वी० पी० से पूर्व उनका केश-मीमो हमारे पास अवश्य भेज दें। पुस्तकें निम्नलिखित हैं—

१. साहित्य, शिक्षा और संस्कृति—लेखक : डा० राजेन्द्रप्रसाद—प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
२. इन्सान—लेखक: श्री यज्ञदत्त, एम० ए०—प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
३. निर्माण-पथ—लेक : श्री यज्ञदत्त,एम० ए०—प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।
४. रूपदर्शन—लेखक : श्री हरिकृष्ण प्रेमी—प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

अपना एक बृहद् सूचीपत्र भी भेजने की कृपा करें।

भवदीय
शैलेन्द्रकुमार

(सम्पादक का लेखक के, और लेखक का सम्पादक के नाम पत्र)

चाँद कार्यालय
प्रयाग—ता० १२-१-५३

समादरणीय,

'चाँद' पत्रिका से आप परिचित न हों यह मैं नहीं मान सकता। गत लगभग बीस-बाईस वर्ष से यह हिन्दी की सेवा करती आरही है। भारत के राजनीतिक उत्थान में भी इसने अपनी सेवाओं से निरन्तर सहयोग दिया है और विदेशी राज्य-काल में हानियाँ भी उठाई हैं। सचाई की बात कहना इसका सर्वदा उद्देश्य रहा है। हिन्दी के प्राय: सभी उच्च कोटि के विद्वानों ने इसके बनाने में सहयोग दिया। आपके पास हम गत मास का पत्र भेज रहे हैं और भविष्य में प्रति मास 'चाँद' आपकी सेवा में आता रहेगा। हमारा आगामी अंक एक विशेषांक के रूप में बड़ी ही सजधज के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका विषय भारत का सांस्कृतिक उत्थान है। आपसे सानुरोध प्रार्थना है कि आप इस अंक के लिए अपनी कोई विषय के उपयुक्त रचना भेजने की कृपा करें। लौटती डाक से उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा।

विनीत
सत्यभक्त एम० ए०
सम्पादक

सेवा में,
श्री डा० सी० बी० लाल गुप्ता, अध्यापक हिन्दी-विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस।

उत्तर—
प्रिय महोदय !
पत्र प्राप्त हुआ। आपने मुझे स्मरण किया इसके लिए धन्यवाद। 'चाँद' पत्रिका के विषय में जो आपने लिखा वह कार्य अवश्य प्रशंसनीय है। मेरे अध्ययन-विषय के अनुकूल आप जो विशेषांक निकालने जा रहे हैं उसमें मैं आपको अवश्य सहयोग दूँगा। इस सप्ताह कुछ व्यस्त रहूँगा परन्तु आगामी सप्ताह में एक लेख आपके पास अवश्य पहुँचेगा।

भवदीय
राकेश

× × ×

'सरिता' कार्यालय
कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

आदरणीय आचार्य !
'सरिता' आपके पास गत कई मास से भेजी जा रही है। आशा है आपने उसे पसन्द किया होगा। हमने हिन्दी की सेवा के लिए इस पत्र को प्रकाशित किया है और इसके द्वारा हम नवीन क्रान्ति की ओर अपने लेखकों तथा पाठकों को ले जाना चाहते हैं। आशा है, आप हमारी पत्रिका में लेख भेजकर हमें कृतार्थ करेंगे।

भवदीय
अर्जुनदेव
सम्पादक

सेवा में
डा० श्री आचार्य नन्दा,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

उत्तर—
प्रिय महोदय !
आपका पत्र मिला और 'सरिता' की प्रतियाँ गत कई मास से मिल रही हैं। कई बार इच्छा हुई कि लेखनी उठाकर यदि पत्र के लिए लेख नहीं तो कम-से-कम एक पत्र आपके नाम अवश्य लिखूँ। आज वह अवसर आ ही गया। बन्धुवर, मैं समझ नहीं पाता कि ऐसे हलके और बचपना दिखलाने वाले पत्र के लिए मेरा कोई भी लेख कहाँ तक उपयुक्त हो सकता है। वास्तव में आप लोग तड़क-भड़क के साथ आर्ट पेपर पर कई-कई रंगों की स्याही से चमत्कृत प्रयोग को ही पत्र-कला मान बैठे हैं, यह खेद का विषय है। पत्र की वास्तविक सजावट उसके लेखों की गम्भीरता, मार्मिकता और रोचकता होती है, जिनका कि मुझे आपके पत्र में नितान्त अभाव

मिलना है। पत्र स्पष्ट लिख रहा हूँ इसके लिए क्षमा करना, परन्तु मेरा उद्देश्य आपकी भलाई ही है। एक डाक्टर की तरह मैं आपके विचारों में से गले-सड़े भाग को काटकर उसे स्वस्थ बना हुआ देखना चाहता हूँ। आपके पास साधन हैं और उससे आप वास्तव में समाज, साहित्य और देश की सेवा कर सकते हैं, आशा है आप भविष्य में पत्रिका के बाहरी रूप-रंग पर विशेष ध्यान देने के साथ ही साथ उसकी पाठ्य-सामग्री पर भी ध्यान देंगे। मै आपके आगामी अंकों में आपकी प्रगति को ध्यान-पूर्वक देखता रहूँगा और जब आप उसका स्तर ऊँचा उठा लेंगे तो मै अवश्य आपकी सेवा अपनी रचना द्वारा कर सकूँगा।

भवदीय
नन्दा

(निमन्त्रण-पत्र या प्रार्थना-पत्र)

सेवा में,
श्री आचार्य जी !
मेरठ कॉलिज, मेरठ।

आदरणीय आचार्य जी !

मैं आगामी एक सप्ताह को प्रयाग जा रहा हूँ। मेरा पुत्र रमेश भी मेरे साथ जा रहा है। कृपया उसे एक सप्ताह की छुट्टी प्रदान करें। आगामी सोमवार को वह फिर अपनी कक्षा में अध्ययन-कार्य प्रारम्भ कर सकेगा।

अवकाश ३-१-५३ से १०-१-५३ तक देने की कृपा करें।

भवदीय
आत्माराम
संरक्षक

२९६ मालीवाड़ा, दिल्ली
ता० १-१-५३

× × ×

सेवा में.
चेयरमैन, म्युनिसिपल बॉर्ड
दिल्ली।

आदरणीय महोदय !

गत सोमवार ५-१-५३ के 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित एक विज्ञप्ति से ज्ञात हुआ है कि आपके स्वास्थ्य-विभाग में कुछ इन्सपेक्टरों की आवश्यकता है। मैं इसी पद पर लाहौर में सात वर्ष तक कार्य करता रहा हूँ और मुझे इस कार्य का पूर्ण अनुभव है। आपके विभाग में रिक्त स्थानों के लिए मैं भी एक प्रार्थी के नाते अपना प्रार्थना-पत्र भेज रहा हूँ। आशा है, आप मुझे कार्य के योग्य समझकर नियुक्ति-पत्र देने की कृपा करेंगे। मेरी शिक्षा-योग्यता इस प्रकार है—

दस कक्षा पास—द्वितीय श्रेणी—वैदिक हाई स्कूल, लाहौर।

चूड़ीवालाँ, चावड़ी बाजार दिल्ली
४-१-५३

आपका सदैव आज्ञाकारी
रामदीन 'विशारद'

नोट—इसी प्रार्थना-पत्र के साथ प्रार्थी को चाहिए कि वह, यदि उसके पास कुछ हों, तो उनका कापियाँ कराके भी लगा दे और प्रार्थना-पत्र में उल्लेख भी कर दे। इसके अतिरिक्त अपनी सभी विषयों की योग्यता तथा डिगरियों का भी पूरा-पूरा विवरण साथ में दे।

(प्रशंसा-पत्र जिन्हें प्रमाण-पत्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है)

शिवशंकर शर्मा इस वर्ष मेरठ कॉलिज से एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं। यह अपने अध्ययन-काल में बहुत ही सुशील, कर्तव्यनिष्ठ और कर्मठ विद्यार्थी रहे हैं। परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास करना इनके लिए कोई नई बात नहीं। इनकी प्रतिभा से आज तक न केवल इनके अध्यापक ही प्रभावित होते हैं वरन् विद्यालय में आने वाले प्रायः सभी व्यक्तियों की दृष्टि इनकी प्रतिभा की ओर आकर्षित हुई है। इनका व्यवहार अनुशासनपूर्ण, सहयोग-प्रधान और सद्भावना तथा सहृदयता का रहा है। अपने साथी विद्यार्थियों मे सर्वदा ही इन्होंने अपने आचरण और व्यवहार से आदर्श स्थापित किया है। शिक्षा के अतिरिक्त खेल-कूद में भी यह सर्वदा आगे ही दिखलाई दिये हैं। वाक्चातुर्य की पटुता इनमें विशेष रूप से पाई जाती है और मैंने तो यह पाया है कि जब कभी इन्हें किसी कार्य के लिए भेजा गया है, यह कार्य को बिना कुशलतापूर्वक समाप्त किये नहीं लौटे। इनके गत चरित्र पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि यह अपने भविष्य-काल में एक सुशिक्षित, सुयोग और आदर्श नागरिक बनेंगे और अपनी कर्त्तव्यपरायणता से अपना, अपने समाज का तथा अपने देश का नाम ऊँचा करने में सफल होंगे।

मैं हृदय से इनके जीवन की सफलता की आकांक्षा करता हूँ।

आचार्य देवकीनंदन
विश्वविद्यालय, काशी

(पुत्र का पिता के नाम पत्र)

पूज्यनीय पिताजी, सादर प्रणाम!

पूज्यनीय माता जी तथा बड़ी दीदी को प्रणाम के पश्चात् निवेदन है कि मैं दशहरे पर घर आ रहा हूँ। आशा है बड़े भाई साहब भी दशहरे की छुट्टियों में घर पर होंगे। आपका भेजा हुआ ५०) का मनीआर्डर प्राप्त हुआ, और मैंने छात्रावास तथा विश्वविद्यालय की फीस दे दी है। अब मैं निश्चिन्ततापूर्वक अपना अध्ययन-कार्य कर रहा हूँ। छोटी मुन्नी की याद यहाँ मुझे बहुत सताती है। कभी-कभी तो पढ़ते-पढ़ते भी उसकी स्मृति हो आती है। कल जब मैं महाकवि सूरदास के कृष्ण की बाल-लीला सम्बन्धी पद पढ़ रहा था तो मुझे अकस्मात् मुन्नी का पजेब पहिन-कर ठुमक-ठुमककर चलना याद आ गया। दशहरे पर मुन्नी के लिए बहुत अच्छे-अच्छे खिलौने लाऊँगा।

मैंने आपको लगभग १००) और भेजने के लिए लिखा था। यह रुपया मुझे

कुछ आवश्यक पुस्तकें खरीदने के लिए चाहिए । आशा है आप शीघ्र भेजने की कृपा करेंगे ।

घर के कुशल-समाचार लौटती डाक से भेजने की कृपा करना । सभी आदरणीय गुरुजनों को प्रणाम तथा छोटों को प्यार ।

कमरा नं० १० आपका आज्ञाकारी पुत्र

हिन्दू छात्रावास, प्रयाग । देवमित्र

नोट—उक्त पत्र की ही भाँति अपने सभी प्रियजनों को पत्र लिखा जाता है । बड़ी बहिन, बड़े भाई, माता, चाचा, ताया, मामा इत्यादि के लिए इसी प्रकार के आदरसूचक सम्बोधनों का प्रयोग होता है । अपने से छोटे के लिए पत्र लिखने में सम्बोधन से पूर्व 'प्रिय' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

(मान-पत्र)

श्रद्धेय श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी !

आज का दिन हम दिल्ली के साहित्यिकों के लिए धन्य है कि आपने यहाँ पधारकर हमें दर्शन दिए । आपने इस सभा के बीच पधारकर यहाँ के हिन्दी-प्रेमियों का उत्साह बढ़ाया और हमें कृतार्थ किया ।

सुहृद्वर !

हिन्दी आज राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है, इसमें कोई सन्देह नहीं । परन्तु घोषित होने के पश्चात् भी इसके मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं यह भी स्पष्ट ही है । हमारी राष्ट्रभाषा पर हमारी संस्कृति और हमारे राष्ट्र का उत्थान तथा पतन अवलम्बित है । हमारी भाषा के गर्भ में हमारी मान और मर्यादा सुरक्षित है । जिस भाषा ने आज तक हमारी संस्कृत और सभ्यता की कठिन से कठिन काल में भी रक्षा की है । उसकी रक्षा करना आप जैसे आचार्यों का धर्म है । हम दिल्ली की जनता की ओर से आपको आश्वासन देते हैं कि राष्ट्र-भाषा के हित में हम लोग अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पित कर देंगे । हम चाहते हैं कि हमारा यह उद्योग आपका संरक्षण प्राप्त कर सके ।

हमें पूर्ण आशा है कि आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करके हमें कृतार्थ करेंगे ।

हम हैं सदैव आपके
सदस्य
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली

(बधाई-पत्र)

(मित्र के पुत्र के जन्म पर)

प्रिय मित्र छविनाथ जी !

सप्रेम बधाई स्वीकार करना ।
बधाई ! बधाई !! बधाई !!!

जीवन में ऐसे आनन्द के क्षण बहुत कम आते हैं जैसा आज। परमात्मा ने तुम्हें पुत्र-रत्न भेंट स्वरूप प्रदान किया है और भाभी की गोद को इस अमूल्य निधि से भरा है। इससे जो आनन्द मुझे प्राप्त हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तुम दोनों को भगवान् ने यह एक खिलौना दिया है जिसका मूल्य चाँदी के टुकड़ों में नहीं आँका जा सकता।

ईश्वर आपके पुत्र को दीर्घ आयु प्रदान करे, वह स्वस्थ रहे, जिससे जीवन में बड़ा होकर अपने योग्य माता-पिता का नाम उज्ज्वल करे। मेरी यही मंगल-कामना है।

सागर

तुम्हारा अपना सदैव साथी
रामरतन भटनागर

(शोक-प्रस्ताव)

दिल्ली-निवासियों की यह विराट सभा श्री पं० गौरीशंकर जी के निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है और साथ ही परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती है कि वह दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे। पं० गौरीशंकर जी के गुणों का बखान करना सूर्य को दीपक दिखलाने के तुल्य है। आपने भारतीय समाज, राष्ट्र और देश का संस्कृति, सभ्यता और राजनीति सभी दिशाओं में पथ-प्रदर्शन किया है। आज आपके बीच में न रहने से हमें अपना मार्ग अन्धकारपूर्ण दिखलाई दे रहा है।

भगवान् पंडित जी के इष्ट मित्रों तथा सगे-सम्बन्धियों को धैर्य प्रदान करे।

दिल्ली-निवासी

(गार्डन-पार्टी का पत्र)

माननीय मित्र!

१० जनवरी १९५३ को करौलबाग दिल्ली में एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना हो रही है। उसी के उपलक्ष में एक चाय-पार्टी का भी आयोजन किया गया है। आशा है, आप उसमें पधारकर हमें कृतार्थ करेंगे।

पार्टी-समय : संध्या—पाँच बजे।

मंत्री
रामदयाल

(विधेयात्मक उत्तर)

माननीय मित्र!

आपका निमंत्रण-पत्र प्राप्त हुआ। इस शुभ अवसर पर आपने मुझे भुलाया नहीं, इसके लिए हृदय में अपार प्रसन्नता है। मैं ठीक समय पर चाय-पार्टी में सम्मिलित होकर आनन्द लाभ करूँगा।

दिल्ली
१२-१-५३

आपका सदैव मित्र
मोहनलाल

(निषेधात्मक उत्तर)

प्रिय मित्र !

आपके निमन्त्रण-पत्र के लिए हार्दिक धन्यवाद ! परन्तु मुझे बहुत ही खेद के साथ आपको सूचित करना पड़ रहा है कि मैं इस आनन्दप्रद अवसर पर उपस्थित होकर आनन्द लाभ न कर सकूँगा। इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। न आने का कारण यह है कि इस तारीख को मेरा लखनऊ की अदालत में एक मुकदमा है और मुझे उसके लिए लखनऊ जाना है। ऐसी परिस्थिति में मैं इस शुभ अवसर से वंचित हो रहा हूँ इसका मुझे हार्दिक खेद है, परन्तु कारण की गम्भीरता को देखकर आशा है कि आप मुझे क्षमा करेंगे।

दिल्ली
१२–१–५३

आपका अपना मित्र
दीनदयाल

नोट —ऊपर कुछ पत्रों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन्हीं ढाँचों के अन्दर विषय के फेर-बदल के साथ पत्रों को लिखा जाता है। सम्बोधन और अन्तिम भाग सब में इसी प्रकार का रहेगा जिस प्रकार का कि ऊपर विभिन्न पत्रों में लिखा गया है। केवल बीच के भाग में अन्तर आता है। सो बीच के भाग में अन्तर अनिवार्य है, क्योंकि प्रत्येक पत्र-लेखक के विचार, उसके भाव, उसका लक्ष्य और उसकी आवश्यकता भिन्न रहती है। उसी के आधार पर वह अपने पत्र का विषय निर्धारित करता है। यदि विषयों के अनुसार पत्रों के नमूने प्रस्तुत किये जायें तो एक बृहद् ग्रन्थ पत्रों का ही तय्यार हो सकता है। इसलिए इस विषय को यहाँ पर सांकेतिक रूप में ही प्रकट किया गया है और विषयों के विस्तार तथा चुनाव का उत्तरदायित्व विद्यार्थियों पर छोड़ दिया गया है। विद्यार्थियों को चाहिए कि अन्य विषय के पत्रों के लिए वह पुस्तक के आगामी भाग में आने वाले निबन्धों से सहायता लें।

अध्याय १६

साहित्यिक निबन्ध

हिन्दी-साहित्य की प्रमुख धाराएँ

वीर-गाथा काल के साहित्य पर एक दृष्टि

२००. हिन्दी-साहित्य के इतिहास-पण्डितों ने भाषा के इतिहास को चार भागों मे विभाजित किया है। वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल। इस प्रकार वीरगाथा-काल का स्थान इन चार कालों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण में सर्वप्रथम आता है। इस काल का समय संवत् १०५० से १३७५ तक माना गया है और यह भाषा के उत्थान और क्रमिक विकास के विचार से बहुत महत्वपूर्ण काल है।

जिस समय यह काल प्रारम्भ होता है उस समय भारतवर्ष में व्यवस्थित राज्य-सत्ता का अभाव था और समस्त देश छोटे-छोटे मनचले राजाओं के राज्यो में विभाजित था। प्रत्येक राज्य का पृथक्-पृथक् निरंकुश राजा था और वह अपनी मनमानी आकांक्षाओं के अनुसार राज्य करता था। राजे भी सभी प्रायः वीर थे परन्तु संगठन न होने के कारण देश बहुत दुर्बल बना हुआ था और इसीलिए विदेशियों की लालच से भरी दृष्टि भारत की धन-सम्पत्ति पर जमी हुई थी। भारत के राजाओं की शक्ति का ह्रास आपस में लड़-भिड़कर होता जा रहा था और एक दूसरे की कन्याओं को बलपूर्वक स्वयंवरों में से भगा लाना मात्र ही केवल उनके युद्ध-कौशल के प्रदर्शन का क्षेत्र था। इस प्रकार आपस में वैमनस्य बढ़ाकर अपनी शक्ति का अपव्यय करना ही उनका गौरव बन गया था।

हिन्दी कविता इस काल में केवल दरबारों में पलती थी और कवि लोग विशेष रूप से चारण होते थे जिनका उद्देश्य अपने आश्रयदाता वीर राजाओं का गुणगान गाना होता था। देश में फूट थी, दुर्बलता थी, विलासिता थी, आलस्य था परन्तु फिर भी वीर राजाओं का एकदम ह्रास नहीं हो गया था। इसी समय वीर पृथ्वीराज दिल्ली का राज्याधिकारी हुआ परन्तु स्वयंवरों से डोला लाने वाली प्रथा से अपने को मुक्त वह भी न कर सका। संयोगिता का डोला उठाकर लाने का मूल्य उसे क्या देना पड़ा यह भारत-निवासी युग-युग तक नहीं भुला सकेंगे।

इस काल में हिन्दी का जितना भी साहित्य-सृजन हुआ वह विशेष रूप से दो

ही रसों से ओत-प्रोत था—एक शृंगार तथा दूसरा वीर रस। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस काल में वीरता का प्रदर्शन भी शृंगार के आश्रित ही होकर चलता था, अर्थात् शृंगारिक भावनाओं की पूर्ति के लिए ही वीरता का प्रदर्शन किया जाता था और कवियों ने भी अपने नायकों में दोनों ही गुणों की प्रधानता दिखलाई है। इस-लिए इस काल के कवियों के नायक रसिक भी हैं और वीर भी। रसिकता उनका प्रधान गुण है और उस रसिकता के क्षेत्र में आने वाली बाधाओं को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने अपने बल-कौशल तथा पराक्रम का प्रयोग किया है। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नाम-मात्र के सुनने तथा देखने से ऐतिहासिक-से प्रतीत होते हैं परन्तु यदि उनको आद्योपात पढ़कर देखा जाय तो उनमें ऐतिहासिकता का अभाव पाया जाता है। इन ग्रन्थों की कथाओं में केवल नाम के लिए ऐतिहासिकता रहती तो है—परन्तु वास्तव में सब कथाएँ आख्यायिकाओं पर आधारित हैं। कल्पना और कवि-स्वच्छंदता को उनमें विशेष स्थान दिया गया है। इन ग्रन्थों में अतिशयोक्तियों की इतनी भरमार है कि कहीं-कहीं पर तो पाठक संसार को भूलकर आकाश में उड़ने लगता है और वास्तविकता उस समय उसे कोरा उपहास-मात्र प्रतीत होती है।

इस काल के ग्रन्थों में वीरतापूर्ण युद्धों के बहुत सजीव चित्रण मिलते हैं और उन वर्णनों में जिन छन्दों तथा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वीर रस को व्यक्त करने में बहुत उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। एक विशेष बात इस काल के ग्रन्थों में कई-कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग है और कभी-कभी उसमें यह भी भ्रम हो जाता है कि वह ग्रन्थ उस समय और उस लेखक का लिखा हुआ भी है अथवा नहीं, कि जिस काल में जिस लेखक द्वारा लिखित उन्हें माना जाता है। यही कारण है कि इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए काफी खोज करनी पड़ी है।

प्रायः सभी ग्रन्थ वीरगाथा काल में देशज और अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं। दोहा, छप्पय, कवित्त तथा कुण्डलियाँ इत्यादि छन्दों का प्रयोग इन सब ग्रन्थों में है। काव्य प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों ही प्रकार के पाये जाते हैं। उर्दू और फारसी भाषा के शब्द भी इस समय की कविता में पाये जाते हैं।

इस काल के कवि केवल कवि ही नहीं होते थे वरन् वह तलवार के भी वैसे ही धनी थे जैसे लेखनी के। इन चारण कवियों का ध्येय साहित्य-सेवा उतना नहीं होता था जितना स्वामि-सेवा और इसीलिए यह रणक्षेत्र में जाकर युद्ध की आग में कूदना और जंग में तलवारें नचाना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। इनकी ओजस्विनी कविता वीरों में उत्साह का संचार करती थी और उन्हें युद्ध-क्षेत्र में सीना तानकर मतवाला बना देती थी। उनकी कविता को सुनकर योद्धाओं के भुजदण्ड फड़कने लगते थे और वह सिर पर कफन बाँधकर रण-भूमि में जूझ जाते थे।

हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका इस काल के अपभ्रंश काव्य हैं तथा विद्यापति की पदावली, खुसरो की पहेलियाँ, जयचन्द-प्रकाश, पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो इत्यादि देशज भाषा में लिखे गये प्रसिद्ध ग्रन्थ

है। इस काल का सबसे प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज रासो का लेखक चन्द्रबरदाई है। पृथ्वीराज तथा चन्दबरदाई इस काल के प्रतीक हैं। इन्ही दो व्यक्तियों पर केन्द्रित होकर इस काल का निर्माण हुआ है।

भाषा, इतिहास और साहित्य तीनों ही दृष्टिकोणों से वीरगाथा-काल बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक काल है जिसमें राष्ट्र-भाषा का निर्माण और वीरता-पूर्ण काव्य का सृजन हुआ है। परन्तु खेद की बात है कि वीरगाथा-काल होते हुए भी इस समय का कोई पूर्ण ग्रन्थ हमें ऐसा नहीं मिलता जिसमें स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय भावना से पूर्ण विचार मिलते हों। इसका प्रधान कारण यही है कि इस काल में राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव था और कवि अपना उत्तरदायित्व देश अथवा राष्ट्र के प्रति न समझकर उन श्रृंगारिक राजाओं के ही प्रति समझते थे जिनकी वीरता का प्रदर्शन भी राजकुमारियों के डोलों पर ही अटका हुआ रहता था।

संक्षिप्त

१. इस काल के प्रधानतया सभी ग्रन्थ श्रृंगार और वीर रस प्रधान हैं।

२. इस काल के प्रायः सभी कवि दरबारी थे और अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा मात्र ही उनके काव्यों के विषय थे।

३. इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ ऐतिहासिक से प्रतीत होते हुए भी काल्पनिक हैं।

४. काव्यों में युद्धों का सुन्दर चित्रण है।

५. इस काल के ग्रन्थों की भाषा और कथाएँ अभी तक संदिग्ध हैं और उनकी समकालीनता के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं।

६. राष्ट्रीयता की भावना का इस काल में सर्वथा अभाव मिलता है।

७. छप्पय, दोहा और कवित्त छन्दों में ओजपूर्ण कविता इस काल के कवियों ने लिखी है।

८. इस काल में प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य लिखे गये हैं।

९. भारत की शासन-व्यवस्था अव्यवस्थित होने के कारण इतिहास में भी उच्छृंखलता का आभास मिलता है, सुसंगठन का नहीं।

१०. भाषा परिमार्जित नहीं है, उसमें कई भाषाओं के शब्द हैं।

हिन्दी में निर्गुण साहित्य-धारा

अथवा

सन्त-साहित्य की एक झाँकी

२०१. भारत में सम्पूर्ण रूप से मुसलमान शासन-सत्ता स्थापित हो जाने पर हिन्दू-गौरव और वीरता के लिए बहुत कम स्थान रह गया था। स्थान-स्थान पर देव-मन्दिर गिराये जा रहे थे, और उनके स्थान पर मस्जिदें बन रही थीं। मुसलमान

पूरी तरह भारत-भूमि में बसते चले जा रहे थे; शासक और शासित होते हुए भी दो जातियों का एक दूसरी से सर्वथा पृथक् रहकर जीवन-निर्वाह करना कठिन था। इसलिए दिन-प्रतिदिन इन दोनों को एक दूसरे के निकट आना पड़ा और आपस के मिलने की भावना को प्रचारित करने के लिए कुछ सन्त-कवियों ने इस काल में जन्म लिया।

ऐसी परिस्थिति में देश के अन्दर एक 'सामान्य भक्ति-मार्ग' का विकास हुआ जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने ही सहयोग दिया। इस 'सामान्य भक्ति-मार्ग' के विकास का मार्ग वीरगाथा-काल में ही सिद्ध और नागपन्थी योगी निर्धारित कर चुके थे; परन्तु उस काल में उसे देश की अव्यवस्थित राजनीति होने के कारण, कोई व्यवस्थित रूपरेखा नहीं दी जा सकी थी। सिद्ध और नाथ योगियों के मत से वेद, शास्त्र, पूजा, अर्चना, सब व्यर्थ था; ईश्वर को वह घट-घट में मानते थे। हिन्दू और मुसलमान इनके निकट एक थे और वह जाति-पाँति के भेद-भाव में विश्वास नहीं रखते थे। इसी समय दक्षिण से आने वाली शक्ति की लहर ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन किया और (सं० १३२८-१४०८) महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने भी इसी मत का प्रचार किया।

हिन्दी-साहित्य में इस विचार को लेकर एक युग का निर्माण करने वाला व्यक्ति सन्त कबीर था। कबीर ने एक ओर तो निराकार ब्रह्म के निरूपण में भारतीय वेदान्त को अपनाया और दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में प्रेम-तत्त्व का निरूपण करने के लिए सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। नाथपन्थियों के नीरस उपदेशों से शुष्क पड़े जनता के हृदयों में कबीर ने सूफी प्रेम-भावना का स्रोत बहाकर उन्हें परिप्लावित कर दिया। कबीर ने अपनी कविता में मानवता के महान् आदर्शों का निरूपण किया और जनता के हृदयों से जातीयता की संकुचित भावना को नष्ट करके प्रेम-भावना भरने का भरसक प्रयत्न किया।

कबीर तथा अन्य निर्गुण-पन्थी सन्तों ने भक्ति तथा योग का संयोग करके कर्म के क्षेत्र में नागपन्थियों के ही सिद्धान्तों को अपनाया। सन्तों के लिए ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और प्रेम तक ही सीमित रहा। धर्म के क्षेत्र में वह पदार्पण नहीं कर सके। ईश्वर के जिस धर्म-स्वरूप को लेकर लोकरंजन की महान् भावना के साथ रामभक्ति-शाखा का निर्माण गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया उसका सन्त-साहित्य में सर्वथा अभाव ही बना रहा।

सन्त कबीर का एकेश्वरवाद इस प्रकार एक अनिश्चित रूप को लेकर खड़ा हुआ, जिसमें कभी ब्रह्मवाद की झलक दिखाई देने लगती है और कभी पैगम्बरों के खुदाबाद की। सन्त कबीर का यह पन्थ निर्गुण-पन्थ कहलाया। इस पन्थ में जो प्रधान प्रगति पाई जाती है वह है एकता की भावना, जाति-भेद, समाज-भेद, स्थान-भेद और काल-भेद रहित। निर्गुण पन्थ में हिन्दू और मुसलमानों ने समान रूप से आस्था रखी है। 'राम-रहीम' की एकता का वर्णन सन्त कवियों ने उन्मुक्त कण्ठ से

किया है।

सन्त कवियों की वाणी इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि वैष्णव कवियों की कविता में मिलती है। इसका प्रथम कारण यही है कि वह लोग ज्ञान और प्रेम को मिलाकर जो विचार प्रकट करते थे उसे अटपटी भाषा में कहना उनके लिए कठिन हो जाता था। इस मत के प्रतिपादकों में विद्वता का अभाव रहा है इसलिए साहित्यिक दृष्टि से उसमें उतना सौंदर्य नही आ पाया है जितनी विचारों की गहनता। सन्त कबीर ने रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा अपने भावों का प्रदर्शन किया है और कहीं-कही पर भाव इतने गहन हो गये हैं कि उनका सही अर्थ लगाना भी कठिन हो जाता है।

कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुन्दरदास, मलूकदास इत्यादि इस धारा के प्रधान कवि हैं।

संक्षिप्त

१. इस शाखा की विचारावलि रामानन्द जी के धार्मिक प्रचार से सम्बन्धित है।

२. इस काल के प्रायः सभी कवियों की कविता में किसी-न-किसी सीमा तक रहस्यवाद की पुट पाई जाती है।

३. यह लोग जीव को दुलहिन और परमात्मा को प्रियतम के रूप में मानते हैं।

४. प्रेम का प्रतिपादन ज्ञान-मार्ग से जनता में सरसता पैदा करने के लिए किया गया है।

५. कबीर का राम दशरथ-पुत्र न होकर निर्गुण ब्रह्म है।

६. हठयोग और वेदान्त की झलक इन कवियों की वाणी में यत्र-यत्र मिलती है।

७. हिन्दू और मुसलमानों में एकता प्रतिपादन करने का सभी सन्तों ने समान रूप से प्रयत्न किया है।

८. इनके साहित्य में मण्डन की अपेक्षा खण्डन की प्रवृत्ति बहुत अधिक है।

९. इनकी कविता में खड़ी बोली, अवधी और पूर्वी तीनों का समिश्रण है।

१०. काव्य-विषयक सौन्दर्य का सन्तों की कविता में सर्वथा अभाव है।

११. इनकी वाणी में स्पष्टवादिता आवश्यकता से अधिक है।

हिन्दी में सूफी-साहित्य-धारा

२०२. पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी-साहित्य में निर्गुण तथा सगुण दोनों ही धाराओं का प्रचार समान रूप से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। निर्गुण भक्ति के क्षेत्र में जहाँ सन्त साहित्य का प्रसार दिखाई देता है वहाँ तक उसी के साथ-साथ विशुद्ध प्रेम की भावना से ओत-प्रोत साहित्य भी मिलता है। इसे और अधिक स्पष्ट शब्दों में यों समझना चाहिए कि निर्गुण-

भक्ति-धारा के दो पृथक्-पृथक् रूप बन गये, जिसके पहले रूप का नाम ज्ञानाश्रयी शाखा पड़ा और दूसरी का प्रेमाश्रयी शाखा।

प्रेमाश्रयी शाखा विशुद्ध सूफी सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी कवियों ने अपनायी जिसके फलस्वरूप हिन्दी में प्रेम-आख्यायिकाओं के साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। इस शाखा के कवियों ने अपने प्रेम-मार्ग और उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन कल्पित कहानियों द्वारा किया। इन कवियों ने लौकिक प्रेम में ईश्वरीय झलक डालने का प्रयत्न किया है और अपनी कविताओं में 'प्रेम की पीर' पर विशेष रूप से लिखा है। इन कहानियों में राजकुमार और राजकुमारियों के प्रेम को लेकर ही कवि चलता है। राजकुमार राजकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर संसार की सब विभूतियों, यहाँ तक कि अपनी स्त्री और घर-बार से भी नाता तोड़ देता है, और पागल बैरागी बनकर उस राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। उस राजकुमारी को प्राप्त करने में अनेकों कष्ट उठाता है और अन्त में उसके लिए अपने प्राणों तक को त्यागने को उद्यत हो जाता है। इस त्याग के फलस्वरूप वह उस राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार कवि के विचार से आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है।

इन सूफी कवियों ने प्रायः वही कहानियाँ ली हैं जिनकी कथाएँ हिन्दू-गाथाओं में प्रसिद्ध हैं और इस प्रकार हिन्दू-कथाओं में सूफी सिद्धान्तों की पुट देकर उन्होंने अपने काव्यों को हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। सन्त कवियों की ही भाँति इन कवियों में भी जाति-भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं पाया जाता।

प्रेम-मार्गी शाखा के कवि सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक सहृदय थे। इनकी कविताओं में भी स्थान-स्थान पर योग की रूढ़ियाँ मिलती अवश्य हैं परन्तु फिर भी कविता के अधिकांश भाग सरसता-पूर्ण ही हैं। प्रेम-चित्रण कवियों ने खूब किया है और स्थान-स्थान पर मनुष्य के साथ-साथ, पक्षी, पेड़-पौधों तक के साथ सहानुभूति और उससे कविता का महत्त्व उथलेपन के साधारण स्तर से उठकर विचार-क्षेत्र के इन कवियों की विशेषता है।

इन सूफी कवियों के प्रेम-काव्यों में सन्त कवियों-जैसी खण्डन और मण्डन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इनकी कविता आद्योपांत मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने वाली होती थी। प्रेम का जितना सजीव चित्रण इन कवियों ने किया है उतना हिन्दी-साहित्य में अन्य कवि नहीं कर पाये। सरस कविता के बीच-बीच में जो इन्होंने रहस्यमय परोक्ष की भावना का समावेश किया है वह कविता को बहुत रहस्यमय बना देता है और उससे कविता का महत्त्व उथलेपन के साधारण स्तर से उठकर विचार-क्षेत्र के ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है।

प्रेम-मार्ग की इस शाखा का प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी है और 'पद्मावत' इस काल का सर्व-प्रसिद्ध एवं सुन्दर ग्रन्थ। हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्यों

में रामचरितमानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है। प्रेमाश्रयी शाखा के रहस्यवाद में भावनात्मकता का अभाव नहीं पाया जाता। जायसी के अतिरिक्त कुतबन, मंझन, उसमान, शेख नबी कासिमशाह और नूर मुहम्मद इस धारा के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं।

संक्षिप्त

१. इस धारा के प्रायः सभी कवि सूफी थे जो स्वभाव और जीवन में बहुत सरल थे।

२. ज्ञानाश्रयी कवियों की भाँति प्रेमाश्रयी शाखा के कवि भी गुरु को ईश्वर के ही समान मानते हैं।

३. यह कवि सर्वेश्वरवाद की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं।

४. 'प्रेमपीर' के साथ संगीत और माधुर्य को भी इन कवियों में विशेषता पाई जाती है।

५. यह किसी भी धर्म के कट्टर अनुयायी नहीं थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता को अच्छा समझते थे।

६. इस धारा के ग्रन्थ विशेष रूप से विशुद्ध अवधी भाषा में मिलते हैं।

७. इन कवियों की प्रेम कथाओं में हिन्दू-चरित्रों को ही प्रधानता दी गई है।

८. इस धारा के कवि भी ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों की भाँति कम विद्वान् थे और साहित्य का उन्हें बहुत ही अल्प ज्ञान था।

९. देशज अवधी भाषा में इस धारा का साहित्य रचा गया।

हिन्दी में राम-साहित्य-धारा

२०३. सं० १०७३ के आस-पास स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का वह रूप जनता के सम्मुख रखा जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सब प्राणी हैं और यह सब उसी में लय हो जाते हैं। इसलिए इन जीवों को अपने उद्धार के लिए नारायण की भक्ति करनी चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसने देश में फैलकर नारायण की उपासना और भक्ति का प्रचार किया। इनके पश्चात् इस वैष्णव श्री सम्प्रदाय में प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी हुए और फिर उन्होंने रामानन्द जी को दीक्षा दी। भक्तमाल के अनुसार रामानन्द जी के बारह शिष्य कहे गये हैं—सनंतानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरी। इन सभी ने राम-नाम की महिमा गाई है।

हिन्दी-साहित्य में निर्गुण धारा के साथ-साथ १५वीं शताब्दी के अन्त से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्त तक, सगुण-भक्ति-शाखा तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा दोनों ही आती हैं। यहाँ हम केवल राम-भक्ति-शाखा पर ही प्रकाश डालेंगे, परन्तु इनके

राम में और वैष्णव-सम्प्रदाय के राम में सर्वदा अन्तर रहा है। कबीर इत्यादि ने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना है।

यह सत्य है कि श्री रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा-द्वारा भक्ति की देश में पुष्टि होती चली आ रही थी और भक्तों ने अपनी छोटी-मोटी कविताओं द्वारा सरसता के साथ राम-नाम को देशवासियों के हृदय में उतारने का प्रयत्न किया था और बहुत-कुछ अंशों में वह उसमें सफल भी हुए थे; परन्तु हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में राम-महिमा का सजीव गान करने वाला सर्वप्रथम सफल कवि तुलसी ही हुआ है। १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रतिभा हिन्दी-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। अपनी सर्वमुखी प्रतिभा तथा कलाओं के साथ कवि ने भारत में अपने इष्टदेव राम को लेकर जनता के हृदयों पर सिंहासन जमाया। कवि की कविता का चमत्कार अब अपने पूर्ण ओज और माधुर्य के साथ भक्तों के प्राणों में समा गया। "राम-भक्ति का परम विषद् साहित्यिक संदर्भ भक्तशिरोमणि कविवर तुलसीदास द्वारा ही संघटित हुआ, जिससे हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-भक्ति का जो स्वरूप जनता के सम्मुख रखा उसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सर्वाङ्ग-पूर्णता है। जीवन के सभी पक्षों पर कवि ने पूरी सहृदयता के साथ प्रकाश डाला है, कवि का न कर्म तथा धर्म से विरोध है और न ज्ञान से। तीनों ही विचारावलियों में आपने सामंजस्य स्थापित किया है और यही कारण है कि तुलसी का राम सबके हृदय का राम बन सका। तुलसी की भक्ति में धन और धर्म दोनों की रसानुभूति है। योग का भी सर्वथा लोप उसमें नहीं मिलता परन्तु केवल इतना जितना ध्यान को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य में जिस राम-भक्ति-धारा को कवि ने प्रवाहित किया है उसमें सब धर्मों के लिए समान स्थान है, विरोध किसी का भी नहीं मिलता। अपनी सामंजस्य-प्रवृत्ति द्वारा कवि ने शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को रोका। कवि ने एक तरफ़ लोक-धर्म और भक्ति-भावना का मेल कराया है तो दूसरी ओर कर्म, ज्ञान और उपासना में सामंजस्य स्थापित किया है। भक्ति को चरम सीमा तक पहुँचाने पर भी कवि ने लोक को सर्वथा छोड़ा नहीं है। लोक-संग्रह तुलसीदास की भक्ति का प्रधान गुण है। यह लोक-संग्रह की भावना न तो कृष्ण-भक्ति-शाखा के ही अन्तर्गत मिलती है और न प्रेम और ज्ञान मार्गियों के अन्दर ही। कवि केवल उपास्य तथा उपासक तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् उसने लोक-व्यापक अनेक समस्याओं पर भी ध्यान दिया है और अपने काव्य को सब प्रकार से कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि राम-भक्ति-शाखा की वाणी अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मंगलकारिणी होने से भारत की जनता में सबसे ऊँचा स्थान बना सकी है। भारतीय जनता कृष्ण-उपासना भी कम नहीं करती परन्तु जो सम्मान रामचरितमानस को प्राप्त हुआ है वह सूर-सागर को प्राप्त नहीं हो सका।

इस शाखा के प्रधान कवि तुलसीदास हैं और इनके अतिरिक्त हृदयराम इत्यादि भी हुए हैं। इस धारा में हमें अधिक कवि नहीं मिलते। इसका कारण स्पष्ट ही है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस साहित्य में जिस परम्परा को अपनाया है उसमें कवि के लिए उतनी स्वच्छन्दता नहीं है जितनी कृष्ण-भक्ति-शाखा में है। कवि को परिमार्जित क्षेत्र में ही रचना करनी होती है और उनकी कल्पनाओं को उड़ान लेने में कठिनाई होने के कारण रचना करने का साहस अन्य कवि नहीं कर पाते।

यों राम-साहित्य पर लेखनी उठाने वाले दो अन्य कवियों को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि साहित्यिक दृष्टिकोण से उनके ग्रन्थ भी अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। इनमें पहला कवि केशवदास है जिसने 'रामचन्द्रिका' लिखी। रामचन्द्रिका पृथक्-पृथक् लिखे हुए पदों का संग्रह-सा जान पड़ता है और उसमें कथा-प्रवाह का अभाव है। यह ग्रन्थ जनता में प्रसिद्धि नहीं पा सकता, क्योंकि इसे समझना साधारण पाठक के लिए कठिन है। राम-विषयक होते हुए भी यह ग्रन्थ राम-भक्ति से सम्बन्धित है ऐसा नहीं जान पड़ता। दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साकेत' है जिसे वर्तमान युग के प्रख्यात कवि श्री मैथिलीशरण जी ने लिखा है। इस ग्रन्थ में भी मानस का गाम्भीर्य नहीं आ पाया और इसके पठन-पाठन का क्षेत्र भी स्कूल के विद्यार्थियों से आगे नहीं बढ़ सका।

राम-भक्ति शाखा का प्रभाव हिन्दी साहित्य में सभी दिशाओं में हुआ है। राम-साहित्य न तो किसी शैली विशेष तक ही सीमित रहा और न किसी छन्द अथवा काव्य विशेष तक ही। प्रायः समय की सभी प्राचीन शैलियों में इस साहित्य का सृजन हुआ है। वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त या सवैया-पद्धति, कबीरदास की दोहा-पद्धति, चौपाई-पद्धति सभी का प्रयोग राम-साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलता है। काव्य-क्षेत्र में मुक्तक और प्रबन्ध सभी प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये हैं और 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ आज तक माना जाता है। राम-भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में नौ के नौ रसों का प्रयोग सरसता से किया है और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार भी इनकी रचनाओं में खोजने से मिल जायेंगे। इस प्रकार हर तरह से राम-भक्ति-शाखा ने हिन्दी-साहित्य के भंडार की पूर्ति की है और हिन्दी-साहित्य को इस भक्ति-धारा का महान् ऋणी होना चाहिए।

संक्षिप्त

१. इस धारा की प्रधान विचारावलि रामानन्द जी के सिद्धान्तों पर आश्रित है।

२. राम-भक्ति-शाखा में दशरथ-पुत्र राम को इष्टदेव मानकर सगुण-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

३. भक्ति-क्षेत्र में सभी जातियों को तुलसीदास जी ने समान स्थान दिया है।

४. भक्त को कवि ने दास के रूप में देखा है।

५. कवि ने यों ज्ञान और भक्ति दोनों को प्रतिपादन किया है परन्तु ज्ञान पर भक्ति को ही प्रधानता दी है।

६. रामनाम के जाप में ही जीवन की मुक्ति मानी है।

७. कर्मक्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म को मान्य माना है और तीर्थों के महत्त्व का गान किया है।

८. साहित्यिक दृष्टि से सब प्रकार के छन्दों, सब रसों और सब प्रकार के काव्यों में रचना की गई है।

९. भगवान को लोक-रंजक स्वरूप में कवियों ने गाया है।

१०. राम-भक्ति-शाखा का विशेष साहित्य अवधी भाषा में रचा गया है परन्तु ब्रज और खड़ी बोली में भी इसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दी में कृष्ण-साहित्य-धारा

२०४. १५वीं और १६वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का प्रचार भारत में बड़े ज़ोर के साथ हुआ और उस समय के प्रचारकों में श्री वल्लभाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह वेद शास्त्र में पारंगत और धुरंधर विद्वान् थे। शंकराचार्य के मायावाद ने भक्ति को जिस अविद्या की कोटि में रख दिया था और इसी से रामानुजाचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक सब अपने को उसी से मुक्त करना चाहते थे। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में शंकराचार्य के मतानुसार न केवल निर्गुण सत्ता को ही माना वरन् सर्व गुण और धर्मों का समावेश उसमें किया और सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। आपने माना कि श्रीकृष्ण जो परब्रह्म हैं, जो सब दिव्य गुणों से युक्त होकर 'पुरुषोत्तम' बने हैं, उन्हीं में सत्‌चित् और आनन्द का समन्वय है। "कृष्ण अपने भक्तों के लिये 'व्यापी' बैकुण्ठ में (जो विष्णु के बैकुण्ठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। 'गोकुल' इसी व्यापी बैकुण्ठ का एक खण्ड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि हैं। भगवान् की इस 'नित्य-लीला-सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।"

—रामचन्द्र शुक्ल।

रामानन्द की भाँति श्री वल्लभाचार्य ने भी देशाटन करके अपने मत का प्रचार किया, परन्तु हिन्दी-साहित्य में वैष्णव-सम्प्रदाय के इस पुष्टि मार्ग को सफलतापूर्वक लाने का श्रेय सूरदास को ही प्राप्त है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनसार संवत् १५८० के आस-पास सूरदास जी गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य के शिष्य बने और तभी उन्होंने सूरदास को अपने श्रीनाथ जी मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास जी ने इस धारा के कवियों का संगठन करके 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। अष्टछाप में आठ कवि थे—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। कविवर सूरदास इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने सूरसागर, सूर-सूरावली, साहित्य-लहरी इत्यादि कई

ग्रन्थ लिखे। कविवर सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने रामभक्ति-शाखा के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत लोकरंजन की भावना को भुलाकर कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति के आधार पर ही प्रेम तत्त्व का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण का आनन्दमय स्वरूप ही अष्टछाप के कवियों ने पाया है। इन कवियों ने अनन्त सौन्दर्य और हास-विलास के समुद्र में ही गोते लगाये हैं, प्रजा-रक्षक और प्रजा-पालक कृष्ण के रूप का निरूपण नहीं किया। यह कृष्ण-भक्त कवि अपने रंग में मस्त रहने वाले प्रेमी जीव थे। संसार से मुक्त, तुलसीदास के समान लोक का इन्हें कोई ध्यान नहीं था। इन्हें यह भी ध्यान नहीं था कि समाज किधर जायगा? यह तो अपने भगवत्प्रेम में मस्त थे और उसकी भक्ति के लिए शृंगारिक कविता द्वारा रसोन्मत्त कर देना चाहते थे। यही कारण है कि जिस राधा और कृष्ण को इन विशुद्ध भक्त कवियों ने अपनी कृष्ण-भक्ति का साधन बनाया वही राधा और कृष्ण रीतिकालीन कवियों के लिए केवल नायक और नायिका के रूप में रह गये।

राधा-कृष्ण के चरित्रों के गान ने जो गीत-काव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति ने चलाई थी वही अष्टछाप के कवियों ने भी अपनायी। इस प्रकार इस भक्ति और शृंगार के क्षेत्र में मुक्तक पदों का ही प्रचार हुआ, प्रबन्ध की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया। इस धारा के कवि इतनी स्वच्छन्द प्रकृति के थे कि वह प्रबन्ध-काव्य के झमेले में पड़कर अपने को बन्धन में बाँधना भी पसन्द नहीं करते थे। बहुत बाद में संवत् १६०६ में ब्रजवासीदास ने दोहा-चौपाई में एक ग्रन्थ मानस की तरह लिखा भी परन्तु वह साहित्य में विशेष स्थान नहीं पा सका। कवि-स्वच्छन्दता के अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य न लिखा जाने का दूसरा प्रधान कारण यह भी था कि कृष्ण भगवान् के चरित्र का जितना अंश इन कवियों ने अपनी कविताओं में चित्रित किया है वह अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए पर्याप्त भी नहीं था। मानव-जीवन की अनेक-रूपता का समावेश उसमें नहीं हो सकता था। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अपने काव्य में केवल कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीलाओं को ही लिया है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन कवियों ने वात्सल्य और शृंगार-रस के वर्णनों को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत की कथा को गाया है। सूर-सागर में भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है। उसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा जाने तक का वर्णन है। कृष्ण की भिन्न-भिन्न लीलाओं पर अनेकों सुन्दर पद लिखे हैं। कवि ने सरल ब्रजभाषा का बहुत सरसता के साथ प्रयोग किया है। "जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण-चरित् का गान करने वाले भक्त कवियों में भक्त

सूरदास का। वास्तव में यह हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ और इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।"

—रामचन्द्र शुक्ल।

वात्सल्य के ही समान शृंगार, संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों पर इस धारा के कवियों ने अनूठी कविताएँ की हैं। जब तक कृष्ण गोकुल में रहते हैं उस समय तक तमाम जीवन संयोग-पक्ष में रहता है और मथुरा चले जाने पर वियोग-पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दान-लीला, माखन-लीला, चीरहरण-लीला, रास-लीला इत्यादि पर सहस्रों सुन्दर पद इस धारा के कवियों ने लिखे हैं। शृंगार-वर्णन में भाव और विभाव पक्ष दोनों का ही विस्तृत और अनूठा वर्णन कवियों ने किया है। राधाकृष्ण के रूप-वर्णन का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। कवियों ने काव्य-सुलभ सभी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्तियों को समाप्त कर दिया है। प्रकृति-चित्रण भी कवियों ने किया है परन्तु वह स्वतन्त्र रूप से नहीं आ पाया है। कालिन्दी-कूल पर शरत-चाँदनी का सजीव चित्रण मिलता है। कुंज वन का भी अच्छा वर्णन किया गया है। वियोग-पक्ष में सूर और नंददास के भ्रमरगीत काव्य-क्षेत्र में अपनी विशेषता रखते हैं।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति-शाखा में अन्य कई उल्लेखनीय कवि आते हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ परमावश्यक है। हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, सूरदास, मनमोहन, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान इत्यादि का इनमें विशेष स्थान है। मीर और रसखान की सरसता सूर के अतिरिक्त अन्य विषयों में नहीं पाई जाती। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य के भंडार को भरा है।

संक्षिप्त

१. इस धारा के सूत्रधार वल्लभाचार्य हैं और पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टछाप के कवियों ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

२. इस धारा के कवियों ने सरस ब्रजभाषा में साहित्य-सृजन किया है।

३. इस धारा के कवियों ने लोक-रंजकता से दूर भगवान् के वात्सल्य और शृंगारिक रूप को ही लिया है।

४. इस धारा के कवियों ने अपने मत-प्रतिपादन के लिए काव्य में गीत-प्रणाली को अपनाया है। प्रबन्धात्मकता इस धारा के कवियों में नहीं मिलती।

५. इनके साहित्य में वात्सल्य और शृंगारिक भावना प्रधान है और रागात्मक वृत्ति पर ही विशेष बल दिया गया है।

६. इस धारा के कवियों ने अनूठे पद गाये हैं और इनका प्रचार भक्तों पर बहुत हुआ है।

हिन्दी में रीति-साहित्य-धारा

२०५. हिन्दी साहित्य के इतिहासज्ञों ने रीति-काल का प्रारम्भ संवत् १७०० से माना है। हिन्दी काव्य अब प्रौढ़ हो चुका था। मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' शृंगार सम्बन्धी और करणेश कवि ने 'कर्णाभरण' और 'श्रुति-भूषण' इत्यादि ग्रन्थ अलंकार सम्बन्धी लिखे। इस प्रकार रस-निरूपण होने पर केशव ने शास्त्र के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। परन्तु हिन्दी-साहित्य में केशव की 'कवि-प्रिया' के पश्चात् ५० वर्ष तक कोई अन्य ग्रन्थ नहीं लिखा गया और ५० वर्ष बाद भी जो रीति-ग्रन्थों की अविरल परम्परा चली वह केशव के आदर्शों से सर्वथा भिन्न एक पृथक् आदर्श को लेकर चली।

केवल काव्य में अलंकारों का प्रधान स्थान मानने वाले चमत्कारवादी कवि थे। काव्यांग-निरूपण में उन्होंने हिन्दी-पाठकों के सम्मुख मम्मट और उद्भट के समय की धारा को रखा। उस समय रस, रीति और अलंकार तीनों के ही लिए अलंकार शब्द का प्रयोग होता था। केशव की 'कवि-प्रिया' में अलंकार का यही अर्थ मिलता है। केशव के ५० वर्ष पश्चात् हिन्दी-साहित्य में जो परम्परा चली उसमें अलंकार अलंकार्य का भेद परवर्ती आचार्यों के मतानुसार माना गया और केशव की अपनायी हुई धारा को वहीं पर छोड़ दिया गया। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखे गये और कुछ ग्रन्थों में 'काव्य-प्रकाश' तथा 'साहित्य-दर्पण' का भी अनुकरण किया गया। इस प्रकार संस्कृत का संक्षिप्त उद्धरण हमें हिन्दी-साहित्य में मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में रीति-युग का प्रवर्तक हम इसलिए केशव को न मानकर चिन्तामणि त्रिपाठी को मानते हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण अपने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-विवेचन', 'कवि-कुल कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' द्वारा किया। इन्होंने छन्द-शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी है। चिन्तामणि त्रिपाठी जी के पश्चात् तो एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य में रीति-ग्रन्थों की बाढ़ ही आ गई और कवियों ने कविता ही केवल इसलिए आरम्भ कर दी कि उन्हें रीति-ग्रन्थ लिखकर उनमें उदाहरण देने होते थे। अलंकारों अथवा रसों के लक्षण उन कवियों ने अधिकतर दोहों में लिखे हैं और फिर उनके उदाहरण कवित्त या सवैयों में दिये हैं। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य पृथक्-पृथक् रहे हैं परन्तु हिन्दी-साहित्य में कवियों ने ही आचार्य बनने का दावा किया और फल यह हुआ कि उनमें से अनेकों आचार्य तो बन नहीं पाये और उन्हें अपनी कविता के यश से भी हाथ धोने पड़े। दूसरी ओर आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है उसका उचित विकास साहित्य में नहीं हो पाया। यही कारण है कि इस काल में न तो कोई तुलसी और सूर की टक्कर का कवि ही हो पाया और न ही कोई प्राचीन संस्कृत आचार्यों की टक्कर का आचार्य। इस काल में गद्य का विकास न होने के कारण भी आचार्य

लोगों को नये-नये सिद्धान्तों के निरूपण पद्य में करने में कठिनाई होती थी और इसी लिए विषयों की उचित मीमांसा न हो पाई और न ही उन पर उचित तर्क-वितर्क ही हुआ।

इसलिए इस काल के सभी कवियों को जिन्होंने रीति-ग्रन्थ लिखे हैं हम आचार्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते। पूर्ण आचार्य न होने के कारण इन कवियों के ग्रन्थ भी अपर्याप्त लक्षण-साहित्य-शास्त्र का ज्ञान कराते हैं। कहीं-कहीं पर तो अलंकार रस और रीतियों का स्वरूप भी ठीक-ठीक प्रकट नहीं होता। काव्य के दो भेदों, श्रव्य और दृश्य में से दृश्य को तो आचार्यों ने छोड़ ही दिया है।

काव्यांगों का विस्तृत विवेचन दास जी ने 'काव्य-निर्णय' में किया है। दास जी ने अलंकारों पर भी प्रकाश डाला है और अंत्यनुप्रास पर, जो कि संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता और हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ से मिलता है, अपनी पुस्तक में विचार किया है। रीति-ग्रन्थों के लेखक भावुक कवि थे इसलिए उनके द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य भी इस क्षेत्र में प्रतिपादित हुआ है। उन्होंने रस और अलंकारों के बहुत रस और सुन्दर उदाहरण अपनी कविताओं में प्रस्तुत किये हैं। इस दशा में इन कवियों ने संस्कृत-साहित्य को पीछे छोड़ दिया है। इन कवियों का झुकाव अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद की ओर अधिक रहा है। शृंगार-रस की मुक्त रचना इस समय में पराकाष्ठा को पहुँच गई और इस काल ने बिहारी जैसा अनूठा कवि हिन्दी-साहित्य को प्रदान किया। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं और उनमें कृष्ण तथा राधा को ही लेकर कविता लिखी गई है। शृंगार-रस का आलम्बन, नायिका और वह भी विशेष रूप से राधा ही रही है। इस काल में केवल नख-शिख-वर्णन पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं।

इस काल में साहित्य का विस्तृत विकास नहीं हो पाया। प्रकृति की अनेक-रूपता और जीवन की विस्तृत व्याख्या की ओर कवियों का ध्यान गया ही नहीं। कवि केवल नायक और नायिका के शृंगार में ही सीमित हो गया। कृष्ण भक्ति-शाखा के कवि लोक को तो पहिले ही भुला चुके थे परन्तु इस काल में आकर कृष्ण-भक्ति के आलम्बनों को लेकर शृंगारिक वासना की पूर्ति के लिए उन्हें विस्तृत क्षेत्र मिल गया। काव्य का क्षेत्र सीमित हो गया; काव्यधारा बँध गई, जीवन की अनेकरूपता नष्ट हो गई। भाषा, शैली और विचार रूढ़ि हो गये।

रीति-काल में सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर भाषा पहुँची थी, उसे उस समय व्याकरण द्वारा व्यवस्थित हो जाना चाहिए था, परन्तु यह नहीं हो पाया। भाषा में कोई स्वच्छता नहीं आई और यहाँ तक कि वाक्य-दोष भी दूर नहीं हुए। शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा। इस काल के प्रायः सभी कवियों की भाषा सदोष है। इस काल के कवि ब्रज और अवधी का अपनी इच्छा द्वारा सम्मिश्रण कर देते थे। इस सम्मिश्रण के कारण भी भाषा परिमार्जित और व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी।

चिन्तामणि त्रिपाठी, महाराज जसवन्तसिंह, बिहारी, मण्डन, मतिराम, कुलपति, सुखदेव, कालदास, त्रिवेदी देव, दास, तपोनिधि, पद्माकर भट्ट इत्यादि इस परम्परा के प्रधान कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी इस काल में बहुत से कवि हुए हैं जिन्होंने अन्य विषयों पर भी कविताएँ की है परन्तु इस काल मे प्रधानता इसी प्रकार के कवियों की रही है। इसीलिए इस काल को रीति-काल नाम दिया है।

संक्षिप्त

१. इस काल का प्रारम्भ चिन्तामणि त्रिपाठी से होता है।

२ इस काल में शृंगार-प्रधान मुक्तक कविताएँ लिखी गई हैं। प्रबन्ध-काव्य भी लिखे गये परन्तु वह विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

३. इस काल में भी वीरगाथा-काल की भाँति कवि लोग आश्रयदाताओं के यहाँ रहते थे। इसलिए उनमें भक्तिकालीन कवियों की स्वाभाविकता और स्वच्छता का सर्वथा अभाव हो गया था।

४. इस काल के प्राय: सभी कवि आचार्य हो गये।

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद

२०६. भारतीय चिन्तन में रहस्यवाद कोई नई वस्तु नहीं है। यह सत्य है कि हिन्दी-साहित्य में इसका प्रादुर्भाव कबीर और जायसी के साहित्य द्वारा ही सर्वप्रथम आया परन्तु धार्मिक क्षेत्र में इसका पूरा-पूरा ब्यौरा हमें मिलता है। ऋग्वेद के 'नासिदेयसूत्र' और 'पुरुष बलि' की कथा में सर्वप्रथम रहस्यवाद की झलक मिलती है। उपनिषदों में तो इस प्रकार की उक्तियों की भरमार है।

रहस्यवाद ईश्वर, जीव के चिन्तन का एक ढंग है, जो कि निर्गुणपंथियों ने अपनाया। इसका एक प्रकार का चिन्तन वह है जो भागवत् इत्यादि रूपक ग्रन्थों में मिलता है और दूसरा वह है जो उपनिषदों में प्राप्त होता है। एक में प्रेम को आधार माना है तथा दूसरे में ज्ञान को। हिन्दी-साहित्य में दोनों ही प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।

रहस्यवाद की प्रारम्भिक धारा उपनिषदों की है, जिसका प्रचार सिद्ध-साहित्य द्वारा हुआ। फिर उसे नाथपंथियों ने अपनाया और अन्त में वह कबीर के निर्गुणपथ का प्रधान-चिन्तन का विषय बन गया। कबीर और दादू इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं, जिन्होंने अपने रहस्यवाद द्वारा ही अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। रहस्यवादी कवि जीव और ईश्वर को अभिन्न मानते है। उनका मत है कि जीव और ईश्वर में यदि कुछ भेद दृष्टिगत होता है तो वह माया के ही कारण है। माया को पहिचानने पर यह भेद स्वयं नष्ट हो जाता है। जीव ईश्वर हो जाता है और ईश्वर जीवात्मा। कबीरदास जी लिखते हैं—

> **जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।**
> **फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथा गियानी॥**

कबीर अपने को ही ब्रह्म मानते हुए लिखते हैं—

ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी-गँडास में।
ढूँढ़ना होय तो ढूँढ ले बन्दे, मेरे कुटी मवास में॥

यहाँ कवि ने आत्मा और परमात्मा का भेद-भाव सर्वथा नष्ट कर दिया है। अपनी उलटबासियों में आपने कहा है—नदी समुद्र में जा मिली या समुद्र नदी में आ मिला—दोनों कवि के लिए समान हैं क्योंकि दोनों में माया के दूर हो जाने पर कोई भेद-भाव नही रहता।

ऊपर जिस रहस्यवाद का वर्णन हमने किया है उससे प्रेमाश्रयी शाखा का रहस्यवाद समानता नहीं रखता। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफी धर्म का प्रभाव है। सैद्धांतिक रूप से उसमें भागवत की प्रेम-मूलकता के दर्शन होते हैं। इस विचाराधारा के अंतर्गत जब जीवात्मा को प्राप्त करने के सब प्रयत्न समाप्त करके उसे अपने हृदय में स्थान देता है और प्रेम-भावना द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है तभी रहस्यवाद का उद्‌घाटन होता है। यह रहस्यवाद मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की वस्तु है। जीव अपने हृदय में ईश्वर की मधुर कल्पना करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और उसकी प्राप्ति में अनेकों कष्ट उठाता है। परस्पर आकर्षण और मिलने की आकांक्षा केवल एक ही ओर नहीं होती वरन् दोनों ओर एक ही तत्त्व होने के कारण दोनों ओर समान रूप से वर्तमान रहती है। जायसी ने पद्मावत में दिखलाया है कि यदि राजा रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त करना चाहता था तो रत्नसेन की परीक्षा कर लेने के पश्चात्, पद्मावती के हृदय में भी रत्नसेन के लिए उतनी प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। इस धारा के अंतर्गत स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम को ही अन्त में पारिलौकिक कहा गया है और सच्चे हृदय से प्रेमिका को प्राप्त कर लेने पर ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि वह प्रेमिका में ईश्वरीय शक्ति का आभास पाकर ही उसे प्राप्त करने के लिए दीवाना होता है और अपनी समस्त शक्तियाँ उसके लिए लगा देता है। कबीरदास ने एक जगह जायसी के विपरीत अपने को इष्टदेव राम की बहुरिया कहा है—

हरि मोर पीऊ मैं राम की बहुरिया।

यही प्रेम-भावना भागवत में भी मिलती है, परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने इसका जो रूप दिया है वह उससे मेल नहीं खाता। भारतीय साहित्य में स्त्री प्रेम-दीवानी होकर अपने इष्टदेव के लिए कष्ट सहती है और उसमें लय होने का प्रयत्न करती है। कबीर की ऊपर दी गई पंक्ति में इस भावना का आभास मिलता है। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती हैं। परन्तु जायसी की सूफी विचारावलि में रोमैंटिक भाषाओं की प्राचीन प्रणाली मिलती है। वहाँ जीवात्मा पुरुष है और परमात्मा स्त्री। भारतीय लोककथा के आधार पर काव्य-रचना करके भी जायसी ने सिद्धान्त रूप से अपनी ही प्रणाली को अपनाया और सूफी प्रेममय रहस्यवाद के आधार

पर बहुत सुन्दर व्यंजनाओं के साथ काव्य में मार्मिक स्थल उपस्थित किये हैं। पद्मावती के सौंदर्य-वर्णन में कवि ने ईश्वरीय सौंदर्य की कल्पना की है। विरह का बहुत सुन्दर चित्रण हमें जायसी की पद्मावत मे मिलता है और वह हृदय-स्पर्शी भी है। प्रेमात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव वास्तव में सूफी सिद्धांतों के सम्मिश्रण से ही हुआ है।

सगुण भक्ति-काव्य में भागवत के रहस्यवाद की झलक नहीं मिलती। भक्त-कवियों ने मुक्त-कण्ठ से उस भगवान् का गान किया है जिसमें कोई रहस्य नहीं है, जो उनका सखा है, साथी है और जिसके साथ वे हँस-खेल सकते हैं। सूर-साहित्य में रूपकों को स्थान अवश्य मिला है, परन्तु उसमें भी कृष्ण का जो चित्रण है उसमें दर्शन का वह गाम्भीर्य नहीं आ पाया जो कबीर की कविता में पाया जाता है। वहाँ तो ईश्वरीय सत्ता दृष्ट है, उनके सामने है फिर क्यों वह रहस्य की कल्पनाओं में अपने मस्तिष्क को परेशान करें ? उनका इष्टदेव रहस्य की वस्तु नहीं, भक्ति की वस्तु है और भक्ति के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो सच्चा और सरल हृदय चाहिए। फिर भी सूर के साहित्य में कहीं-कहीं पर रहस्य की साधारण-सी झलक अवश्य मिल जाती है, परन्तु उसके कारण हम सूर को रहस्यवादी कवि नहीं कह सकते।

इस रहस्यवाद का स्रोत सूर और तुलसी के काल में भी धीरे-धीरे बहता रहा और सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इसका प्रवाह कभी कहीं, तो कभी कहीं दिखलाई दे जाता था। कबीरदास और जायसी के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, कुतबन, नूरमुहम्मद इत्यादि ने भी रहस्यवादी प्रणाली का ही अपनी काव्य-धारा में अनुसरण किया है।

सत्रहवीं शताब्दी में आकर भक्ति-साहित्य का एक दम लोप होता चला गया और रीतिकालीन कवियों ने लौकिक साहित्य की रचना की। इस साहित्य में राधा-कृष्ण के नाम तो प्रयोग में अवश्य आये परन्तु साधारण नायक और नायिकाओं के रूप में। रहस्यवाद का वह अलौकिक सौन्दर्य कवियों के जीवन से पृथक् ही हो गया, जिसके आनन्द में विभोर होकर भक्त-कवियों ने राज-दरबारों को ठुकरा दिया था—

संतन को कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पन्हहिया टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।

कवि और सन्त-जीवन का यह महानादर्श रीति-काल में समाप्त हो गया। अठारहवीं शताब्दी में पूर्ण-रूप से श्रृंगारिक कविताएँ हुईं, अध्यात्मवाद का पूरी तरह लोप हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी में जो साहित्य-रचना हुई उस पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ऊपर हम हिन्दी के प्राचीन साहित्य में रहस्यवाद का दिग्दर्शन करा चुके हैं। अब हमें देखना है कि वर्तमान युग में रहस्यवाद का क्या स्वरूप रहा ? बीसवीं शताब्दी में हिन्दी के साहित्य पर अंग्रेजी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक साहित्य का प्रभाव पड़ा। उस काव्य में भी रहस्यवाद की झलक

थी। इसी समय बंग प्रदेश के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र की गीतांजलि प्रकाशित हुई। गीतांजलि पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट है और थोड़ा-थोड़ा वैष्णव तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव है। इस रचना द्वारा पूर्व तथा पश्चिम का मिलन हुआ और आगे आने वाले हिन्दी-साहित्य पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार रहस्यवाद का यह नया रूप साहित्य में आया।

प्राचीन रहस्यवाद में और इस वर्तमानकालिक रहस्यवाद में स्पष्ट अन्तर है। प्राचीन कवि पहले आध्यात्मिक विचारक थे और बाद में कवि। उन्होंने कविता को, अपने विचारों को प्रचारित करने के लिए साधन-स्वरूप अपनाया, परन्तु वर्तमानकालिक रहस्यवादी कवियों ने कविता को कला के रूप में लिया और कविता की साधना का महत्त्व उनके नजदीक, रहस्यवाद-प्रतिपादन से किसी भी प्रकार कम नहीं रहा। इससे यह स्पष्ट ही है कि प्राचीनकालिक रहस्यवाद, यह माना कि बहुत ऊँचे धरातल पर था, परन्तु उसमें वह काव्य-सौंदर्य नहीं आ पाया जो वर्तमान साहित्य में है।

आज का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान है। उसमें धार्मिक अनुभूति नहीं है। कहीं-कहीं पर उसकी झलक है भी तो वह गौण-रूप से वर्तमान है। साधना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह कोरी काव्य की एक शैली है। भक्ति-काल में रहस्यवाद के जिन प्रतीकों को लेकर कवियों ने रचनाएँ कीं वह प्रतीक आज के प्रतीक नहीं रहे। यही कारण है कि आज का रहस्यवाद साधारण लोगों में प्रचारित नहीं हो पाया। प्रौढ़ भाषा में नवीन छन्दों के साथ काव्य का सौन्दर्य तो उसमें आया परन्तु क्षेत्र विस्तृत होने की अपेक्षा संकुचित हो गया। इस काल के रहस्यवाद को हिन्दी के विद्वानों ने 'छायावाद' का नाम दिया है।

आधुनिक 'रहस्यवाद' अथवा 'छायावाद' में प्रकृति-सौंदर्य, प्रेम-विरह इत्यादि पर अध्यात्म-रूप से नहीं लौकिक रूप से कवियों ने लेखनी उठाई है। आज के युग में धर्म गौण होता जा रहा है इसलिए धार्मिक रहस्यवाद का आज के युग में पनपना भी सम्भव नहीं हो सकता। वर्तमान काल में इस काव्य के अन्तर्गत कई शैलियों में साहित्य-रचना हुई। इनमें सर्व-प्रधान शैली गीति-काव्य की है। हिन्दी के प्राचीन और वर्तमान सभी रहस्यवादी साहित्य पर विदेशियों का प्रभाव रहा है, इस सत्य को हमें मानना ही पड़ता है। सूफी और अंग्रेजी प्रभाव इनमें अपना विशेष स्थान रखते हैं। भारतीय चिन्तन सर्वदा से समन्वय की भावना को लेकर चला है इसलिए इसने सर्वदा ही विशाल हृदय से सबको सम्मान के साथ अपनाया है और अपने काव्य की रचना में उचित स्थान दिया है। रोमांटिक काव्य का उदय विरह से होता है। आधुनिक रहस्यवाद में इसीलिए रचनाओं के विषय हैं—मिलन, विरह, प्रतीक्षा, प्रकृति-सौंदर्य में प्रेम की कल्पना, प्रकृति की विविध वस्तुओं में आकर्षण, प्रेयसि-प्रणय इत्यादि। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि इस काल के प्रधान रहस्यवादी कवि हैं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का रहस्यवाद

आध्यात्मिक क्षेत्र से चलकर लौकिक क्षेत्र में आ गया।

संक्षिप्त

१. रहस्यवाद का आदिस्रोत।
२. हिन्दी-साहित्य में संत और सूफियों का रहस्यवाद।
३. सगुण काव्य और रहस्यवाद।
४. आधुनिक साहित्य में 'छायावाद' कहलाने वाला रहस्यवाद।
५. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद का लौकिक दृष्टिकोण।

हिन्दी-साहित्य में छायावाद

२०७. हिन्दी-साहित्य में छायावाद का उदय जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' और सुमित्रानन्दन पंत की 'वीणा' से होता है। इन कविताओं के पाठकों ने इनमें रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि और अंग्रेजी के मिस्टिक (Mystic) कवियों की छाया पाई। इसलिए प्रारम्भ में व्यंग्यस्वरूप इस नई धारा की कविता को 'छायावादी' कविता कहा गया जिसने बाद में जाकर वही नाम ग्रहण कर लिया। बँगला-साहित्य में इसी प्रकार का साहित्य रहस्यवादी साहित्य कहला रहा था।

हिन्दी में इसी छायावादी धारा का विकास धीरे-धीरे बंगला से भी आगे हो गया, और इसमें एक-से-एक सुन्दर रचना प्रकाशन में आई। धीरे-धीरे छायावाद में से व्यंग्य का भाव बिल्कुल लुप्त हो गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद-साहित्य को 'कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' कहा है, जिसकी विशेषता इसकी लाक्षणिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्री नन्ददुलारे जी का मत दूसरा ही है। वह कहते हैं, "छायावाद में एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।" यह मत रामचन्द्र शुक्ल जी के मत से बिल्कुल मेल नहीं खाता। कविवर जयशंकर प्रसाद छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास मानते हैं। इसमें परोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न पाया जाता है।

छायावाद हिन्दी-साहित्य की नवीन धारा का वह स्वरूप है जिसमें भारतीय दर्शन, प्रकृति और बुद्धिवाद को एक नवीन दृष्टिकोण से परखा गया है। इसमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ, सौंदर्यनिष्ठा, लाक्षणिकता और मानव-जीवन के नवीन दृष्टिकोण के साथ विवेचना मिलती है। छायावाद शब्द बहुत व्यापक है इसलिए इसे किसी विशेष परिभाषा के दायरे में बाँधने का प्रयास व्यर्थ है। छायावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ कवियों ने अपने काव्य में रखी हैं—

(१) छायावादी कविता में आत्माभिव्यक्ति अधिक मिलती है।

(२) आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अद्वैतवाद का आश्रय लेकर छायावादी रहस्यवाद का विकास होता है। इसमें प्रेम, विरह और करुणा की प्रधानता रहती है।

'पंत', महादेवी, 'निराला', 'प्रसाद', सभी कवियों की रचनाओं में इनके उदाहरण प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

(३) छायावादी कवि वैचित्र्य और सौंदर्य के उपासक पाये जाते हैं। उनमें कुछ खोया-खोयापन-सा रहता है और कविता भी कुछ अटपटी करने का प्रयास मिलता है।

(४) कविता में शब्द-माधुर्य को प्रधानता दी जाती है और भावों को स्वच्छन्दता। पाण्डित्य को बाँधकर चलाने का प्रयास वह नहीं करते। इस धारा के इस गुण में कविवर निराला अपवादस्वरूप आते हैं।

(५) प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है, स्वतन्त्र भी और नायक-नायिकाओं के साथ भी। इस धारा के कवियों ने शृंगार का सुन्दर चित्रण किया है परन्तु उसे पढ़कर वासना जागृत नहीं होती। रीतिकालीन शृंगारिकता के प्रति इसमें विद्रोह मिलता है।

(६) छायावादी शैली की प्रधानता उसके शब्दों में लाक्षणिक प्रयोग की है। अन्योक्ति, वक्रोक्ति और प्रतीकों का आश्रय लेकर यह कविता रहस्यमय भावना के साथ पाठक के सम्मुख आती है। पाठक तनिक सतर्कता के साथ पढ़ने पर इसके समझने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता।

(७) छायावादी कवियों की प्रकृति ही उनके रहस्य का प्रधान विषय है, जिसमें जीवन की कल्पना करके कवि उसकी विभूतियों में तन्मय होकर रहस्योद्घाटन करता है।

(८) मानव-जीवन का निराशामय चित्रण इस धारा की कविता में उपलब्ध होता है। इस निराशा में लौकिकता के अन्दर स्थान-स्थान पर अलौकिक पुट मिलता है। सूफी प्रेम-मार्गी शाखा की प्राचीन प्रणाली का इसमें आभास मिल जाता है।

हिन्दी-साहित्य की इस छायावादी धारा को चाहे विदेशी (Mysticism) रहस्यवादी कविता का प्रभाव कहें या बंगाली रहस्यवादी कविता का, परन्तु यह हिन्दी-साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण के साथ आई है और इसने सौ वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् एक अपना स्वरूप खड़ा किया है। जनता तक पहुँचने में इसे बहुत समय लगा और वह लगता भी, क्योंकि एक बिलकुल नये दृष्टिकोण को समझने में इतना समय लग ही जाता है। नये-नये आलोचना के मापदण्डों द्वारा समालोचकों ने इस कविता को पाठकों के सामने रखकर समझाने का प्रयत्न किया, तब कहीं जाकर हिन्दी-पाठक इसे समझने में सफल हो सका।

"कोई भी काव्य अपने युग में ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अलौकिकता, अव्यावहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अश्लीलपन, ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं; परन्तु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्य-युग का मध्य-वर्ग जिस बौद्धिकता के ह्रास,

भावुकता के प्राबल्य और मन, वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियन्त्रणों में से गुजर रहा था उसी के दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गांधीवाद के दुःख, कष्ट-सहन और पराधीनता को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्यवर्ग में से साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परन्तु वैष्णव-भावना को बिलकुल अस्वीकार करना असम्भव था। आर्थिक और राजनैतिक संकटों ने कमर तोड़ दी थी, महायुद्ध के प्रारम्भ का प्रभात या स्वप्न युद्ध-समाप्ति पर कुहरे का धरोहर बन गया। ऐसे समय काव्य का रूप ही और क्या होता? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य-चिन्ता को यह विशिष्ट रूप दे दिया था।"—डाक्टर रामरतन भटनागर।

संक्षिप्त

१. छायावाद का इतिहास और उनकी परिभाषा।
२. छायावाद की विशेषताएँ।
३. छायावाद का आध्यात्मिक दृष्टिकोण।
४. छायावाद इस युग का प्रतिबिम्ब है, कल्पना नहीं—यह सत्य है।

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद

२०८. छायावादी साहित्य की पलायनवादी प्रवृत्तियों के विपरीत विद्रोह-स्वरूप प्रगतिवाद का हिन्दी-साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। संसार के राजनैतिक दृष्टि-कोण से आध्यात्मिकता का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। रूस के कम्यूनिज्म ने इस प्रवृत्ति को बल दिया और धीरे-धीरे इसका प्रभाव मध्य-वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों पर पड़ा। छायावादी कविता में जो शृंगारिक भावना थी वह तो मानव-हृदय को अवश्य अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, परन्तु उसमें अद्वैतवाद की पुट देकर जो पलायन की प्रवृत्ति आने लगी थी उसने छायावादी कवि को जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर धकेल दिया। ऐसी परिस्थिति में जीवन की उन वास्तविकताओं को भुलाकर नहीं चला जा सकता था, जो लौकिक जगत में नित्य हमारी आँखों के सम्मुख आती हैं।

प्रगतिवादी कवि ने सोचा कि क्या कविता का विषय आत्मा, परमात्मा और शृंगार ही हो सकते हैं? क्या सड़क पर खड़ा हुआ पसीने में लथपथ मजदूर कविता का विषय नहीं बन सकता! यह विचार आते ही कवि ने उसे चित्र-रूप दे दिया—

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

फिर उसने एक भिखारी को देखा और लेखनी उठाकर रचना की—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता।
वह आता।

प्रगतिवाद के अन्तर्गत हमें उस साहित्य की झलक मिलती है जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा सन्निवेष हो। इसमें जीवन के लौकिक तथ्यों का यथार्थ चित्रण होता है। हिन्दी-साहित्य में यह धारा नवीन होते हुए भी प्रगति की ओर अग्रसर है। जीवन प्रगति का नाम है और यदि जीवन में प्रगति नहीं है, तो जीवन जीवन ही नहीं रहता। वस्तु जगत् से मुँह मोड़कर स्वप्न या अध्यात्म की ओर दौड़ना प्रगतिवादिता के सर्वथा विरुद्ध है। प्रगतिवाद चाहता है जीवन में साम्य हो, समाज मे साम्य हो और राजनीति में साम्य हो। पुरातन रूढ़िवाद नष्ट करके प्रगतिवाद नवीन मानवता का निर्माण करना चाहता है। वहाँ बड़े-छोटे का भेद-भाव नहीं है। धनवान और निर्धन का भेद नहीं है। वहाँ मानव मानव के बीच किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना जाता। इस साहित्य में शोषक वर्ग का विरोध और शोषित वर्ग के प्रति साहित्यकार की सहानुभूति होती है। चरित्र-चित्रण और स्पष्टवादिता इस साहित्य का प्रधान गुण है। प्रगतिवादी कवि के सम्मुख निर्बल सबल की अपेक्षा अधिक यथार्थ है। अश्लील कहलाने वाले तत्वों का भी प्रगतिवाद में स्पष्ट चित्रण किया गया है।

हिन्दी का वर्तमान प्रगतिशील साहित्य दो पृथक्-पृथक् धाराओं में बह रहा है—एक वह जिसमें राष्ट्रीयता-प्रधान कविताएँ हैं और दूसरा वह जिसमें शृङ्गार-प्रधान कविताएँ हैं। समाज की उच्छृंखल और विच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोकने के लिए यौवन सम्बन्धी साहित्य का निर्माण भी आवश्यक है। प्रगतिवादी कवियों में साम्यवाद की प्रधानता है। राष्ट्रीयता-प्रधान कवियों ने भी दो प्रकार की कविताएँ की हैं। उनकी रचनाओं के आधार पर उनके दो वर्ग बनते हैं। एक वह जो अपनी रचनाओं में संयम, शान्ति, प्रेम, उन्नति, निर्माण और आशा का पाठ पढ़ाते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत 'नवीन' और 'पन्त', आते हैं। दूसरा वर्ग वह जिस पर रूस के साहित्य का प्रभाव है। इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं 'नरेन्द्र', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। यह दूसरा वर्ग विध्वंस, खण्डन और विनाश में विश्वास रखकर चलता है।

राष्ट्रीय भावना से प्रवाहित कवि-शृंखला के अतिरिक्त इनमें दूसरी धारा वह है जो शृङ्गार-प्रधान है। इस धारा के वर्णित शृङ्गार में काल्पनिक सौंदर्य का सजीव चित्रण करने पर उतारू रहता है। यह वर्ग अपने चित्रण को बिलकुल आचरणहीन

कर डालता है और इस आवरण-हीनता को वह अपनी कला, अपने काव्य का सौन्दर्य और अपनी वास्तविकता के अन्दर पैठ समझता है। फ्रायड के काम-विज्ञान का इन पर प्रभाव है।

प्रगतिवाद का साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में जितना अग्रसर हुआ है उतना व्यवहार के क्षेत्र में प्रस्फुटित नहीं हो पाया। इसका प्रधान कारण यही है कि प्रगतिवाद के सिद्धान्तों से बहुत कम सम्बन्ध है। 'पन्त' में केवल एक बौद्ध प्रगतिवादिता है। नरेन्द्र में कुछ वास्तविकता की झलक मिलती है। शेष कवि प्रगतिवादी कविता केवल इसलिए लिखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी लहर चल पड़ी है। वीरगाथा-काल में हर कवि वीरगाथा-लेखक था, सन्त-युग में हर कवि निर्गुण-ब्रह्म का उपासक था, राम-कृष्ण-भक्ति-काल में हर कवि वैष्णव-भक्त था, रीति-काल में हर कवि आचार्य था, छायावादी युग में हर कवि छायावादी और उसी प्रकार प्रगति के युग में कवि के लिए प्रगतिवादी बनना अनिवार्य हो गया है।

प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत जिस साहित्य की अभी तक रचना हुई है उसे बहुत उच्च कोटि के साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, न तो उसमें साहित्यिक सौन्दर्य ही आ पाया है और न भावों की कोमलता ही। कवि 'पंत' यदि साहित्य में अमर होगा तो 'ग्राम्या' के कारण नहीं, 'पल्लव' के कारण होगा। प्रगतिशील साहित्य का सृजन समाज और देश के निर्माण के लिए होना चाहिए, न कि जो कुछ आज बना हुआ है उसे भी किसी विदेशी प्रभाव में पड़कर अपनी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। ऐसा करने से देश का कल्याण न होकर अहित ही होगा। इसका उत्तरदायित्व लेखकों के ऊपर है। उन्हें अपना कर्तव्य देश और समाज के प्रति समझना है। केवल भावनाओं और समय की प्रगतियों में बहकर ऐसे साहित्य का निर्माण करना उनका लक्ष्य नहीं होना चाहिए जिससे देश और समाज का पतन हो। प्रगतिवाद उचित मार्ग पर ही चलकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। वर्त्तमान प्रगतिवाद के साहित्य से हमें देश और समाज के हित की बहुत कम सम्भावना दिखलाई देती है।

संक्षिप्त

१. प्रगतिवाद छायावाद में निहित पलायनवाद की प्रतिक्रिया है।

२. प्रगतिवादी साहित्य में साहित्यिक सौन्दर्य की बहुत कमी है।

३. इस धारा के अन्तर्गत देश-प्रेम और शृंगार दोनों प्रकार का साहित्य लिखा गया है।

४. प्रगतिवादी साहित्य में लोक-हित की भावना का बहुत कम समावेश दिखाई देता है।

५. इस साहित्य पर विदेशी प्रभाव है और उच्छृंखल प्रवृत्ति का आधिक्य मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण

२०१. साहित्य में प्रकृति का प्रधान स्थान है। प्रकृति में सौन्दर्य है और सौन्दर्य साहित्य का प्रधान गुण है, इसलिए साहित्य में सौन्दर्य लाने के लिए प्रकृति-चित्रण अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यकारों ने प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप से और मानव-जीवन के साथ-साथ दोनों प्रकार से किया है। मानव-जीवन प्रकृति से प्रभावित होकर कवि का वर्ण्य-विषय बनता है। वह स्थान-स्थान पर उससे प्रभावित होकर अपना रूप बदलता है और कवि उसका अपनी पैनी दृष्टि द्वारा निरीक्षण करके सुन्दर साहित्य का सृजन करता है।

भारत के सुन्दर-सुन्दर प्रकृति-खण्डों ने आदिकवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास के काव्यों को रमणीयता प्रदान की। प्रकृति के अनेकों सुन्दर संश्लिष्ट चित्र इन कवियों ने अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं। परन्तु यह प्रयोग हिन्दी-साहित्य-काल तक नहीं चल सका। कवियों ने संश्लिष्ट दृश्यखण्ड उपस्थित करना छोड़कर प्रकृति को केवल उपमा-उत्प्रेक्षा इत्यादि के लिए ही प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। ऋतु-वर्णन केवल उद्दीपन की सामग्री बन गया। कालिदास ने सर्वप्रथम ऋतुसंहार में छः ऋतुओं का चित्रण किया है।

दुर्भाग्यवश हिन्दी का जन्म उस समय हुआ जब संस्कृत और हिन्दी-साहित्य पतन की ओर अग्रसर थे। प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण सन्त-साहित्य में नहीं मिलता। केवल अपनी अन्तर-साधना को प्रकट करने के लिए उन्होंने प्रकृति का आश्रय अवश्य लिया है। साधक स्वयं ब्रह्मांड है और उसके अन्दर प्रकृति की विविधि लीलाएँ होती हैं। कबीर और दादू के साहित्य में वर्षा, फाग, वसन्त इत्यादि के चित्रण हैं अवश्य, परन्तु आध्यात्मिक तत्त्वों के निरूपण-मात्र के लिए। जायसी ने काव्य में स्वतन्त्र तथा मानव-प्रवृत्तियों के साथ दोनों रूप से प्रकृति का चित्रण किया है। जायसी का प्रकृति-चित्रण कबीर और दादू की अपेक्षा अधिक सफल तथा कलापूर्ण है। उसमें कवि-हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है।

भक्ति-साहित्य में प्रकृति का स्थान बहुत गौण है। भावों के उद्दीपन उपमान प्रस्तुत करने के लिए कवियों ने प्रकृति का आश्रय लिया है। पुराणों में वर्षा और शरद्-वर्णन की शैली पाई जाती है। तुलसी ने अपने मानस में भी उसी शैली का कुछ परिवर्तित रूप में अनुसरण किया है। कृष्ण-साहित्य में प्रकृति केवल शृंगार में उद्दीपन-स्वरूप आई है। नायिका-अभिसार प्रथम है और प्रकृति बाद में। रीतिकाल में भी कवियों ने प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं पहचाना और पहचानते भी किस तरह, उन्हें तो अपनी नायिकाओं के ही गिनने से अवकाश नहीं था। 'षटऋतु-वर्णन' में प्रकृति के दर्शन होते अवश्य हैं परन्तु प्रधानता वहाँ नायिका की ही रहती है। यह षट्ऋतु-वर्णन की प्रथा हिन्दी-साहित्य में वीरगाथा-काल से मिलती है। बीसलदेव रासो, पद्मावत और फिर रीति-काल में तो इस पर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे गये। रीति-काल में आकर

तो ऐसा लगता है कि मानो विधाता ने समस्त सृष्टि का सृजन ही नारी के उपमानों के लिए किया हो। प्रकृति का अस्तित्व रीति कालीन कवियों के लिए नारी तक सीमित था। संक्षेप में इस काल तक प्रकृति का चित्रण मिलता है उपमान के रूप में, रीति भाव उद्दीपन स्वरूप और कहीं-कहीं पर कुछ साधारण चित्रण। श्लिष्ट चित्रण केवल तुलसी और जायसी ने ही दिये है अन्य किसी कवि ने नहीं दिये। प्रकृति के कुछ स्वतन्त्र चित्रण वीर-काव्यों में भी मिलते हैं; परन्तु उनमें वह सौन्दर्य और सजीवता नहीं है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के जो उपमान लगा लिये गये वह अब हमारे व्यावहारिक जीवन से निकल चुके हैं और उनका नया रूप साहित्य में कवियों ने प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि आज साहित्य में प्रयोग करने पर भी पाठक पर उनका उतना प्रभाव नहीं पड़ता।

साहित्य की प्रगतियाँ बदलती रहती है। वर्त्तमान साहित्य संस्कृत-साहित्य की देन कहलाने पर भी सब प्रकार से स्वतन्त्र है और उसने स्वतन्त्रतापूर्वक ही अपना निर्माण किया है। प्रकृति का जो चित्र संस्कृत-कवियों के सम्मुख था, जब भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक घने बन और जंगल थे, वह आज के कवियों के सम्मुख होना असम्भव है, जब स्थान-स्थान पर कल-पुर्जों को नवीनता से भारत का वातावरण आच्छादित हो चुका है। वास्तविक कवि जिसके अन्दर वास्तव में कवि का दृष्टिकोण है, संसार को केवल प्राचीन पुस्तकों के संकीर्ण शीशे में नहीं देख सकता। वह प्रकृति को अपनी आँखों से देखता है और उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर पड़ता है। मानव ने जड़ पर चेतन को प्रधानता दी है तो साहित्य भी उसे ठुकराकर केवल प्रकृति के अन्दर ही उलझा हुआ नहीं रह सकता। आज के कवि के लिए मानव प्रधान है और बाद में वह सभी वस्तु आती हैं जिसका मानव पर प्रभाव पड़ता है अथवा मानव से जो प्रभावित होती हैं।

हिन्दी-साहित्य में अध्यात्मवाद की प्रधानता रही है और इस अध्यात्मवाद में प्रकृति गौण रूप से आकर भी परब्रह्म की श्रेष्ठतम सृष्टि होने के कारण कवियों का प्रधान विषय रही है। रहस्यवाद, प्रेम-मार्गी, सूफी-धारा, राम और कृष्ण-भक्ति, रीति-काल, छायावाद और यहाँ तक कि प्रगतिवाद में भी प्रकृति को भुलाकर चलना कवि के लिए असम्भव हो गया है। यदि प्रकृति को माया या भ्रम भी मान लिया जाय तब भी आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में उसका सुन्दर-से-सुन्दर रूप कवि को प्रस्तुत करना होता है और उसमें अनुपम काव्य की सृष्टि हुई हैं। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के प्रकृति-चित्रणों से भरा पड़ा है। छायावादी कवियों ने प्रकृति का सुन्दरतम चित्रण किया है और उसमें अंग्रेजी रोमांस (Mysticism) बँगला-रहस्यवाद और भारतीय अद्वैतवाद की सुन्दरतम झलक मिलती है। कवि 'पंत', 'प्रसाद' 'निराला', महादेवी वर्मा इत्यादि ने प्रकृति के सुन्दर चित्रण किये हैं। 'निराला' की पंचवटी, 'पन्त' का आँसू और 'प्रसाद' की कामायनी में प्रकृति के हृदय-स्पर्शी चित्रण हिन्दी-साहित्य की अमर थातियाँ हैं। आधुनिक साहित्य में संस्कृत-साहित्य की प्रणाली

का अनुसरण किया गया है। देखिए स्वतन्त्र प्रकृति का कितना सुन्दर चित्र 'कामायनी' में हमें देखने को मिलता है।

उषा सुनहले तीर बरसती जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से;
बर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद् विकास नए सिर से।

× × ×

प्रकृति के यौवन का श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

इसी काल में पं० श्रीधर पाठक ने काश्मीर-सुषमा इत्यादि कविताएँ लिखीं। आपके काव्य पर अंग्रेजी-कवि गोल्डस्मिथ का प्रभाव है। उपाध्याय जी ने भी काव्य में प्रकृति को स्थान दिया है परन्तु उसमें प्रकृति का अलंकृत प्रयोग देखने को मिलता है। स्वतन्त्र प्रकृति को वह अपने काव्य में नहीं अपना सके हैं। प्रकृति के सामान्य रूपों पर ही वह उलझे हुए हर जगह पाये जाते हैं। बाबू मैथिलीशरण ने 'पंचवटी', 'साकेत' इत्यादि काव्यों में प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। पंचवटी का एक चित्र देखिये—

इतने में पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति नटी का रंग।
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटे दिवा के दमके अंग॥
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी का द्वार खोलकर स्वयं खड़ी वह ऊषा थी॥

सीता को प्रकृति की सुन्दर ऊषा बनाकर कवि ने खड़ा कर दिया है। मानव और प्रकृति का जो घनिष्ट सम्बन्ध है उस पर 'गुप्तजी' की लेखनी खूब चली है। इस काल के छायावादी कवियों ने रीतिकालीन प्रकृति को एक दम उलट-फेर कर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की भाषा में कहा, "प्रकृति की ओर लौटो"। कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, शैले की कविताओं की छाया हमें 'लहर', 'पल्लव' और 'परिमल' में मिलती है। प्रकृति का विशाल सौन्दर्य देखकर 'पन्त' आश्चर्य से भर जाता है, 'निराला' उसके सुन्दर चित्र उपस्थित करने का प्रयास करता है और 'प्रसाद' तथा 'महादेवी' ने उनमें 'रहस्य' की अनुभूति पाई है। नैपाली ने भी प्रकृति के सहानुभूति-पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। इस काल के कवियों ने प्रकृति को अत्यन्त निकट से देखा है। प्रकृति का अंग बनकर उसका निरीक्षण किया है। महादेवी के नारी-हृदय में प्रकृति-चित्रण में वह प्रवीणता पाई है जो मीरा के भक्ति-चित्रण में मिलती है। हमारे अधिकांश कवि शहरों के रहने वाले हैं और उन्होंने प्रकृति के रहस्य को बहुत कम देखा है। शहरी जीवन से ऊबकर उनका आकर्षण प्रकृति की ओर होना एक

स्वाभाविक आकर्षण की प्रेरणा है। चित्रण स्वाभाविक करने का प्रयास वर्तमान कवियों में मिलता है और कवि-सुलभ अनुभूति से उन्होंने इस साहित्य को अमरत्व प्रदान किया है।

इस युग के स्पष्ट प्रकृतिवादी कवि 'दिनकर', 'गुरु भक्तसिंह' और 'नैपाली' हैं जिनकी कविता मे विशुद्ध प्रकृति की छाया मिलती है। गुरु भक्तसिंह की 'नूरजहाँ' में प्रकृति का जैसा सजीव चित्रण मिलता है वैसा इस काल के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। आज के युग ने संस्कृति काल की भाँति प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। प्रकृति-विलासिता का साधन अथवा अभिसार के रूप-युक्त स्थान ही न होकर कविता का स्वच्छन्द विषय बनी है और नगर वालो के समक्ष अपनी स्वर्णिम आभा लेकर प्रस्तुत हुई है। मानव की कोरी कल्पनाओं का अध्यात्मवाद के आदर्शों से बाहर निकलकर उन्हें प्रकृति के असीम सौन्दर्य में रहस्यवाद की वह झलक दिखाई दी जिसे पाकर कबीर जैसे सन्तों ने रहस्यवादी कविता लिखी और रवीन्द्र बाबू ने 'गीतांजलि' की रचना की। आज के प्रकृति-चित्रण में यथार्थवाद की स्पष्ट झलक है और उसमें महान् सौन्दर्य का सन्देश है। भविष्य में आशा है हिन्दी कविता में प्रकृति का विशेष स्थान रहेगा।

संक्षिप्त

१. संस्कृत साहित्य में प्रकृति-चित्रण, हिन्दी में उनका प्रभाव और नवीन दृष्टिकोण।

२. सन्त-साहित्य में प्रकृति का रूप।

३. भक्ति-साहित्य में संस्कृति-चित्रण और उसका दृष्टिकोण।

४. रीति-काल में प्रकृति की गौणता।

५. वर्तमान युग की कविता पर प्रकृति, अंग्रेजी और बँगला का प्रभाव और हिन्दी की कुछ अपनी विशेषताएँ।

६. आधुनिक युग में प्रकृति की स्वतन्त्र रूपरेखा।

७. द्विवेदी-युग की कविता और उसमें प्रकृति।

८. छायावादी कविता में प्रकृति और उस अंग्रेजी रोमांटिक-काल का प्रभाव।

९. प्रकृति का यथार्थ चित्रण और इसमें आधुनिक युग की विशेषता। प्रकृति-चित्रण का भविष्य।

खड़ीबोली और गद्य का विकास

२१०. हिन्दी-साहित्य के इतिहासज्ञों ने जो काल-विभाजन किया है उसके आधार पर हिन्दी-साहित्य में गद्य-युग का प्रारम्भ संवत् १९०० से होता है। यह अंग्रेजी शासन-काल था, इसलिए जब अन्य देशों में युग-परिवर्तन हुआ और पद्य का स्थान गद्य ने लिया तो हिन्दुस्तान भी अपनी भाषा हिन्दी के लिए ऐसा करने में इस

समय लगा। इसका प्रधान कारण यह था कि सभी सरकारी कामों में अंग्रेज़ी का प्रयोग होता था और इसलिए नौकरी पाने के इच्छुक विद्यार्थी केवल अंग्रेज़ी ही पढ़ना पसन्द करते थे। शासन-सत्ता हिन्दी का कोई महत्त्व नहीं समझती थी और प्रजा भी इसे लाभदायक न मानकर इसकी ओर ध्यान न देती थी। हिन्दी और उर्दू के कुछ मदरसे यहाँ थे अवश्य, परन्तु यह अनाथाश्रमों से कम नहीं थे। लॉर्ड मैकाले ने भारत में अंग्रेज़ी का प्रचार किया। १८३५ ई० में अदालतों की भाषा उर्दू बनी। इससे जनता को अपनी बोलचाल की भाषा के कुछ निकट आने का अवसर तो प्राप्त हुआ परन्तु अपनी वास्तविक भाषा का ज्ञान उन्हें अभी प्राप्त नहीं हो सका। उर्दू से जनता की अपनी भाषा पृथक् थी, इसलिए वह भी जनता द्वारा अंग्रेज़ी की भाँति केवल काम निकालने के लिए अपनायी गई।

खड़ीबोली, जिस पर उर्दू और फ़ारसी का प्रभाव था, 'रेख़ता' कहलाई। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर दिल्ली-आगरे का प्रभुत्व नष्ट हो गया। यहाँ के कवियों ने लखनऊ और मुर्शिदाबाद में जाकर आश्रय लिया। इनके साथ खड़ी-बोली भी वहाँ पहुँची और प्रचारित हुई। यह उर्दू न होकर साधारण बोलचाल की भाषा थी। रीतिकाल की कविता का युग जीवन की रंगीनियों के साथ समाप्त हुआ और वास्तविकता ने अपना पैर जमाया। वास्तविकता के स्पष्टीकरणों के लिए एक स्वच्छ भाषा की आवश्यकता थी और वह भी गद्य के रूप में। आने वाले युग में परिवर्तित विचारों का अवधी और ब्रज साथ न दे सकी।

यों तो खड़ीबोली और गद्य के उदाहरण यत्र-तत्र पिछले युग में भी मिलते हैं, परन्तु उस समय यह भाषा काव्य-भाषा न होने के कारण साहित्यिकों द्वारा नहीं अपनायी गई। हिन्दी गद्य के चार प्रवर्तक माने जाते हैं। सदासुखलाल जी, लल्लू-लाल जी, सदल मिश्र और इंशा अल्लाख़ाँ। इन विद्वानों ने हिन्दी में सर्वप्रथम गद्य लिखी; किसी की भाषा में पूर्वीपन और संस्कृत में मिश्रित पदावली थी तो किसी ने उसमें ब्रज की पुट दे रखी थी; किसी ने फ़ारसी के शब्दों की झड़ी लगा रखी थी, तो किसी ने उसमें मुहाविरे और अन्त्यानुप्रास भरकर उसे रोचक बनाने का प्रयत्न किया था।

इन चार महानुभावों के अतिरिक्त गद्य के प्रचार में ईसाई धर्म और आर्य-समाज ने भी काफ़ी सहयोग दिया। ईसाई पादरियों को अपने मत के प्रचार के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी और इस प्रकार हिन्दी का भी प्रचार हुआ। बाइबिल का खड़ी-बोली में अनुवाद हुआ। स्वामी दयानन्द जी ने अपना प्रधान ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी-गद्य में लिखा। इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह जी का समय आता है। इस काल में भी हिन्दी प्रचार पर काफ़ी बल दिया गया।

इस समय तक केवल खड़ीबोली गद्य का प्रारम्भिक काल चल रहा था, जिसमें किसी विशेष साहित्य का सृजन नहीं हुआ और न ही कोई प्रतिभाशाली लेखक ही उस काल का मिलता है। जो कुछ नमूने मिलते हैं वह गद्य के उत्थान-काल के होने

के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अब हिन्दी-गद्य के उत्थान में दूसरा युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का आता है। भारतेन्दु जी ने भाषा-क्षेत्र में जिस मार्ग का अनुसरण किया है वह राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का मध्यवर्ती मार्ग था। इन्होंने भाषा में उन सभी शब्दों का प्रयोग किया जिन्हें भाषा पचा सकती थी। न इन्हें फ़ारसी से कोई द्वेष था और न भाषा को संस्कृतगर्भित बनाने में कोई रुचि। तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द आप अधिक प्रयोग में लाये हैं। भारतेन्दु जी की प्रतिभा सभी दिशाओं में समान थी इसलिए आपने सभी प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। नाटक, गद्य-लेख, कविता और विविध विषयों पर आपने लिखा है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बाबू बाल-मुकुन्द, बद्रीनारायण चौधरी तथा अम्बिकाप्रसाद व्यास इस काल के प्रमुख लेखक हैं। यह काल भाषा-निर्माण के लिए जितना उल्लेखनीय है उतना ही साहित्य-निर्माण के लिए भी है। शुद्ध व्यवस्थित भाषा न होने के कारण ठोस साहित्य का सृजन इस काल में भी कम अवश्य हुआ, परन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इस काल में बँगला और अंग्रेज़ी साहित्यों से काफी अनुवाद हुए। गद्य-लेख भी इस काल में लिखे गये और पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं जिनमें गद्य-लेखों का जोर रहा। यह समय हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन का समय था, इसलिए इस काल से हम ठोस साहित्य की आशा भी नहीं कर सकते।

इसके पश्चात् हमारे सामने महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का काल, जिसे नवीन युग कहते हैं, आता है। इस काल में हिन्दी गद्य ने व्यवस्थित रूप धारण किया और द्विवेदी जी के परिश्रम द्वारा भाषा को परिमार्जित करने में बहुत सहयोग मिला। भाषा को शुद्ध-सुसंस्कृत रूप दिया। व्याकरण की अशुद्धियाँ दूर कीं, वाक्य-दोषों को निकाला, विचारशील लेखकों को हिन्दी लिखने पर मजबूर किया, भाषा के कोष में शब्दावली की कमी पूरी की, हिन्दी में नये लेखकों को जन्म दिया। वह सभी दिशाओं में अबोध-रूप से होना प्रारम्भ हो गया। नाटक, कहानी और उपन्यास, समालोचना, निबन्ध, जीवनियाँ, इतिहास, गद्य-काव्य, नागरिकशास्त्र, यात्राएँ, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे गये। गद्य का परिमार्जन और व्यवस्था होने की देर थी कि लेखकों ने अपनी लेखनियों को उठा लिया और साहित्य-भण्डार को भर दिया। जयशंकर 'प्रसाद' जैसे नाटककार; देवकीनन्दन खत्री और मुंशी प्रेमचन्द जैसे कहानीकार और उपन्यासकार; पं० पद्मसिंह तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और गुलाबराय एम. ए. जैसे निबन्धकार हिन्दी-साहित्य में पैदा हुए जिन्होंने सुन्दर गद्य लिखकर पठन-पाठन के लिए पर्याप्त पुस्तकें हिन्दी-साहित्य को प्रदान कीं। इस प्रकार यह नवीन काल भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल में गद्य-साहित्य अपनी सभी दिशाओं में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ और आज हिन्दी जब कि यह राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है इसमें सभी प्रकार का साहित्य दिन-प्रतिदिन दिन दूनी और रात चौगुनी

प्रगति के साथ लिखा जा रहा है। हिन्दी का गद्य-साहित्य आज किसी भाषा से पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। उसमें सभी विषयों की पुस्तकें अच्छे-अच्छे विचारवान लेखकों द्वारा लिखी हुई मिलती हैं और जिन विषयों पर अभी पुस्तकों की कमी है, उस कमी को हिन्दी के प्रकाशक बहुत शीघ्र पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में हिन्दी का गद्य-साहित्य अंग्रेजी और रूसी साहित्य के समान विश्व-साहित्यों की श्रेणी में रखा जा सकने योग्य बन जायगा। प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी को इसके लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

संक्षिप्त

१. गद्य-निर्माण का प्रारम्भिक युग, सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ इत्यादि का समय था।

२. भारतेन्दु-युग, गद्य की ओर प्रगति, भाषा का प्रसार और व्यवस्थित साहित्य-सृजन।

३. द्विवेदी-युग, व्यवस्थित भाषा में हिन्दी गद्य की शाखाओं का प्रसार, प्रायः सभी विषयों पर विद्वानों का ध्यान देना और सुन्दर साहित्य का सृजन करना।

४. हिन्दी गद्य का भविष्य।

हिन्दी-कविता का नवीन युग

२११. हिन्दी-साहित्य का नवीन युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के काल से प्रारम्भ होता है। इस युग को वर्तमान युग का गद्य-युग भी कहते हैं। गद्य-युग कहने का यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि इस काल में पद्य का सर्वथा लोप हो गया और उसका स्थान गद्य ने ले लिया। इस युग में गद्य-साहित्य के साथ पद्य-साहित्य भी अबाध रूप से प्रवाहित होता चला आ रहा है। इतिहास के विद्वानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य काल का प्रतिबिम्ब होता है। जिस काल में जो साहित्य लिखा गया है उसकी व्यापक परिस्थितियों का प्रभाव प्रधान रूप से उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालकर देखिए कि राजपतों के उच्छृंखल काल में वीरगाथाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ, मुसलमानी राज्य-काल में निराश्रित जनता ने भक्ति का आश्रय लिया और देश में भक्ति-साहित्य का प्रसार हुआ, और फिर वर्तमान काल से जब संसार बदल रहा था तो भारत भी दास नहीं रह सकता था, इस मूल्य को पहिचानकर भारत के आत्मसम्मानी नेताओं ने भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन प्रारम्भ किये, जनता में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हुई, जिसके फलस्वरूप साहित्य में भी राष्ट्रीयता की लहर उठी और वह कवियों की वाणी बनकर जनता के हृदयों में छा गई। यह पहली प्रवृत्ति है वर्तमान युग की कविता की। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक अनेकों कवियों ने सुन्दर काव्य की रचना की है। यहाँ हम मैथिलीशरण जी की 'भारत-भारती', सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' और माखनलाल

चतुर्वेदी की 'सुमन के प्रति' कविता को नहीं भुला सकते ।

प्राचीन युग इस युग में दूसरा परिवर्तन भाषा के दृष्टिकोण में हैं । इस काल की कविता का साहित्य खड़ीबोली में लिखा गया है । एक प्रसिद्ध प्राचीन मत था कि खड़ीबोली में सरल कविता नहीं लिखी जा सकती । वर्तमान युग के प्रसिद्ध कवि जयशंकर 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य 'निराला', सुमित्रानन्दन 'पंत', महादेवी वर्मा, कविवर 'बच्चन' इत्यादि ने इस प्राचीन मत की धज्जियाँ बिखेरकर उसे एक उपहास की वस्तु बना दिया । गीत-गोविन्द की सरसता लेकर हिन्दी खड़ीबोली में पद लिखे गये और कविताएँ रची गईं । यहाँ कामायनी का एक सरस पद देखिए—

तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन—
जहाँ मरु ज्वाला धधकती, चातकी घन को तरसती,
उन्हीं जीवन-घाटियों में, मैं सरस बरसात रे मन !

इस काल में कविता विभिन्न धाराओं में बही है । कुछ प्राचीन प्रणाली के भी कवि इस काल में हुए हैं परन्तु कोई विशेष महत्त्वपूर्ण पुस्तक या कविता उन कवियों की नहीं मिलती । इसलिए विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं । रत्नाकर जो इस काल के प्राचीन प्रणाली के उल्लेखनीय कवि हैं । खड़ीबोली-साहित्य के इस युग में नई नवीन वादों का प्रादुर्भाव हुआ । इन वादों में दो वाद छायावाद और प्रगतिवाद उल्लेखनीय हैं । कुछ फुटकरवाद भी सामने आये परन्तु उनकी कोई महत्त्वपूर्ण रूप-रेखा नहीं बन सकी ।

यह काल बुद्धिवाद के विकास का है, इसमें रूढ़िवाद के लिए कोई स्थान नहीं । अंग्रेज़ी साहित्य के पठन-पाठन से स्वतन्त्रता के विचारों का प्रचार हुआ । हिन्दी-कविता केवल शृङ्गार, भक्ति और रीतिकालीन प्रवृत्तियों के सीमित क्षेत्र से निकल कर स्वतन्त्र मानव-विश्लेषण के क्षेत्र में आ गई । मानव-जीवन की कठिनाइयों और परिस्थितियों के अन्दर साहित्य ने झाँका और उनके विश्लेषण की ओर अग्रसर हुआ । अंग्रेजी राज्य इस समय व्यवस्थित था, इसलिए जनता के विचारों में भी वीरगाथा-काल की उच्छृंखलता नहीं थी । साहित्य में भी स्थिरता आई और काव्य में जीवन की अनेक समस्याओं के साथ अनेकरूपता भी आई । साहित्य का क्षेत्र परिमित न रहकर विस्तृत हो चला । जातीयता और समाज-सुधार की ओर लेखकों का ध्यान गया । काव्य ने सादगी के सौन्दर्य को पहिचाना जिससे रीतिकालीन प्रवृत्ति का एकदम ह्रास हुआ ।

खड़ीबोली कविता की कुछ विशेषताएँ हैं जो पुरानी किसी भी भाषा में नहीं पाई जातीं । इसमें हमें संस्कृत-छन्दों का प्रयोग मिलता है । ब्रजभाषा के छन्द इसके लिए उपयुक्त नहीं हो सके । शब्दों के तद्भव रूप प्रयोग में न लाकर कवि तत्सम रूप प्रयोग में लाये हैं । कविताओं में जो तुकों की प्रधानता आ गई थी इस

युग के कवियों ने अपने को उनसे मुक्त कर लिया और बहुत सुन्दर अतुकान्त कविताएँ लिखीं। इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय महाकवि 'निराला' को है।

नाथूराम शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त इस एक धारा के कवि हैं। इन कवियों ने विविध विषयों पर सफलतापूर्वक लेखनी उठाई है और हिन्दी-साहित्य को 'साकेत' 'प्रिय-प्रवास' और 'भारत-भारती' जैसी अमूल्य रचनाएँ प्रदान की है। माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान इत्यादि ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखी है।

तीसरी धारा के कवियों में जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त', महादेवी वर्मा इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'कामायनी' और 'यामा' इस धारा की अमूल्य देन हैं और हिन्दी-साहित्य की और अनेकों अन्य पुस्तकें भी। पल्लव, गुंजन, अनामिका, यह सभी सुन्दर कविताओं के संग्रह हैं। जिनमें अपनी-अपनी विशेषता वर्तमान है।

कविवर 'बच्चन' ने 'हालावाद' की अपनी पृथक् धारा प्रवाहित की परन्तु वह उसी तक सीमित न रहे और उन्होंने प्रगतिवादी कविताएँ तथा कुछ-कुछ छायावादी जैसी कविताएँ भी लिखीं।

इस काल का कवि भक्ति-काल की स्वतन्त्रता अपने में रखता है और वीर-गाथा काल की स्वच्छन्दता तथा रीति-काल की रसिकता। इस प्रकार तीनों काल का निचोड़ हमें इस काल में मिलता है। इस काल का कवि किसी का आश्रित नहीं, उसे किसी की प्रशंसा नहीं करनी है। वह अपनी इच्छा का स्वच्छन्द पुजारी है। जैसा चाहता है लिखता है, उस पर किसी का अंकुश नहीं। यही कारण है कि आज का साहित्य बन्धन-विहीन साहित्य है जो किसी काल, विषय अथवा भावना के साथ नहीं बाँधा जा सकता। यह मुक्त है और पूर्ण वेग के साथ अबाध रूप से सर्वतोमुखी होकर प्रसारित हो रहा है। संसार के सभी उच्चतम साहित्यिकों के साथ साथ आशा है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी कवि का साहित्य आगे बढ़ता जायगा।

संक्षिप्त

१. भारतेन्दु-काल से ही इसका भी प्रारम्भ होता है।

२. रूढ़िवाद समाप्त हो गया और विचारों में स्वच्छन्दता आ गई।

३. साहित्य ने राष्ट्रीयता को अपनाया और समय के प्रचलित वादों को उचित स्थान दिया।

४. कवि किसी पर आश्रित नहीं रहा, उसने स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों का प्रदर्शन किया।

५. ब्रज-भाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया। छन्द संस्कृत से लिये और भाषा तद्भवता की ओर से हटकर तत्समता की ओर बढ़ी।

हिन्दी साहित्य में नाटकों का विकास

२१२. हिन्दी-साहित्य में नाटक मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों द्वारा प्रस्फुटित हुए हैं। मुस्लिम-काल में लेखकों का ध्यान इस साहित्य की ओर इसलिए नहीं गया कि देश का वातावरण अव्यवस्थित होने के कारण इसके प्रतिकूल था। मुसलमानों ने धार्मिक दृष्टि से भी इस प्रकार के साहित्य को नहीं पनपने दिया। केवल कुछ रियासतों में अवश्य नाटकों का प्रचार था और वहाँ पर रंगमंच भी थे। गद्य का विकास न होने के कारण भी नाटक लिखने की ओर लेखकों की अधिक रुचि नहीं हुई।

यों भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से पहले भी दो-चार नाटक हिन्दी में उपलब्ध हैं परन्तु वह रंगमंच पर सफलतापूर्वक नहीं लाये जा सकते थे। इसलिए भारतेन्दु को ही हिन्दी का प्रथम नाटककार मानते हैं। आपके छोटे-बड़े १८ नाटक मिलते हैं। यह मौलिक तथा अनुवाद दोनों प्रकार के हैं। 'मुद्राराक्षस' और 'भारत-दुर्दशा' आपके प्रधान नाटक हैं। भारतेन्दु बाबू ने अपने नाटक प्राचीन नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे हैं। उन पर संस्कृत के अतिरिक्त बँगला की प्रणाली का भी प्रभाव स्पष्ट है। रंगमंच के विचार से भी यह सफल नाटक सि द्ध हुए हैं।

'केटोकृतांत' के लेखक श्री तोताराम, 'रणधीर-प्रेम' के लेखक श्री लाला श्रीनिवासदास, केशोराम, गदाधर भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, राधाकृष्णदास जी, अम्बिकादत्त व्यास, सत्यनारायण कविरत्न, राजा लक्ष्मणसिंह, राधेश्याम कथावाचक इत्यादि इस काल के प्रमुख नाटककार हैं।

अन्य क्षेत्रों की भाँति नाटक की भी प्राचीन प्रणालियाँ परिवर्तित होने लगीं। दूसरा युग आया और नाटकों के पात्र देवताओं के स्थान पर साधारण सांसारिक मनुष्य बनने लगे। नाट्यशास्त्र के व्यर्थ के नियमों से भी नाटककारों ने अपने को मुक्त किया। रंगमंच के महत्त्व को समझकर नाटक ऐसे लिखे जाने लगे जिन्हें मंच पर प्रदर्शित किया जा सके। पद्य की अपेक्षा नाटकों में गद्य का अधिक प्रयोग हुआ। लेखकों ने सामाजिक कथाओं के आधार पर रचनाएँ लिखीं और राष्ट्रीयता का उनमें समावेश किया। इस काल में समस्यात्मक नाटक भी लिखे गये।

इस दूसरे युग के प्रतिनिधि नाटककार हैं श्री जयशंकर 'प्रसाद' जी। आपने प्राचीन रुढ़िवाद के विरुद्ध लेखनी उठाई और पूर्ण सफलता के साथ प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्र के रुढ़िवाद को अपने नाटक में स्थान नहीं दिया। आपके नाटकों के अधिकतर कथानक भारत के प्राचीन इतिहास पर आधारित हैं। काल्पनिक नाटकों में भी प्राचीन भारत की सभ्यता झाँकती दिखलाई देती है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। जयशंकर 'प्रसाद' जी के साथ भी नाटक-साहित्य में सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि उनके नाटक मंच के विचार से सफल नहीं बन पाये। उनका महत्त्व केवल साहित्यिक

क्षेत्र में ही प्रसारित होकर रह गया। जयशंकर 'प्रसाद' जी ने पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया है और उनके नाटकों में अंतर्द्वन्दों का समावेश प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस काल में नाटक-साहित्य की एक प्रकार से काया ही पलट गई और एक नई विचारधारा के साथ मुक्त कवियों ने नाटक-रचना में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लिया। नाट्यशास्त्र के बंधन ढीले पड़ने पर नाटक-साहित्य में स्वाभाविकता को स्थान मिला और रंगमच को विचार में रखते हुए रचनाएँ की गई। इस कार्य में नाटक कम्पनियों ने भी सहयोग दिया किन्तु उसका सहयोग मंच तक ही सीमित रह गया, साहित्यिक क्षेत्र में नहीं आ पाया। इसका प्रधान कारण यही रहा है कि नाटक कम्पनी तथा सिनेमा वालों ने अच्छे साहित्यिकों को नहीं अपनाया और अच्छे साहित्यिकों ने उस गंदगी में जाने से संकोच किया। जो गये भी, वह उस वातावरण को अपने अनुकूल नहीं बना सके।

बदरीनारायण भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, 'मिलिन्द', गोविन्द बल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, जी० पी० श्रीवास्तव, रामकुमार वर्मा, सुमित्रानन्दन 'पंत', सेठ गोविन्ददास तथा उदयशंकर भट्ट इत्यादि इस काल के प्रमुख नाटककार हैं। आज का नाटक-साहित्य काफी उन्नति कर रहा है और भविष्य में उन्नति की सम्भावना है। बँगला और अंग्रेजी के अनुवादों ने भी हिन्दी-साहित्य को सुन्दर पुस्तकें प्रदान की हैं और उनका यहाँ की मौलिक रचनाओं पर काफी प्रभाव पड़ा है। सजीव सामाजिक चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, अभिनय-योग्य कथानक, सरल भाषा, सरलता के साथ गीतों का माधुर्य, बस यही इस युग के नाटकों की विशेषताएँ हैं जिनके कारण इस साहित्य को आज के पाठकों ने प्रोत्साहन दिया। हिन्दी नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशा-पूर्ण है। नई-से-नई रचना साहित्य में आ रही है। लेखक अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ नाटक-साहित्य का सृजन कर रहे हैं और गद्य के विकास ने उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहयोग दिया है। सिनेमाओं में भी अच्छे लेखक पहुंचने लगे हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सुदर्शन, नरेन्द्र शर्मा, प्रदीप इत्यादि के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

संक्षिप्त

१. संस्कृत और अंग्रेज़ी के अनुवाद हिन्दी में आये।

२. भारतेन्दु जी ने १८ नाटक लिखे।

३. नाटक-साहित्य प्राचीनता से नवीनता की ओर अग्रसर हुआ।

४. जयशंकर 'प्रसाद' जी ने नाटक-युग में क्रांति पैदा की।

५. नाटक-क्षेत्र में रंगमंच का महत्त्व बढ़ा और साथ-साथ जन-साधारण में नाटक-साहित्य का प्रचार भी।

हिन्दी में गल्प और उपन्यास-साहित्य

२१३. हिन्दी गद्य का उत्थान हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने तीन कालों के अन्तर्गत विभाजित किया है। भारतेन्दु से पहिले काल, भारतेन्दु-काल और फिर द्विवेदी-काल। गल्प और उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ हमें निबन्धों की भाँति भारतेन्दु से पूर्व के काल में न मिलकर उन्हीं के काल से मिलता है। भारतेन्दु बाबू से पूर्व जो कथाएँ मिलती भी है उनका साहित्यिक महत्त्व कुछ नहीं है।

नाटक-साहित्य की भाँति कथा-साहित्य भी हिन्दी में सर्वप्रथम मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों के ही रूप में आया। संस्कृत-साहित्य में उपन्यास या कहानी के प्रकार का साहित्य नहीं मिलता। इसलिए संस्कृत से अनुवाद होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। प्रथम अनुवाद बँगला और अंग्रेजी से हुए, परन्तु इनकी भाषा अधिक रोचक नहीं बन पाई, क्योंकि उस समय तक भाषा में रोचकता का अभाव था और वह धीरे-धीरे सुधर रही थी। गदाधरसिंह, रामकृपाल वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री इस काल के प्रधान अनुवादक थे।

लाला श्रीनिवास को हम हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक मानते हैं। आपके 'परीक्षा गुप्त' उपन्यास का शिक्षित समाज में काफ़ी आदर हुआ। इसके पश्चात् तो मौलिक तथा अनुवादों की हिन्दी में झड़ी लग गई। बाबू राधाकृष्ण जी का 'निःसहाय हिन्दू', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी', गोपालराम गहमरी के बँगला के अनुवाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'वेनिस का बाँका' तथा देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस काल में उपन्यास केवल दिलचस्पी के लिए या चमत्कारप्रधानता के लिए ही लिखे गये। उनमें न तो चरित्र-चित्रण ही किसी काम का था और न सामाजिक समस्या और उन पर विवेचना ही। भाषा में प्रभाव अवश्य था और कथा की तारतम्यता तो उनकी विशेषता थी। इस काल के मौलिक उपन्यास उच्च कोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। उनकी विदेशी अनुवादों से कोई तुलना नहीं। देवकीनन्दन खत्री के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक ने जनता को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया।

इस काल के पश्चात् हिन्दी-उपन्यासों तथा कहानियों का नवीन काल प्रारम्भ होता है। और यह काल बहुत महत्त्वपूर्ण भी है। इस युग का संचालक तथा प्रतीक हम मुंशी प्रेमचन्द को मानते हैं। मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलिस्म और अय्यारी को छोड़कर सामाजिक समस्याओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया। आपने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के अभाव को पहिचाना और अपने प्रयत्नों द्वारा उस अभाव की पूर्ति की। यहाँ हम कथा के इस युग को शैली की विचार-धाराओं में विभक्त करते हैं। इन तीनों के प्रवर्तक मुंशी प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद' तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं।

प्रथम धारा, जो प्रेमचन्द ने बहाई, उसकी भाषा विशुद्ध होते हुए भी अपने अन्दर में उर्दू के शब्दों को बिलकुल नहीं खो पाई। यह मुहावरेदार कुछ उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी का चलता स्वरूप है जो उपन्यासों के लिए उपयुक्त भी रहा और लोक-प्रिय भी बन गया। इस भाषा में रवानी है और गाम्भीर्य भी। इस धारा के लेखकों में नवीनता अवश्य पाई जाती है परन्तु प्राचीनता का भी सर्वथा अभाव नहीं। सामाजिक समस्याओं को लेकर इस धारा के लेखकों ने लेखनी उठाई और काफी सफलतापूर्वक उन समस्याओं पर प्रकाश डाला, परन्तु फिर भी इनकी लेखनी द्वारा समाज का वह स्पष्ट और सत्य चित्रण नहीं हो पाया, जो आज का समालोचक चाहता है। इस धारा के लेखकों के चित्रण बहुत लम्बे होते हैं और उनमें वर्णनों की भरमार रहती है। अंग्रेजी-साहित्य के विक्टोरिया-काल की झलक इनके साहित्य में मिलती है। संक्षेप में कुछ कहे जाने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। इन लेखकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी थी। मानो लेखक होने के नाते उपदेशक होने का भार भी इन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। इस धारा के प्रधान लेखक मुंशी प्रेमचन्द, विश्वनाथ कौशिक तथा पं० सुदर्शन इत्यादि हैं।

दूसरी धारा को प्रचलित करने वाले थे बाबू जयशंकर 'प्रसाद'। इनके उपन्यास और कहानियों में आदर्शवाद को प्रधानता दी गई है। इनके चित्रण बहुत सजीव और मार्मिक हैं परन्तु इनकी भाषा उपन्यासों और कहानियों के अनुकूल नहीं हैं। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग मिलता है, इसलिए कम हिन्दी जानने वाले पाठकों में आपकी रचनाएँ अधिक प्रसारित नहीं हो सकीं। भावुकता इनकी रचनाओं में कूट-कूटकर भरी है। कहीं-कहीं पर तो कहानियों में कविता का मिठास आ जाता है और साथ-ही-साथ गाम्भीर्य भी। इनकी कथाओं में बुद्ध-कालीन संस्कृति का चित्रण मिलता है। ग्रामीण दृश्यों का भी चित्रण है, परन्तु बहुत कम। कथाओं में कथोपकथन अधिक मिलते हैं, चरित्र चित्रण बहुत सजीव हैं। चंडी-प्रसाद जी 'हृदयेश' इत्यादि इस धारा के अन्य लेखक हैं। इस धारा में प्रवाहित होने के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता थी और कथा लेखकों में इसका अभाव होता है। इसलिए इस धारा में बहने वाले बहुत कम लेखक साहित्य में पैदा हो सके। इस धारा के साहित्य का मूल्य रचनात्मक साहित्य की दृष्टि से बहुत अधिक है।

तीसरी धारा, जिसके प्रवर्त्तक 'उग्र' जी थे, बहुत चटपटी भाषा तथा विचारों के साथ साहित्य में आई। मनचले नौजवानों और प्रेम के पुजारियों ने इसका हाथों-हाथ आगे बढ़कर स्वागत किया और इस धारा का प्रचार भी बहुत हुआ; परन्तु यह धारा हिन्दी-साहित्य का कुछ अधिक हित नहीं कर सकी। इस धारा का साहित्य उच्चकोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सका और समाज के चरित्र को सुधारने तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में भी इसने कोई सहयोग नहीं दिया। इस धारा के लेखकों ने समाज के नग्न चित्र प्रस्तुत किये हैं और जीवन की कमजोरियों को ज्यों-का-त्यों खोलकर रख दिया है। लेखकों ने कमजोरियों को केवल खोलकर रख देना

ही अपना कर्त्तव्य समझा है, कोई सुझाव वह प्रस्तुत नहीं कर सके। इस धारा की रचनाओं में गाम्भीर्य का अभाव रहा है। यही कारण था कि इसकी रचनाएँ केवल एक ही वर्ग द्वारा अपनायी गईं। पं० 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री इत्यादि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं।

इस प्रकार इन तीन धाराओं में बहता हुआ साहित्य (उपन्यास तथा कहानी) उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। आज के युग का हिन्दी-कथा-साहित्य बहुत समुन्नत दशा में है और वह किसी भी अच्छे साहित्य के सम्मुख तुलना के लिए रखा जा सकता है। आज हिन्दी में बहुत अच्छे लेखक हैं जो इस साहित्य को निरंतर उन्नति देने में जुटे हुए हैं और अपनी एक-से-एक अच्छी रचना पाठकों को प्रदान कर रहे हैं। इस साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

संक्षिप्त

१. भारतेन्दु-युग में अनुवाद तथा कुछ मौलिक उपन्यासों का प्रादुर्भाव हुआ।

२. द्विवेदी युग तीन प्रमुख धाराओं में विभाजित होकर आगे बढ़ता और उन्नति करता जा रहा है।

३. इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

हिन्दी में समालोचना-साहित्य

२१४. यों तो समालोचनाएँ अपने पुरातन ढंग पर बहुत दिन से हिन्दी-साहित्य में चलती चली आ रही थीं, परन्तु आज के युग में समालोचना ने जो रूप धारण कर लिया है उसकी प्रथम झलक हमें भारतेन्दु-युग में मिलती है। प्रारम्भिक समालोचनाएँ पुस्तकाकार रूप में न मिलकर पत्र-पत्रिकाओं में ही मिलती हैं।

बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्द-कादम्बिनी' में अपने कई समालोचनात्मक लेख लिखे। भारतेन्दु-युग में केवल यही समालोचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात् द्विवेदी जी का काल आता है, जब उन्होंने खोज-खोज कर हिन्दी में लेखक और समालोचक पैदा किये। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में एक नवीन शैली लेकर आये। उन्होंने इस क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी और समालोचकों को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् थे। यही कारण था कि आपने सभी साहित्यों का अच्छा अध्ययन किया था। आपने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य को तुलनात्मक समालोचना की झाँकी दिखलाई और वह बाद में इतनी प्रचारित हुई कि अनेकों समालोचकों ने उसे अपनाया। आपने 'बिहारी सतसई' की टीका की।

इसके पश्चात् कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी', ला० भगवानदीन ने 'देव और बिहारी', विश्वप्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति', बस बिहारी पर समालोचनाओं की झड़ी लग गई। इसी काल में भुवनेश्वर नाथ 'मिश्र' ने 'मीरा की प्रेम-साधना' नामक एक समालोचनात्मक पुस्तक भी लिखी।

समालाचना का नया युग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से आरम्भ हुआ। वर्तमान हिन्दी-समालोचकों में शुक्ल जी का सर्वप्रथम स्थान है। तुलसीदास और जायसी के पद्मावत पर जो कुछ आपने लिखा है, वहाँ विराम लगा दिया है। दूसरे समालोचक उलट-पुलट कर उसी के चारों ओर घूम जाते हैं, कोई नवीन विचार प्रस्तुत नहीं कर पाते। शुक्ल जी की समालोचनाओं पर विदेशी प्रभाव है। आपका विषय का विश्लेषण पुराने ढंग का न होकर नवीन ढंग का होता है। आपने लेखक का कर्तव्य और उसके काव्य की सफलता दोनों विषयों की तुलनात्मक रूप से विवेचना की है गम्भीर विषयों को सुलझाने के लिए शुक्ल जी ने उपयुक्त भाषा का प्रयोग किया है।

आज के युग में हिन्दी का समालोचना-साहित्य दिन-प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है और भविष्य में बहुत उन्नति की सम्भावना है। प्राय: सभी प्राचीन ग्रन्थों पर विद्वानों ने लेखनी उठाई है और उनकी समालोचनाएँ करके उन्हें इस योग्य कर दिया है कि पाठक इन्हें पढ़कर उचित अर्थ समझ सकें। बाबू श्यामसुन्दर दास जी हजारी प्रसाद 'द्विवेदी', श्री व्यास जी, शांतिप्रिय द्विवेदी जी, नरोत्तम प्रसाद नागर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इत्यादि लेखकों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आज के युग में समालोचना विश्लेषणात्मक ढंग की होती है जिसमें रचना के प्रति किसी विशेष प्रतिपादन की दृष्टि को लेकर नहीं चला जाता वरन् उसके गुण और दोष पर समुचित रूप से विचार किया जाता है। समालोचक का कर्तव्य है कि वह रचना को पाठकों के निकट पहुँचाने में सहयोग प्रदान करे और आज के हिन्दी साहित्य के समालोचक अपने इस कर्तव्य को निभाने में पूर्ण रूप से कटिबद्ध हैं। आशा है इस से हिन्दी-साहित्य की उन्नति में सहयोग मिलेगा।

संक्षिप्त

१. प्राचीन समालोचनाएँ।

२. पं० पद्मसिंह जी ने तुलनात्मक समालोचना को जन्म दिया।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विश्लेषणात्मक समालोचना को जन्म दिया।

४. समालोचना-साहित्य उन्नति कर रहा है और इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

कुछ निबन्धों की रूपरेखाएँ

२१५. हिन्दी में नाटक और रंगमंच

१ हिन्दी में रंगमंच के योग्य नाटक नहीं लिखे गये, इसीलिए रंगमंच लेखकों का भी पर्याप्त उत्थान नहीं हो सका।

२ हिन्दी-नाटक का इतिहास और हिन्दी नाटकों की विशेषताएँ।

३. हिन्दी रंग मंच का इतिहास।

४. रंग मंच न होने के कारण अनुवादों द्वारा ही हिन्दी में नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ।

५. हिन्दी नाटकों के लिए स्वतन्त्र रंगमंच की आवश्यकता है।

६. हिन्दी रगमंच किस प्रकार का होना चाहिए और उसकी विशेष आवश्यकताएँ क्या हैं ?

७. वर्तमान नाटककारों का नाटक और रंगमंच दोनों की ओर ध्यान है अथवा नहीं।

८. उपसंहार।

२१६. हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का क्रमिक विकास—

१. भारतेन्दु काल—'कवि-वचन-सुधा' हरिश्चन्द्रजी ने और 'बनारस-अखबार' शिवप्रसाद जी ने प्रकाशित किया।

२. संवत् १९९८ 'अल्मोड़ा-अखबार', १९२९ में 'दीप्ति-प्रकाश' और 'विहार-बन्धु', १९३१ मे 'सदादर्श', १९३३ में 'भारत-बन्धु' और 'काशी-पत्रिका', १९३४ में 'हिन्दी-प्रदीप' १९४७ में 'धर्म-दिवाकर', 'शुभचिन्तक', 'मार्तण्ड' और 'हिन्दुस्तान' तथा १९४१ में 'दिवाकर', भारतेन्दु इत्यादि प्रकाशित हुए।

३. 'विहार-बन्धु', 'भारत-मित्र', 'उचित वक्ता', 'आर्य-दर्पण', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी-प्रदीप', और 'हिन्दुस्तान' ने हिन्दी की उस काल में बहुत सेवा की।

४. फिर प्रयाग से महावीर प्रसाद 'द्विवेदी' जी ने 'सरस्वती' पत्रिका प्रकाशित की, जिसका वर्तमान हिन्दी खड़ीबोली के परिमार्जन में विशेष हाथ रहा है।

५. इसके पश्चात् 'विशाल भारत' कलकत्ता, 'सुधा' लखनऊ, 'कल्याण' गोरख-पुर, 'माधुरी' लखनऊ, 'चाँद' प्रयाग, 'हंस' बनारस, 'विश्वमित्र' कलकत्ता, 'शान्ति' लाहौर इत्यादि पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं और इन्होंने हिन्दी-भाषा के उत्थान में बहुत सहयोग दिया।

६. साप्ताहिक पत्रों में 'प्रताप' कानपुर, 'मिलाप' लाहौर, 'विश्वबन्धु' लाहौर, 'विश्वमित्र' कलकत्ता, 'अर्जुन' दिल्ली, 'आर्यमित्र' आगरा, 'दिवाकर' आगरा, 'स्वतन्त्र' झाँसी, 'नवयुग' दिल्ली इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

७. आज के युग में अनेकों पत्र-पत्रिकाओं के पुष्पों से हिन्दी-साहित्य की वाटिका खिली हुई है। गूढ़-साहित्य, राजनीति, इतिहास, कथा-कहानी, सिनेमा तथा जासूसी पत्र-पत्रिमाएँ अनेकों की संख्या में निकल रही हैं। सरकारी पत्र-पत्रिकाएँ भी हैं और उनमें अच्छा साहित्य प्रकाशित हो रहा है।

८. हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

२१७. हिन्दी में जीवनी-साहित्य का विकास—

नोट—हिन्दी में लिखी गई जीवनियों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटकर इस विषय पर सुन्दर निबन्ध लिखा जा सकता है।

१. आत्मकथाएँ (महात्मा गांधी इत्यादि की आत्मकथाएँ)।

२. राजनैतिक जीवनियाँ (पं० जवाहरलाल, नेताजी सुभाष, महात्मा गांधी इत्यादि की अनेकों जीवनियाँ लेखकों ने लिखी हैं)।

३. ऐतिहासिक जीवनियाँ (महाराणा प्रताप, रानी झाँसी, शिवाजी इत्यादि की जीवनियाँ)।

४. धार्मिक जीवनियाँ (स्वामी दयानन्द, गुरु नानक इत्यादि की जीवनियाँ)।

५. राम, कृष्ण इत्यादि की जीवन-कथाएँ।

६. साहित्य के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियाँ (सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद 'द्विवेदी', रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर 'प्रसाद', प्रेमचन्द इत्यादि की जीवनियाँ)।

७. फुटकर जीवनियाँ।

८. हिन्दी-साहित्य में अभी तक कुछ विशेष व्यक्तियों की ही जीवनयाँ लिखी गई हैं। जीवनियाँ कहानी अथवा उपन्यासों के रूप में काव्य की अंग बनकर नहीं आईं। जब तक जीवनियाँ स्वतन्त्र रूप से काव्य का रूप नहीं बनकर आयेंगी उस समय तक ललित-कला क्षेत्र में इस साहित्य को ऊँचा स्थान नहीं मिल सकता।

२१८. हिन्दी में भ्रमरगीत-साहित्य का प्रसार—

१. 'भ्रमरगीत' की कथा, भ्रमरगीत से कवि का अभिप्राय और इसका उद्‌गम स्थान (श्रीमद्‌भागवत)।

२. सर्वप्रथम सूर ने 'भ्रमरगीत' की कल्पना को हिन्दी-साहित्य में स्थान दिया।

३. सूरदास और नन्ददास के 'भ्रमर-गीत' का हिन्दी मे विशेष स्थान है।

४. सूर की विशेषताएँ, नन्ददास की विशेषताएँ।

५. 'भ्रमरगीत' पर रीति-कालीन कवियों द्वारा रचनाएँ।

६. आधुनिक काल में सत्यनारायण, रत्नाकर, 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त द्वारा की गई रचनाएँ।

७. उपसंहार।

२१९. हिन्दी में गीत-काव्य की परम्परा—

१. संस्कृत में गीतकाव्य-धारा (गीत-गोविन्द का व्यापक प्रभाव)।

२. विद्यापति पर 'गीत-गोविन्द' का प्रभाव और उनकी गीत-काव्य-धारा।

३. सूर और तुलसी की गीत-काव्य-धारा जिसमें भक्ति का प्रचार हुआ। राम-साहित्य की अपेक्षा सूर-साहित्य में गीतों का प्रचार अधिक हुआ। मीरा और सूर के गीत आज भी गायकों की अमर सम्पित्त बने हुए हैं।

४. वर्तमान युग में गीतों की एक नई प्रणाली चली है जिसका श्रेय विशेष रूप से जयशंकर 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा को पहुँचता है; परन्तु गीत लिखने में नरेन्द्र शर्मा, 'बच्चन', 'पन्त' और मैथिलीशरण गुप्त ने भी कुछ कम हिन्दी साहित्य

को नहीं दिया है। आधुनिक गीत-प्रणाली पर अंग्रेजी-साहित्य का विशेष प्रभाव दिखलाई देता है। (Mystic) रोमांटिक युग के शैले और कीट्स इत्यादि का इन पर अधिक प्रभाव है। इन कवियों के गीतों के गाने में गायकों को उस सुगमता का अनुभव नहीं होता जिसका अनुभव सूर और मीरा के गीतों को गाकर होता है, परन्तु फिर भी आज के युग में यह बहुत प्रचलित हो चले हैं और सिनेमा-क्षेत्र में इनका प्रयोग विशेषता के साथ हो रहा है। सिनेमा-क्षेत्र में 'प्रदीप', नरेन्द्र शर्मा, 'दीपक', हरिकृष्ण 'प्रेमी' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

गीतात्मक काव्य लिखने के लिए कुछ विशेष गुण—

(क) संगीतात्मक और कोमल पदावली का प्रयोग।

(ख) आत्म-निवेदन इत्यादि की विशेष भावना का समावेश।

(ग) भावों का संक्षिप्त संतुलन।

(घ) जीवन की रागात्मक वृत्तियों को छूने वाले भावों से ओत-प्रोत होना।

५. उपसंहार।

२२०. हिन्दी-साहित्य की विशेषताएँ—

१. हिन्दी-साहित्य में भारत की प्रायः सभी प्रचलित धार्मिक धाराओं का प्रतिपादन और आध्यात्मिक साधनाओं का स्पष्टीकरण मिलता है।

२. हिन्दी-साहित्य में हिन्दू जातीयता और भारत-राष्ट्रीयता की प्रधान भावनाएँ मिलती हैं।

३. हिन्दी-साहित्य का उदय स्वतन्त्रता में, मध्यकाल परतन्त्रता में और वर्तमान परतन्त्रता से जन्म लेकर स्वतन्त्रता के युग में प्रस्फुटित हो रहा है।

४. हिन्दी-साहित्य में भारतीय जनता के हृदय का स्पष्टीकरण रहा है। जब-जब जैसी-जैसी भी परिस्थितियाँ रही हैं उसका स्पष्ट चित्रण हमें हिन्दी-साहित्य में मिलता है।

५. हिन्दी-साहित्य हिन्दू-संस्कृति की देन है। इसके बहिरंग पर फ़ारसी और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा है, उसकी आत्मा पर नहीं।

६. हिन्दी-साहित्य भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय समाज और भारतीय प्रकृति का प्रतिबिम्ब है, प्रतीक है या यह भी कह सकते हैं कि इसमें इन सभी का सामंजस्य है, विचार हैं।

७. उपसंहार।

२२१. हिन्दी-साहित्य में महावीरप्रसाद 'द्विवेदी' का स्थान

१. हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल को भाषा-साहित्य के पंडितों ने तीन कालों में विभाजित किया है। भारतेन्दु काल और वर्तमान काल। इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी जी एक काल के सम्पूर्ण रूप से कर्णधार हैं।

२. जिस काल में आपने हिन्दी-साहित्य की सेवा की है उस समय साहित्य तो क्या भाषा में भी सुधार की नितान्त आवश्यकता थी। आपने—

(१) भाषा को शुद्ध किया।

(२) भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों को दूर किया।

(३) भाषा में विराम, कॉमा इत्यादि चिह्नों को अंग्रेजी से लेकर रखा।

(४) लिपि के दोषों और संकीर्णता को दूर किया।

(५) भाषा के शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना बन्द किया।

(६) भाषा में तद्‌भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग किया।

(७) 'सरस्वती' पत्रिका में लेख लिखे और लिखवाये।

३. हिन्दी-साहित्य में सर्व प्रथम उच्च कोटि के साहित्यिक लेख आपने लिखे और अंग्रेजी से अनुवाद किये।

४. हिन्दी-भाषा के प्रचार में आपने वह कार्य किया जो ईसाई धर्म के प्रचार में ईसाइयों ने, इस्लाम धर्म के प्रचार में मुहम्मद साहब ने और बौद्ध धर्म के प्रचार में बुद्ध भगवान् ने किया था। अदालतों में हिन्दी का प्रयोग करने का आपने आन्दोलन किया और इसी प्रकार के अन्य आन्दोलन भी किये।

५. आपने हिन्दी-साहित्य की ओर अधिक पढ़े-लिखे विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, उनसे लेख लिखवाए और स्वयं भी लिखे।

२२२. हिन्दी-साहित्य की सेवा में स्त्रियों का स्थान—

१. खेद का विषय है कि नारी जो कि पुरुष की अपेक्षा अधिक भावुक होती है, उसका हिन्दी-साहित्य में स्थान खोजते समय हमें आँखें पसारकर देखना होता है। वीरगाथा-काल में किसी कवयित्री का नाम ही नहीं मिलता।

२. भक्ति-काल में एक चमकती हुई तारिका हमारे सम्मुख आती है—मीरा। मीरा का साहित्य हिन्दी-साहित्य की वह निधि है कि जिसकी समानता अन्य किसी के साहित्य से नहीं की जा सकती। मीरा के पद तो भारत के गायकों के कंठ-हार बन गये हैं।

३. आधुनिक काल में आकर हमें हिन्दी-साहित्य में स्त्रियों का अभाव दिखाई नहीं देता। इसका एक कारण तो सबसे बड़ा यह है कि मुसलमान-काल में स्त्री-शिक्षा का एक प्रकार से लोप-सा ही हो गया था। शिक्षा न रहने पर नारी-सुलभ भावुकता भी क्या कर सकती थी? आज उससे मुक्त होकर साहित्य का सृजन किया है।

४. वर्तमान युग में भी स्त्रियों ने केवल कविता-क्षेत्र में ही विशेष प्रगति की है। महादेवी वर्मा और सुभद्राकुमारी चौहान के नाम इस काल में विशेष उल्लेखनीय हैं।

५. विशेष रूप से, हिन्दी-साहित्य जिसका आभारी है वह केवल दो ही कवयित्रियाँ हैं—एक मीरा और दूसरी महादेवी वर्मा। इन दोनों ने हिन्दी-साहित्य-सागर

को अमूल्य रत्नों से भरा है ।

६. मीरा की कविता में भक्ति और योग की साधना है और महादेवी वर्मा के काव्य में आत्म-चिंतन और रहस्यवाद का वह रूप जिसमें छायावाद की झलक मिलती है। महादेवी के साहित्य में सगुण की उपासना में मिलकर निर्गुण का चिन्तन है ।

२२३. हिन्दी-साहित्य में हिन्दी-काव्य—

(१) प्रबन्ध-काव्य किसे कहते हैं ? उसके क्या गुण और क्या दोष आचार्यों ने बतलाये हैं। आचार्यों की निर्धारित की हुई परिभाषा पर लिखे गये कितने प्रबन्ध-काव्य हिन्दी में उपलब्ध हैं ?

(२) पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, साकेत, यशोधरा और कामायनी हिन्दी के प्रधान काव्य हैं ।

(३) आधुनिक प्रबन्ध-लेखकों ने प्राचीन प्रबन्ध-काव्य की परिभाषाओं में क्या-क्या उलट-फेर कर दिये हैं ।

(४) हिन्दी में कौन-कौन कवि सफल प्रबन्ध-काव्य लिख सके हैं ।

(५) उपसंहार ।

२२४. आधुनिक साहित्य में मनोविज्ञान—

(१) आज का साहित्य धर्म के आधार पर न चलकर, चलता है मनोविज्ञान के आधार पर । जिस लेखक के पास मनोविज्ञान का अभाव है वह आज सफल लेखक नहीं बन सकता ।

(२) समाज का चित्रण आज के साहित्य का प्रधान विषय है और यह बिना मनोविज्ञान के होना असम्भव है। इसलिए आज के लेखक को पहले मनोवैज्ञानिक होना होता है और फिर साहित्यिक ।

(३) मध्य-युग में 'मानस' इत्यादि में मनोविज्ञान है अवश्य, और वह 'शरत' जैसे उपन्यासकारों के मनोविज्ञान की अपेक्षा अधिक गहरा है, परन्तु वह इस उन्नीसवीं सदी के हिन्दी-लेखों के मनोविज्ञान तक नहीं पहुँच सकता ।

(४) भक्ति-काल में 'मानस' और 'सूर-सागर' में संघर्ष और विघर्ष के मार्मिक चित्रण हैं । यह शेक्सपीयर इत्यादि के मनोवैज्ञानिक संघात और विघातमक चित्रणों से उत्तम हैं । रीति-काल में मनोविज्ञान का बिलकुल अभाव दिखाई देता है ।

(५) छायावादी कवियों में अन्तर-वैज्ञानिकता है परन्तु मानव की प्रवृत्तियों का विवेचन नहीं । वहाँ तो कवियों की रंगीन कल्पना मात्र अधिक है।

(६) हमें मनोवैज्ञानिकता के दर्शन हिन्दी-उपन्यासों और कथाओं में होते हैं और इसका प्रारम्भ मु० प्रेमचन्द से होता है । परन्तु वह मनोविज्ञान भी ऊपरी और छिछला था ।

(७) 'बंकिम' और 'रवीन्द्र' बाबू के उपन्यासों का आधार मनोविज्ञान है। बंकिम का 'विष-वृक्ष' और रवीन्द्र की 'चोखेरवाली' मनोविज्ञान के धरातल पर अवलम्बित हैं।

(८) आज का उपन्यास-साहित्य मनोविज्ञान के धरातल पर खड़ा है और स्थिरता के साथ आगे बढ़ रहा है। 'शरत' के साहित्य का हिन्दी में प्रचार होने पर भी उसका प्रभाव हिन्दी-उपन्यासों पर अधिक नहीं पड़ सका।

(९) उपसंहार।

अध्याय १७

हिन्दी के प्रमुख ग्रन्थों की साहित्यिक विवेचना

पृथ्वीराज रासो पर एक दृष्टि

२२५. पृथ्वीराज रासो वीरगाथा-काल का उसी प्रकार प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिस प्रकार चन्द्रवरदाई इस काल का प्रतिनिधि कवि। पृथ्वीराज रासो ६९ समय (अध्याय) का एक बृहद् ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दोहा, तोमर, त्रोटक तथा रोला इत्यादि आर्य-छन्दों में लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखक के रूप में जिस कवि का नाम आता है वह महा-कवि चन्द्रवरदाई ही है; परन्तु इस विषय में बहुत से मतभेद भी हैं। पहिले हम ग्रन्थ की विवेचना करके फिर उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर विचार करेंगे।

इस ग्रन्थ में आद्योपांत कवि द्वारा महाराज पृथ्वीराज के यश का गान किया गया है। यह इस काल के ग्रन्थ के लिए कोई नई बात नहीं थी। किसी-न-किसी का यह वर्णन होना तो उसमें आवश्यक भी था और फिर इसमें तो हिन्दुत्व के उस काल के प्रतीक का चरित्र-चित्रण था, फिर क्यों न यह ग्रन्थ हिन्दू जनता में प्रसिद्धि पाता? कल्पना की उड़ानों के साथ-साथ उक्तियों और अलंकारों का इस ग्रन्थ में विशेष प्रयोग किया गया है। अनेकों स्थलों पर युद्ध-कला का बहुत सजीव चित्रण मिलता है तथा वीर और वीभत्स का बहुत सुन्दर प्रवाह इस पुस्तक में है।

समस्त ग्रन्थ पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ एक ही काल में नहीं लिखा गया। इसकी भाषा में भी स्थान-स्थान पर बहुत अन्तर है। कहीं पर विशुद्ध संस्कृति-गर्भित हो जाती है तो कहीं पर उसमें ग्रामीणता आ जाती है, कहीं पर उर्दू का-सा ठाठ दिखलाई देने लगता है तो कहीं पर कबीरकालीन शब्दावली मिल जाती है।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता एक ऐसा विषय है जिस पर हिन्दी के विद्वानों में सर्वदा से मतभेद रहता चला आया है। दोनों ही पक्ष में टक्कर के विद्वान हैं, इसलिए हम दोनों ही मतों को यहाँ पर प्रकट करेंगे। पहिला मत जो इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानता है उसे प्रतिपादित करने वाले प्रधान व्यक्ति पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्यामलदान और मुरारीदान हैं। यह अपने मत की पुष्टि में उसी काल के काश्मीरी कवि जयानक-रचित पुस्तक 'पृथ्वीराज-विजय' को प्रस्तुत करते हैं। इस पुस्तक के आधार पर यदि देखा जाय तो चन्द्रवरदाई उस

काल के कवि ही नहीं ठहरते । जयराज ने अपने काल के सभी प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, परन्तु उसमें कहीं पर भी राज-कवि पृथ्वी-राज का नाम नहीं आया। दूसरा प्रमाण जो वह देते हैं, वह यह है कि उस काल के शिला लेखों और दान-पात्रों पर जो संवत् दिया है वह रासो के संवतों से मेल नहीं खाता। तीसरी बात जो रासो में लिखा है, कि पृथ्वीराज ने गौरी को सात बार रण में हराया, वह ऐतिहासिक सत्य नही है। चौथा प्रमाण इसकी भाषा है। ग्रन्थ की भाषा स्थान-स्थान पर बदलकर ऐसी जान पड़ती है कि इस ग्रन्थ की पूर्ति कई कालों में जाकर हुई और जब-जब यह लिखी गई उस काल की भाषा की छाप इसमें आ गई। पाँचवाँ प्रमाण जो पहिलों से अधिक प्रबल है वह यह है कि इस ग्रन्थ में चंगेज़ तथा तैमूर के भी नाम आते हैं और यह लोग भारत में इस काल के पश्चात् आये हैं । छठा प्रमाण यह है कि 'पृथ्वीराज-विजय' के आधार पर संयोगिता-हरण और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना दोनों ही बातें असत्य हैं। सातवाँ प्रमाण यह है कि हाँसी के शिलालेख और 'पृथ्वीराज-विजय' के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी है। यह बात रासो द्वारा प्रतिपादित नहीं होती।

जिस प्रकार अप्रामाणिक मानने वाले विद्वान् तर्क देते हैं उसी प्रकार प्रामाणिक मानने वाले भी उनके पीछे नहीं हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले प्रधान व्यक्ति हैं पं० मोहनलाल विष्णुलाल जी, मिश्रबन्धु और बाबू श्यामसुन्दर दास जी। इनका मत है कि यह ग्रन्थ पूर्णरूप से प्रामाणिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि अधिक पुराना होने के कारण साहित्य-प्रमियों द्वारा गाया जाने के कारण, इसकी भाषा में कुछ अन्तर अवश्य आ गया है। काश्मीरी कवि जयानक ने अपने ग्रन्थ पृथ्वी-राज-विजय' में जो चन्द्रबरदाई के विषय में कुछ नहीं लिखा इसका कारण कलाकारों का आपस का द्वेष हो सकता है। संवतों के अन्तर के विषय में मोहनलाल विष्णुलाल जी कहते हैं कि अंतर सब संवतों में ९० वर्ष का है और प्रत्येक स्थान पर यह अंतर निश्चित होने से यह सिद्ध होता है कि कवि ने इसे जान-बूझ कर रखा है। नन्द-वंशीय-शूद्र राजाओं का ९० वर्ष का काल कवि ने अपने संवतों में नहीं गिना। मिश्रबन्धु कहते हैं, शाहबुद्दीन गौरी का सात बार हराया जाना, मुसलमान इतिहासज्ञों द्वारा स्वीकार न करना उनकी कमजोरी है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी चन्द्र को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, परन्तु उनका यह मत है कि इस ग्रन्थ का कुछ अंश प्रक्षिप्त अवश्य है; कितना है, इसका आज निर्णय करना कठिन है। फ़ारसी शब्दों के विषय में ओझा जी की शंका का समाधान मिश्रबन्धु इस प्रकार करते हैं कि मुसलमान यहाँ पहिले से ही आये हुए थे और चन्द्र क्योंकि लाहौर के निवासी थे इसलिए उनकी भाषा पर उनका प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार दोनों ही मत प्रबल हैं। पृथ्वीराज रासो इस काल की ही

नहीं, हिन्दी-साहित्य की एक अनुपम कृति है, जिस पर साहित्य को गर्व है और रहेगा ।

संक्षिप्त

१. यह डिंगल-भाषा का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वीर महाकाव्य है ।

२. इसमें पृथ्वीराज का यश-गान किया गया है ।

३. इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता अथवा प्रामाणिकता के विषय में दो प्रबल मत हैं ।

४. उपसंहार ।

पद्मावत पर दृष्टि

२२६. पद्मावत हिन्दी-साहित्य की प्रेमाश्रयी शाखा का प्रधान ग्रन्थ है । इस शाखा के सभी सिद्धान्तों का समावेश हमें पद्मावत में मिलता है । इस ग्रन्थ के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी हैं, जिन्होंने विशुद्ध अवधी भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की है । इनकी भाषा मानस जैसी परिष्कृत अवधी नहीं है, इसमें ग्रामीणता की झलक आ जाती है । हिन्दी-साहित्य में मिलने वाले प्रबन्ध-काव्यों में रामचरितमानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है और प्रेम-काव्यों में इसका स्थान सर्वप्रथम है । हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों का मत है कि कुछ दृष्टिकोणों से देखने पर यह हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ ठहरता है ।

प्रेम-तत्त्व का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में सूफी-सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है और आत्मा का सम्बन्ध स्त्री-प्रेम के रूप में ही ईश्वरीय शक्ति के साथ कवि ने प्रदर्शित किया है । कवि का मत है कि सच्चा प्रेम यही ईश्वरीय प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, यदि मनुष्य माया से अपने को मुक्त कर ले । पद्मावत का नायक रत्नसेन अपनी रानी नागमती-रूपी माया से अपने को मुक्त करके अनेकों कष्टों को सहन करता हुआ पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए जाता है और उसके प्रेम में योगी हो जाता है । पद्मावती उसकी परीक्षा करके अपना प्रेम उसके ऊपर अर्पित कर देती है । यह सब सूफ़ी-सिद्धान्तों के आधार पर होता है । कवि ने भौतिक प्रेम में सफलतापूर्वक पारिलौकिक प्रेम प्रदर्शित किया है ।

ग्रन्थ की कथा ऐतिहासिक है, परन्तु कवि ने कल्पना के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है और काव्यात्मक सौंदर्य लाने में वह बहुत सफल हुआ है । विरह का वर्णन जायसी की विशेषता है । रत्नसेन के चले जाने पर नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग की अनोखी रचना है । इसकी तुलना केवल सूर के किये गये गोपियों के विरह-वर्णन से ही की जा सकती है, परन्तु प्रबन्धात्मकता में बँधकर भी जिस मुक्त प्रवाह के साथ जायसी ने वर्णन किया है वह सराहनीय है । सूर और जायसी के किये वर्णन में साहित्यिक सौन्दर्य का अन्तर नहीं, अन्तर केवल यह है कि सूर का वर्णन पूर्ण रूप से भारतीय ढंग पर हुआ है और जायसी का उर्दू ढंग पर ।

विरह-वर्णन में अत्युक्तियाँ अवश्य हैं परन्तु जायसी की शैली और वातावरण के दृष्टि-कोण से वह दोष प्रतीत नहीं होता।

पद्मावत आद्योपांत भाव और भावनाओं के निर्मल साँचे में ढला हुआ है। शब्द, अलंकार और भाषा का चमत्कार कवि ने काव्य में पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा न करने का एक प्रधान कारण यह भी था कि जायसी कवि पहले थे और विद्वान् बाद में। कवि ने स्वयं विद्वान् होने का दावा नहीं किया। उन्होंने लिखा है "हौं पण्डितन केर पछ लगा"...।

कवि ने स्वाभाविक अनुभूति और हृदय की मार्मिकता का निचोड़ पद्मावत में आदि से अन्त तक भरने का प्रयत्न किया है। जिस विषय को भी लिया है उसका पूर्ण रूप से रसास्वादन वह अपने पाठकों को कराने में हर प्रकार से सफल हुआ है।

ज्योतिष, योग, शतरंज इत्यादि के सुन्दर वर्णन इस काव्य में मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को उन विषयों का पूर्ण ज्ञान था। कवि के वर्णन बहुत सजीव और सुन्दर हैं। ज्ञान और प्रेम का जो सम्मिश्रण इस काव्य-ग्रन्थ में किया गया है वह हिन्दी के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

कबीर के काव्य में जिस प्रकार ज्ञान को प्रधान स्थान दिया गया है उसी प्रकार जायसी ने अपने काव्य में प्रेम को प्रधानता दी है। ज्ञान, योग और प्रेम के सम्मिश्रण से यह विषय भी चिंतन का बन गया है और इसलिए इसे भी विद्वान् रहस्यवाद के अन्तर्गत ही गिनते हैं। कवि का दर्शन इस रहस्य में छिपा हुआ है। वह दर्शन कबीर-पन्थी ज्ञान, वैष्णव-भक्ति और सूफ़ी-प्रेम का मिला-जुला स्वरूप है। भावनाएँ बहुत स्पष्ट हैं। रूपकों को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती। यह सब होते हुए भी प्रेम-तत्व को समझने में कठिनाई होती ही है। सूफ़ी-सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान हुए बिना प्रेम-तत्व को समझना कठिन हो जाता है।

पद्मावत सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ होते हुए भी जनता में अधिक प्रचारित नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यही था कि उस काल में जनसाधारण साहित्य को साहित्य के लिए न पढ़कर धार्मिक दृष्टिकोण से अधिक पढ़ते थे। जायसी का धार्मिक दृष्टिकोण उसकी अपनी कल्पना थी, जो भारतीय जनता का धर्म सिद्धान्त नहीं बन सकी। यही प्रधान कारण था कि इस ग्रन्थ का भी अधिक प्रचार नहीं हो सका। परन्तु उस काल में इसका प्रचार न होते हुए भी आज का साहित्यिक समुदाय इस महान् ग्रन्थ के मूल्यांकन में भूल नहीं कर सकता। हिन्दी-साहित्य में इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा मूल्य है और इसने एक युग की एक विशेष धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

संक्षिप्त

१. विशुद्ध अवधी का यह प्रथम प्रेम-ग्रन्थ है।

२. प्रेमाश्रयी शाखा का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें उस धारा के सभी

सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

३. इस ग्रन्थ की कथा ऐतिहासिक है, परन्तु कवि ने अपनी कल्पना से उसे अपने अनुकूल बना लिया है।

४. काव्य में भाषा-सौन्दर्य की अपेक्षा भावों पर कवि ने विशेष बल दिया है।

५. इस ग्रन्थ का हिन्दी-साहित्य में विशेष मान है और इस ग्रन्थ ने एक साहित्यिक धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

रामचरितमानस पर एक दृष्टि

२२७. प्राचीन भाषाओं में कालिदास-कृत 'रघुवंश', 'वाल्मीकीय रामायण', होमर-कृत 'ईलियड', वर्जिल-कृत 'ईनियड', फिरदौसी-कृत 'शाहनामा' और आधुनिक भाषाओं में मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' दाँते का 'डिवाइन कॉमेडी', माइकेल मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद-वध' इत्यादि प्रमुख काव्य माने जाते हैं। रामचरितमानस को हम बहुत सुगमता से उक्त काव्य ग्रन्थों की श्रेणी में रख सकते हैं। भाषा, भाव, काव्य-सौन्दर्य, दूरदर्शिता दर्शन, हृदयग्राहिता, पाठकों में सम्मान और व्यापकता सभी दृष्टिकोणों से मानस एक अलौकिक ग्रन्थ है जिसकी तुलना संसार के किसी भी महाकाव्य से की जा सकती है। मानस मानव संसार के उन अमर काव्यों में से है जिसमें क्षण-भंगुर काव्य का सृजन कवि ने नहीं किया बल्कि मानव के उन मूल भावों का विवेचन किया है जिनके द्वारा कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मानव-समाज का जीता-जगता स्वरूप सामने रख दिया।

महाकाव्य भाषा और भाव का संयोग है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि मानव के सभी विकारों का सुन्दर भाषा में चित्रण किया है। मानस की भाषा भारत के अधिकांश वासियों की भाषा है इसलिए इस ग्रन्थ का लाभ केवल कुछ इने-गिने साहित्य-प्रेमी ही न उठाकर सभी काव्य-प्रेमी तथा भक्तों ने उठाया है। हिन्दी-साहित्य के इस ग्रन्थ ने जितनी ख्याति प्राप्त की है उतनी अन्य कोई ग्रन्थ नहीं प्राप्त कर सका। यह भारत की जनता के हृदय का ग्रन्थ बना और गले का कण्ठ-हार। इसके बिना आज हिन्दू जाति की गति नहीं। फिर हो भी भला क्यों नहीं; आप मानस को आद्योपांत पढ़िए और बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक का आनन्द-लाभ करिये। बचपन में राम हमारे भाई है, कौशल्या हमारी माता है, दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं। गुरु के साथ जाने की आज्ञा देने पर दशरथ को उसी प्रकार दुःख होता है जिस प्रकार वृद्ध पिता को होना स्वाभविक है परन्तु पुत्र आज्ञा-पालन में संकोच नहीं करता। राम धनुर्विद्या सीखते हैं, बन-बन विचरते हैं, यौवनावस्था में कुमारी के प्रेम-पाश में फँसते हैं, सीता-दर्शन होने पर राम और लक्ष्मण का वर्तालाप सुन्दर है। यह सौन्दर्य स्वयं वाल्मीकि भी अपनी रामायण में नहीं ला पाये हैं। राम का गार्हस्थ्य-जीवन कण्टकमय है, सम्भवतः इसलिए क्योंकि इस जीवन के प्रति कवि स्वयं भी उदासीन था। राम की वन-यात्रा का कवि ने बहुत

सजीव चित्रण किया है। लंकाकाण्ड में युद्ध-वर्णन पुराने ढंग का है और बहुत योग्यता के साथ किया गया है। यहाँ मंदोदरी का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। तुलसीदास ने मानसिक चित्र खींचने में जितनी निपुणता बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड में दिखलाई है उतनी अन्य किसी काण्ड में नहीं दिखला पाये हैं। उत्तरकाण्ड तो बालकों और युवकों की समझ में ही आना कठिन है, ज्ञान का वर्णन है त्यागी मनुष्यों के लिए। इस प्रकार यह ग्रन्थ आद्योपांत अपने-अपने स्थान पर सुन्दर है।

इस महाकाव्य में कवि ने समाज के प्रायः सभी पात्रों का सृजन किया है। पुत्र के रूप में राम, लक्ष्मण, भरत; पुत्री सीता; पिता दशरथ, जनक; माता कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी; भाई राम, लक्ष्मण, भरत, विभीषण, सुग्रीव; मित्र सुग्रीव, विभीषण; स्त्री सीता; जनता अयोध्या की जनता; राजा दशरथ, शत्रु रावण; देशद्रोही विभीषण; दुष्ट भाई बाली इस प्रकार समाज में जितने प्रकार के भी चरित्र उपलब्ध हो सकते हैं। कवि ने खोज-खोजकर इस महाकाव्य में सफलता-पूर्वक चित्रित किये हैं।

मानस कवि की हिन्दी-साहित्य को एक अनूठी देन है। इस महाकाव्य में तुलसी ने अपने काव्य और दर्शन दोनों का समन्वय किया है। महाकवि तुलसीदास ने इस ग्रन्थ द्वारा उस लोक-धर्म का प्रतिपादन किया है जिसकी निर्गुण पन्थ के कवि अवहेलना करते चले आ रहे थे। पारस्परिक सम्बन्धों की उदासीनता को दूर कर कवि ने पति-प्रेम, मित्र-भक्ति, मातृ-स्नेह, कुल-मर्यादा, अत्याचार का दमन इत्यादि भावनाओं से भारतीय समाज को एक बार फिर से भर दिया है। जनता को कर्तव्य की वेदी पर लाकर खड़ा कर दिया है और जीवन को जीवन मानकर चलने का आदेश दिया है। कवि ने जनता के भूले हुए लौकिक कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। मानस की रचना करके आपने मानस के अंग-प्रत्यग पर प्रकाश डाला है। व्यक्तिगत साधना और भक्ति के बहाव में मनुष्य को लोक-धर्म ठुकराने की आज्ञा कवि ने नहीं दी। सीता के दुबारा बनवास के पश्चात् राम साधू हो सकते थे परन्तु नहीं, उन्हें अपना कर्तव्य पालन करना था। इस प्रकार तुलसीदास जी ने मानस की रचना करके समय के झूठे वेदान्तियों को अपनी भक्ति के बहाव से पाखण्ड फैलाने से रोका और ज्ञान तथा भक्ति के बीच में एकता स्थापित की।

रामचरितमानस की कथा आज जनता के जीवन की अपनी कथा है। काव्य में उसका तारतम्य कहीं टूटने नहीं पाया। व्यर्थ का चित्रण जैसा जायसी के पद्मावत में मिलता है उसका मानस में अभाव है। जिस बात को मानस में कवि ने कहना चाहा है उसका आभास हमें पहिले से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इसलिए जब वह सामने आती है तो भार-स्वरूप नहीं मालूम देती। ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ भी दुष्ट पात्रों का समावेश हुआ है वहाँ-वहाँ उस पर कवि अपना कोप प्रकट करने में नहीं चूके हैं। ब्राह्मणों की महिमा का कवि ने गान किया है। स्त्री की निन्दा की है, परन्तु प्रमदा के रूप में, नारी अथवा अन्य किसी रूप में नहीं। यदि हम महाकाव्य की एक पंक्ति

को काव्य से बाहर निकालकर विचार करना आरम्भ कर देते हैं तो वह कवि के साथ अन्याय होता है। क्योंकि हमें उस पंक्ति का अर्थ उसी स्थान पर लगाना चाहिए जहाँ जिस पात्र के लिए कि उसका प्रयोग किया जाता है। यदि तुलसी ने "ढोर गँवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी" लिख भी दिया है तब भी सीता का चरित्र-चित्रण क्या संसार की माता के रूप में उन्होंने नहीं किया ?

काव्य की दृष्टि से मानस एक अनुपम काव्य है। इसमें अच्छे काव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। प्रायः नौ के नौ रस इस ग्रन्थ में कहीं न कहीं पर मिलते हैं और यदि अलंकारों को खोजकर निकालने का प्रयत्न किया जाय तो वह भी एक रीतिकालीन ग्रन्थ की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं। अर्थालंकार के साथ-साथ अनुप्रासों पर कवि ने विशेष बल दिया है। ग्रन्थ दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है। तुलसीदास जी ने यों तो सभी रसों में रचना की है परन्तु इनका विशेष रस शान्त ही रहा है। जायसी की भाँति मानस की भाषा भी कवि ने अवधी ही चुनी है। शास्त्र-पारंगत विद्वान् होने के कारण गोस्वामी जी की शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है।

कथा-काव्य या प्रबन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्ति वस्तु व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं। अयोध्यापुरी की बाल-लीला, नख-शिख, जनक-वाटिका के वर्णन कहीं पर भी कवि ने इतिवृत्ति की श्रृंखला को टूटने नही दिया है। जिस मर्यादा का पालन कवि ने रामचरित रचने में किया है काव्य-रचना में भी उसे भुलाया नहीं है। न कहीं आवश्यकता से अधिक वर्णन है और न कहीं आवश्यकता से कम। मानस में कवि ने प्रसंगों के अनुकूल भाषा और रसों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग किया है। समाज और परिस्थिति के अनुसार ही संस्कृत-गर्भित हिन्दी और ठेठ ग्रामीण भाषा का प्रयोग काव्य में किया गया है। घरेलू प्रसंग होने के कारण कैकेयी और मंथरा के संवाद ठेठ बोली में हैं। काव्य में शृंगार का लोप नहीं है, परन्तु मर्यादा के साथ उसे कवि ने कुशलतापूर्वक निभाया है।

इस प्रकार मानस पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है। कवि ने मानस की रचना केवल अपने दृष्टिकोण से नहीं की वरन् समस्त संसार पर दृष्टि फैलाकर की है। इसमें जीवन के मार्मिक चित्रण हैं, प्रकृति का असीम सौन्दर्य है, दर्शन की पैनी साधना है, काव्य का अलौकिक सौन्दर्य है, भक्ति की मर्यादा है, हिन्दू-मात्र के सब धर्मों का समन्वय है, मानव-जीवन की एकता का महान् आदेश है, और सबसे सुन्दर है शान्त रस का अथाह सागर जिसमें डुबकियाँ लगाकर मानव अपने जीवन की, अपने हृदय की और अपने शरीर की जलन को सर्वदा के लिए बुझा सकता है। मानस को पढ़कर हृदय और मन को शान्ति मिलती है और यह भूले-भटके जीवन-राही का पथ-निर्देशन करता है। मानस की रचना करके कवि ने केवल हिन्दी भाषा-भाषियों का ही नहीं वरन् मानव समाज का महान् हित किया है।

संक्षिप्त

१. संसार के महाकाव्यों में मानस का विशेष स्थान है।

२. समाज के सभी मिलने वाले चरित्रों का चित्रण इस ग्रन्थ में उपलब्ध है।

३. साहित्य और दर्शन दोनों को कवि ने इस ग्रन्थ में सफलतापूर्वक निभाया है।

४. काव्य, भाषा और चित्रण तीनों प्रकार का सौन्दर्य इस काव्य में वर्तमान है।

५. कवि ने यह ग्रन्थ एक काल के नहीं वरन् सब कालों के लिए लिखा है।

विनय-पत्रिका पर एक दृष्टि

२२८. विनय-पत्रिका गोस्वामी जी की अन्तिम और साहित्य की दृष्टि से प्रौढ़तम रचना है। इसकी शैली उनकी सभी रचनाओं से पुष्ट है। इस रचना में भावों की पुष्टि के लिए कवि को कई भाषाओं का आश्रय लेना पड़ा है। यह समस्त पुस्तक गीति-काव्य है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद समस्त सूर-सागर में भी देखने को नहीं मिलते। आत्म-विस्मृति, तन्मयता, भाव-संचय और गीत-माधुर्य रचना में कूट-कूटकर कवि ने भर दिया है। तुलसी का दर्शन और उसके आध्यात्मिक विचार इस ग्रन्थ में बहुत पुष्ट होकर भक्त पाठकों के सम्मुख आये हैं। कुछ विद्वान् समालोचक तो आध्यात्मिक क्षेत्र में विनय-पत्रिका को मानस से कहीं प्रौढ़ रचना मानते हैं। इस पुस्तक में कवि के लौकिक जगत पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

स्त्रोत, पद और कवित्त तीन प्रकार की शैलियों में इस रचना को विभक्त किया जा सकता है। जहाँ तक साहित्यिक दृष्टि का सम्बन्ध है तुलसीदास जी के स्त्रोतों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उनमें संस्कृत-स्त्रोतों की छाया-सी प्रतीत होती है। इनकी भाषा बहुत क्लिष्ट है और इतनी संस्कृत-गर्भित है कि साधारण हिन्दी-पाठकों के लिए उन्हें समझना कठिन हो जाता है। इनमें अनेकों देवी-देवताओं की लीलाओं का सुन्दर वर्णन दिया गया है। इनमें पुनरावृत्ति की भरमार है, इसलिए साहित्यिक रोचकता नष्ट हो जाती है। इनमें अनेकों देवी-देवताओं की उपासना राम के निमित्त ही की गई है। तुलसी के लिए सब देवता उपास्य हैं परन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं।

विनय-पत्रिका में कवि ने भक्ति की दीनता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। दास्य-भावना के साथ कवि देवेच्छा के प्रतिकूल कुछ न कहने का संकल्प करता है, भगवान् की रक्षा में विश्वास रखता है, भगवान् को मुक्ति प्रदान करने वाला और भक्तवत्सल बतलाता है। इस रचना में आत्म-समर्पण की भावना प्रचुरता के साथ कवि ने प्रदर्शित की है। भगवान् के सामने कवि इतना दीन है कि वह तो अपनी विनय-पत्रिका को लेकर भी स्वयं नहीं जा सकता। उसे लेकर जाने के लिए भी उसे

हनुमान जी का आश्रय लेना होता है। वैष्णव-सम्प्रदाय के विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतीकस्वरूप हम विनय-पत्रिका को ग्रहण कर सकते है। दीनता, मान-मर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारण-विनय की सातो प्रकार की भूमिकाएं इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। यही कारण है कि तुलसी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अध्ययन करने से पूर्व विनय-पत्रिका का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

यह ग्रन्थ वृद्धावस्था का लिखा हुआ होने के कारण कवि की धार्मिक कल्पनाओं, धारणाओं और सिद्धान्तों का एक निश्चित आदर्श बन गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो पुष्टि मानस में भी नहीं आ पाई, वह इस रचना में आ गई है। मानस लिखने के पश्चात् कवि की भावनाओं में जितना विकास हुआ है वह सब इस रचना में आ गया है। मानस में कवि की भावना भक्ति, ज्ञान और कर्म के साथ-साथ चलती है, परन्तु विनय-पत्रिका की भक्ति अनन्य है। वृद्धावस्था में आकर कवि अपने को एक अनन्य भक्त के रूप में देखता है और उसके अन्दर से कर्म तथा ज्ञान का सर्वथा लोप हो जाता है। राम उसका एक देवता है और वह उसका उपासक। कवि भक्त की ओर ही अग्रसर है, कर्म तथा ज्ञान की ओर नहीं। अपने उपास्य को प्राप्त करने के लिए केवल भक्ति ही उसका साधन है और साध्य भी। यहाँ आकर कवि प्रत्येक देवता से राम की भक्ति कराना चाहता है। अन्तिम काल में कवि संसार से सम्बन्ध विच्छेद करके राम-चरणों में लगन लगाते हैं। ससार के सब सम्बन्ध वह राम से ही जोड़ लेते हैं—

> ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर, हौं चेरो।
> तात, मात, गुरु, सखा, तू सब विधि हित मेरो॥

राम के शील का मनन, राम-नाम का स्मरण, राम के सम्मुख आर्त-भाव से निवेदन, रामभक्तों का सत्संग और अन्त में हरि-स्वकृपा। यह सब गोस्वामी तुलसीदास जी के हरि-उपासना के साधन विनय-पत्रिका में बतलाये गये हैं। हरि-कृपा को कवि ने सबसे प्रधान साधन बतलाया है जिसके बिना अन्य सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं और जीव को गति प्राप्त नहीं होती। भक्त पर भगवान् जब करुणा करके द्रवित होते हैं, यह कृपा तभी सम्भव है और वह द्रवित तभी हो सकते हैं जब भक्त फल की इच्छा न रखते हुए दास्य-भावना से भगवान् की भक्ति में अपना तन, मन, धन लगा लेता है। मानव-जीवन की शान्ति के लिए हरि-भक्ति की आवश्यकता है। मन की शुद्धि से शान्ति प्राप्त होती है और मन की शुद्धि से ही भक्ति हो सकती है। शान्ति-पूर्वक शुद्ध मन से भक्ति करने पर ही हरि-कृपा प्राप्त होती है। राम-चरणों में अनुरक्ति होने से ही कलि-काल में मानव पापों से मुक्त हो सकता है और उसके चित्त की प्रवृत्ति शुद्धि की ओर हो सकती है। संसार का रमणीक अथवा भयानक लगना भ्रम और अविवेक के ही कारण है। यह भ्रम और अविवेक हरि-कृपा के बिना दूर नहीं होता।

इस प्रकार हमने देखा कि विनय-पत्रिका की रचना प्रधानतया कवि ने साहित्यिक दृष्टिकोण के लोक-धर्म-स्थापना अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं की। यह रचना कवि ने अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए की है। इसमें जीवन-निर्माण के उच्चतम आदर्शों को कवि ने प्रस्तुत किया है। "सन्तोष, परहित चिन्तन, मृदु-भाषण, राग-द्वेष-हीनता, मान-हीनता, शीतलता, सुख-दुख में समद्-बुद्धि" इत्यादि गुणों की ओर भक्त-जनों का ध्यान आकर्षित किया है और अपने इस ध्येय में कवि पूर्णतया सफल रहा है।

संक्षिप्त

१. विनय-पत्रिका में तीन साहित्यिक शैलियों का प्रयोग मिलता है।

२. इस रचना में राम-भक्ति को कवि ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

३. विनय-पत्रिका तुलसी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रतीक है।

४. ग्रन्थ को ललित-साहित्यिक रचना न कहकर यदि धार्मिक रचना कह दिया जाय तो उचित न होगा।

५. यह कवि की अन्तिम और प्रौढ़तम रचना है।

सूर-सागर पर एक दृष्टि

२२६. 'सूर-सागर' महाकवि सूरदास की प्रधान रचना है। सूर के जीवन की महानता और उनके काव्य का मूल्यांकन इसी महान् ग्रन्थ द्वारा किया जा सकता है। 'सूर-सागर' का जो रूप इस समय उपलब्ध है उसे देखने से ज्ञात होता है कि 'सूर-सागर' की कथा कुछ बिखरे रूप में श्रीमद्भागवत की ही भाँति स्कंधों में बँटी हुई है। पहिले नौ स्कंधों और अंतिम दो स्कंधों का क्रम भागवत से बिलकुल मिलता है। 'सूर-सागर' में भागवत की सभी कथाओं का समावेश नहीं है और जितना है वह संक्षेप में किया गया है। कहीं-कहीं पर साहित्यिक सौंदर्य लाने के लिए कथाओं में कुछ परिवर्तन भी कवि ने कर दिया है। नवें स्कंध में राम-कथा पदों में गाई गई है और वह बहुत सुन्दर काव्य है। दशम् स्कंध के अतिरिक्त शेष कथा वर्णनात्मक चौपाइयों में लिखी गई है। सूर की कला का प्रदर्शन चौपाई-छंद में उतना सुन्दर नहीं हो पाया जितना पदों में हुआ है। यह कथाएँ सुन्दर न लिखी जाने पर भी कवि ने पुष्टिमार्ग के धार्मिक दृष्टिकोण से उन्हें लिखा है। श्रीमद्भागवत का भाषा में प्रचार करना वह अपना धर्म-कर्तव्य समझते थे। यह कथाएँ कवि ने अपनी और अपने साथियों की प्रेरणा से लिखी होंगी। 'सूर-सागर' के दशम्-स्कंध के पूर्वार्ध में सुन्दर वर्णनात्मक छंद मिलते हैं और यहाँ पर कहीं-कहीं कथाओं की पुनरुक्ति भी हो गई है। संभवतः कवि ने पहिले इस समस्त ग्रन्थ की रचना की है और बाद में जो सुन्दर पद उन्होंने लिखे हैं उन्हें भी विषयानुकूल इसी ग्रन्थ में रख दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ में अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे हुए पद भी हैं। सूरदास ने खंडिता, फाग, मान आदि के जो नवीन प्रसंग लिये हैं उनका वर्णन

कवि ने पदों में किया है। यह समस्त ग्रन्थ सरल और मधुर ब्रजभाषा में लिखा हुआ है।

यदि साहित्यिक दृष्टि और सूरदास के महत्त्व को लेकर 'सूर-सागर' को देखा जाय तो 'सूर-सागर' के दशम् स्कंध का पूर्वार्द्ध पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग ठहरता है। यह भाग पदों में गाया गया है। इन पदों का पहला भाग कृष्ण की उन लीलाओं से सम्बन्धित है जिनमें उन्होंने असुरों का वध किया है। इन पदों में वर्णनात्मकता ही पाई जाती है। कवि की प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं दिखलाई देता। केवल कालिय-दमन और इंद्र-गर्व-हरण की कुछ लीलाओं का वर्णन सुन्दर है। इनके वर्णन में कवि की उच्चतम प्रतिभा का आभास मिलता है। इन कथाओं में सूरदास ने भागवत की कथाओं को ज्यों-का-त्यों नहीं रख दिया है वरन् उनमें कलात्मक परिवर्तन किया है और उनमें सरस स्थल पैदा किये है। इन अलौकिक कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य लीलाओं में कवि ने कृष्ण की लौकिक लीलाओं का ही चित्रण किया है।

कृष्ण की जो लौकिक लीलाओं का चित्रण सूर ने किया है वह अमर है और उसी के आधार पर सूर को भाषा के पंडितों ने सूर्य की पदवी प्रदान की है। बाल-काल और किशोरावस्था सम्बन्धी पद सूरदास ने अपनी मौलिक कल्पना के आधार पर लिखे हैं। इनमें भागवत से कवि ने कुछ नहीं लिया। कृष्ण का बाल-चित्रण और नन्द, यशोदा का वात्सल्य-वर्णन करने में कवि की अद्वितीय प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ भागवत पर कुछ अवश्य आधारित हैं परन्तु उनमें भी कवि ने अपनापन पूर्ण रूप से भर दिया है। दान-लीला, मान, खंडिता, हिंडोला-फाग और राधा की कल्पना यह सब सूर के मौलिक प्रसंग हैं। राधा का प्रथम मिलन, फिर वियोग और फिर मिलन यह कथा कवि ने बहुत विस्तार और सौन्दर्य के साथ वर्णित की है। भागवत में तो कहीं राधा नाम भी नहीं मिलता।

'सूर-सागर' का भ्रमर-गीत प्रसंग बहुत सुन्दर है। भागवत् के भ्रमर-गीत और सूर के भ्रमर-गीत में आकाश-पाताल का अन्तर है। भ्रमर-गीत का आकार कवि ने शृंगार-शास्त्र के आधार पर खड़ा किया है। राधा-कृष्ण के प्रसंगों को लेकर कवि ने वंशी के उद्दीपन-विभाव प्रस्तुत करके काफी लिखा है। वाग्वैदग्ध्य के सुन्दर उदाहरण रूप-सौन्दर्य और उद्धव के प्रसंगों में मिलते हैं। कवि ने मुरली और नेत्रों के प्रसंग में सुन्दर कूटपद लिखे हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'सूर-सागर' समस्त कथा भागवत से ली हुई होने पर भी उसमें मौलिकता का अभाव नहीं है। वल्लभाचार्य के कहने पर ही सूरदास ने भागवत लीला का गान किया था। सूर के साहित्य में सरलता केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं है वरन् साहित्यिक सौन्दर्य और प्रतिभा की भी इनमें कमी नहीं है। भ्रमर-गीत, नेत्रों और मुरली के पदों में जो रूपक कवि ने प्रस्तुत किये हैं उनमें सुन्दर साहित्य के दर्शन होते है और रीतिकाल की भीनी-भीनी महक आने

लगती है। सूर ने विद्यापति की भाँति सरस पदों की रचना की है, परन्तु सूर की विशेषता यह है कि उसका आधार धर्म होते हुए भी उसमें विद्यापति के शृंगार से कम सरसता नहीं आ पाई है। सूर ने शृंगार और रीति का आश्रय अवश्य लिया है परन्तु अपने साहित्य को उनके अर्पण नहीं कर दिया है; वरन् उन्हें अपने साहित्यिक सौन्दर्य में प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयोग किया है। मान और खंडिता के प्रसंग जो सूर ने लिये हैं वह लौकिक रूप में न लेकर आध्यात्मिक रूप में लिये हैं। यदि वह लौकिक रूप में लेते तो नायिका-भेद, अभिसार और परकीया जैसे रसोत्पादक विषयों को न छोड़ते। कवि ने काव्यशास्त्र का उपयोग भक्ति-साहित्य में कोमलता, सरसता, माधुर्य और सौन्दर्य लाने के लिए ही किया है।

सूर-सागर में राधा-कृष्ण के संयोग, रति-विलास इत्यादि का जो चित्रण मिलता है उनमें आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित करने का कवि ने प्रयत्न किया है। इसमें गीत-गोविन्द की झलक आती है। सूर की गोपियों का आध्यात्मिक भावना के कारण शृंगार में कम विकास हो पाया है। सूर की गोपियाँ राधा के प्रति ईर्ष्या न करके उस पर मोहित होती हैं। यह शृंगार-काव्य की धारणा के विपरीत भाव है। 'सूर-सागर' के यह पद फुटकर होते हुए भी कथा-बद्ध होकर चलते हैं और पाठक भी उनसे आनन्द-लाभ तभी कर सकते हैं जब इसे प्रसंग से पढ़ें। इस प्रकार 'सूर-सागर' में गीतात्मकता और प्रबन्धात्मकता का ऐसा सम्मिश्रण मिलता है जैसे हिन्दी के अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता।

सूर-सागर एक बृहद् ग्रन्थ है परन्तु इसे हम रामायण की भाँति महाकाव्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें जीवन के विविध प्रसंगों और दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। जीवन की विविध परिस्थितियों को भुलाकर केवल कुछ अंशों पर ही बल दिया गया है। परन्तु जीवन के जिन भागों का चित्रण 'सूर-सागर' में हुआ है वह बहुत पूर्ण है। बाल-चित्रण, संयोग और वियोग इन तीन जीवन की परिस्थितियों पर कवि ने इतना सुन्दर लिखा है कि हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं लिख पाया। इस प्रकार 'सूर-सागर' का महत्त्व हिन्दी साहित्य में महान् है।

संक्षिप्त

१. समस्त ग्रन्थ कथाबद्ध होते हुए भी फुटकर पदों का संग्रह-सा प्रतीत होता है।

२. कथा का आधार भागवत है, परन्तु कवि ने अपनी मौलिकता को भी पूर्ण स्वच्छंदता प्रदान की है।

३. बाल-लीला, संयोग और वियोग का चित्रण सूर-साहित्य की विशेषता है।

४. काव्य ब्रजभाषा में चौपाई और पदों में लिखा गया है।

५. यह सूर की प्रधान रचना है और इसी के आधार पर सूर हिन्दी-काव्य-जगत का सूर्य कहा जाता है।

बिहारी-सतसई पर एक दृष्टि

२३०. हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों में 'बिहारी-सतसई' अपना विशेष स्थान रखती है। ग्रन्थ की सर्वप्रियता न धर्म के कारण है और न किसी अन्य प्रभाव के ही कारण। इसे सर्वप्रिय बनाने वाली है कवि-कला, कवि का साहित्य और काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य। इस काव्य ने किसी बाहर की भावना से बल नहीं प्राप्त किया वरन् बल स्वयं इसके अन्दर निहित है और जब तक हिन्दी-साहित्य और इसके प्रेमी संसार में रहेंगे, 'बिहारी-सतसई' का महत्व कम होने की सम्भावना नहीं।

यह ग्रन्थ ब्रज भाषा में लिखा हुआ है और दोहा छन्द का कवि ने प्रयोग किया है। प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र है। किसी कथा के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ। कवि ने स्वच्छंदतापूर्वक काव्य की रचना की है और यदि यह कह दिया जाय कि गागर में सागर भरने में वह सफल हुआ है तो यह कथन सत्य ही है। 'बिहारी-सतसई' की प्रसिद्धि कवि के जीवन-काल में ही होनी आरम्भ हो गई थी। मतिराम जैसे प्रसिद्ध कवि पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा और उस काल से ही 'बिहारी-सतसई' पर टीकाएँ लिखी जानी आरम्भ हो गईं। आधे शतक के ऊपर टीकाएँ 'बिहारी-सतसई' पर लिखी गईं। हिन्दी-साहित्य में जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' जी के शब्दों में 'बिहारी-सतसई' से अधिक टीकाएँ आज तक किसी अन्य ग्रन्थ पर नहीं लिखी गईं।

जिस प्रकार कबीर के पश्चात् अनेकों संत हुए, पद्मावत के पश्चात् प्रेम-काव्य लिखे गये, मानस के पश्चात् राम-साहित्य की रचना हुई और सूर-सागर के पश्चात् कृष्ण-साहित्य की झड़ी लगी, इसी प्रकार 'बिहारी-सतसई' के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में सतसइयों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों पर किसी-न-किसी रूप में 'बिहारी-सतसई' का प्रभाव पड़ा है। दोहे, सवैये और कवित्तों में रीतिकाल में जो साहित्य रचा गया उसमें होने वाली स्वच्छंद कविता का 'बिहारी-सतसई' प्रधान आधार रही है। बहुत से कवियों ने तो बिहारी के एक-एक दोहे पर कई-कई छन्द लिखे हैं। पं० पद्मसिंह जी ने अपनी तुलनात्मक समालोचना में इसके अनेकों उदाहरण दिये हैं।

'बिहारी-सतसई' का रचना-काल १६६२ ई० माना जाता है। ग्रन्थ में ७०० दोहे हैं, जो समय-समय पर लिखे गये हैं। राजा जयसिंह की आज्ञा से आपने इन सब दोहों को संग्रहित करके सतसई का रूप दिया—

> हुकम पाइ जयसिंह को, हरि राधिका प्रसाद।
> करी बिहारी सतसई भरी अनेक सँवाद॥

सतसई के दोहे इतने प्रभावशाली हैं कि एक जनश्रुति के अनुसार राजा जयसिंह नई-नई रानी से विवाह करने पर अपने राज्य के प्रति कर्त्तव्य को भुला बैठे थे। हर समय महलों में ही रहने लगे थे और राज्य-कार्य में हानि होने लगी थी। उस

समय कवि ने निम्नलिखित दोहे की रचना की, जिसे पढ़कर राजा राजमहलों से बाहर निकल आये और उन्होंने अपने राज्य-कार्य को पूर्ववत् संभाल लिया।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसी प्रकार कवि ने अन्य बहुत से दोहे लिखे हैं। कहते हैं राजा जयसिंह प्रत्येक दोहे पर कवि को एक अशर्फी देते थे। बिहारी ने सतसई के दोहों में सातवाहन, गोवर्धनाचार्य और अमरुक आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं से भाव लिये हैं परन्तु उनमें इस प्रकार अपनापन ला दिया है कि पुरानी गंध भी शेष नहीं रह गई है। बिहारी ने उनमें बहुत चमत्कार-पूर्ण परिवर्तन किये हैं।

'बिहारी-सतसई' के दोहे व्यंजना-प्रधान हैं। इस प्रकार के काव्य को मुक्तक उद्भट-काव्य या सूक्ति-काव्य कह सकते हैं। जीवन और साहित्य को ध्यान में रखते हुए कवि ने चमत्कारात्मक काव्य की रचना की है। सतसई का प्रधान विषय शृंगार है। यत्र-तत्र भक्ति, दर्शन, नीति और ऐतिहासिक दोहे भी हैं परन्तु प्रधानता शृंगार की ही है। संत-साहित्य, भक्ति-साहित्य और रीति-काल तीनों काल के साहित्य की झलक हमें सतसई में देखने को मिल जाती है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों के दोहे साग में नमक की ही भाँति हैं और इस ग्रन्थ का आज जो कुछ भी साहित्य में मान है वह भी शृंगार के ही दोहों के कारण है। सतसई में ६०० दोहे शृंगार के हैं। नायिका-सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, नखशिख, हाव-भाव, अनुभाव, केलि-विलास सभी का सजीव-चित्रण इस ग्रन्थ में मिलता है। नेत्रों, हावों और अनुभावों के चित्रण में सूर के बाद बिहारी ही आते हैं। एक-एक दोहे में अनेकों भावों को सुन्दर ढंग से सजाना बिहारी साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। एक दोहा देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाय॥

प्रेम की भारतीय रीति का बिहारी को हम पण्डित मानते हैं। प्रेम की तन्मयता, उसमें लीन हो जाना, अपनत्व को उसमें खोकर बेबस हो जाना, इन सबका कवि ने सुन्दर चित्रण किया है। एक दोहा देखिए—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसनु लजात।
कहि है सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात॥

'बिहारी-सतसई' में सुन्दर शब्द-चयन, मधुर शब्द-योजना, उचित और भावपूर्ण शब्दों का प्रयोग, आनुप्रासिक शब्द-संग्रह, नाद-सौन्दर्यपूर्ण शब्द-संकलन बहुत व्यवस्थित मिलता है। इसमें बिहारी के अतिरिक्त अन्य कोई हिन्दी कवि सफल न हो पाया। बिहारी ने प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर किया है। एक दोहा देखिए—

चुवत सेदु मकरंद कन तरु-तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिन देस तो थक्यौ बटोही बाय॥

'विहारी सतसई' पर फारसी विरह-निरूपण का भी स्पष्ट प्रभाव है । नायिका का विरह में दुर्बल हो जाना, निश्वासों के साथ छः छः सात-सात हाथ आगे-पीछे झूलना, विरह-ताप में राधिका पर सखियों द्वारा शीत-काल में भी गुलाब-जल छिड़कवाना इत्यादि कल्पनाएँ विदेशी ही हैं ।

'बिहारी-सतसई' भाषा, भाव, चित्रण-सौन्दर्य प्रेम-चित्रण तथा हाव-भाव-वर्णन में अद्वितीय है । हिन्दी-साहित्य को इस रचना पर अभिमान है । भारत की अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं में 'बिहारी-सतसई' के समान रचना देखने को नहीं मिलती। साहित्य में यदि शृंगार और प्रेम का स्थान प्रधान है तो हिन्दी-साहित्य में 'विहारी-सतसई' का भी स्थान प्रधान ही रहेगा ।

संक्षिप्त

१. हिन्दी-काव्य में बिहारी-सतसई' का स्थानः विश्लेषण और शृंगार-वर्णन ।
२. सतसई में प्रकृति चित्रण तथा नायक-नायिका का प्रधान चित्रण ।
३. बिहारी की रसिकता, आचार्यत्व और कला-प्रियता ।
४. उपसंहार ।

साकेत पर एक दृष्टि

२३१. 'साकेत' बाबू मैथिलीशरण गुप्त का वह अमर काव्य है कि जिसमें उन्होंने एक ऐसे पात्र का चरित्र-चित्रण किया है जिसके प्रति आज तक हिन्दी-साहित्य सर्वदा ही उदासीन रहा । यों 'साकेत' में रामायण की पूरी ही कथा आ जाती है परन्तु उर्मिला का चित्रण कवि ने पूरे दो सर्गों में किया है । अयोध्या में प्रधानतया होने वाली घटनाओं को ही इस काव्य में महत्त्व दिया गया है इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम कवि ने 'साकेत' रखा है । राम के राज्याभिषेक से लेकर चित्रकूट में राम-भरत मिलन तक की कथा आठ सर्गों में चलती है । फिर नौ और दस सर्ग में उर्मिला के वियोग का नाना परिस्थितियों में कवि ने चित्रण किया है । कवि ने उर्मिला की अन्तर्वृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है ।

'साकेत' प्रबन्ध-काव्य है परन्तु यह कवि ने उस समय लिखना प्रारम्भ किया था जब उनकी प्रवृत्ति गीत-काव्य की तरफ हो चली थी । मुक्तक कविताएँ गीतों के रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्दर प्रविष्ट हो चुकी थीं और कविवर मैथिलीशरण जी भी उस धारा के प्रवाह से अपने को न बचा सके । गीतों के इसी बहाव के कारण कवि के 'साकेत' में वैसी प्रबन्धात्मकता नहीं आ पाई जैसी कि इस ग्रन्थ के लिए आवश्यक थी ।

'साकेत' में उर्मिला का विरह-वर्णन एक विशेष चीज है, जिसमें कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक-चमत्कार के साथ सजीव वर्णन किया है । आज की गीतात्मकता, नवीन वेदना और लाक्षणिक-वैचित्र्य वाली कविताओं ने साकेत की कविता में प्राण फूँक दिये हैं । 'साकेत' की उर्मिला विरह में पागल होकर भी आदर्श और कर्त्तव्य

को नहीं भुलाती। जब स्वप्न में उसे लक्ष्मण सामने खड़े दिखाई देते हैं तो वह प्रसन्न नहीं होती, बल्कि कह उठती है—

> प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
> हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे !

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से मांडवी और भरत के सम्मुख वर्णन कराई गई हैं। यह कथा बहुत रसात्मक और रोचकता के साथ कही गई है। कवि ने हिन्दी-काव्य में रामायण के पात्रों में चरित्रों का जो आदर्श पुराने समय मिलता है उसे निभाने और उसी में आधुनिकता की पुट देने का सफल प्रयत्न किया है। किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, राज्य की व्यवस्था में प्रजा का हाथ, सत्याग्रह, मानवता के अटल सिद्धान्तों के अनुसार विश्वबंधुत्व इत्यादि पर कवि ने प्रकाश डाला है। कवि ने ग्रन्थ में आधुनिकता लाने का भरसक प्रयत्न किया है।

समय और काल के अनुसार उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं के साथ प्रणालियों को ग्रहण करते हुए चलना मैथिलीशरण की विशेषता है। इसीलिए साकेत का लेखक इस काल का प्रतिनिधि कवि कहलाया है। साकेत में कवि ने बहुत साफ और सुथरी भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में माधुर्य लाने के लिए कवि ने बंगभाषा के कवियों का अनुसरण किया है। "साकेत गुप्त जी की सामंजस्यवादी रचना है, मद में झूमनेवाली रचना नहीं।" इस काव्य में सभी प्रकार की उच्चता प्राप्त होती है। सरसता, सरलता और माधुर्य की त्रिवेणी के संगम पर इस ग्रन्थ की सृष्टि हुई है और यही कारण है कि इसकी प्रत्येक पंक्ति से रस टपकता है। जिस समय चित्रकूट पर सीता जी बहाने से लक्ष्मण को उर्मिला के पास झोंपड़ी में भेज देती हैं और लक्ष्मण सहमकर लौटने लगता है तो कवि ने उर्मिला के मुँह से कितने सुन्दर शब्दों में प्रेम-रस प्रवाहित कराया है—

> मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी।
> मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी॥

'साकेत' के लक्ष्मण और सीता 'रामचरितमानस' के लक्ष्मण और सीता नहीं हैं। जिस मर्यादा का पालन कवि तुलसीदास ने किया है वह बन्धन गुप्त जी ने ढीले कर दिये। 'साकेत' के पात्र आज के पात्र हैं, जिनमें सीता भाभी हैं और लक्ष्मण उसका देवर, फिर क्यों न उनमें कहीं-न-कहीं हास्य का, उपहास का और व्यंग्य का पुट आ जाय ? कवि ने कवि-कल्पना के आधार पर भाभी और देवर का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। इस चित्रण में भारतीय आदर्शवाद को भी हाथ से नहीं जाने दिया है और वर्तमान सामाजिक दृष्टि में भी लाकर कवि ने अपने काव्य के पात्रों को खड़ा कर दिया है। 'साकेत' को पढ़कर हम केवल कल्पनाओं और आदर्शवाद में ही नहीं घूमते वरन् दुनिया के महान् चरित्रों की कलात्मक कल्पना भी करते हैं।

'साकेत' का नायक हम राम को न मानकर लक्ष्मण को मान सकते हैं; क्योंकि इस ग्रन्थ में प्रधान चित्रण लक्ष्मण और उर्मिला का ही है। परन्तु लक्ष्मण के चरित्र का विकास राम के ही साथ हो सकता है इसलिए राम के महत्त्व को भी कम नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की सेवा-भावना और त्याग का कवि ने बहुत सुन्दर चित्रण किया है। 'साकेत' की कैकेयी 'मानस' की कैकेयी से भिन्न है। 'साकेत' की कैकेयी को अपनी भूल ज्ञात होने पर बहुत खेद होता है। 'साकेत' अपने ढंग का अकेला महाकाव्य है। इसमें स्थान-स्थान पर गीत और छन्दों की अनेकरूपता होते हुए भी प्रबन्धात्मकता को कवि ने खूब निभाया है। घटनाओं का तारतम्य 'साकेत' में कवि ने बहुत सुन्दर दिया है।

खड़ीबोली-साहित्य का यह प्रथम महाकाव्य है जिसमें हम राम-भक्ति-शाखा की वर्तमान प्रगति के दर्शन करते है। इसमे खड़ीबोली का मँजा हुआ स्वरूप है जिसमें माधुर्य के साथ-साथ अलंकारशास्त्र की भी पूरी निपुणता प्राप्त होती है। कवि ने इस काव्य में अपनी कला, पाण्डित्य और भावुकता का सुन्दर सम्मेलन प्रस्तुत किया है। यह इस युग की वह अनुपम देन है जो हिन्दी साहित्य से एक अमर रचना बनकर आई है और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जायगा, हिन्दी के पाठकों में इसकी सर्वप्रियता बढ़ती ही जायगी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की यह वह प्रतिनिधि रचना है जिसके आधार पर एक कवि को पूर्ण-रूप से समझा जा सकता है।

संक्षिप्त

१. यह खड़ीबोली का प्रधान महाकाव्य है जिसमें उर्मिला के चरित्र का सुन्दर विकास कवि ने किया है।

२. इस ग्रन्थ का नायक हम राम को न मानकर लक्ष्मण को मानते हैं।

३. 'साकेत' के लक्ष्मण और सीता 'रामचरितमानस' के राम और लक्ष्मण नहीं हैं, उनसे भिन्न हैं।

४. 'साकेत' की कैकेयी और 'मानस' की कैकेयी में भी बहुत अन्तर है।

५. 'साकेत' भाषा, भाव, कथा, साहित्य और अलंकारशास्त्र सभी विचारों से बहुत सुन्दर ग्रन्थ हैं।

६. ग्रन्थ में चरित्र-चित्रण कवि ने बहुत सुन्दर और आधुनिक ढंग से किया है।

७. उपसंहार।

कामायनी पर एक दृष्टि

२३२. 'कामायनी' हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान युग की एक सुन्दरतम देन है। कवि 'प्रसाद' ने हिन्दी-साहित्य को कामायनी देकर क्या कुछ नहीं दिया? 'कामायनी' की कथा कवि ने वैदिक उपाख्यान से ली है। इस काव्य का नायक आदि

पुरुष मनु है और ग्रन्थ में यह चित्रित किया गया है कि नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा किस भाँति हुई और मानवता के सर्वथा नूतन-युग का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ ?

नायक मनु महा-प्रलय से बचकर चिंतित बैठे हैं कि इसी समय काम-गोत्र की पुत्री श्रद्धा (कामायनी) से उनका परिचय होता है। श्रद्धा और मनु साथ रहने लगते हैं। श्रद्धा मनु में मानवीय संस्कार पैदा करना चाहती है परन्तु मनु में दैवी संस्कार जागृत हो जाते हैं, और वह यज्ञ, बलि इत्यादि के लिए शिकार करने लगता है। श्रद्धा माता होनी है और उसका प्रेम बँट जाता है; इससे मनु के मन में ईर्ष्या होती है और उसका मन उचाट हो जाता है। वह श्रद्धा को छोड़कर चल देता है सारस्वत देश की रानी इड़ा से उसकी भेंट होती है। इड़ा देवों की बहन थी और मनु के अन्न से पली थी, परन्तु मनु इस भेद से अनभिज्ञ थे। इड़ा को ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सारस्वत प्रदेश के राज-कार्य को सँभाल सके और मनु ने उसे सँभाल लिया। राज्य ने उन्नति की। मनु राज्य-सत्ता पाकर सन्तुष्ट नहीं हुए और उनका मन इड़ा की तरफ दौड़ने लगा। मनु प्रमाद में बलात्कार पर उतारू हो गये। इधर देव भी क्रुद्ध हुए और प्रजा ने विद्रोह कर दिया। मनु युद्ध में घायल होकर बेहोश हो गये। दूसरी ओर श्रद्धा स्वप्न में मनु की इस दशा को देखकर अपने बच्चे को ले उनकी खोज के लिए चल देती है। श्रद्धा बेहोश मन को अनेक उपचारों द्वारा वहाँ आकर होश में लाती है। मनु फिर श्रद्धा की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु उनका मन उन्हें धिक्कारता है और वह फिर भाग निकलते हैं। इड़ा भी दुखी है और वह श्रद्धा से उनका पुत्र माँगती है। श्रद्धा इड़ा को लोक-कल्याण का उपदेश देकर अपना पुत्र उसे दे देती है और स्वयं मनु की खोज में चल देती है। एक घाटी में मनु से उसकी भेंट होती है। मनु अपनी भूल समझ चुका है। वह श्रद्धा का अनुसरण करता है और उसके पीछे-पीछे संसार के विविध रूप देखता हुआ एक ऊँचे स्थान पर पहुँच जाता है। यही ऊँचा स्थान कैलाश है। एकात्म्य की अनभूति यहाँ पहुँचकर मनु को होती है और विराट नृत्य के दर्शन होते हैं। वहाँ जीवन के सब रहस्य आनन्द में लय हो जाते हैं।

प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को पूर्ण रूप से संवादों में रखकर काव्य की रचना की है। व्यष्टि और समष्टि रूप से जीवन की क्रमिक भावनाओं में से होकर जीवन का विकास कवि ने किया है। 'कामायनी' में किसी भी तत्त्व की सीधी व्यंजना न करके प्रतीकात्मक रूप से की गई है। आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या में कवि ने ऐतिहासिकता का आधार लिया है। 'कामायनी' के सब शीर्षकों के अन्तर्गत उन शीर्षकों के भाव तथा उनसे सम्बन्धित भावनाओं का विश्लेषण कवि ने बहुत रोचकता के साथ किया है। मानव-जीवन की सब भावनाओं का क्रमिक विकास 'कामायनी' में मिलता है। प्रथम सर्ग 'चिन्ता' है सो मानव-जीवन के प्रारम्भ में चिन्ता है भी अनिवार्य। चिन्ता समाप्त होने पर मानव के जीवन में आशा का उदय

होता है। आशा के स्वर्णिम प्रभात का कवि ने बहुत सजीव चित्रण किया है। आशा के पश्चात् 'श्रद्धा' जीवन में आती है और श्रद्धा के मिल जाने पर 'काम' का प्रभाव होता है। कितने सुन्दर क्रमिक विकास के साथ कवि चल रहा है? 'काम' के पश्चात् वासना' और फिर 'लज्जा' जीवन का प्रधान गुण बनकर आ जाती है। इसी समय जीवन में 'कर्म' की प्रधानता होती है और साथ-ही-साथ नासमझी के कारण 'ईर्ष्या' भी होने लगती है। 'ईर्ष्या' से मानव पथ-भ्रष्ट हो जाता है और वह अन्धा होकर उचित-अनुचित को भूल जाता है। वहन उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है परन्तु वह मदांध है। मदांध होकर उसे टक्कर खानी पड़ती है परन्तु 'श्रद्धा' उसे फिर आकर सँभाल लेती है और शांति का मार्ग दिखलाती है। यह जीवन का क्रमिक विकास है जिसमें चिन्ता, मिलन, वासना, संघर्ष, क्लेश, शांति सभी कुछ कवि ने निहित किया है। मानव के विकास की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति 'कामायनी' में मिलती है। हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का यह अकेला ही ग्रन्थ है और अन्य साहित्यों में भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आता। मानव-सृष्टि का उदय, विकास और उसकी चर्म सिद्धि इस ग्रन्थ में मिलती है। कवि ने 'कामायनी' की रचना बुद्धि तथा अध्यात्म दोनों ही की पृष्ठभूमि पर की है। 'कामायनी' में शैव-तत्त्व ज्ञान की प्रधानता है। सृष्टि का प्रारम्भ, उसकी स्थिरता और उसका निर्वाण सब कुछ आनन्दमय है। शिव विश्व के चिरमंगल का कर्त्ता है। एकान्त-प्रेम और मंगल में भी शिव की कल्पना करनी होती है। 'कामायनी' में मनु का प्रकृति के साथ महान् सामंजस्य स्थापित किया है।

'कामायनी' एक महाकाव्य है क्योंकि इसमें मानव-जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या मिलती है। जीवन की नाना परिस्थितियों का उत्थान और पतन 'कामायनी' में मिलता है। इसमें एक ऐसे नायक का चरित्र-चित्रण किया गया है जो मानव जाति का नायक है, जिससे मानवता का उदय होता है। 'कामायनी' विश्व के सम्मुख एक आदर्श भी प्रस्तुत करती है और इतिहास भी। 'साहित्य-दर्पण' के मतानुसार महाकाव्य की कथा कल्पित न होकर ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होनी चाहिए और उसका नायक एक देवता है। यह गुण भी 'कामायनी' से मिलता है। महाकाव्य-शृंगार, वीर या शान्त रस-प्रधान होना चाहिए और उसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहिएँ। इसी दृष्टि से तो 'कामायनी' एक उच्च कोटि का महाकाव्य ठहरता है। 'कामायन' में संध्या, सूर्योदय, रात्रि, प्रातः, अंधकार, वर्षा इत्यादि के सुन्दर चित्रण हैं। संयोग और वियोग-शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

'कामायनी' में चरित्रों का विकास बहुत सुन्दर हुआ है। 'श्रद्धा' काव्य की नायिका है और वह मनु को भी 'शक्तिशाली और विजयी' बनाने का आदेश करती है। 'कामायनी' इड़ा और मानव को भी इसी प्रकार संदेश देकर कहती है—

तुम दोनों देखो राष्ट्र-नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति।

समस्त ग्रन्थ में श्रद्धा का चरित्र प्रधान है। एक प्रकार से मानव-चरित्र का भी उदय और विकास श्रद्धा के ही सम्पर्क में आकर होता है। श्रद्धा इस प्रकार इस महाकाव्य की आधार है—

'कामायनी' शृंगार तथा शान्त-रस प्रधान है। 'वासना'-सर्ग में शृंगार का सुन्दर चित्रण दिया गया है। सयोग और वियोग की आधुनिक गीतात्मक शैली में चित्रण है। नायिका और नायक एकान्त में मिलते हैं और प्रेमालाप होता है। 'कर्म' के अंतिम छंदों में शृंगार का बहुत सुन्दरतम् स्वरूप कवि ने प्रस्फुटित किया है।

'कामायनी' में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है। जल-प्लावन में प्रकृति के पाँचों तत्त्वों का संघर्ष कवि ने दिखलाया है। देखिए प्रातःकाल और रात्रि के अंतिम प्रहर का कितना सुन्दर चित्रण कवि ने किया है—

> **उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी-सी उदित हुई;**
> **उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।**
> **नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग;**
> **सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।**

इसी प्रकार प्रकृति का चित्रण बहुत सजीवता के साथ कवि ने किया है। प्रकृति को मानव-जीवन के साथ-साथ तथा स्वतंत्रता से, दोनों प्रकार कवि लेकर चला है। मानव-प्रकृति का बहुत सुन्दर चित्रण 'कामायनी' में मिलता है। 'कामायनी' के १५ सर्गों में कवि ने शृंखलाबद्ध कथा के अंतर्गत प्रकृति, मानव-प्रकृति और काव्य-गुणों का सुन्दर समावेश किया है। 'कामायनी' में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का प्रधानतया प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हमने 'कामायनी' की संक्षिप्त विवेचना करके देखा कि उसमें कवि ने दर्शन, शास्त्रीय-विवेचना, महाकाव्य विषयक सिद्धान्तों, चरित्र चित्रण, बुद्धिवादिता, प्राकृतिक चित्रण इत्यादि सभी गुणों का बहुत कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। 'कामायनी' कवि की वर्तमान युग की काव्य-धारा का वह प्रतीक है जिसमें वर्तमान गीतात्मकता, जिसे छायावाद कहा जाता है, उस वाद की सम्पूर्ण सृष्टि मिलती है। 'कामायनी' वर्तमान युग के काव्य का वह दर्पण है जिसमें पाठक हर प्रकार की छाया का प्रतिबिम्ब देख सकता है।

संक्षिप्त

१. 'कामायनी' में मानव के क्रमिक विकास का चित्रण कवि ने किया है।

२. 'कामायनी' में महाकाव्य होने के सब गुण वर्तमान हैं।

३. 'कामायनी' में प्रकृति तथा मानव दोनों का ही सुन्दर चित्रण कवि ने किया है।

४. 'कामायनी' में दर्शन और बुद्धिवाद दोनों को ही लेकर कवि ने काव्य में

काव्यात्मकता के साथ निभाया है ।

५. 'कामायनी' आज के कविता-काव्य का प्रतीक है ।

६. उपसंहार ।

'सेवासदन' पर एक दृष्टि

२३३. 'सेवासदन' मुंशी प्रेमचंद जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है । इसमें एक वेश्या का चरित्र-चित्रण उपन्यासकार ने बहुत कलात्मक ढंग से किया है । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज सुधार पर विशेष बल दिया है । अपने इसी आदर्श को सम्मुख रखते हुए लेखक ने इस उपन्यास का भी निर्माण किया है । उपन्यास में चरित्रों का चित्रण लेखक ने विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के साथ किया है और ऐसे सुन्दर चरित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं कि वह वास्तविक-से ही जान पड़ते हैं । वेश्याओं के बाजार में लेखक अपने पाठकों को ले जाता अवश्य है परन्तु उनकी भावनाओं को इतना संतुलित करके रखता है कि कलुषित होने की हवा तक भी नहीं लगने देता । पाठक के सामने पद्मसिंह या विट्ठलदास ही रहते हैं । सदन या भोली के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति नहीं उत्पन्न होने पाती । कालिदास कपूर एम. ए. एल. टी. लिखते हैं—

"वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाश्रम का अधःपतन होता है । 'सेवासदन' में कही गई कहानी के द्वारा उसके उद्धार की रीति बताई गई है । । इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य यही है । परन्तु इसके प्रत्येक पात्र के चरित्र से एक-न-एक शिक्षा मिलती है । कृष्णचन्द्र सच्चे हैं, परन्तु उन्हें अपने सत्य को देश की दहेज-प्रथा-रूपणी भीषण दुर्देवी के चरणों में बलिदान करना पड़ता है । अपनी दुलारी और शिक्षिता लड़की के विवाह के लिए दहेज की रकम जुटाने को वह रिश्वत लेते हैं, पकड़े जाते हैं, कैद भुगतते हैं । घर मटियामेट हो जाता है । एक लड़की निर्धन वर के गले मढ़ी जाती है, दूसरी दासी होकर अपना समय काटती है, इसी मानसिक क्लेश का शिकार बनकर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है । इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चन्द्र ही का सत्य टिक सकता था । जेल से लौटने पर कृष्णचन्द्र के चरित्र का अच्छी तरह पतन हो गया है । लेखक महोदय बहुत देर तक उनको हमारे सामने नहीं रहने देते । विपत्ति-सागर में दो-चार और गोते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं ।

कृष्णचंद का-सा शोकमय अन्त और किसी का नहीं हुआ । बाकी चरित्रों के चित्रण में कहीं आनन्द है, कहीं शोक और कहीं विप्लव परन्तु अन्त शान्ति-पूर्ण है । इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है ।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यास का गौरव है । उसी में उपन्यास के प्राण हैं । सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बट्टा लग जाता तो

उपन्यास किसी काम का न रहता। लेखक महाशय उसे पढ़ा-लिखा कर, और शारीरिक सुख का शौकीन बनाकर, पंद्रह रुपये महीने पर नौकर एक अधेड़ ब्राह्मण से ब्याह देते हैं। चरित्र-चित्रण में सुमन को एक बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है, वह पतिव्रता है सही, परन्तु आत्म-गौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निबाहने नहीं देती। इधर वह देखती है कि समाज में पतिव्रता की कोई कदर नहीं। घर के सामने ही यह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े-बड़े धर्मज्ञ करते हैं पर उसके लिए इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नीच सिपाही के हाथ से भी बचा सके। पति महाशय (गिरजाधर जी) क्या करें ? पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वह कुछ और ही समझे। एक दिन आग लग ही तो गई, सुमन गृहिणी के उच्च पद से गिर गई।

परन्तु अभी कुछ और पतन होना बाकी है। दूसरे दृश्य में उसे हम दालमण्डी के एक कोठे पर देखते हैं। यदि लेखक महाशय ज़रा भी चूक जाते तो सुमन के पतन की पराकाष्ठा हो जाती। मदनसिंह के प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है, परन्तु पतित नहीं होने पाती। इसके पहले ही समाज-सुधारक बिट्ठलदास उसके उद्धार के लिए पहुँच जाते हैं पर उसका उद्धार नहीं होता। विधवा-आश्रम में उसको बहुत शीघ्र लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों को पड़ना, शान्ता की विपत्ति, उसके भावी श्वसुर मदनसिंह का विरोध—इसमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लिए काफी था। परन्तु लेखक उसको हर तरफ से बचाकर अन्त में 'सेवासदन' की संचालिका का पद तक देते हैं। सुमन ने अपने ही को नहीं उपन्यास को भी गिर जाने से बचा लिया।

स्त्री-पात्रों में यदि प्रधान चरित्र सुमन का है तो पुरुष-पात्रों में पद्मसिंह का लोहा मानने योग्य है। कथा-प्रसंग में वह कुछ देर बाद दिखाई देते हैं परन्तु फिर वह दृष्टि के सामने से नहीं हटते। पद्मसिंह एक साधारण समाज-सुधारक हैं। विचारों के बहुत ऊँचे हैं, हृदय के बहुत कोमल हैं, परन्तु हैं दब्बू। ऐसे पुरुष लेख चाहे जितने लिख मारें, वक्तृताएँ चाहे जितनी झाड़ आयें परन्तु मौका पड़ने पर रहेंगे सबसे पीछे। नाच के बड़े विरोधी, परन्तु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे। इसका उन्हें बहुत प्रायश्चित भी करना पड़ा—न यह नाच होता और न सुमन घर से निकाली जाती। वह बिट्ठलदास की शरण लेते हैं। परन्तु उससे पद्मसिंह की नहीं बनती। जैसे वह कर्म में कच्चे हैं वैसे ही बिट्ठलदास विचार में कच्चे हैं। चन्दा वसूल करने में कठिनाई, वारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों द्वारा विरोध, इधर घर में मदनसिंह की ज्यादती, उधर सुमन की बहन शान्ता के साथ मदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढीले पड़ गये। परन्तु विचार-शक्ति में कमी नहीं पड़ी। उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने भी अपना विचार प्रकट किया है कि वीर-नारियों को निकाल देने से ही सुधार नहीं हो जायगा। क्यों न उनको और उनकी सन्तान को अच्छे मार्ग पर लाने

का प्रयत्न किया जाय ? इस विचार को विट्ठलदास 'सेवासदन' के रूप में परिणत करते हैं। परन्तु पद्मसिंह के हृदय में अन्त तक भय की सत्ता बनी रहती है। झेंप के मारे वह सेवासदन में नहीं जाते, कहीं ऐसा न हो जो सुमन से चार आँखें हो जायँ।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं। परन्तु लेख बढ़ जाने के भय से हम उसका वर्णन न करेंगे। सरल शान्ता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अन्त में, सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना बदा था। चचला परन्तु पतिव्रता सुभद्रा, अनेक आपदायें झेलकर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के संन्यास-आश्रमी अवतार गजानन्द, अन्त में बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबारकर शान्ति प्रदान करते हैं। पुराने विचार के देहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिगड़े हुए नवयुवक मदनसिंह का पतन और अपनी ही मेहनत द्वारा उद्धार, म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों में से कोई गान-विद्या और हिन्दी का शौकीन है, किसी को अंग्रेजी बोले बिना चैन नहीं किसी के दुर्व्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन सब के लिए उपन्यास में स्थान हैं, सबके चित्र देखने को मिलते हैं, सबसे किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटाकर यदि वह उसके उद्देश्य की ओर प्रेरित की जाय तो एक बहुत बड़ा सामाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवासदन' जिसकी झलक हम इस उपन्यास में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष देखना भी नसीब होगा ? प्रश्न कठिन है। शहरों की आबादी दिन पर-दिन बढ़ती जा रही है। इस काम को नगरपालिकाओं के भरोसे छोड़ देने से सफलता होने की नहीं। देखें, हमारी व्यवस्थापक-सभाएँ इस प्रश्न को क्योंकर हल करती हैं। लेखक के विचार यदि उपन्यास के बहाने पाठक जनता पर कुछ भी असर करें तो समाज एक बुरे रोग से मुक्त हो जाय।

उपन्यास में दोष दिखाने के लिए बहुत कम स्थल हैं। मुसलमान पात्रों की उर्दू बहुत क्लिष्ट है। यदि सरल हो सकती तो बहुत अच्छा था। टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ ही लिख दिये जाते तो पाठकों को बहुत सुविधा हो जाती।

संक्षिप्त

१. 'सेवासदन' प्रेमचन्द जी का सुन्दर उपन्यास है।

२. उपन्यास में लेखक ने वेश्या का चित्र उपस्थित करके भी समाज-सुधार की ओर पाठकों को आकृष्ट किया है।

३. उपन्यास का चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर और मार्मिक है।

४. भाषा में कुछ उर्दूपन अधिक है, यदि कुछ कम होता तो अच्छा था।

५. यह हिन्दी का अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है।

'प्रेमाश्रम' समालोचना के क्षेत्र में

२३४. 'प्रेमाश्रम' सेवासदन के पश्चात् मुंशी प्रेमचन्द जी का दूसरा उपन्यास है। 'प्रेमाश्रम' में उपन्यासकार ने किसी एक चरित्र का निर्माण नहीं किया वरन् अनेकों चरित्रों का निर्माण किया है। प्रेमचन्द जी चरित्र-चित्रण-कला में इतने प्रवीण थ कि कहीं पर भी उनके चरित्र-चित्रण में शिथिलता देखने को नहीं मिलती।

'प्रेमाश्रम' में समाज के साथ-साथ लेखक ने राजनीति के क्षेत्र में भी पदार्पण किया है। देश-प्रेम-भावना से उपन्यास के प्रधान पात्र ओत-प्रोत होकर चलते हैं। समय की प्रायः सभी प्रचलित विचारधाराओं का समावेश हमें इस उपन्यास में मिलता है। समाज और राजनीति की प्रतिनिधि विचारधाराओं को लेकर ही उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास की रचना की है और यही कारण है कि 'प्रेमाश्रम' को पढ़कर उस समय का प्रत्यक्ष चित्र पाठक के नेत्रों में झूलने लगता है। 'प्रेमाश्रम' के विषय में 'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचन्द जी के उपन्यासों को देखकर अंग्रेजी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरत कह सकते हैं कि यह स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यासों को आप सामाजिक कहते हैं। आपको अंग्रेजी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज ईलियट, थैकरे या डिकेंस—इसके तथा रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परन्तु प्रेमचन्द जी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनको उठाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद प्रेमचन्द जी से अधिक निपुण हों, परन्तु इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, उतना कल्पना का विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हँसे या कुढ़े परन्तु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुन्दरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है और पीछे किसी भावी भारत की छाया। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाय?

प्रेमचन्द जी के देहाती झगड़ों के करुणाजनक चित्रण में बहुत सफल हुए हैं। यों तो राय कमलानंद, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डा० इर्फान-अली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं, परन्तु उनका अस्तित्व देहात पर

ही है। सुक्खू, विलासी, मनोहर, बलराज, क़ादिर मियाँ—वे सब तो पूरे देहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिये। शायद किसी और समय, देहाती और बेगार, मुकदमेबाजी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १६२१ का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अन्दर जितना आन्दोलन और राजनैतिक ज्ञान देहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारण रूप से ५० वर्ष में पहुँचता।

'प्रेमाश्रम' हाजीपुर का दूसरा नाम है, परन्तु उपन्यास की नींव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी जैसे पंचों के सरपंच क़ादिर मियाँ जैसे नरम देहाती नेता, मनोपुर के से अक्खड़ किसान, बलराज जैसे उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में मिलते हैं। उनके प्रभाशंकर कैसे जमींदार थे, जो अभ्यागतों के सम्मान में अपनी इज्ज़त समझते थे, आसामियों के प्रति सहानुभूति थी और उसके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था; ऐसे जमींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परन्तु इधर पाश्चात्य सभ्यता के साथ मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। जिन जमींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अँगरखा या मिर्ज़ई पहनते थे, उनकी सन्तानों के लिए मोटर की सवारी, लम्बी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। देहात की उन्नति कौन करता, इज़ाफ़ा और बेदख़ली का अत्याचार होने लगा।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ़ उन पर अत्याचार है जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने जमींदार पर हाथ नहीं लगाया। इसीलिए अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अंग्रेज हाकिम अच्छे होते हैं। परन्तु इधर प्रभाशंकर का बुढ़ापा, जमींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और इधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग। ज्ञानशंकर ने हर तरफ़ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया; बस, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव हुआ।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक और नायिका है या नहीं? यदि है तो कौन है, और नहीं है तो क्यों नहीं है?

यह तो हम मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिका हैं ही नहीं। यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। इस

उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है। गायत्री भी विद्या के समान तुच्छ मालूम पड़ती है। परन्तु हैं ये ही उपन्यास के नायक और नायिका। ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है। एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नई रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है; यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है। उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया है। जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने से उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अन्तरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक देख पड़ती है, परन्तु फिर परदा गिर जाता है। और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखलाई देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनन्दमय बना सकेगा, परन्तु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमनसाहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह का स्वाभिमान, राय कमलानन्द की निष्काम संसार-परता, सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। परन्तु किस लिए ?

उपन्यास के दो अंग हैं। एक सामाजिक, दूसरा राजनैतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए है। पर इन दोनों में एक-एक प्रधान पात्र भी हैं। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनैतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इजाफे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक बड़ी भारी जमींदारी की मालकिन अवश्य है। उसके प्रबन्ध के लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है परन्तु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है। उसे नहीं मालूम होता कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अन्धकारमय गढ़ा दिखाई देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिन्दू-विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में। जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृत रूपी फल हैं। कुछ मित्रों का ख्याल है कि प्रेमशंकर में गांधी जी की छाया है। इस लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो नहीं कर सकते, हमें तो इस पात्र में महर्षि टाल्स्टाय के चरित्र की छाया दिखलाई पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या-क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभारा। परन्तु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये हैं। उन्हें साम्यवादियों

के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी, गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गई, उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिए भी उनको आत्मा को क्लेश होना है। पर वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते, लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श जमींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया, उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दण्ड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे, इसलिए लेखक ने इनका अन्त ही कर दिया। सुक्खू चौधरी बैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इर्फ़ानअली ने वकालत छोड़ दी और डा० प्रियानाथ एक सर्वप्रिय डाक्टर हो गये; यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी सुश्रुषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था, सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी हो गया।

और भी पात्र हैं। गाँव में अत्याचारी अंग्रेजी नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू की गौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु धोखा खाते हैं और उन्हें स्तीफा देना पड़ता है। गौसखाँ का भी वही अन्त हुआ जो अत्याचारी जिलेदारों का होता। मनोहर की उद्दण्डता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी, परन्तु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालिग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतन्त्रता है, वह किसी में नहीं, क्योंकि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं तो वह भविष्य का बोल्शेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहणी विलासी इनके झगड़ों को शान्त करने का प्रयत्न करती रहती है, पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रोपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती। इस विप्लव के शान्त होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज एक्सिलेंसी गुरदत्त राय चौधरी और भावी जमींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख-भोग करते हुए दर्शन देते हैं।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानन्द का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक-विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अन्तर नहीं आता। इनकी भोग-क्रियाएँ इसीलिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक भोग कर सकें। इनका आत्म-बल इतना प्रखर था कि

ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका, परन्तु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र भी उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिन्दू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में जटिल समस्या की कमी नहीं आई, और जब उस पर कष्ट पड़ता है तो लेखक उसे बरदाश्त करने योग्य न समझकर उसका अन्त ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यहीं अन्त होना था। श्रद्धा के सामने पहले से ही धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है। पर प्रेमशंकर के चरित्र का अन्त में उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की शृंखलाएँ ढीली पड़ गईं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिलकर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

पात्रों का अवलोकन करके अब लेखन-शैली पर विचार कीजिए। प्रेमचन्द जी की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिन्दी ही रहती है, पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बदलता रहता है। 'प्रेमाश्रम' में देहाती पात्र भी हैं, इसलिए उनके काम में आने वाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिसवत, सरबस, मुद्रा, मसक्कत, मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब देहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ़ करतार की बिगड़ गई है। यह ठेठ गँवारू है और जितने देहाती हैं उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही जाता है।

प्रेमचन्द जी ने अपनी लेखन-शैली में 'इनवर्टेड कॉमाज़' का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिन्दी में इनवर्टेड कॉमाज़ नहीं थे। वार्त्तालाप में पात्र का नाम और उसके बाद बस कॉमा आ गया। कोई आन्तरिक विचार हुए या कोई लम्बी बातचीत हुई तो इसकी आवश्यकता नहीं।

मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएँ उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों की तरह दर्शन देती चली जाती है।

यह उपन्यास अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है जिसे लिखकर उपन्यासकार ने हिन्दी-साहित्य-निधि के कोष को भरा है। यह उपन्यास हिन्दी-साहित्य के उन उपन्यासों में से है जिन्हें लेकर हिन्दी साहित्य अन्य भाषा के उपन्यासों में सगर्व खड़ा हो सकता है और उसके सम्मुख अपनी महत्ता प्रस्तुत कर सकता है।

संक्षिप्त

१. प्रेमाश्रम समाज और राजनीति दोनों की समस्याओं के आधार पर भारत की १६२१ की डायरी है।

२. प्रेमाश्रम में किसी एक पात्र का विकास न होकर समाज के विविध अंग-प्रत्यंगों के साथ विविध पात्रों का विकास हुआ है।

३. उपन्यासकार की भाषा मँजी हुई और सर्वसाधारण की समझ में आने वाली है, परन्तु हिन्दी होते हुए भी उसमें उर्दू के शब्द बहुत हैं।

४. उपन्यास में वर्त्तमान का चित्र और भविष्य की सुन्दर कल्पना है।

५. लेखक सब प्रकार से अपने आदर्श में सफल रहा है और जो आदर्श वह प्रस्तुत करना चाहता है उसे उसने पूर्ण-रूप से प्रस्तुत किया है।

रंगभूमि पर एक दृष्टि

२३५. रंगभूमि मुन्शी प्रेमचंद का चौथा उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत के अन्दर कल-कारखानों का उदय और ग्रामीण उद्योगों का पतन दिखलाया है। शहर और ग्रामों की यह समस्या उस समय पश्चिमीय देशों में समाप्त हो चुकी थी और पूर्वी देशों में चल रही थी। कारखानों के प्रताप से ग्राम शहर में परिवर्तित होते जा रहे थे और उसी के विपरीत विद्रोह की भावना को लेकर उपन्यासकार ने रंगभूमि की रचना की है। इसी समय भारत में गांधी जी अपनी चर्खा-प्रणाली का प्रचार कर रहे थे। इस चर्खे के प्रचार के साथ-साथ चल रहा था महात्मा गांधी का असहयोग-आन्दोलन। यही कारण था कि यह गांधी जी की चर्खा विषयक प्रस्तावना सम्पत्ति-शास्त्र-वेत्ताओं को उतना आकृष्ट न कर सकी और देहातों में चर्खे इत्यादि की योजनाएँ अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सकीं। भारत के देहाती बराबर कल-कारखानों के चक्कर में फँसते रहे। सरकार ने समाज को सहयोग नहीं दिया और न ही देहाती उद्योग-धंधों को। जिसका स्पष्ट फल यह हुआ कि देहातों में जो बचे-खुचे देहाती धंधे थे वह भी समाप्त होने लगे और कलों का प्रचार भारत में बढ़ने लगा। अंग्रेजी कारखानों में बनी हुई कलों को बेचने के लिए भारत का बाजार खुल गया और भारत का रुपया विलायत को जाने लगा। रंगभूमि सरकार की इस नीति के विरुद्ध उस काल में एक खुला हुआ विद्रोह था। साथ-ही-साथ भारत की राजनीति को यह एक सुझाव भी था।

रंगभूमि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विषय में कालीदास कपूर एम. ए. लिखते हैं—

"विनय और सोफ़ी के चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक हैं। मनुष्य और स्त्री की प्रेम-भावना में क्या अन्तर है? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमोपासना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश से लालसा के पाताल तक है और स्त्री का उससे उलटा, लालसा के पाताल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा हो तो चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माता जाह्नवी की कृपा से। सोफ़ी के प्रेम-पाश में फँसकर उसमें अधर्मता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम से गिरकर इन्द्रिय भोग की लालसा में अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है। सोफ़ी का दूसरा ही हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अबला है परन्तु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरांगना बना देता है। उपन्यास के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

प्रेमचंद जी ने भारतीय स्त्रीत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र खींचा है। मनुष्य लालसा और लोभ के वश तो कर्मण्य रहते हैं परन्तु आदर्श उन्हें अकर्मण्य और

आलसी कर देता है। स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में फँस जाती हैं; पर अपना धर्म नहीं खोतीं।

प्रेमचन्द जी देहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं। सेवा-सदन प्रेमाश्रम और रंगभूमि में प्रेमचन्द जी का प्रेम शहर से देहात की ओर अधिक है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' की भांति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है। पर साथ ही वास्तविक लखनपुर की भी पूरी व्याख्या की है। 'रंगभूमि' का पाँडेपुर 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर है। 'रंगभूमि' में वह हृदय-विदारक दृश्य है कि कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करते हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं। इसकी सूरदास ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी। "सरकार बहुत ठीक कहते हैं। मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोज़गारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, कसाबियाँ भी तो आकर बस जायँगे। परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधर्म होगा? देहात के किसान अपना काम छोड़कर नौकरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँवों में फैलाएँगे। देहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धर्म बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है, यही रौनक यहाँ हो जायगी। बजरङ्गी और जगधर के मकान मिट गये, सूरदास को झोंपड़ी के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। परन्तु यह दृश्य उतने कष्टमय नहीं हैं जितना कि वह जिसमें देहात के नवयुवक घीसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है. धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाये प्रसन्न नहीं होता।" इस उपन्यास पर देहात के जीवन का साम्राज्य है। नायक और नायिकाएँ शहर के हैं, पर वे देहात पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। 'रंगभूमि' में देहाती जीवन के विनाश का करुणामय दृश्य है। क्षेत्र काशी से उदयपुर तक है। उपन्यास के पात्र देशी और विदेशी, देहाती और शहर के—गाँव का नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में देहात के जीवन का चरित्र है। देहातियों की सरलता, धर्म-भीरुता, साहस, सहन-शक्ति, प्रकृति, घरेलू झगड़े, संगठन-शक्ति इन सबका प्रतिबिम्ब सूरदास में मिलता है।

'सेवासदन' में देहात के उदय, 'प्रेमाश्रम' में उसके मध्याह्न और रंगभूमि में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा, दूसरे में आशा और निराशा, दोनों का मेल, और तीसरे में अंधकार और निराशा, रंग-भूमि में करुणा की पराकाष्ठा है। इस उपन्यास का हास्य भी करुणा से घिरा हुआ है।

प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उसमें रंग भरते-भरते आप थक जाते हैं, तब झट उनका गला घोंट डालते हैं। 'सेवासदन' में कृष्णचंद नदी में डूबकर आत्महत्या करता है, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री

पहाड़ से गिरकर जान देती है और रंगभूमि में विनय पिस्तौल द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढंग दोषपूर्ण मालूम होता है। आत्महत्या की नीति तथा धर्म-शास्त्र दोनों में निषेध है और धर्म और नीति दोनों की अवहेलना करना न कवि के लिए योग्य है और न उपन्यास-लेखक के लिए। उपन्यास-लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है, परन्तु इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध हो उसका लेखक द्वारा सम्मान किया जाय।

इतना सब कुछ होते हुए भी प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का महत्त्व कम नहीं होता, प्रेमचन्द जी जोशी की प्रेमचन्द के प्रति आलोचनाओं से सहमत नहीं है। यह उपन्यास क्षणभंगुर नहीं है। हिन्दी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद, अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि कभी हो, और यूरोप के विद्वान् प्रेमचंद की रवीन्द्रनाथ ठाकुर और टाल्स्टाय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपन्यास भी कुछ महत्त्व रखते हैं। प्रेमचन्द जी का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिकेंस और टाल्स्टाय को यूरोपीय साहित्य में प्राप्त है। भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित बंगाल की अट्टालिकाओं में है। उनका हृदय देहात में है, किसान के टूटे-फूटे झोंपड़ों में है। हरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है। अनावृष्टि से अन्न सूख जाता है। उस हृदय का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवाद-पात्र है। अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है। जिस समय यह समझेंगे कि कोई साहित्यिक ऐसा भी हुआ था कि जिसने उस समय अपने जीवन की अनुभूतियों को हमारी झोंपड़ियों में लाकर बिठलाया था और हमारा उस समय का चित्रांकन करके आनन्द लाभ लिया था, जब देहाती असभ्य समझे जाते थे, तो वह काल प्रेमचन्द के विकास का काल होगा, तब उनके उपन्यासों के पात्र भारत के भाग्य-विधाता बनकर अपने पूर्वजों को सम्मान के उच्चतम आसन पर बिठलाकर उसकी पूजा करेंगे।

संक्षिप्त

१. भाषा और भाव की दृष्टि से 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा यह उपन्यास अधिक परिपक्व अवस्था में है।

२. इसमें लेखक ने ग्रामोद्योग और कल-कारखानों का संघर्ष दिखलाया है।

३. इसमें पात्रों का सुन्दर चित्रण है, यह भाषा मांजल है। यह उपन्यास करुणा-प्रधान है जिसमें ग्रामों के पतन का चित्रांकन लेखक ने किया है।

४. उपसंहार।

गोदान पर एक दृष्टि

२३६. प्रेमचन्द जी की सब रचनाओं को जब हम क्रम से पढ़ते हैं तो हमें उन का जीवन तथा साहित्य सतत परिवर्तनशील दिखलाई देता है। उसका आशावादी

दृष्टिकोण धीरे-धीरे ठेस खाकर यथार्थवाद की ओर बढ़ा है और जीवन के अंत तक पहुँचकर वह स्पष्ट रूप से यथार्थवादी हो गया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर भी भारतीय आदर्श को भुलाना मुंशी प्रेमचन्द जी नहीं सीखे थे। प्रेमचन्द जी का अंतिम उपन्यास 'गोदान' है, जिसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर आपने पात्रों की परिस्थितियों में और परिस्थितियों को पात्रों के हाथों में खूब कलाबाजी खिलाई है। 'गोदान' लिखते समय लेखक उपन्यास लिखने बैठा है; आशावादी स्वप्नों के फूल खिलाने नहीं। राम-राज्य की स्थापना करने का उद्देश्य उस समय उसके सम्मुख नहीं है। वह यथार्थ जीवन को चित्रित करता है। समस्याएँ आती भी हैं तो बहुत स्वाभाविक रूप में आती हैं, लेखक द्वारा आदर्श-पूर्ति के लिए निर्मित नहीं की जातीं। जीवन के सजीव चित्र लेखक ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, निर्बल और कठपुतली के समान नहीं। 'गोदान' का 'होरी' 'रंगभूमि' के 'सूरदास' की भाँति जीवन में सफल न होकर ही भारतीय ग्रामीण जीवन के यथार्थवादी दृष्टिकोण को निखरे रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। 'गोदान' में कठोर सत्य पर आशावादी चादर डालकर सुख-स्वप्नों की कल्पना करने का प्रयास प्रेमचन्द ने नहीं किया। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ग्रामीण जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन की भी उपेक्षा करके नहीं चले हैं। 'होरी' के संघर्षमय जीवन के साथ-साथ शहरी पात्रों का आमोद-प्रमोद, थियेटर और शिकार का भी सजीव चित्रण किया गया है, जिससे पाठक यथार्थवाद के जाल में फँसकर ऊब नहीं उठता और उसका मनोरंजन प्राप्त करने वाली आकांक्षाओं को ठेस भी नहीं लगती। एक ओर भारतीय समाज की दैनिक दशा लेखक ने ग्रामीणता के चित्रण द्वारा प्रस्तुत की है और नागरिक अहंकार के साथ-साथ, सांस्कृतिक विकास जिसे कहते है, समाज-सेवा, शिक्षा-प्रचार, नाच-रंग और इसी प्रकार की प्रसन्नता-वर्धक बातों को भी जुटाया है। इस प्रकार दो विपक्षी चरित्रों को लेकर लेखक ने समन्वय के साथ कथा और पात्रों के चरित्र-चित्रण का उत्कर्ष दिखलाया है। दोनों चरित्रों के आमने-सामने आजाने पर दोनों के गुण और दोषों का इतना निखरा चित्र सामने उपस्थित हो जाता है जितना पृथक्-पृथक् रहने पर वह सम्भव नहीं। वास्तव में यह उपन्यास दो पृथक्-पृथक् कहानियों को लेकर चलता है और वह दोनों कथाएँ एक-दूसरी से स्थान-स्थान पर कुछ मिल जाने पर भी पृथक् ही रहती हैं। दोनों कथाओं को उपन्यासकार ने आद्योपांत खूब निभाया है। कुछ प्रेमचन्द जी के आलोचक इन दो कथाओं के होने को उपन्यास का दोष भी मानते हैं, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते; बल्कि और उल्टी लेखक की कला-कुशलता का आभास हमें इसमें मिलता है। इस प्रकार 'गोदान' की कथावस्तु बिखरी हुई होने पर अपनी विशेषता रखती है और कहीं उसका सौंदर्य नष्ट नहीं होने पाता। 'गोदान' के चित्रण में लेखक ने निष्पक्ष भाव से काम लिया है। भविष्य की सम्भावनाओं के लिए वर्तमान का गला नहीं घोंटा गया। अपने काल से समाज का सजीव चित्रण इस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत किया है। 'ग़बन' का लेखक पात्रों को जीवन-पथ पर छोड़कर स्वयं

दृष्टा बन जाता है। 'होरी' अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार स्वयं अपना पथ-निर्माण करता है। परिस्थितियाँ उसे मिलती हैं और वह उनसे संघर्ष करता हुआ जीवन के पथ पर अग्रसर होता है। नियति के हाथों में खेलता है और अनथक परिश्रम करता हुआ जीवन के अन्त तक चला जाता है। ग्रामीण जीवन का खिलाड़ी 'होरी' परिस्थितियों के थपेड़े सहने में असमर्थ है; परन्तु नगर के रायसाहब, मिर्जा और मेहता को लेखक ने इतना निर्बल नहीं बनाया। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली है और उन पर परिस्थितियों का यदि आघात होता है तो वह परिस्थितियों से टक्कर लेने में भी समर्थ हैं। कहानी के विचार से ग्रामीण कहानी अधिक क्रमिक और सुगठित है। उसका विकास भी नगर की कहानी से अधिक सुन्दर और क्रम-बद्ध है। नागरिकों को कबड्डी खिलाना प्रेमचन्द जी की अपनी सूझ है, जिसका शहर के व्यावहारिक जीवन से कम सम्बन्ध है। 'होरी' के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय किसान-वर्ग का वह चित्रण किया है जिसमें किसान के अन्दर पाये जाने वाले सभी गुण और दुर्गुण वर्तमान हैं। समाज की मर्यादा को मानता हुआ वह ईश्वर से डरता है। गाँव के मुखियाओं का उत्पीड़न वह अपनी परिस्थितियों को देखकर सहन करता है। धर्म के ठेकेदारों का अत्याचार सहन करता हुआ भी 'झुनिया' को घर में आश्रय देता है, सम्मिलित परिवार में छोटे भाई 'हीरा' और 'शोभा' को पुत्रवत पालता है, अलग होने पर भी उनका मान-अपमान होरी का अपना मान-अपमान है। भाई द्वारा अपनी गाय को जहर दिये जाने पर भी वह पुलिस द्वारा अपने भाई के घर की तलाशी लिवाने को सहन नहीं कर सकता। भाई के लापता हो जाने पर वह भावज की सहायता करता है। यह सब चरित्र के गुण होने पर भी वह महाजन के सामने झूठी क़सम खा सकता है, सन को गीला करके भारी बना देना और रुई में बिनौले मिला देना भी वह अनुचित नहीं समझता। अपने भाई के दो-चार रुपये भी वह दबा सकता है, यदि बाहरवालों की दृष्टि उस पर न पड़े। वह समाज से भय मानता है, अपनी आत्मा से नहीं। यह हैं होरी के जीवन के दोनों पक्ष, जिनके अन्तर्गत जीवन भर संघर्ष करता हुआ वह चलता चला जाता है। खानदान के मान के लिए वह महाजन का शिकार बना हुआ है और इस खोखले खानदान के मान में ही वह अपना सर्वस्व गँवाकर एक दिन कोरा मजदूर-मात्र रह जाता है। मजदूरी करते हुए उसे लू लग जाती है और वह बीमार पड़ जाता है। दशा बिलकुल बिगड़ जाने पर 'होरी' भाभी से गोदान करने को कहता है। धनिया सन बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थी उन्हें पति के मुर्दा हाथों में रखकर कहती है, "महाराज! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" और स्वयं चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। 'गोदान' का यही अन्त है। होरी का मृतक शरीर पड़ा है, धनिया मूर्छित पड़ी है और सूदखोर दातादीन अब भी हाथ पसारे पुरोहित बना सामने खड़ा है। 'गोदान' एक किसान की नीच साहूकार द्वारा शोषण की कहानी है। इस उपन्यास में सूदखोरों के भी वर्ग बताकर उपन्यासकार ने रख दिये हैं। झींगुरसिंह, दातादीन और

लाला पटेश्वरी यह सभी किसानों का रक्त चूसने के लिए जोंक के समान हैं। दुलारी साहूकारिन भी किसी से कुछ कम नहीं है। साहूकारों के अत्याचार के साथ-साथ जमींदार और सरकारी अफ़सरों की सख्ती का भी चित्रण 'गोदान' में किया गया है। बिरादरी के अत्याचारों का वर्णन प्रेमचन्द जी ने किया है और दिखलाया है किस-किस प्रकार शादी, ब्याह, मुण्डन, कर्ण-छेदन, जन्म, मरण सब पर बिरादरी का ही अधिकार है। बिरादरी द्वारा निर्मित कृत्रिम नियमों का उल्लंघन करने वालों को तो मानो वह कच्चा ही चबाने को तत्पर रहती है। उसके कृत्रिम नियम पालन करके आप चाहे जो कुछ भी पाप-कर्म क्यों न करते रहें बिरादरी आपके मार्ग में नहीं आती। 'दातादीन' एक चमारिन से फँसा हुआ होकर भी संस्कार कराता है और बिरादरी में मान का पात्र भी है। होरी पर बिरादरी आपत्तियों का पहाड़ ढहा देती है। ग्रामीण समाज शहरी समाज से अधिक कड़ा है और अपने नियमों का उल्लंघन कदाचित् सहन नहीं कर सकता। 'गोदान' में गोबर, सिलिया, दातादीन इत्यादि द्वारा सामाजिक बंधनों के विरुद्ध विद्रोह भी प्रेमचन्द जी ने प्रकट किया है। 'गोदान' में भारतीय संस्कृति का लेखक ने विशेष ध्यान रखा है और यह विशेषता उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मिलती है। लेखक को देश का अग्रदूत मानते हुए उन्होंने कहीं पर भी अपने आदर्श और मर्यादा को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनका विचार था कि लेखक पर समाज और देश का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। पाश्चात्य सभ्यता के भारत में बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध भी प्रेमचन्द जी ने प्रकाश डाला है और उसका हर प्रकार से खंडन किया है। उन्होंने पश्चिम के नारी स्वातन्त्र्य के प्रतिपादन पर भी प्रकाश डाला है। गृहस्थी-संचालन के मूल में प्रेमचन्द जी ने सेवा को प्रधान स्थान दिया है। आँख मींचकर नक़ल करना उन्हें पसन्द नहीं था। वैसे पश्चिमी सभ्यता से आदान-प्रदान की भावना को आपने प्रश्रय दिया है। नारी को वह भोग-विलास की उच्छृखल-सामग्री मात्र न मानकर गृह-स्वामिनी मानकर चलते हैं। गोदान में 'मालती' के जीवन में भारतीयता आजाने से भारतीय-संस्कृति की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। लेखक जिस मार्ग को उचित समझता है उसी मार्ग पर उसे ले जाता है। इस प्रकार 'गोदान' विशेष रूप से भारतीय सामाजिक-समस्याओं का स्पष्टीकरण है, जिसमें लेखक विशेष कलात्मक रूप से सफल हुआ है। यह लेखक की सबसे परिपक्व रचना है और इसमें उसने उपन्यास-साहित्य का उच्चतम उत्कर्ष उपस्थित किया है।

'प्रसाद' के कंकाल का समालोचनात्मक दृष्टिकोण

२३७. १९१९ ई० में जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कंकाल' की रचना की। 'कंकाल' उपन्यास में मानव-मंगल की कामना से प्रेरित होकर सामाजिक कुचक्रों से ग्रस्त कंकाल-मानव को 'प्रसाद' जी ने अपनी रचना का विषय बनाया। इस उपन्यास में मानव सामाजिक बंधनों से लड़ता है और उत्थान के लिए संघर्ष करता है। उपन्यास

की कथा के केन्द्र भारत के तीर्थ-स्थान हैं। धर्म-स्थानों पर धर्म की आड़ में मानव कितना कलुषित होकर अपनी प्रकृतियों का नग्न-नृत्य करता है इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में दिया गया है। 'देव निरंजन' कुम्भ के मेले के सबसे बड़े महात्मा होकर भी बाल्य-सखी किशोरी के यौवन पर फिसल पड़ते हैं। उनका व्यक्तित्व इतना कमजोर हो उठता है कि वह मानवी भूल की उपेक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं। महन्त बनकर वह संसार को धोखा दे सकते हैं परन्तु अपने को धोखा नहीं दे सकते। यह परिस्थिति वहाँ और भी गम्भीर हो उठती है जहाँ वह अपने पतन को दार्शनिक रूप देकर कहते हैं, "जगत् तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं वह भी माया हैं। हमारा जीव भी प्राकृत है, वह भी अपरा प्रकृति है, क्योंकि जब विश्व मात्र प्राकृत है तो इसमें अलौकिक अध्यात्म् कहाँ? यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।" पापी अपने पाप का भी सम्बन्ध खोज लेता है और उसकी सार्थकता सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार देव निरंजन का यह खेल पर-स्त्री 'किशोरी' और विधवा 'रामा' के गर्भ से 'विजय' और 'तारा' के जन्म का कारण बनता है। आदर्शवादी मंगलदेव 'तारा' को गर्भवती बनाकर विवाह के दिन भाग खड़ा होता है और 'तारा' पर दुश्चरित्रा माता की सन्तान होने का आरोप लगाया जाता है। समाज 'विजय' को 'घंटी' से विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। 'तारा' जैसी पवित्र लड़की को छोड़कर मंगलदेव 'गाला' से विवाह करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कंकाल' उपन्यास में समाज के मान्य कहलाने वाले वर्गों का खूब मज़ाक उड़ाया गया है और लेखक ने उनके झूठे घमंड और अभिमान की धज्जियाँ बखेरकर रख दी हैं तथा सामाजिक ढकोसले की जर्जरित दशा का खोलकर प्रदर्शन किया है। समाज ऊपर से जैसा दिखलाई देता है वास्तव में वह वैसा नहीं है। पाप की प्रति मूर्ति 'मंगल' धर्म का ठेकेदार बनकर धर्मध्वजा फहराता है। यह समाज के बाहरी रूप के दर्शन कराता है, अन्तरंग के नहीं। वहाँ समाज का धर्म नहीं पहुँचता। यह 'कंकाल' समाज के खोखलेपन की भयंकरता का द्योतक है। सामाजिक बन्धनों ने मानव की जो दुर्दशा की है उसका चित्रण 'विजय' और 'यमुना' के रूप में 'प्रसाद' जी ने साकार उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास सीधे-सादे और वर्णनात्मक शैली के हैं। उनमें इस गम्भीर व्यंग्य का नितांत अभाव है जो कंकाल में 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत किया है। 'गोदान' की शैली में कुछ व्यंग्य-चित्र प्रेमचन्द जी ने भी प्रस्तुत अवश्य किये हैं परन्तु 'कंकाल' आदि से अन्त तक व्यंग्य-प्रधान ग्रन्थ है, जिसके शब्द-शब्द में समाज के बन्धनों से टक्कर ली गई है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी ने इस व्यंग्य-परिपाटी को खूब सफलतापूर्वक निभाया है। घटनाओं और संवादों, सभी में व्यंग्य बहुत परिपक्व अवस्था में प्रस्फुटित हुए हैं। किशोरी से निरंजन का प्रणय व्यंग्य का सुन्दर चित्र है। देवनिरंजन के मठ में संडे-मुस्टंडे पलते हैं और दीन भिखारी बाहर झूठी पत्तलों पर झपटते हैं। यह समाज का कितना विकृत रूप है? समाज के

यह दोनों ही अंग काट डालने योग्य हैं, जिसके नष्ट होने से समाज का कुछ अनर्थ नहीं हो सकता। इधर उपन्यास में 'प्रसाद' जी ने समाज का वह नग्न-रूप प्रस्तुत किया है जिसमें व्यक्ति की अवहेलना करके समाज ने पाखण्ड को प्रश्रय दिया है। ऊपर से साफ़-चिट्टा दिखलाई देने वाला समाज का दामन कितना गन्दा है। यह ज्ञान-दृष्टि से देखा जा सकता है? संवेदना और सुधार-वृत्ति से लेखक ने काम लिया है। व्यक्ति को परिस्थितियों के हाथों में डालकर व्यंग्य-चित्र खूब उपस्थित किये हैं। समाज के हाथों सताये हुए पीड़ित व्यक्ति के प्रति संवेदना प्रकट करके लेखक ने उस रहस्य का उद्‌घाटन किया है जो कि साधारण व्यक्ति की नजरों से ओझल रहता है। कुकर्मों पर पर्दा डालने वाले पापी समाज की दृष्टि में पाक-दामन वाले बने रहते हैं और दीन असहाय व्यक्ति की साधारण कमज़ोरियों पर समाज अपना न्यायदण्ड सँभालकर उन्हें सर्वनाश के गर्त में पहुँचाने से नहीं चूकता। सबल सबल है समाज के नियंत्रण के लिए भी और दुर्बल दुर्बल है समाज के चक्रों में फँस जाने के लिए। असहाय की साधारण भूल भी समाज की आँखों में किरकिरी बन जाती है और बलवान के महान्-से-महान् पाप को समाज मुस्कराता हुआ निगल जाता है। 'कंकाल' में 'तारा' और 'घंटी' पर समाज मनमाना अत्याचार करता है। प्रणय-दाम्पत्य की शिक्षा देने वाले नर-निशाचर द्वारा परित्यक्त होकर भी वह अन्याय को सहन करती है, मूक रहती है। पति को समझाने में समर्थ होने से पूर्व 'घंटी' पर समाज-वैधव्य का श्राप लाद देता है। यह समाज की विडम्बना नहीं तो और क्या है? 'कंकाल' के प्रायः सभी पुरुष-पात्र ऊपर से सज्जन प्रतीत होते हुए भी अन्दर से खोखले हैं। जितनी भी स्त्रियाँ हैं वह पुरुष द्वारा सताई हुई हैं। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी की संवेदना प्रधान रूप से नारी-जीवन के ही लिए विकसित हो पाई है। वह समाज से विशेष कुंठित-से प्रतीत होते हैं और कहते भी हैं, "देखो, समाज के इस पतित दलित अंग की ओर देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है? जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो मालूम होता कि वह उनसे भी महान् हैं जिन्हें तुम महान् समझते हो। जिन्हें तुम पतित समझते हो उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है, परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर उनसे छीन लिये हैं। मानव की परिस्थितियों और दुर्बलताओं को संवेदना के साथ समझने में ही मानव का उद्धार होगा। दैव ने विपत्ति नहीं बनाई है, समाज ने स्वयं अपने लिए काँटे बो लिये हैं, जिनको वह स्वयं ही नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रसाद' जी हमें समाज को प्रतारणा करते हुए प्रतीत होते हैं। कंकाल में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इन सब भेदों को मनुष्यकृत मान-कर उपहास की सामग्री मात्र लेखक ने बना दिया है। धार्मिक पाखंड और उच्चवर्गीय अभिमान के हाथों में मानव अपनी मानवता खोकर पशु बन जाता है और उसके जीवन की व्यापक संवेदना का ह्रास हो जाता है। मानव की पशु प्रवृत्तियाँ समाज और धर्म की इसी असमानता में जाग्रत होती हैं और फिर वह अपने लिए समाज के

किले में घुसने और पशु-बल प्रसार करने के लिए सुदृढ़ जाल रचने का प्रयत्न करता है। 'कंकाल' का मानव वह व्यक्ति है जो समाज के बन्धनों से मुक्त होने के लिए कराहता है चिल्लाता है और प्रयत्न करता है। मानव ने समाज का निर्माण स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए युग-युग के परिश्रमों के पश्चात् किया है। तब क्या मानव की स्वतन्त्रता के लिए इस प्राचीन सामाजिक गढ़ को यों ही रड़-रड़ करके धराशायी हो जाना चाहिए। यह बात नितांत असम्भव है। लेखक ने 'कंकाल' में उस समाज के सुधार की आशा की है। समाज व्यक्तियों से बनता है और व्यक्तियों को विकसित करने में सहायता देना समाज का धर्म है। आज आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति के विकास में बाधा-स्वरूप न बनकर सहयोग की भावना से आगे बढ़े और व्यक्ति के विकास में अड़चनें उपस्थित करने के स्थान पर सहयोग प्रदान करे। बाहरी आवरण के ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके अन्तर्आत्मा के निर्देशन पर चलने का प्रयास किया जाय। तभी समाज में क्रान्ति होने की आशा की जा सकती है।

'कंकाल' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। परिस्थितियाँ लेखक ने चरित्र-चित्रण के लिए प्रस्तुत की हैं। लेखक किसी विशेष अभिप्राय को लेकर चरित्र-चित्रण करना चाहता है। इसलिए कहीं-कहीं पर परिस्थितियाँ स्वाभाविक न रहकर कृत्रिम-सी प्रतीत होने लगती हैं। लेखक के हाथों में पात्र नाचते-से प्रतीत होते हैं। जब जैसी सुविधा होती है पात्र वहीं पर पहुँच जाते हैं। 'मंगलदेव' वहीं पर उपस्थित पाता है जहाँ 'यमुना' जाती है। स्थान-स्थान पर पात्रों का संयोग-मिलन अखरने लगता है और कथावस्तु की स्वाभाविक सरलता नष्ट हो जाती है। इस उपन्यास के पात्र इन अर्थों में सबल नहीं हैं कि उनका कुछ अस्तित्व नहीं है और उन्हें लेखक के संकेत पर कठपुतली बनना पड़ता है। पात्रों के सिर का भार लेखक ने अपने हाथों में रखकर पात्रों की सजीवता नष्ट कर दी है। यह ठीक है कि इस उपन्यास में उपदेशात्मक प्रवृत्ति नहीं है और चित्रण भी यथार्थवादी है, परन्तु यथार्थ का भी लेखक अपनी इच्छानुसार ही स्पष्टीकरण करना चाहता है। इस उपन्यास में कुछ विधिगत घटनाओं का भी समावेश 'प्रसाद' जी ने किया है। 'माला' को डाके का धन मिल जाना, निरंजन का महाधीश हो जाना, 'चन्दा' का 'श्रीचन्द्र' को आर्थिक सहायता देना इत्यादि घटनाएँ इसी प्रकार की हैं। 'प्रसाद' जी के यथार्थवादी दृष्टिकोण में कुछ आदर्श है और सुधार की भावना भी। वह अपभ्रचरण वाला यथार्थवाद के नाम पर व्यभिचार-वाद इसमें नहीं है और न ही 'उग्र' और 'चतुरसेन' वाला उच्छृंखलतावाद। यथार्थ-वाद के विषय में 'प्रसाद' लिखते हैं, "कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यह आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धान्त से इतिहासकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या कैसा था? किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकारक है, न धर्मशास्त्रप्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य

स्वतन्त्र हैं ।

साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है । साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उनमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है, दुःख-दग्ध-जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है । इस प्रकार 'प्रसाद' जी की यथार्थवादी और साहित्य-सम्बन्धी विचारधारा बहुत कुछ प्रेमचन्द की विचारधारा से मेल खाती है । 'निरंजन', 'किसोरी' और 'मंगल देव' के चरित्रों की कमजोरी दिखलाकर उनसे पश्चात्ताप कराने वाली भावना में विशुद्ध आदर्शवाद छुपा हुआ है और जहाँ तक उनका सही-सही चित्रांकन किया है, यही यथार्थवाद है । केवल यथार्थवाद के आश्रय पर पाठक को अपनी विचारधारा स्वयं निर्मित करने का अवसर न देकर आदर्शवादी लेखक स्वयं मार्ग सुझाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न 'कंकाल' में 'प्रसाद' जी ने भी किया है : प्रेमचन्द ने वेश्या का चित्रण 'सेवासदन' में किया है परन्तु कहीं पर भी कुरुचि को प्रश्रय नहीं मिला । उसी प्रकार इन सामाजिक धूर्तों का चित्रण करने पर भी कहीं 'प्रसाद' जी ने कुरुचि को साहित्य में नहीं आने दिया है । 'दिल्ली के दलाल' या 'दल्लाल' लिखने की प्रेरणा से 'प्रसाद' जी ने इन धूर्त-पात्रों का निर्माण नहीं किया, बल्कि सभ्य जगत के नेता बनने वाले पोंगा-पंथियों पर कटाक्ष करने के लिए इनकी रचना की है । लेखक के मस्तिष्क में एक महान् उद्देश्य है, समाज और व्यक्ति के उत्थान का । पतन की लोलुप-लालसा की पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं । एक मर्यादा का पालन हमें उपन्यास में आद्योपांत मिलता है । 'कंकाल' में अश्लीलता खोजना भूल है । लेखक ने अश्लीलता को प्रश्रय नहीं दिया परन्तु फिर भी यदि आलोचक इस प्रकार की आलोचना करते हैं तो मैं उसे केवल उनकी व्यक्तिगत मानसिक प्रवृत्ति मात्र ही कह सकता हूँ । 'प्रसाद' जी के उपन्यासों की भाषा नाटकों की भाषा से कुछ सरल अवश्य है परन्तु फिर भी वह उसमें अपनेपन को छुपाकर नहीं चल सकते । उसमें साहित्यिक प्रवाह अवश्य है, प्रेमचन्द जी का चलतापन नहीं ।

गढ़कुंडार पर एक दृष्टि

२३८. वृन्दावनलाल वर्मा जी के उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है, गढ़कुंडार में चौदहवीं शताब्दी के अन्दर बुन्देलखण्ड में होने वाली राज-नीतिक क्रांतियों का विवरण दिया हुआ है । वीरत्व के दुरुपयोग में किस प्रकार जुझौत के राजकुमार जूझ मरे, इसका चित्रण इस उपन्यास में है । सोहनपाल बुन्देला अपने द्वारा प्रवंचित होकर इधर-उधर भटक रहा था । उसके साथ उसकी स्त्री, पुत्र सहजेन्द्र, पुत्री हेमवती, मन्त्री और मन्त्री-पुत्र देवदत्त भी थे । खंगारों के राजा हुरमतसिंह के राजकुमार नागदेव ने हेमवती के सौंदर्य की कथा सुनी हुई थी । हुरिचंदेल की गढ़ी में जब यह परिवार ठहरा हुआ था तो नागदेव की उनसे भेंट हुई और यहीं पर वह हेमवती पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया । नाग ने सोहनपाल को सहायता का

आश्वासन दिया और सोहनपाल सपरिवार कुंडार चला गया। विष्णुदत्त पांडे कुंडार का शुभचिंतक ऋणदाता और उसका पुत्र अग्निदत्त नागदेव का परम मित्र था। इन सब के एक स्थान पर आ जाने से अग्निदत्त की बहन तारा दिवाकर को प्रेम करने लगी। अग्निदत्त और खंगार कुमारी मानवती में प्रेम था। मानवती का विवाह मंत्री गोपीचन्द के पुत्र राजधर से ठहरा। नागा ने समय पाकर हेमवती के सम्मुख अपना प्रेम-प्रस्ताव प्रस्तुत किया परन्तु अपने को जाति में ऊंचा समझने वाली राजकुमारी ने उसे ठुकरा दिया। जिस दिन मानवती का विवाह था उसी दिन रात्रि को अग्निदत्त अपनी बहन तारा का वेश बनाकर मानवती को भगाने के लिए उद्यत हुआ। दूसरी ओर नागदेव राजधर आदि को साथ ले हेमवती को उड़ा लेने के लिए तुल गये। दिवाकर की वीरता के कारण नाग को सफलता न मिल सकी। कुमारी को लेकर सहजेन्द्र और दिवाकर कंडार से भाग निकले। दूसरी ओर नाग ने अग्निदत्त को पहचान लिया और अन्त में उसे कुंडार छोड़ना पड़ा। अग्निदत्त बुन्देलों से मिलकर बदला लेने को तैयार हुआ। बल और छल दोनों का प्रयोग किया गया। हुरमतसिंह के पास सूचना भेजी कि यदि वह सोहनपाल को सहायता का वचन दे दें तो वह अपनी पुत्री दे सकते हैं। विवाह का निश्चय हो गया और विवाह के दिन खंगार मदिरा-मद में झूम उठे। जब वह नशे में मस्त थे तो बुन्देले उन पर टूट पड़े। खंगारों की शक्ति का सर्वनाश हो गया। मानवती की रक्षा करते हुए अग्निदत्त और पुण्यपाल मारे गये। सोहनपाल का मंत्री भी घायल हुआ। परन्तु कुंडार पर उनका राज्य स्थापित हो गया। दिवाकर जो कि इस छल-नीति का विरोधी था और वन्दीगृह में पड़ा था, तारा उसे जाकर मुक्त कर देती है और दोनों मिलकर जंगल की तरफ़ चले जाते हैं। इस उपन्यास में हुरमतसिंह, नाग, सोहनपाल, धीर विष्णुदत्त, पुण्यपाल और सहजेन्द्र इत्यादि ऐतिहासिक नाम हैं। सोहनपाल का अपना भाई द्वारा राज्य से निकाला जाना, विवाह आदि के प्रस्ताव, खंगारों पर मदिरा के नशे में आक्रमण करना और विजय इत्यादि करना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इस उपन्यास की इस प्रकार सभी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं परन्तु खंगार-वंश के विनाश के कारणों में मतभेद है। इस उपन्यास की प्रत्येक घटना को कल्पना का आश्रय देकर वर्मा जी ने सजीव और सुन्दर बनाया है। 'गढ़-कुंडार' का विषय युद्ध और प्रेम है। युद्ध का जितना भी विवरण उपन्यास में आया है वह अधिकांश इतिहास से सम्बन्धित है और रोमांचकारी प्रसंगों को वर्मा जी ने अपनी कल्पना के आधार पर प्रस्तुत किया है। नाग और हेमवती का प्रेम, अग्निदत्त और मानवती का प्रेम और तारा का दिवाकर से प्रेम, इस प्रकार प्रेम की तीन धाराएँ वर्मा जी ने इस उपन्यास में प्रवाहित की हैं। नाग के प्रेम-स्वरूप बुन्देलों और खंगारों का युद्ध हुआ और खंगारों का सर्वनाश भी। एकपक्षीय प्रेम किस प्रकार बड़े-से-बड़े विनाश का कारण बन सकता है इसका यह ज्वलंत उदाहरण है। अग्निदत्त और मानवती का प्रेम दोनों पक्षों की ओर से होने पर भी मानवती के प्रेम में दुर्बलता है, दृढ़ता का अभाव है। अग्निदत्त प्रेम के उन्माद में वेश बदलकर आता है, अपमानित

होता है, और मानवती मौन रह जाती है। यह साधारण लौकिक प्रेम है जिसमें आत्म-समर्पण की यथेष्ट कमी दिखलाई देती है। अग्निदत्त ने तो विशुद्ध प्रेम की मर्यादा का भी उल्लंघन कर डाला है और प्रेम को दुबका-चोरी का सौदा बना लिया है। दिवाकर और तारा का प्रेम आदर्श प्रेम है और दोनों पात्रों का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल है। प्रेम दोनों पक्षों में समान रूप से उत्पन्न हुआ, पनपा और पूर्ति को प्राप्त हुआ। कर्त्तव्य-निष्ठता दोनों ओर समान है और पवित्रता भी। 'गढ़कुंडार' एक बड़ा उपन्यास है जिसमें कितनी ही घटनाओं का समावेश है, कुछ ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक। उन्पयास के प्रकरणों के नाम मुख्य पात्रों अथवा मुख्य घटनाओं के नाम पर दिये गये हैं। घटनाएँ जितनी भी इस उपन्यारा में आई हैं वह सब सार्थक हैं और केवल उपन्यास का तूल बढ़ाने के लिए ही संगठित नहीं की गई हैं। घटनाओं का क्रम भी बहुत क्रमबद्ध और सुन्दर है। इस उपन्यास में बुन्देलखंड के वातावरण का यथा-तथ्य चित्रण लेखक ने किया है। वर्मा जी ने कुछ बुन्देलखंडी शब्दों का भी प्रयोग इस उपन्यास में किया है, जो उन शब्दों का सही अर्थ जानने वालों के नेत्रों के सम्मुख एक चित्र उपस्थित कर देते हैं। यदि उपन्यास के अन्त में वर्मा जी उन शब्दों की कुछ व्याख्या दे डालते तो पाठकों का पर्याप्त हित होता। जैसे 'भरका' और 'सूड़ा' शब्दों को पढ़कर उनका सही अर्थ समझ लेना सभी पाठकों के लिए बहुत कठिन है, 'गढ़-कुंडार' में पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत सजीव है और 'वर्गीय पात्र' तथा 'व्यक्तिगत पात्र' दोनों ही प्रकार के चरित्रों को लेखक ने इसमें बहुत कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। बुन्देला और खंगार जातियों के प्रतिनिधि पात्र अपनी-अपनी जाति के गर्व की सभी विशेषताओं को लेकर उपन्यास में आये हैं। जाति-गौरव के सम्मुख यह पात्र मर मिटना पसन्द करते हैं परन्तु आन को बट्टा लगाना पसन्द नहीं करते। बात की बात में रक्त बह निकलना और तलवारें खिच जाना इनके लिए खेल है, मजाक है। बुन्देलखंडी गौरव की रक्षा के लिए ही हेमवती अग्निदत्त का प्रेम-प्रस्ताव उस समय अस्वीकृत कर देती है जब कि वह और उसका समस्त परिवार, नाग का आश्रित है। इस प्रकार के वर्गीय पात्रों के प्रतीकस्वरूप हम सोहनपाल, पुण्यपाल, सहजेन्द्र, हेमवती इत्यादि को ले सकते हैं। खंगारों में हुरमतसिंह यह अनुभव करता है कि वह बुन्देलों से कुछ नीचा है, इसीलिए स्थान-स्थान पर क्षत्रिय होने का दावा करता है। यह भी वर्गीयता का ही प्रमाण और उसकी विशेपता है कि वह अपने अन्दर हलकापन अनुभव करता है। सोहनपाल, जबकि उसका आश्रित था, उस समय उसके घर पर आक्रमण करना, क्षत्रिय गुणों के विपरीत था। खंगारों का हलकापन इस कार्य से भी स्पष्ट हो जाता है। मानवती का प्रेम भी हलका है। खंगारों का मदिरा पीकर मस्त हो जाना और अपना सर्वनाश करा लेना भी उनके हलकेपन का ही द्योतक है। खंगारों में एक भी पात्र वर्मा जी को ऐसा नहीं जँचता जिसे कि वह पाठकों की सहानुभूति के योग्य बना डालते। व्यक्तिगत पात्रों में तारा और दिवाकर अपना विशेष स्थान रखते हैं और पुस्तक के अन्त में जाकर तो वह पाठकों के विशेष आकर्षण के पात्र बन जाते

हैं। इन दोनों का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा और प्रबल है। उन पर किसी अन्य व्यक्ति के जीवन का प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपना जीवन-मार्ग स्वयं निर्धारित करते हैं। तारा त्याग की मूर्ति है और वह जातीय बन्धनों से अपने को मुक्त करके दिवाकर को मुक्त कराती है। दिवाकर अपने पिता के भी विरुद्ध विचार रखकर कारावास की यातना सहन करना स्वीकार करता है परन्तु अपने सिद्धान्त से नहीं गिरता। दिवाकर अपने आदर्श का पक्का व्यक्ति है, जिसके भावुक हृदय में तारा के लिए महान् श्रद्धा और अगाध प्रेम है। तारा और दिवाकर का प्रेम विशुद्ध सात्विक और त्यागपूर्ण है। हरिचन्देल, अर्जुन कुमार और इब्नकरीम के चरित्रों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इस प्रकार उपन्यास के सभी पात्रों को लेखक ने पूर्ण विकास तक पहुँचाया है।

भारत के क्षत्रिय युग का खोखला मान-अपमान, अहंकार और गौरव-गरिमा-प्रवंचना की भावना का साकार चित्रण वर्मा जी ने गढ़कुंडार में किया है। व्यर्थ के जातीय अभिमान और गौरव में फँसकर मानव का रक्तपात करना और तलवारें लेकर जूझना इस इतिहास की आत्मा है। नाग का हेमवती के रूप पर रीझना स्वाभाविक ही है और अपना प्रस्ताव ठुकराये जाने पर उसे भगा लेजाने की भावना उसके हृदय में पैदा होना, खल-वृत्ति है। वह हेमवती को चोरों की भाँति हरण करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं विजातीय कन्या से प्रेम कर सकता है, उसे भगाने की बात भी सोच सकता है, और उसका सक्रिय प्रयत्न भी कर सकता है, परन्तु अग्निदत्त और मानवती के प्रेम को सहन नहीं कर सकता। यह उसके चरित्र की सब से बड़ी दुर्बलता है। नाग अग्निदत्त का अपमान कर डालता है और बाल-मित्रता का भी ध्यान नहीं रखता। यदि नाग हेमवती को प्रेम कर सकता है तो क्या कारण है कि अग्निदत्त मानवती को प्रेम न कर सके। इस प्रकार इस उपन्यास में संकीर्ण और व्यापक दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों को सजीव रूप दिया गया है। अग्निदत्त के रूप में प्रतिहिंसा का जो स्वरूप वर्मा जी ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक तथा यथार्थवादी है।

युद्धों का उपन्यास में अच्छा चित्रण है। दृश्य, संवाद और पात्रों की बनावट से विशुद्ध ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में वर्मा जी पूर्णरूपेण सफल हैं। उपन्यास के अन्दर सभी चित्रण बहुत सतर्कता से किये गये हैं। यह उपन्यास वर्मा जी की हिन्दी-साहित्य को एक अमर देन है जिसने प्रथम होने पर भी स्थायी प्रभाव हिन्दी के पाठकों पर डाला है। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य इस उपन्यास में मिलता है। इतिहास के साथ-साथ प्रेम के तीन सजीव स्वरूपों का जो चित्रण, वर्मा जी ने तीन धाराओं में प्रस्तुत किया है, वह बहुत आकर्षक है और पाठक के विशेष मनोरंजन का कारण बनता है। समस्त उपन्यास में न तो कहीं पर ऐतिहासिक तथ्यों से क्रम को ठेस लगने पाई है और न ही कठोर सत्य बनकर कहीं पर उपन्यास कोरा सूखा इतिहास मात्र बन गया है। कल्पना और सत्य को गलबहियाँ डालकर इस प्रकार नाटकीय ढंग से वर्मा जी ने चलाया है।

अध्याय १८

हिन्दी के प्रधान साहित्यिक और उनका साहित्य

कबीर-साहित्य का अध्ययन

२३१. संत कबीर का प्रादुर्भाव जिस काल में हुआ, उस समय देश के वातावरण में एक भारी उथल-पुथल थी। विभिन्न मत-मतान्तरों और धर्मों का प्रचार इधर-उधर उनके धर्मानुयायी कर रहे थे। मुसलमान अपना राज्य स्थापित कर चुके थे और हिन्दू तथा मुसलमान-धर्मों में प्रधान-रूप से संघर्ष चल रहा था। धर्म-परिवर्तन के लिए बल का प्रयोग किया जा रहा था और एक धर्मावलम्बी दूसरा धर्म अपनाने के लिए विवश किये जा रहे थे।

प्रत्येक धर्म के दार्शनिक पक्ष में भिन्नता पाई जाती थी। सुन्नियों और सूफ़ियों में भी परस्पर मनोमालिन्य कम नहीं था। हिन्दी कविता पर सूफ़ी-सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा और एक प्रेम-मार्गी धारा ही बह निकली। इस धारा के अंतर्गत बन्दे (आत्मा) और परमात्मा का मिलन प्रेम द्वारा कराया गया है। महाकवि जायसी का पद्मावत् काव्य इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हिन्दू धर्म में भी सम्प्रदायों की कमी नहीं थी। सभी के दर्शनों में कुछ-न-कुछ अंतर और मतभेद पैदा हो गया था। शाक्त शक्ति की उपासना करते थे और उनका विश्वास पंच-मकार (मत्स्य, माँस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा) में था। शैवों तथा वैष्णवों में भी पारस्परिक संघर्ष कम नहीं था। द्वैत और अद्वैत के पचड़े में लोगों को डाला जा रहा था। अद्वैतवादी 'जग-मिथ्या' कह-कह कर अपना प्रचार कर रहे थे। इनके अनुसार ब्रह्म और आत्मा में कोई भेद नहीं था, केवल जो भेद प्रकट हो रहा था वह मायाजन्य है। यदि मनुष्य ज्ञान के आलोक में देखे तो माया का जाल कट सकता है। ज्ञान द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का एकीकरण सम्भव है। इसी समय हठ-योग के आधार पर गोरखपंथियों का भी मत भारत में प्रतिष्ठा पा चुका था और उसके अनुयायियों की भी कमी नहीं थी।

यह तो थी भारत के धार्मिक क्षेत्र की परिस्थिति। परिस्थिति सामाजिक क्षेत्र की भी कुछ संतोषजनक नहीं थी। हिन्दू-समाज में जाति-पाँति और छूत-छात की बुराइयाँ आ चुकी थीं। मूर्ति-पूजा का प्रचार बढ़ चला था और वास्तविकता से लोग पीछे भाग रहे थे। जनता में धार्मिक ठेकेदारों ने भाँति-भाँति के अंधविश्वास फैला रखे थे और यही दशा मुसलमान जनता की भी थी। हिन्दुओं की

जाति-पाँति-व्यवस्था का उन पर भी प्रभाव कम नहीं हुआ और उनके भी आपस में कई दल बन गये।

ऐसी धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति में संत कबीर का जन्म हुआ। संत कबीर का साहित्य परिस्थितिजन्य है और उसमें समय की पूरी-पूरी छाप मिलती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह वीरगाथा का भग्नावशेष था और एक नवीन युग का सूत्रपात्र हो रहा था। भाषा का रूप भी बदल चुका था और वह जनता की प्रचलित भाषा का रूप धारण करती जा रही थी। केवल राजस्थान तक ही उसकी सीमा न रहकर अधिक व्यापक क्षेत्र में उसका प्रचार बढ़ता जा रहा था।

संत कबीर ने अपने साहित्य द्वारा हिन्दी में एक नवीन धारा की नींव-शिला की स्थापना की जिसे साहित्यकारों ने बाद में जाकर भक्ति-काल नाम दिया। आपका साहित्य मुसलमानों तथा हिन्दुओं में सामंजस्य स्थापित करने के निमित्त लिखा गया और आपने एकेश्वरवाद पर जोर दिया। आपने अपनी कविता में हिन्दू तथा मुसलमानों, दोनों पर ही, कसकर छींटे कसे हैं। आपने राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं माना। इन नामों की विभिन्नता में फँसकर लोग अपना अहित कर रहे हैं, पारस्परिक संघर्ष को बढ़ाकर जीवन की शांति को खो रहे हैं, यह उनके लिए खेद का विषय था। आप तो विभिन्न धर्मों को परमात्मा की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग मानते थे। आपने ईश्वर को सगुण और निर्गुण से परे मानकर दोनों विचारधाराओं के पारस्परिक मतभेद को मिटाने का प्रयत्न किया—

सरगुन निरगुन ते परे तहाँ हमारा ध्यान

आपने अपने साहित्य में, हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों में फैली हुई सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना की है। दोनों ही धर्मों के अंधविश्वासों का आपने खंडन किया है। मूर्ति-पूजा तथा जाति-पाँति के भेद-भावों के विपरीत आपने जी खोलकर लिखा है।

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जाका पीसा खाय॥

आप देवी-देवताओं, पीर-पैगम्बरों, मठ और माताओं इत्यादि पर नाक रगड़ने को मूर्खता मानते थे। तिलक, माला, चंदन इत्यादि में आपने ढोंग ही पाया। आपने अंतःकरण की शुद्धि पर बल दिया है। स्पष्ट शब्दों में आपने भक्तों को समझाया कि आप लोग—'कर का मनका छाँड़िकै मन का मनका फेर'। दिखावों की बातों में फँसना और उनके द्वारा जनता का अहित करना कबीरदास जी का सिद्धांत नहीं था। आपने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही धर्मों में फैली हुई भ्रांतियों तथा कुप्रथाओं का खंडन किया और सद्भावना के साथ जन-हित की भावना को साथ लेकर विभिन्न भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।

कबीर का दर्शन हमें उनके रहस्यवाद की भावना में मिलता है। रहस्यवाद के अंतर्गत आत्मा की अंतर्हित प्रवृत्ति शांति और निश्छल रूप से अपना सम्बन्ध परम-

पिता परमात्मा से स्थापित कर लेती है और इस प्रकार दोनों में कोई भेद-भाव नहीं रहता। आत्मा शुद्ध होकर इस स्थिति में इतनी पवित्र हो जाती है कि उसे अपने में और राम में कोई अन्तर नही प्रतीत होता। इसी स्थिति में कबीरदास जी कहते हैं—

> ना मैं बकरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गंडास में।
> ढूंढना होय तो ढूंढले बन्दे, मेरी कुटी मवास में॥

आपके रहस्यवाद में अद्वैतवाद और सूफ़ी प्रेमवाद का सम्मिश्रण मिलता है। अद्वैतवादी होने के नाते आपने माया को माना है और माया के बीच से हटाने पर आपने आत्मा और परमात्मा का मेल सम्भव गिना है। माया से आत्मा की मुक्ति केवल ज्ञान के आश्रय से हो सकती है। कबीर के साहित्य पर यह सूफी-धर्म का प्रभाव है कि उन्होंने परमात्मा को स्त्री-स्वरूप में और आत्मा को पुरुष-स्वरूप में देखा है।

अद्वैतवाद और सूफीमत के अतिरिक्त आपका साहित्य हठयोग की भी विभिन्न प्रकार की उक्तियों से भरपूर है। कबीरदास जी स्वयं हठयोगी थे या नहीं इसके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि उनका ज्ञान हठयोग के विषय में कुछ कम नही था। उनकी कविता में 'हठ-योग' की क्रियाओं का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। हठयोग के अनुसार नाड़ी, तत्व और गुणों को आधार मानकर आपने कई रूपक प्रस्तुत किये हैं। निम्नलिखित रूपक में शरीर का चादर मे मिलान किया गया है—

> झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
> काहे का ताना काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया?
> इंगला, पिंगला, ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।
> अष्ट कमल दल चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन बीनी चदरिया,
> साँई को बुनत मास दस लागै, ठौंक ठौंक कै बीनी चदरिया।

इस प्रकार आपका साहित्य धर्म, अध्यात्म, दर्शन और समाज के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखता है। विचारधारा के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी आपकी कविता कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आपकी भाषा प्रधानतया पूर्वी ही है परन्तु उसमें अवधी, खड़ी, ब्रज, बिहारी, पंजाबी और राजस्थानी की यहाँ-वहाँ पुट मिलती है। जहाँ तक छन्दों का सम्बन्ध है वहाँ तक पिंगल के नियमों का पालन नहीं दिखलाई देता। आपके छन्दों में विभिन्न प्रकार के दोष दिखलाई देते हैं। मात्राओं की कमी या आधिक्य और यति-भंग इत्यादि दोष से मुक्त तो शायद ही कोई छन्द हो। इनके अतिरिक्त आपकी भाषा भी सुसंस्कृत और परिमार्जित नहीं है, परन्तु इन दोषों के रहने पर भी आपके साहित्य में सरस-रस की धारा प्रवाहित होती है, और हृदय की भावना का प्रवाह बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है। आत्मा के संयोग और

वियोग-पक्ष को लेकर कवि ने संयोग तथा विप्रलम्भ का सुन्दर निर्वाह किया है। कहीं-कहीं पर भक्त की सूर से उपमा देकर वीर-रस भी प्रवाहित किया गया है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग कबीरदास की कविता में मिलता है।

इस प्रकार कबीरदासजी के साहित्य को हम हर दृष्टि से सफल और महत्त्व-पूर्ण समझते हैं। यह समय की आवश्यकता का साहित्य था जिसमें कवि ने अपने ज्ञान और सरसता का वह स्रोत प्रवाहित किया है कि जिसने भारतीय जनता के जीवन में सामंजस्य, सुख, शान्ति और सरसता का संचार करने का भरसक प्रयत्न किया। आपकी कविता में भक्ति-काव्य की दृष्टि से हार्दिक विदग्धता पाई जाती है और यह किसी प्रकार सूर तथा तुलसी-साहित्य से कम नहीं है।

तुलसी के साहित्य की सर्वांगीणता

२४०. प्राचीन काल में जब गद्य का उदय नहीं हुआ था तो कविता का नाम ही साहित्य था। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि साहित्य का अर्थ था 'कविता' जिसे समय-समय पर 'डिंगल', 'अवधी' और 'ब्रज-भाषा' में विविध शैलियों के अन्तर्गत लिखा गया। साहित्य के विषय भी इने-गिने थे। वीरगाथाएँ, भक्तिकाल में निर्गुण-भक्ति, सूफी प्रेम-साधना, राम-कृष्ण-भक्ति और रीति-काल में शृंगार। साहित्य में न नाटक लिखे जाते थे और न कहानी और उपन्यास; न निबन्ध लिखे जाते थे और न 'जीवनियाँ' या और अन्य किसी विषय का साहित्य ही। इसलिए इस काल के कवि की सर्वांगीणता देखने के लिए हम उसकी कविता के सीमित क्षेत्र पर विचार करेंगे। जयशंकर 'प्रसाद' के काल की सर्वांगीणता पर नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य में सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। तुलसीदास जी ने राम-भक्ति का विषय लेकर अपनी साहित्य-लहरी को प्रवाहित किया। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है उस काल में 'अवधी' तथा 'ब्रज' यही दो भाषाएँ हिन्दी की साहित्यिक भाषाएँ थीं। कविवर तुलसीदास का दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों ही भाषाओं को गोस्वामी तुलसीदास ने परिमार्जित और सुसंस्कृत रूप दिया। "हिन्दी-काव्य का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले-पहल दिखाई दिया।" सधुक्कड़ी भाषा में साहित्य का सृजन न करके तुलसीदास जी ने भाषा का संस्कार किया और भाषा को उच्च कोटि के साहित्य के योग्य बनाया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने काल की प्रायः सभी प्रचलित शैलियों का अपने साहित्य में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग किया है। आपकी रचनाओं में जहाँ तक सौंदर्य, निपुणता और काव्यात्मकता का सम्बन्ध है वह शैली-निर्माताओं से भी अधिक पाया जाता है। उस समय की प्रचलित काव्य-शैलियाँ थीं—(१) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, (२) विद्यापति और सूर की गीति-पद्धति, (३) गंग इत्यादि

भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, (४) कबीरदास की नीति सम्बन्धी दोहा-पद्धति और (५) जायसी इत्यादि की दोहा-चौपाई-पद्धति। इस प्रकार उस काल की यह पाँच प्रचलित शैलियाँ थीं, जिनमें कवि अपनी कविताएँ लिखकर साहित्य के भंडार को भर रहे थे। "तुलसीदास जी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी सर्वमुखी प्रतिभा के बल से सब के सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य-वाणी में दिखाकर साहित्यिक क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिन्दी-कविता के प्रेमी जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूर-सागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी सुसंस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्ण-गीतावली मे पाते हैं। ठेठ अवधी का जो मिठास हमें जायसी की 'पद्मावत' में मिलता है वही जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै-रामायण और रामलला-नहछू में मिलता है। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीदास जी की सर्वांगीणता इस ऊपर दिये गये आधार से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। अभी तक हमने शैली और भाषा पर ही विचार किया है। जहाँ तक शैली और भाषा का सम्बन्ध है हम तुलसीदास जी को साहित्य की समस्त प्रगतियों में पूर्ण सफलता के साथ साहित्य का सुन्दर और सुसंस्कृत रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। ब्रज और अवधी दोनों में रचना करने पर भी कभी भाषाओं में खिचड़ी हो जाने का दोष साहित्य में नहीं आ पाया है। साहित्यिक निर्मलता के साथ-साथ भाषा भी अत्यन्त निर्मल है।

साहित्य के सब अंगों का समान अधिकारी, महाकवि तुलसीदास, जीवन के सब अंगों से भी पूर्णतया परिचित था। जीवन के सभी पहलुओं पर कवि ने सुन्दर रूप से प्रकाश डाला है। बाल-काल, यौवन और वृद्धावस्था का चित्रण हमें मानस में मिलता है। बालकांड में बाल-काल, अयोध्याकांड में दशरथ की वृद्धावस्था की दशा और यौवन का तो चित्रण आद्योपांत मिलता है। जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने के साथ-साथ जीवन की विविध परिस्थितियों को भी कवि ने अपनी तूलिका द्वारा रंगा है। खेल, विवाह, वन-गमन, मिलन, बिछोह, आनन्द, कष्ट सभी भावनाओं का चित्रण कवि ने किया है। काव्य-शास्त्रों के प्राय: सभी गुण हमें तुलसीदास जी के साहित्य में मिलते हैं। नवों रसों पर आपने सुन्दर रचनाएँ की हैं। आपनें अनेकों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग अपनी रचना में किया।

हमने देखा कि भाषा, शैली और साहित्यिक दृष्टिकोण से महाकवि तुलसीदास का साहित्य सभी दिशाओं में पूर्णता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। अब साहित्य के विषय पर और विचार करना है। उस काल में साहित्य का विषय प्रधानतया भक्ति रहा है। भक्ति-क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम-भक्ति को अपनाया, परन्तु राम-भक्ति के साथ आपने सहिष्णुता से काम लिया और कृष्ण, शिव इत्यादि

सभी के प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इस प्रकार आपने भारत के प्रचलित सभी धर्मों में आपने साहित्य द्वारा सम्मिलन की भावना को प्रचारित किया, जिससे भारत का जो हित हुआ उसे यहाँ नहीं लिखा जा सकता। तुलसीदास के साहित्य ने भक्ति-क्षेत्र में जो कार्य किया वह जनसाधारण के दृष्टिकोण से वेद-शास्त्रों द्वारा किया भी प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार हमने पूर्ण-रूप से परखकर देख लिया कि भाषा, शैली, काव्यात्मकता और विषय के आधार से तुलसीदास जी के साहित्य में पूर्ण-रूप सर्वांगीणता पाई जाती है।

संक्षिप्त

१. हिन्दी भाषा के सभी रूपों पर तुलसीदास का समान अधिकार था।

२. साहित्य की सभी प्रचलित शैलियों में कवि ने सुन्दर रचनाएँ की हैं।

३. जीवन के सभी पहलुओं पर कवि ने प्रकाश डाला।

४. कवि ने धार्मिक विचारों में सहिष्णुता होने के कारण उसका भक्ति-विषय आज भी सर्व-प्रिय बना हुआ है।

५. कवि की सर्वांगीणता सभी क्षेत्रों में सम्पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है।

कवि सूर और उसका साहित्य

२४१. "सूर सूर तुलसी ससी उड्गन केशवदास" यह पंक्ति हिन्दी पढ़ी-लिखी जनता में बहुत प्रचलित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर पर गोस्वामी तुलसीदास को प्रधानता दी है, परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यह दोनों ही कवि हिन्दी-साहित्य के प्राण हैं। सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य के शिष्य, पुष्टिमार्गी-वैष्णव, भक्त थे। आपने अपने समस्त साहित्य में कृष्ण-लीलाओं का ही गान किया है। सूर-सागर, साहित्य-लहरी और सूर-सारावली सूरदास जी के यही तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। साहित्य-लहरी सूरदास जी के कूट पदों का संग्रह है, जो सभी सूर-सागर में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। सूरदास का हिन्दी-साहित्य में सूर्य अथवा चन्द्रमा होना सूर-सागर पर ही आधारित है।

सूर-सागर की कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार स्कन्धों में विभाजित है। पहले नौ और अन्तिम दो स्कन्ध भागवत से बिलकुल मिलते हैं। भागवत की सभी कथाओं का गान सूर-सागर में नहीं मिलता। कुछ कथाओं में कवि ने परिवर्तन भी कर दिया है। सूर-सागर के दशम् स्कन्ध में श्रीमद्भागवत की छाप अवश्य है, पर उसमें मौलिकता भी बहुत पाई जाती है। इस स्कन्ध में छन्दोबद्ध कथा के बीच-बीच में पद पाये जाते हैं। सम्भवतः पहिले कथा लिखी गई है और फिर स्थानानुकूल फुटकर पदों को कवि ने इस बृहद् ग्रन्थ में रख दिया है। यही कारण है कि इन पदों में अनेकों कथाओं की पुनरुक्ति मिलती है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में खंडित, फाग और मान इत्यादि के जो पद मिलते हैं उनका वर्णन श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता। वह पद

कवि ने स्वतन्त्र रूप से लिखकर बाद में सूर-सागर में रखे हैं।

सूर-सागर के दशम् स्कन्ध को सूर-साहित्य का दर्पण मानना चाहिए। सूर की बाल-लीलाओं में कालिय-दमन और इन्द्र-गर्व-हरण के चित्रणों में भी कवि की उत्तम-तम प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इन चित्रणों में कवि ने भागवत् की कथाओं का तथा कुछ नवीन कथाओं का बहुत मौलिक ढंग से चित्रण किया है। इन चित्रणों में मान-वीय भावनाओं का अलौकिक चित्रणों के साथ समावेश हुआ है।

सूर ने कृष्ण के बाल-लीला के जो लौकिक चित्र अंकित किये हैं, वह हिन्दी-साहित्य ही नहीं वरन् बाल-विज्ञान के पण्डितों का मत है कि अन्य साहित्यों में भी उनकी समानता नहीं मिलती। कृष्ण की बाल-लीला और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर की अमर निधियाँ हैं। उन्हें कवि ने अमूल्य रत्नों की भाँति सूर-सागर में सजाकर रखा हुआ है। "गोस्वामी जी ने भी गीतावली में बाल-लीला को सूर की देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार से दिया सही। पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-दर्शन की प्रचुरता रही।" —रामचन्द्र शुक्ल

बाल-चित्रण के कुछ नमूने देखिये—

१. सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुन चलत, रेनु तन मण्डित, मुख दधि लेप किये।
२. सिखवत चलत यशोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरे पैया।

'स्पर्धा' का देखिये कितना सुन्दर भाव है?

३. मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू तो कहती 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

सूर-साहित्य में जहाँ वात्सल्य का इतना सुन्दर चित्रण है वहाँ शृंङ्गार के भी दोनों पक्षों को खूब निभाया है। जब तक श्रीकृष्ण गोकुल में रहे उस समय तक उनका चित्रण शृंङ्गार के संयोग-पक्ष के अन्तर्गत आता है। बाल-लीला, माखन-लीला, रास-लीला इत्यादि पर अनेकों संयोग-पक्ष के पद कवि ने लिखे हैं। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ भागवत् से सूर ने ली हैं, परन्तु चीर-हरण इत्यादि लीलाओं में मौलिकता का अभाव नहीं है। राधा की कथा सूर की अपनी उपज है। राधा-कृष्ण के मिलन और विछोह की कथा में कवि ने शृंङ्गार का सुन्दरतम्-चित्रण किया है। भाव और विभाव दोनों पक्षों पर बहुत अनूठे और विस्तृत चित्रण सूर-सागर में मिलते हैं। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन के अनेकों ऐसे पद सूर-सागर में आये हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। नेत्रों के प्रति उपालम्भ का एक चित्र देखिये—

मेरे नैना विरह की बेल बई।
सींचत नैन-नीर के सजनी! मूल पतार गई॥

विगसति लता सुभाय-आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं सजनी, सब तन पसरि छुई॥

× × ×

देख री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन, मीन, मृगज, चपलाई, नहिं पटतर एक सैन॥
राजिवदल इन्दीवर, शतदल कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विगसत, ये विगसे दिनराति॥

कालिंदी-कूल पर रास का इतना मनोहर चित्रण कवि ने किया है कि उसे देखने के लिए देवता पृथ्वी पर उतर आये हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर तो गोपियों के विरह-सागर का वार-पार ही नहीं रहता। वियोग में वियोगिनी की जितनी प्रकार की दशा हो सकती है सभी का चित्रण कवि ने किया है। गोपियाँ कृष्ण को याद करती हुईं वृन्दावन के हरे-भरे बनों को कोसती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

वियोग-वर्णन में चन्द्रोपालम्भ का सुन्दर चित्रण मिलता है। इन चित्रणों में सूर ने नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। सूर की विशेषता है। कृष्ण-भक्ति-धारा में बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रहने के कारण केलि, विलास, रास, छेड़-छाड़, मिलन-विछोह, मान इत्यादि बाहरी बातों का ही चित्रण सूर-सागर में विशेष रूप से मिलता है। वियोग वर्णन में संचारियों का समावेश परम्परागत है, उनमें नवीन उपमाओं का अभाव है। आभ्यान्तर पक्ष का उद्घाटन सूर के भ्रमर-गीत में मिलता है। प्रेम-विह्वल गोपियों के हृदयों की न जाने कितनी भावनाओं का अनूठा चित्रण कवि ने भ्रमर-गीत में किया है ? भावनाओं का तो यहाँ समुद्र ही उँड़ेल दिया है। यह सूर-सागर का सबसे मर्मस्पर्शी भाग है। वाग्वैदग्धता भी इसमें पराकाष्ठा को पहुँच गई है। ऊध्व गोपियों को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करते हैं तो वह कहती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै, बूझति साँचि, न हाँसी।

इस प्रकार सूर ने भ्रमर-गीत में निर्गुण-उपासना का उपहास किया है और सगुणोपासना का प्रतिपादन। यह सगुण और निर्गुण के संवाद कवि के मौलिक हैं, श्रीमद्भागवत् में नहीं मिलते। सूर की कविता का जो मौलिक अंश है वह कवि की अलौकिक प्रतिभा का द्योतक है और शेष छन्दोबद्ध कथा में वह सौंदर्य नहीं आ पाया जो मुक्तक पदों में है। सूर की कविता में बहिर्पक्ष प्रधान रहते हुए भी अन्तरंग भावनाओं की कमी नहीं है और उनमें शृङ्गार के साथ भक्ति की ही महानता मिलती है। विद्यापति इत्यादि की भाँति रीति की नहीं। यह सूर की प्रधानता है। नायिका-भेद, परकीया, अभिसार इत्यादि विषयों पर सूर ने लेखनी नहीं उठाई। खंडिता का विचार करते समय भी कवि ने आध्यात्मिक पक्ष को ही प्रधानता दी है। कवि ने

काव्य-शास्त्र का प्रयोग भक्ति की पुष्टि के लिए किया है, उसे विषय मानकर नहीं। सूर के श्रृंगार में आध्यात्मिक पक्ष प्रधान होने के कारण सूर की गोपियों के चरित्र उतने विकसित नहीं हो पाये जितने ऐसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा होने चाहिए थे। राधा के प्रति उनमें ईर्ष्या होने के स्थान पर उल्टी वह राधा की सुन्दर छवि पर मोहित हो जाती हैं।

सूर-सागर में अलग से रखे हुए पद प्रतीत होने पर भी प्रबन्धात्मकता मिलती है। गीतात्मकता और प्रबन्धात्मकता का सुन्दर सम्मिश्रण हमें सूर-सागर में मिलता है। सूर-सागर में क्रमबद्धता की कमी नहीं है। क्रम पर कवि ने ध्यान दिया है। फ़टकर पद बिलकुल पृथक् हैं।

अन्त में हम यही कहेंगे कि सूर जैसा वात्सल्य और श्रृंगार का कवि, जिसने पूर्ण भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत होकर अपना साहित्य-सृजन किया हो, कोई अन्य कवि नहीं हुआ। सूर के साहित्य पर हिन्दी को अभिमान है और वात्सल्य-चित्रण में सूर-सागर के स्वाभाविक पद उच्चतम साहित्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

संक्षिप्त

१. हिन्दी-साहित्य में सूर और सूर-साहित्य का स्थान विशेष है।

२. सूर की रचनाएँ और उनमें सूर-सागर की विशेषता।

३. सूर-सागर का दशम् स्कन्ध, उसकी मौलिकता और विशेष साहित्यिक सौन्दर्य।

४. सूर का अन्तरंग और बहिरंग चित्रण।

५. सूर के श्रृंगार में रीति-भावना न होकर भक्ति की भावना का ही प्राधान्य है।

६. उपसंहार

भारतेन्दु और उनके नाटक

२४२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का जन्मदाता हम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को मानते हैं। भारतेन्दु जी ने प्रथम हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन किया, दूसरे नवीन विचारधारा का वह साहित्य हिन्दी को प्रदान किया जो रीति-कालीन प्रवृत्तियों से आच्छादित नहीं था, तीसरे पद्य के साथ-ही-साथ गद्य में रोचकता पैदा करके हिन्दी पाठकों तथा लेखकों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया, चौथे आपने नाटकों की मौलिक रचना की तथा अनुवाद करके हिन्दी में रंगमंच के आने की सम्भावना को प्रस्तुत किया और पाँचवें आपने अपने साहित्य द्वारा देश-सेवा और समाज-सुधार का सन्देश जनता को दिया। प्रकृति के प्रति भी नवीन दृष्टिकोण को आपने साहित्य में उपस्थित किया।

इस प्रकार हमने देखा कि यह युग क्रान्ति का युग है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

के साहित्य ने हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति का संचार किया और एक बार विचार-धारा के दृष्टिकोण को ही बदल दिया। कवियों को कविता करने के लिए नवीन विषय प्रदान किये और गद्य-लेखकों को गद्य लिखने और नाटक लिखने का मार्ग दिखलाया। मुंशी सदासुखलाल, इन्शाअल्लाखाँ, सदलमिश्र और लल्लूलाल अपनी-अपनी शैली को लेकर आये परन्तु कोई मार्ग निर्धारित नहीं कर सके, इनके पचास वर्ष पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद ने दो स्वतन्त्र शैलियों को जन्म दिया। राजा शिवप्रसाद की भाषा उर्दू और फ़ारसी मिश्रित थी और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-मिश्रित ठेठ हिन्दी। संवत् १९३० में इन दोनों धाराओं का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करके साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक सुसंचालित मार्ग प्रस्तुत किया और अन्य लेखकों के मार्ग-प्रदर्शन की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया। आपने भाषा में से प्रान्तीय शब्दों को निकालकर एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसका क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ। वाक्यों का भी पृथक्-पृथक् करना आपने प्रारम्भ किया। एक में एक गूँथते जाने की प्राचीन प्रथा को आपने तिलांजलि दे दी। भारतेन्दु जी ने जहाँ गद्य के लिए खड़ीबोली को अपनाया वहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्हें ब्रज-भाषा ही मान्य रही। इन्होंने ब्रज-भाषा के प्रयोग में 'बिहारी', 'घनानन्द' इत्यादि की भाँति शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं। आपने गद्य और पद्य दोनों में ही सरल-सुबोध-भाषा शैली को जन्म दिया। भाषा के सभी रूपों में एक ऐसा सामंजस्य स्थापित किया कि जिससे भाषा मँजकर एक व्यवस्थित रूप में आ गई। भाषा को सरल रखने की ओर उनका सर्वदा ध्यान रहता था। इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी को एक नवीन मार्ग दिखलाया और नयी शैली, नयी भाषा और नये विषयों के साथ वह शिक्षित जनता के सामने आये।

भारतेन्दु जी की मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में हो गई थी। इसी छोटे से जीवन-काल में आपने हिन्दी-साहित्य को अमूल्य निधियाँ प्रदान कीं। गद्य का सर्व-प्रथम प्रचुरता के साथ प्रयोग आपने अपने नाटकों में किया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि हिन्दी में आपके नाटकों से पहले केवल दो ही नाटक उपलब्ध थे, विश्वनाथसिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन नाटक' और गोपालचन्दजी का, 'नहुष-नाटक'। वह दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेन्दु जी ने १८ नाटक लिखे हैं। इस संख्या के अन्तर्गत मौलिक और अनुवाद सभी नाटक आ जाते हैं। यह सब निम्न-लिखित हैं—

मौलिक—

वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर-नगरी, प्रेम-जोगिनी और सती-प्रताप (अधूरा)।

अनुवाद—

विद्यासुन्दर, पाखंड-विडम्बना, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और भारत-जननी।

भारतेन्दु जी ने जीवन के कई क्षेत्रों से सामग्री लेकर इन नाटकों का सृजन किया है। 'चन्द्रावली' में प्रेम-तत्व की प्रधानता है तो 'नील-देवी' में एक ऐतिहासिक वृत्त लिखा है। 'भारत-दुर्दशा' में देश की दशा का चित्रण है तो 'विषस्य विषमौषधम' में रजवाड़ों के कुचक्रों का प्रदर्शन किया गया है। 'प्रेम-जोगिनी' में धर्म और समाज के पाखण्ड का खाका खींचा है। इस प्रकार समाज, धर्म, प्रेम, राजनीति और इतिहास सभी दिशाओं की ओर नाटककार का ध्यान बहुत व्यापकता के साथ गया है।

भारतेन्दु जी ने शैली के क्षेत्र में मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण किया है। उन पर बँगला का भी प्रभाव पड़ा और संस्कृत का भी। इसलिए न तो उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों में बाँधकर अपने नाटकों को संकुचित ही बनाया और न ही नवीन में फँसकर प्राचीन रूढ़ियों से अपने नाटकों को सर्वथा मुक्त ही कर दिया। बँगला के नाटक अंग्रेजी के प्रभाव से प्राचीनता को एकदम तिलांजलि दे चुके थे। उस प्रणाली को भारतेन्दु बाबू ने पसन्द नहीं किया।

भारतेन्दु जी के नाटकों को रंगमंच पर स्थान मिला और उनका प्रचार भी हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में उनका विशेष मान रहा। हिन्दी-साहित्य में आपने एक नवीन धारा का संचार किया और अन्य दिशाओं के साथ-साथ नाटक-साहित्य का विशेष प्रचार आपके द्वारा हुआ। भारतेन्दु बाबू को हम हिन्दी का प्रथम सफल नाटक-कार कह सकते हैं। आपने पश्चिम और पूर्व के भावों का सामंजस्य करके एक नवीन प्रगति हिन्दी-साहित्य को प्रदान की। भारतेन्दु-युग का नाट्य-साहित्य निम्नलिखित विशेषताएँ लेकर हिन्दी-साहित्य में अवतीर्ण हुआ।

(१) प्राचीन प्रणालियाँ धीरे-धीरे परिवर्तित होती चली जा रही थीं। नाटकों के पात्र देवताओं के स्थान पर इसी संसार के मनुष्य बनने लगे थे।

(२) नाटकों में दैवी-चमत्कार प्रदर्शित करने की अपेक्षा वास्तविक सत्य का स्पष्टीकरण करना लेखक अपना कर्त्तव्य समझने लगे थे। 'भारत-दुर्दशा' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

(३) नाट्यशास्त्र के नियम भी धीरे-धीरे ढीले पड़ते जा रहे थे। स्वच्छन्द रूप से स्पष्टीकरण करना लेखक अपना कर्त्तव्य समझते थे।

(४) नाटक रंगमंच के विचार से लिखे जाने लगे थे, न कि केवल पाठ्य-साहित्य की ही पूर्ति के लिए।

(५) नाटकों में पद्य की अपेक्षा गद्य को प्रधानता दी जाने लगी थी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों का इस गद्य-लेखन की प्रणाली पर विशेष प्रभाव पड़ा।

(६) नाटकों के कथनोपकथनों में स्वाभाविकता आने लगी थी। लेखकों ने स्वाभाविकता का विशेष रूप से सम्मान करना प्रारम्भ कर दिया था।

(७) सामाजिक चित्रणों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया और वह मानव-

जीवन के अधिक निकट पहुँचने लगे।

(८) राष्ट्रीय विचारावली ने भी नाटकों में स्थान पाया। रंगमंच पर नाटकों के आने से भाषा का अच्छा प्रचार हुआ।

(९) समस्यात्मक नाटकों का भी श्रीगणेश इस द्वितीय युग में मिलता है।

संक्षिप्त

१. भारतेन्दु जी का भाषा-परिमार्जन, हिन्दी-उर्दू का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करना और गद्य को एक व्यवस्थित रूप देना।

२. हिन्दी-साहित्य में रंगमंच द्वारा एक क्रांतिकारी युग का आना।

३. नई भाषा-शैली, नवीन विषय और नवीन रूप-रेखा के साथ नाटकों का हिन्दी में उदय।

४. पश्चिम और पूर्व के प्रभावों का सामंजस्य।

५. भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम सफल नाटककार हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' और उनके नाटक

२४३. प्राचीन प्रचलित सब प्रणालियों के बंधनों को नवीनता के विस्फोट से एकदम उड़ाते हुए बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी नाटकीय क्षेत्र में आये। प्राचीनता को नष्ट करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति का आपने नाटकों में ध्यान नहीं रखा। जहाँ तक प्राचीनता का यह अर्थ लिया जाता है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन और अपने साहित्य में समावेश जितना बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने किया है उतना इस युग के किसी अन्य लेखक ने नहीं किया। जयशंकर 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों के कथानक विशेष रूप से भारत के प्राचीन इतिहास से ही लिये हैं। जो काल्पनिक भी हैं। उनमें भी प्राचीन भारत की झलक स्पष्ट दिखलाई देती है, पर जहाँ तक नाट्य-शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध है आपने उन्हें एक दम ढीला कर दिया। ऐसा करने से आप नवीन-युग के प्रवर्त्तक कहलाये।

'अजात-शत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' इत्यादि आपके विशेष नाटक हैं। इन नाटकों में आपने बुद्धकालीन संस्कृति का चित्रण किया है। लेखक को इसमें बहुत सफलता मिली है।

जयशंकर 'प्रसाद' जी के नाटकों का महत्त्व केवल साहित्य के ही क्षेत्र में विशेष निखरे हुए ढंग से अनुमानित किया जा सकता है। रंगमंच के विचार से आपके नाटक अधिक सफल नहीं हो सके। पात्रों का आपने बहुत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अंतर्द्वन्द्वों का समावेश आपके चित्रण में खूब मिलता है। आपके नाटकों की भाषा बहुत क्लिष्ट है। आपने भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी पर जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, बंगला और

अंग्रेजी साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। आपने पूर्वी ढाँचे में भारतीय संस्कृति को इतने सुन्दर रूप से ढाला है कि वह हिन्दी-साहित्य के लिए एक देन बन गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमों के बन्धनों से अपने को मुक्त करते हुए आप आगे बढ़े और अपनी एक नवीन शैली का हिन्दी में आविष्कार किया। इस शैली को बाद में आने वाले सभी नाटककारों ने अपनाया है। यह परिवर्तन का युग अंग्रेजी साहित्य में भी आया था परन्तु भारत के पराधीन होने के कारण यह लहर भारत में बहुत पीछे आ सकी। जयशंकर प्रसाद जी ने अपने नाटकों का क्रम नवीन रखा। पद्य का स्थान गद्य ने सफलता से अपना लिया। वार्त्तालाप कविता में न चलकर गद्य में चलने लगे और नाटकों का संगीत से सम्बन्ध विच्छेद न हो इसलिए नाटकों में गीतों का आविष्कार हुआ। नाटकों के लिए बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने गीत लिखे, परन्तु दुर्भाग्य-वश उन गीतों का प्रसार जनता तक न हो सका। यहाँ यह समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा कि इस युग में साहित्य और समाज दो पृथक् वस्तु बन चुके थे। भारत की पराधीनता इसका प्रधान कारण थी। यदि उस काल में भी आज की स्वतन्त्र सरकार की भाँति रेडियो पर जयशंकर 'प्रसाद' के गीत गाये गये होते तो कोई कारण नहीं था कि जयशंकर 'प्रसाद' का साहित्य जनता का साहित्य न हो जाता। परन्तु परा-धीनता के कारण साहित्य और समाज दूर-दूर रहते रहे।

जयशंकर 'प्रसाद' को समाज नहीं समझ पाया और न ही अपना पाया, परन्तु साहित्यिक जनों ने उन्हें अपनाया, सिर-आँखों पर रखा और हिन्दी-साहित्य की उस अमर निधि को सुन्दरता से मान-पूर्वक सजाकर उसकी पूजा की।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने अपने नाट्य-साहित्य द्वारा हिन्दी-नाटककारों के सम्मुख एक मार्ग रखा और उस पर चलने वाले अनेकों नाटककार आज हिन्दी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों ने जिस धारा को जन्म दिया उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(१) नाट्य-शास्त्र के नियमों में से सम्भवतः एक आध ही बाकी रह गया होगा। उनका क्रम नवीन है। अंक और दृश्य के स्थानों पर केवल नम्बर डालकर ही काम चला लिया गया है।

(२) सिनेमा के आविर्भाव के कारण आज यह भी आवश्यक नहीं समझा जाता कि केवल उन्हीं घटनाओं को अपने नाटकों में रखें कि जो रंगमंच पर दिखलाई जा सकें।

(३) पद्य के नाम पर केवल कुछ गीत मात्र नाटकों में बाकी रह गये हैं। समस्त नाटक गद्य में ही लिखे जाते हैं।

(४) कथोपकथनों में पूर्ण स्वाभाविकता पाई जाती है।

(५) मध्यवर्ग की समस्याओं को लेकर विशेष रूप से नाटकों की कथाएँ रखी जाती हैं। इसी वर्ग के पात्रों का चित्रण विविध परिस्थितियों में मिलता है।

(६) हिन्दी का रंगमंच कुछ अधिक सफलता नहीं पा सका। सिनेमा-क्षेत्र में

हिन्दी पूर्ण सफल है और साथ-ही-साथ हिन्दी के नाटक और गीत भी।

(७) लम्बे-लम्बे नाटक न लिखे जाकर छोटे नाटकों की प्रणाली चल रही है। अधिकतर छोटे ही नाटक लिखे जा रहे हैं। तीन अंक के नाटक अच्छे समझे जाते हैं।

(८) इन नाटकों पर बँगला और अंग्रेज़ साहित्य का प्रधान प्रभाव हुआ है। संस्कृत का प्रभाव भी कम नहीं कहा जा सकता परन्तु यह एक स्थान पर जाकर रुक जाता है।

हिन्दी-नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशापूर्ण है। नये लेखक दिन-प्रति दिन एक-से-एक नवीन रचना लेकर सामने आ रहे हैं। उनकी रचनाओं में विशेष रूप से समाज की समस्याओं के चित्र भरे हुए होते हैं। आज का समाज चाहता भी ऐसे ही नाटक है। आज का साहित्य केवल कला के लिए नहीं रह गया है, वह तो देखता है उसकी उपयोगिता। केवल नाटक ही नहीं वरन् इस समय का सभी साहित्य उपयोगिता की ओर बढ़ रहा है।

संक्षिप्त

१. उनमें समाज की प्रवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण है।
२. मनोवैज्ञानिक चित्रण हैं।
३. अभिनय करने के योग्य कथानक है।
४. समाज और व्यक्तियों को बल देने वाली कथा है।
५. सरसता के लिए मधुर गीत हैं।
६. भाषा सरल, सरस और उच्चारण में मधुर है।
७. मध्य वर्ग का चित्रण।
८. नाटकों में कथोपकथन के लिए गद्य का प्रयोग है।

प्रेमचन्द की नवीन उपन्यास-धारा

२४४. हिन्दी में कथा-साहित्य का नवयुग मुंशी प्रेमचन्द से प्रारम्भ होता है। मुंशी प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलस्म और अय्यारी को छोड़कर समाज की समस्याओं को अपनाया। आपने उपन्यास-साहित्य के अभाव को पहिचाना और अपने भरसक प्रयत्नों द्वारा उस अभाव को दूर कर दिया। हिन्दी के वर्तमान कथा-युग को शैली के विचार से तीन धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। इन तीन धाराओं के प्रवर्तक मुंशी प्रेमचन्द, बाबू जयशंकर 'प्रसाद' और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं।

प्रथम धारा के प्रवर्त्तक मुंशी प्रेमचन्द हैं। इस धारा के लेखकों ने उर्दू-मिश्रित चलती हुई मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। वह भाषा उपन्यासों के लिए बहुत उपयुक्त है। एक रवानी इस भाषा में ऐसी पाई जाती है कि पाठक किसी पुस्तक को

प्रारम्भ करके छोड़ने का नाम नहीं ले सकता। इस धारा के लेखकों को बिलकुल नवीन नहीं कहा जा सकता। उन पर प्राचीनता का काफ़ी प्रभाव है। दकियानूसीपन उनमें से समाप्त नहीं हो गया था।

समाज की समस्याओं को ही इस धारा के लेखकों ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है परन्तु इन्होंने समाज का वह स्पष्ट चित्रण नहीं किया जो वर्तमान लेखक चाहता है, या वर्तमान प्रगतिवाद जिसके पीछे हाथ धोकर पड़ा है।

प्रेमचन्द के चित्रण बहुत लम्बे हैं। उनमें वर्णनात्मक प्रवृत्ति विशेष हैं। यदि किसी स्थान का ही उन्हें वर्णन करना होता है तो खूब खुलासा करते हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के विक्टोरिया के समय के उपन्यासों से इनकी समानता की जा सकती है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति नहीं है। इन लेखकों में उपदेशक प्रवृत्ति पाई जाती है। यह लेखक सम्भवत: जनता को उपदेश देने का भार अपने ऊपर कर्तव्य के रूप में मान बैठे हैं।

'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'ग़बन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द की प्रमुख पुस्तकें हैं। नवीन उपन्यास-धारा की सभी विशेषताओं के प्रारम्भ-कर्त्ता के रूप में हम मुंशी जी को पाते हैं। भाषा का बहाव, शब्दों का चयन, समाज के चित्र, मनोवैज्ञानिक भावनाओं का स्पष्टीकरण, समाज के दु:खी जीवन का चित्रण, भाषा की रवानी, हृदय की पुकार, करुणा की चीत्कार, मानसिक जीवन की व्यथा, किसानों की यह दशा, सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार, यह सभी चीज़ें प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास-साहित्य में कहाँ वर्तमान थीं। इन सभी प्रकार के चित्रणों का जन्मदाता प्रेमचन्द है। प्रेमचन्द के साहित्य में वास्तविक जीवन का सहृदयतापूर्ण चित्रण मिलता है। न वहाँ बनावट है न शृंगार, हाँ कुछ कहने का ढंग ऐसा अनूठा अवश्य है कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता।

किसी भी काव्य को जन प्रिय बनाने के लिए दो भावनाओं में से एक को लेखक अपनाकर चला करते हैं। एक 'नारी का चित्रण' तथा दूसरी 'करुणा की पुकार'। इन दोनों भावनाओं के प्रति साहित्य में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। बँगला के जहाँ प्राय: सभी लेखकों ने 'नारी-चित्रण' को प्रधानता दी है वहाँ प्रेमचन्द को 'करुणा की पुकार' प्रिय लगा है। यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि लेखक की प्रवृत्ति कहाँ जाकर स्थिर होती है? वास्तव में यदि देखा जाय तो पता चलता है कि हिन्दी का लेखक जीवन के उस स्तर से उठा है, जहाँ परिश्रम को प्रधानता दी जाने पर भी मनुष्य का पेट नहीं भरता। बँगला के लेखक ऊपर से आते हैं। ऊपर कहने का तात्पर्य केवल यही है कि वह उस वर्ग से आते हैं जहाँ पैसे को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसीलिए वह वर्ग जितना अच्छा चित्रण 'नारी' का कर सकता है हमारे हिन्दी-वर्ग के प्रतिनिधि प्रेमचन्द ने उससे भी कहीं सुन्दर, आकर्षक और वास्तविक चित्रण दु:खी मज़दूर और निर्धन किसानों का किया है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास-साहित्य में ही नहीं, हिन्दी-पंडित समाज में भी एक सामाजिक क्रान्ति पैदा करदी । आपके साहित्य को हम कथा की ही वस्तु न मानकर यदि मानव जीवन की आवश्यकताओं की वस्तु मान लें तो लेखक के साथ अधिक न्याय होने की सम्भावना हो सकती है ।

प्रेमचन्द के चित्रणों में समस्याओं के चित्र हैं और प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत की वास्तविक दशा की झाँकी है । अपने समाज के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति का चरित्र-चित्रण मुंशी प्रेमचन्द ने किया है । प्रेमचन्द ने अपने सब उपन्यासों में एक भी पूर्ण पात्र न देकर अनेकों पात्र दिये हैं । किसी एक प्रकार के वर्ग में घुस जाना ही आपके साहित्य का उद्देश्य नहीं था बल्कि जीवन के सब पहलुओं को झाँकना आपका मूल उद्देश्य था ।

मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य की केवल एक ही दिशा में रचनाएँ की हैं और उस दिशा में अपना एकाकी स्थान बनाया है । आपने राष्ट्र की जो सेवा अपनी लेखनी द्वारा की है वह अनेकों प्रचारक भी प्लेटफार्मों से चिल्ला-चिल्ला कर नहीं कर पाये । हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में यह प्रथम सफल लेखक है ।

मुंशी प्रेमचन्द की कहानियाँ

२४४. मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी में ढाई-तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं और इन कहानियों में समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेकों अंगों को स्पष्ट किया है, जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है । प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में पूर्व और पश्चिम दोनों की समस्याओं का सामंजस्य, कलात्मक शैली और विचारों के आधार पर किया है । इनकी कहानियों को किसी एक विशेष शैली के अन्तर्गत रखकर हम विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इनकी अनेकों कहानियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है ।

प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति में पले थे । वह संस्कृति के मूल स्रोत और उनकी विभिन्न धाराओं से भली भाँति परिचित थे । भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत प्रधानता काव्य के बहिरंग की न होकर अन्तरंग की रहती है । काव्य की आत्मा को बल देकर उसमें अध्यात्मवाद की पुट आ जाना अनिवार्य हो जाता है । प्रेमचन्द अपनी कहानियों में दैवी गुण लाकर हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं । प्रेमचन्द की इस दैविक भावना को प्रस्तुत करने में भारतीय अध्यात्मवाद की झलक मिलती है । प्रेमचन्द ने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की कलों में भारतीयता को पिसने से बचा लिया । प्रेमचन्द ने पश्चिम की अच्छाइयों को अपनाया, आँख मींचकर अन्धों की तरह उनके पीछे नहीं दौड़े ।

प्रेमचन्द की कहानियों को हम कई भागों में विभाजित कर सकते हैं । उसकी ऐतिहासिक कहानियाँ सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत आती हैं इस प्रकार की कहानियाँ लिखने में वह उतने सफल नहीं हो पाये जितने जयशंकर 'प्रसाद', क्योंकि

इतिहास-विषयक उनका ज्ञान 'प्रसाद' जी की भाँति पूर्ण नहीं था। 'प्रसाद' जी की ऐतिहासिक कहानियों में उस काल के बिखरे हुए तत्त्वों का सुन्दर संकलन मिलता है, परन्तु प्रेमचन्द जी में इस बात का अभाव है। जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक चित्रणों में सांस्कृतिक अथवा भौतिक संदेश नहीं मिलता। वहाँ तो मिलता है सीधा-सच्चा चित्रण, परन्तु प्रेमचन्द उन कहानियों द्वारा समाज के सामने अपना संदेश रखना चाहते हैं। प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों अथवा ठाकुरों की कहानियाँ हैं। देश-प्रेम, वीराङ्गनाओं के बलिदान, शरणागत की रक्षा, सतीत्व की रक्षा, रण से भागे हुए पति के लिए द्वार न खोलना, अमर-प्रेम इत्यादि विषयों पर उन्होंने सुन्दर प्रकाश डाला है। इस प्रकार की कहानियों में प्रेमचन्द जी ने भारतीय संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया है। उत्तर मुगल काल और पूर्व अंग्रेज़ी-काल पर भी प्रेमचन्द जी ने कहानियाँ लिखी हैं। भारत के पतन के चित्र इन कहानियों में मिलते हैं और राजपूतों की वीरता के भी।

ऐतिहासिक कहानियों के साथ-साथ आपने जो सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं उनमें अपने काल के दो वर्गों का अधिक विस्तृत चित्रण मिलता है। एक समाज के मध्य-वर्ग का और दूसरा ग्रामीण जनता का। मजदूरों के चित्र भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किये हैं परन्तु उनका अधिक विस्तृत चित्रण हमें उनके उपन्यासों में मिलता है। समाज के चित्रों का वास्तविक चित्रण हमें सबसे पहिले प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट करके दिखला दिया है कि सत्य गल्प से अधिक चमत्कारपूर्ण है (Truth is stronger than fiction)। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जो कहानियाँ लिखी गईं उन्हें वर्त्तमान कहानियों के साथ रखा भी नहीं जा सकता। वह कहानियाँ मानव-जीवन में गुदगुदी पैदा कर सकती थीं, उन्हें सँभाल या झकझोर नहीं सकती थी। जीवन की वास्तविकता से उनका सम्बन्ध न होने के कारण वह मानव की आत्मा को छूने में असफल थीं। प्रेमचन्द की कहानियों को पढ़कर पाठक ने अनुभव किया कि मानो वह अपनी ही कहानी पढ़ रहा है। प्रेमचन्द ने प्रथम बार समाज के जीवन में बैठकर समाज की आत्मा का अपने साहित्य में चित्रण करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द पहिले समाज-सुधारक थे और बाद में मनोवैज्ञानिक। उन पर आर्यसमाज के धर्म-प्रचार का प्रभाव था। समाज-सुधारक की कहानियों में प्रेमचन्द ने उत्तम और मध्यम वर्ग की मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक समस्याओं के सजीव चित्रण किये हैं। वकील, बैरिस्टर, प्रोफेसर, रईस, मिल मालिक बड़े दुकानदार सभी के चित्रण आपने रेखांकित किये हैं।

प्रेमचन्द की अन्तिम निखरी हुई प्रतिभा का प्रदर्शन हमें शहरी चित्रों के अंकित करने में नहीं मिलता, बल्कि ग्रामीण जनता के चित्रों को अंकित करने में मिलता है। देहाती जीवन पर सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही हिन्दी-साहित्य में लेखनी उठाई। प्रेमचन्द से पूर्व कभी किसी हिन्दी-लेखक का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था कि यह अनपढ़ देहाती भी किसी साहित्य के विषय बन सकते हैं। प्रेमचन्द ने उनका इतना सजीव

चित्रण अपनी कहानियों में किया है कि पाठक के सम्मुख देहात के चित्र आकर खड़े हो जाते हैं। किसान भारत का प्रतिनिधि है और प्रेमचन्द ने किसान का प्रतिनिधित्व किया है। इसलिए आज के साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द भारत का प्रतिनिधि हुआ। गाँव से सम्बन्धित जमींदार, काश्तकार, पटवारी, महाजन इत्यादि सभी चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द ने किये हैं। ग्रामों की परम्पराएँ किस प्रकार की हैं, समस्याएँ किस प्रकार की हैं, कठिनाइयाँ किस प्रकार की हैं, यह सब प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। ग्रामीण जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाते हुए भी प्रेमचन्द ने उन कहानियों में मानव-जीवन के उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को रखा है, जो विश्वव्यापी हैं। कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व की प्रधानता होने से उन कहानियों में संकीर्णता नहीं आने पाई। मानव-प्रकृति के उन तत्त्वों का चित्रण किया है जो सब स्थान और सब वर्गों के मनुष्यों में समान रूप से पाये जाते हैं। समय और स्थान से ऊपर विश्व-जनीन मनोभावों का समावेश प्रेमचन्द ने अपने ग्रामीण पात्रों में किया है। प्रेमचन्द के समालोचकों को चाहिए कि प्रेमचन्द के साहित्य को संकीर्ण क्षेत्र में रखकर विचार करने की अपेक्षा व्यापक-क्षेत्र में रखकर विचार करें। उसमें विश्व-जनीनता और विशाल मानव-आदर्शों के दर्शन करें।

प्रेमचन्द एक मनोवैज्ञानिक लेखक है, जिसने कुशलतापूर्वक सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को अपनी कहानियों में रखा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने से ही प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में यथार्थवाद को उचित स्थान दे पाये हैं। प्रेमचन्द की कहानियाँ जीवन से ऊपर होकर कल्पना की रंगीनियों में नहीं चलतीं बल्कि हम उन्हें अपने प्रतिदिन के जीवन में घटती हुई देखकर उनके साथ अपनापन अनुभव कर सकते हैं। तमाम कहानी यथार्थवादी होते हुए भी कहानियों के अन्त में प्रेमचन्द जी अपना नैतिक दृष्टिकोण प्रकट किये बिना नहीं रहते। वह प्रत्येक कार्य के फल को अच्छा ही देखना चाहते हैं। यह प्राचीन भारतीयता की झलक है जिसके अन्दर की प्राचीन भारतीय नाटककारों ने दुखान्त नाटकों का लिखना ही उचित नहीं समझा था। पाप पर पुण्य की विजय दुखान्त होते-होते पात्र को सुधार कर कहानी को सुखान्त बना देना लेखक की प्रवृत्ति है। यह प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है जिसने उन्हें ऐसा करने पर विवश किया। प्रेमचन्द की कथावस्तु और चरित्र-चित्रण यथार्थवादी हैं परन्तु आदर्शवादी दृष्टिकोण होने के कारण अन्त में आदर्शवादी की झलक अवश्य आ जाती है। प्रेमचन्द की सुधारक वृत्ति कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप से झलक अवश्य जाती है। प्रेमचन्द ने विविध विषयों का समावेश अपनी कहानियों में किया है। यदि विषयों के आधार पर उनका विभाजन किया जाय तो उन्हें अनेकों विभागों में बाँटा जा सकता है। परन्तु क्रमिक विकास के आधार पर डॉ० रामरतन भटनागर ने उनके तीन भाग किये हैं—

(१) आरम्भ की कहानियाँ—इसमें घटना-चक्र और सामयिकता की प्रधानता है। इनमें कोई मूल विचार लेकर लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लाट ही प्रधान है, बीज-

विचार और चरित्र-चित्रण गौण हैं। इन कहानियों में यथार्थवाद की कमी है और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का भी समावेश लेखक उनमें नहीं कर पाया है।

(२) (अ) दूसरी चरित्र-चित्रण और आदर्श-प्रधान कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्द ने बहुत कम लिखी हैं। कला में उपयोगिता का होना प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे। उपयोगिता के बिना अनेक विचारों में कला एक व्यर्थ की वस्तु है। 'माता का हृदय', स्वर्ग की देवी' इत्यादि कहानियाँ इस विभाग के ही अन्तर्गत आती हैं। कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय, विस्तार तथा चित्रण का भान हो जाता है।

(आ) चरित्र-प्रधान वह कहानियाँ जिनमें आदर्श के साथ भावना को प्रधानता दी है। इन कहानियों में भी सुधारात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। लेखक समाज की कुरीतियों को मानवता के काँटे पर तोलकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। 'स्त्री और पुरुष', 'दिवाला', नैराश्यशीला', 'उद्धार' इत्यादि इसी प्रकार की कहानियाँ है। प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीयता की छाप पग-पग पर मिलती है।

(इ) घटना-प्रधान कहानियाँ—इन कहानियों में अन्य प्रवृत्तियां होते हुए भी प्रधानता घटना-चक्र को ही दी जाती है। 'शूद्र', 'आधार', 'निर्वासन' इत्यादि कहानियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं।

(ई) अन्तर्द्वन्द-प्रधान चरित्र-चित्रण वाली कहानियाँ—इन कहानियों में प्रेमचन्द जी आदर्श की ओर से यथार्थवाद की ओर चले हैं। 'दुर्गा का मन्दिर', 'डिग्री के रुपये', 'ईदगाह', 'माँ', 'घर-जमाई', 'नरक का मार्ग' इत्यादि कहानियाँ इसी वर्ग में आती हैं। यथार्थवाद की ओर चलने पर भी कहानियाँ सुखान्त ही हैं, दुखान्त-चित्रण लेखक नहीं कर पाया है।

(उ) वह कहानियाँ जिनमें प्रभावात्मकता पर बल दिया गया है और वह चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियों में कलात्मकता विशेष रूप से पाई जाती है। प्लाट गौण और चरित्र-चित्रण प्रधान। कुछ कहानियों में प्लाट है ही नहीं। यह सब होने पर भी प्रेमचन्द जी अपनी सुधारात्मक प्रवृत्ति को नहीं छोड़ पाये। 'घास वाली', 'धिक्कार', 'कायर', 'पूस की रात' इसी श्रेणी की कहानियाँ है।

(ऊ) लेखक की कहानियों की अन्तिम श्रेणी वह है जहाँ लेखक आदर्शवाद को छोड़कर यथार्थवादी लेखक बन जाता है। 'कफन और अन्य कहानियाँ' शीर्षक से छपी हुई कहानियाँ इसी वर्ग में रखी जा सकती हैं।

संक्षिप्त

१. प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीयता की झलक।

२. प्रेमचन्द की कहानियों में संस्कृति, राष्ट्र-समाज और आन्दोलनों का चित्रण।

३. प्रेमचन्द की समाज-सुधार भावना।
४. प्रेमचन्द का मनोवैज्ञानिक चित्रण।
५. प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थवाद और आदर्शवाद का सम्मिश्रण।
६. प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण।

मैथिलीशरण 'गुप्त' और उनका साहित्य

२४६. मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिन्होंने सं० १९६३ से कविता-क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक बराबर अपने स्थान को सुदृढ़ ही बनाते चले आ रहे हैं। प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ 'गुप्त' जी ने हिन्दी-साहित्य को प्रदान की हैं परन्तु आपका विशेष महत्त्व प्रबन्ध-काव्यों के ही कारण है। सं० १९६३ में प्रथम बार हिन्दी-पाठकों ने आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में देखीं और फिर आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत-भारती' पाठकों के सम्मुख आया। 'भारत-भारती' में 'मुसद्दस अली' के ढंग पर हिन्दुओं की भूत और वर्तमान दिशाओं की विषमता दिखलाई गई है, भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। 'भारत-भारती' से पूर्व भी 'रंग में भंग' नामक पुस्तक आपकी प्रकाशित हुई थी, परन्तु जो मान 'भारत-भारती' को मिला वह उसे प्रथम रचना होने पर भी प्राप्त नहीं हो सका।

'गुप्त' जी की प्रबन्ध-काव्य लिखने की धारा बराबर चलती रही और धीरे-धीरे आपने 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट भट्ट', 'प्लासी का युद्ध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज', 'साकेत' और 'यशोधरा' लिखकर हिन्दी-साहित्य-भंडार को भर दिया। इन काव्यों में 'साकेत' और 'यशोधरा' बड़े हैं और महत्त्वपूर्ण भी। 'विकट भट्ट' में राजपूती टेक की कथा है, 'गुरुकुल' में गुरु-शिष्य का महत्त्व बतलाया है और 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' में प्रचलित कथाओं का कवि-कल्पना के साथ कलात्मक समावेश है। इन काव्यों की भाषा बहुत सुन्दर है और उनमें प्रसंग-योजना भी प्रभावशाली है।

'गुप्त' जी ने अपने साहित्य में जीवन और जगत दोनों पर प्रकाश डाला है। साकेत में 'गुप्त' जी ने अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित किया है। साहित्य की प्रगतियों का 'गुप्त' जी पर प्रभाव न पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। जिस समय साहित्य में छायावाद की लहर दौड़ी तो 'गुप्त' जी भी उससे अपने को पृथक् नहीं रख सके। रहस्यवादियों के से कुछ गीत आपने गाये अवश्य हैं, परन्तु असीम के प्रति उत्कंठा और वेदना इनके जीवन में निहित न होने के कारण वह केवल काव्य के प्रति एक रुझान मात्र ही रह गये हैं, जीवन की प्रेरणा नहीं बन सके। 'गुप्त' जी की इस धारा की कविताओं का संग्रह 'झंकार' है।

'साकेत' और 'यशोधरा' गुप्त जी के दो अमर काव्य हैं। इन्हीं में उनके काव्य का सुन्दर विकास दिखलाई देता है। इन ग्रन्थों में प्रबन्धात्मकता की वह पुष्टि नहीं दिखलाई देती जो 'रामचरितमानस' और 'पद्मावति' में मिलती है। इसका प्रधान कारण यही है कि उनकी रचना कवि ने उस समय जब साहित्य की गीतात्मक प्रवृत्ति

का उन पर प्रभाव पड़ चुका था। साकेत के दो सर्गों में विरहिणी उर्मिला का चित्रण 'गुप्त' जी के साकेत की विशेषता है। उर्मिला के चरित्र का जो प्रसार 'साकेत' में मिलता है वह हिन्दी के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

'यशोधरा' की रचना कवि ने नाटकीय ढंग पर की है। "भगवान बुद्ध के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के उच्च और सुन्दर भावों की व्यंजना और परस्पर कथोपकथन इस ग्रन्थ में है। भाव-व्यंजना गीतों में हुई है।"—रामचन्द्र शुक्ल। इनके अतिरिक्त 'द्वापर' 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' इनके छोटे ग्रन्थ भी हैं।

'गुप्त' जी ने समय और साहित्य की सभी प्रगतियों को काव्य का रूप दिया है। यह हिन्दी भाषा-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। भारतेन्दु-काल की देश-प्रेम की भावना गुप्त जी की 'भारत-भारती' में मिलती है। भक्तिकालीन प्रवृत्ति अपने वर्तमान रूप में आकर 'साकेत' में मिलती है। भारत में जितने भी आन्दोलन हुए उन सब की झलक हमें 'गुप्त' जी के काव्य में यत्र-तत्र दिखलाई देती है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद विश्व-प्रेम, किसानों और मजदूरों के प्रति प्रेम और सम्मान की झलक इनके साहित्य में मिलती है। खड़ीबोली में इनकी सुन्दर और निखरी हुई कविता लिखने का श्रेय 'गुप्त', जी को ही प्राप्त हुआ है। भाषा में लोच, सौन्दर्य, कर्ण-मधुरता और अन्त्यानुप्रासों का लाना—इन सभी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हिन्दी कविता में 'गुप्त' जी का ही सफल प्रयास है।

इस प्रकार हम 'गुप्त' जी की रचनाओं का विश्लेषण करके देखते हैं कि उनमें भाषा के विचार से भी क्रमिक विकास पाया जाता है। 'गुप्त' जी की रचनाओं में स्वच्छ और सुथरी भाषा का प्रयोग मिलता है। खड़ीबोली की गद्यात्मकता और रूखेपन को निकालकर कवि ने उसमें सरस और कोमल पदावली का प्रयोग किया है। इतिवृत्तात्मक भाषा में परिमार्जन करके उसे गीतात्मक बनाया है। आपने बंगाली कविताओं का अनुशीलन किया है। हिन्दी ने साहित्य में छायावादी-युग आने से पूर्व की जितनी भी 'गुप्त' जी की रचनाएँ हैं उनमें अनेकों स्थानों पर ऊबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता है।

"गुप्त जी सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति 'उत्साह' दोनों इनमें हैं।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रकृति-चित्रण, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, समाज पर दृष्टि, विशुद्ध भाषा का प्रयोग, सुन्दर अलंकारों का समावेश, नव रसों पर पूर्ण अधिकार रखना—यह सभी मैथिलीशरण जी और उनके साहित्यिक की विशेषताएँ हैं। प्राचीनता और नवीनता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज के किसी अन्य कवि में नहीं मिलता जैसा 'गुप्त' के साहित्य में उपलब्ध है। कवि आज के साहित्य और समाज का प्रतिनिधि है और उसने अपने साहित्य में मानव-चित्रण के उन तत्त्वों को प्रधानता दी है जिनके कारण उनका

साहित्य केवल उनके ही काल का न रहकर, सब आनेवाले समयों का साहित्य बनेगा। यशोधरा' और 'साकेत' हिन्दी-साहित्य की अमर निधियाँ हैं जिनका महत्त्व सर्वदा एक-सा ही बना रहेगा।

संक्षिप्त

१. गुप्त जी की साहित्यिक प्रगति।

२. खड़ीबोली भाषा में काव्यात्मक सौन्दर्य का लाना।

३. प्राचीनता और नवीनता में सामंजस्य स्थापित करना।

४. समय की सभी प्रगतियों पर समान रूप से प्रकाश डालना।

५. उपसंहार।

कवि 'निराला' का दार्शनिक प्रकृतिवाद

२४७. 'निराला' के साहित्य में स्पष्ट अद्वैतवाद की झलक है। 'परिमल' में अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण हमें कई कविताओं में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है। 'जागरण' कविता में आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को सच माना है। मानव आत्मा को माया-जनित जड़ता के कारण परमात्मा से पृथक् किये हुए हैं। मानव की यह जड़ता सत्य नहीं असत्य है। कवि के शब्दों में यह 'अगणित तरंग' के रूप में है। चिदात्म तत्त्व गुणों से परे है, उसमें गुणों का आरोप हम नहीं कर सकते। हमें अपने चारों ओर जो जड़ सृष्टि दिखाई देती है यह सब माया-जनित है, वासनाओं से जन्म लेकर आती हैं, सत्य नहीं हैं। यह सब भिन्नता और परिवर्तन जो हमें विश्व में दिखलाई देता है यह सब हमारे अज्ञान का ही कारण है। जड़ इन्द्रियाँ हमें स्खलन और पतन की ओर ले जाती हैं। कवि का मत है कि ज्ञान से मानव उस माया-जाल को भेदकर ब्रह्म-तत्त्व तक पहुँच सकता है। माया के आवरणों को भेदना जीवात्मा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना उन आवरणों को भेदे आत्मा अपने निश्चित लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकती। ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा की जो आनन्दमय स्थिति होती है उसका कवि इस प्रकार चित्रण करता है—

> अविचल निज शान्ति में
> क्लांति सब खो गई!
> डूब गया अहंकार
> अपने विस्तार में
> टूट गये सीमा-बंध
> छूट गया जड़ पिंड,
> ग्रहण देश काल का।

ज्ञान या आकर्षण पाकर आनन्दमय ब्रह्म में जहाँ सृष्टि-रचना की इच्छा होती है वहाँ मोह नहीं होता है, होता है शुद्ध प्रेम। ब्रह्म अपनी माया का प्रसार प्रेम के रूप से करता है, छल फैलाने के लिए नहीं। वह त्रिगुणात्मक रूप रचता है और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और पंचभूत, रूप, रस, गंध, स्पर्श विकसित हो जाते हैं। माया

को कवि ने असत्य माना है। वह आनन्द की अभिव्यक्ति हो सकती है, प्रेम का निरूपण मात्र कर सकती है और यह भी तब जब मन उसे उसके विशुद्ध रूप में ग्रहण करे, छलना रूप में ग्रहण करने की भूल कर जाय।

कवि के दर्शन पर कबीर के निर्गुण-तत्त्व का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। कबीर की प्रकृति में राम की झलक थी और 'निराला' की प्रकृति स्वयं राम है, अन्तर केवल इतना ही है। कबीर ने माया को बिल्कुल असत्य मानकर छलना रूप दिया है परन्तु 'निराला' ने उसे प्रेम का रूप माना है घृणा का नहीं। 'परिमल' और 'गीतिका' का अध्ययन करने से हमें कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का पता चलता है। 'निराला' की कविता में वेदान्ती दर्शन है। अद्वैतवाद का उन्होंने प्रतिपादन किया है परन्तु 'निराला' का अद्वैतवाद विशुद्ध अद्वैतवाद नहीं है। अद्वैतवाद के साथ प्रेम का समावेश करके 'निराला' जी जायसी के निकट पहुँच जाते हैं। सूफी प्रेम की झलक पाकर कविता में रस का संचार हो गया है अथवा उसमें वही रूखापन बना रहता जो कबीर की कविता में मिलता है। परिमल की पंचवटी में कई दार्शनिक दृष्टिकोण कवि ने एक स्थान पर लाकर जुटा दिये हैं। कवि कहता है—

> भक्ति योग, कर्म ज्ञान एक हैं
> यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
> एक ही है दूसरा नहीं है कुछ—
> द्वैत भाव भी है भ्रम।
> तो भी प्रिये,
> भ्रम के ही भीतर से
> भ्रम के पार जाना है।
> मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
> सोच ली थी पहिले ही।
> इसलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
> भक्ति की भावना भरी।

इस कविता में सम्बन्ध की भावना मिलती है तर्क की नहीं। वेदान्त का आश्रय तर्क है, परन्तु सम्बन्ध में तर्क को एक ओर रख देना होता है और लोक-हित के लिए सम्बन्ध की भावना का होना कवि के लिए आवश्यक है। 'निराला' की कविता में अद्वैतवाद के साथ-साथ प्रेम और भक्ति के दर्शन होते हैं। यह 'निराला' की अपनी विशेषता है जिसे प्रकृति का सहारा लेकर कवि ने साहित्य में प्रस्तुत किया है। 'निराला' का दर्शन ज्ञानमूलक है। जायसी की भाँति प्रकृति और परब्रह्म में वह एकात्मक न मानकर भिन्नता मानते हैं।

'निराला' के प्रकृति-चित्रण साधारण नहीं हैं, उनमें दर्शन की विशेषता होने के कारण चित्रणों में भी विशेषता आ गई है। प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में उन्हें ब्रह्म की छटा दिखाई देती है। प्रकृति के रंग उन्हें गहरे लगते हैं, पवन में पराग और

कुंकुम मिली दिखलाई देती है। दार्शनिक कवि पवन को देखता और रंगों से बातें करता है। 'निराला' ने प्रकृति का वह स्वरूप नहीं देखा जो जायसी ने देखा है। जिसमें कवि प्रकृति में मिलकर उसे अपने विरह का अंग बना लेता है। कवि प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी रूप में देखता है। 'निराला' की 'जूही की कली' में प्रकृति आत्मा और परमात्मा लीलाओं का स्थल बनकर आई है। पवन ईश्वर का स्वरूप है और कली आत्मा का। इन प्रतीकों को मानने में 'निराला' में पूर्ण भारतीयता के दर्शन होते हैं। काव्य में प्रेम का समावेश करने पर भी ईश्वर को नारी-रूप में कवि ने नहीं देखा। कवि ने अपनी दूसरी कविता 'शैफाली' में भी प्रकृति का चित्रण इसी प्रकार किया है। प्रकृति का निरीक्षण कवि ने एक विशुद्ध वेदान्ती बन कर किया है। 'निराला' के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति को स्वतन्त्र रूप नहीं मिल पाया। यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण का वह विकास जो जायसी की पद्मावत् या वर्तमान-कालीन 'पंत' की भी कविता में प्राप्त हुआ, वह प्राप्त नहीं हो सका। इस प्रकार हमने देखा कि 'निराला' का दार्शनिक प्रकृतिवाद प्रकृति माया का प्रेम-क्षेत्र है जिसमें आत्मा और परमात्मा की क्रीडाएँ होती हैं। यह लीलाएँ छल के प्रभाव से न होकर प्रेम के प्रभाव से होती है। मानव-ज्ञान से इस आनन्दमय सृष्टि के दर्शन कर सकता है और अपने को उसका एक अंग बना सकता है।

संक्षिप्त

१. कविवर 'निराला' ने प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण न करके एक विशुद्ध वेदान्ती के दृष्टिकोण से किया है।

२. 'निराला' ने अपने दर्शन में भारत के सभी दर्शनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

३. उपसंहार।

महादेवी वर्मा का दर्शन और साहित्य

महादेवी वर्मा की कविता में करुणा का अपार सागर लहरें मारता है। दुःख और रोदन से ही प्रस्फुटित होकर उनकी कविता चलती है। कविवर 'पंत' की यह पंक्तियाँ—

> वियोगी होगा पहिला कवि
> आह से उपजा होगा ज्ञान
> उमड़कर आँखों से चुपचाप
> बही होगी कविता अनजान।

महादेवी के विषय में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाती है। महादेवी की इस शैली को कुछ आलोचक दुःखवाद कहकर पुकारते हैं। यह दुःख-वाद आज के युग में न केवल महादेवी वर्मा के ही गीतों का प्राण बनकर आया है वरन् जयशंकर 'प्रसाद' का

'आँसू', 'पंत' की 'ग्रंथि' तथा भगवतीचरण और बच्चन तक के काव्यों में मिलता है।

इस दुःख-वाद के मूल में हमें आध्यात्मिक असंतोष और राजनैतिक कारणों को पाते हैं। छायावाद का आरम्भ इस दुःख-वाद और पलायनवाद के सम्मिश्रण से हुआ। भारतीय जीवन आध्यात्मिक तत्त्वों को भुलाकर पराधीनता में असहाय-सा हो गया था। उसी में कुछ जागृति भरने के लिए या यों कहें कि अपनी दयनीय परिस्थिति पर रोने के लिए इस वाद का जन्म हुआ। बुद्धिवाद का ज्यों-ज्यों प्रसार होता गया त्यों-त्यों यह दुःख-वाद के अन्दर से निकलकर स्थूल रूप धारण करता चला गया।

महादेवी वर्मा के दुःख-वाद में आध्यात्मिक तत्त्व प्रधान है। श्री रायकृष्णदास जी 'नीरजा' की भूमिका में लिखते हैं, "उनकी (महादेवी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवयित्री की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर-सुन्दर की छाया मात्र है।" महादेवी वर्मा के साहित्य में दार्शनिक-चिन्तन, स्त्री-सुलभ भावों की कोमलता, साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त सहानुभूति, छायावाद का चमत्कृत चित्रण, तत्सम शब्दों की मधुर झंकार और प्रकृति का रंगीन चित्रण बहुत सुन्दर ढंग से संचित करके रखे गये हैं। महादेवी वर्मा को हम किसी भी अन्य कवि के पीछे चलता हुआ नहीं पाते, उनकी अपनी धारा है, अपनी शैली है, अपने विचार हैं और अपनी कल्पनाएँ हैं।

महादेवी ने आत्मा को 'प्रोषित पतिका' के रूप में रखा है और उनका यह चित्रण 'नीरजा' प्रकाशित होने से पहिली रचनाओं में ही स्पष्ट हो जाता है। उनके हृदय में एक टीस उठती है और उससे विकल होकर उनकी कविता आध्यात्मिक विचारावलि को लेकर मुखरित होने लगती है। उनकी कविता में इस प्रकार एक तरह की रहस्यात्मकता रहती है और उसी को हम इनका दर्शन कहते हैं। रहस्यवादी का ज्ञान व्यष्टि से समष्टि की ओर जाता है और समष्टि से व्यष्टि की ओर। वह कोरा पृथ्वी के ही निकट रहकर तर्क पर आधारित नहीं रहता। रहस्यवादी कवि कभी-कभी तो संसार को न देखकर अपने को और परब्रह्म को ही देखता है। उसके नयनों की पुतलियों में एक ही भाव समा जाता है। उसे जिस वस्तु का साक्षात्कार या सहज ज्ञान होता है उसे वह अनेकों प्रकार के प्रेम-प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है। रहस्यवादी कवि चरम-तत्त्व का आत्म-तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना एक उद्देश्य समझता है। प्रेम-प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा, व्यक्त-अव्यक्त, ससीम-असीम, पूर्ण-अपूर्ण, साकार-निराकार के पारस्परिक सम्बन्ध का गान करना ही रसवादी कवि का लक्षण होता है। महादेवी जी लिखती हैं—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म, करुणा में मिला अवसान॥

प्रकृति को परमात्मा से मिलने वाला विरह का स्त्रोत है। आत्मा इस विरह के दुःख-स्रोत में पैदा होने वाला जलजात है। मानव की उत्पत्ति इस दुःख से ही हुई है। यह आत्मा निर्विकार और निष्काम है। आत्मा को सब चीजों का ज्ञान है और ज्ञान होने पर ही उसमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। अव्यक्त की एक झलक पाजाने पर ही आत्मा सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त कर अलौकिक आनन्द की ओर अग्रसर हो जाती है।

(१) महादेवी वर्मा ने आत्मा की स्थिति 'प्रेम की पीर' मानी है। (१) ज्यों-ज्यों आत्मा को इस प्रेम-पीर का अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों वह परब्रह्म के निकट पहुँचता जाता है। (३) बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति प्राप्त नहीं होती। (४) आत्मा की परमात्मा के प्रति विह्वलता आत्मा की पूर्वानुभूति है। यह सभी बातें कबीर के रहस्यवाद से मिलती-जुलती हैं। जहाँ तक ज्ञान, दर्शन और चिंतन का सम्बन्ध है महादेवी की कविता में योग का समावेश हमें नहीं मिलता। यहाँ पहुँचकर उनकी धारा कबीर से हटकर जायसी की तरफ बहने लगती है, परन्तु जायसी की 'प्रेम-पीर' और महादेवी की 'प्रेम-पीर में अन्तर है। कविता के बहिरंग में तो आकाश-पाताल का अन्तर है परन्तु सूक्ष्म अन्तर उसके आत्म-तत्त्व में भी है।

जलते दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर कवयित्री लिखती हैं—

१. मोम-सा तन घुल चुका है, अब दीप-सा मन जल चुका है।
२. तू जल जल कितना होता क्षय
मधुर मिलन में मिट जाता तू
....

अंधकार और प्रकाश सब ज्ञान-अज्ञान के कारण है। विरह की साधना से दोनों का भेद मिट जाता है। जब चेतना थक जायगी, तन मोम की तरह गल जायगा और मन दीपक की लौ की भाँति शुद्ध हो जायगा तब जीवात्मा प्रकाश के दर्शन करेगी और उस समय अंधकार प्रकाश में और प्रकाश में अंधकार में लय हो जायगा।

महादेवी में मीरा की झलक मिलती है। साधना को दोनों ने ही अपनी कविताओं में विशेष स्थान दिया है। परन्तु न तो मीरा में महादेवी वर्मा की कल्पना है और ना ही महादेवी में मीरा की स्वाभाविकता और प्रेम-दिवानगी। मीरा में निर्गुण की झलक अवश्य मिलती है परन्तु प्रधानता सगुण को ही दी है, परन्तु महादेवी के काव्य में हमें सगुण के लिए कोई स्थान ही नहीं मिलता। यहाँ तो पूर्ण रूप से निर्गुण-चिन्तन है।

महादेवी में विद्वत्ता है, मीरा में नहीं; महादेवी में काव्य परम्परागत सौन्दर्य और उसकी पूर्ति है, मीरा में है उसकी स्वाभाविकता, पांडित्य नहीं; महादेवी में है सुन्दर शब्द-चयन, मीरा में इसका अभाव है; महादेवी में निर्गुण दार्शनिक-चिन्तन है मीरा की सगुण भक्ति में कहीं-कहीं निर्गुण दर्शन की झलक है; प्रेम-पीर दोनों

में समान है—इस प्रकार हम मीरा और महादेवी की कविताओं पर एक तुलनात्मक दृष्टि भी डाल सकते हैं।

कविवर 'निराला' अद्वैतवादी होने के नाते आत्मा को निर्लेप मानते हैं परन्तु महादेवी तो अपने को बन्धनों में बाँधने से भी नहीं सकुचाती—

क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन ?
बीन बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी।

इसी प्रकार वह अपनी कविता को 'आकाशचारी' मानती हैं। महादेवी को अपनी ससामता पर भी गर्व है, दुःख नहीं। महादेवी वर्मा ने सुन्दर गीतों में, कलात्मक छन्दों में नवीन प्रतीकों को लेकर जो धारा प्रवाहित की है हर प्रकार से अपने में अपनापन रखती है। उसका हर विचार भारतीय है और प्राचीनता की उस पर गहरी छाप है। बुद्धिवाद हमें महादेवी की कविता से बहुत कम क्या, नहीं के ही बराबर मिलता है। शुद्ध दार्शनिक-चिन्तन-प्रधान इनकी कविताएँ हैं जिन्हें मधुर कण्ठ द्वारा गाया जा सकता है। वर्तमान युग के गायक उन्हें अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उन्हें वह सफलता अभी प्राप्त नहीं हो सकती है जो सूर और मीरा के पदों को प्राप्त है।

संक्षिप्त

१. महादेवी का दुःख-वाद और दर्शन।

२. महादेवी की कविता में प्रतीकों का प्रयोग।

३. महादेवी की कल्पना-प्रधान कविता और गीतात्मता।

४. कबीर, जायसी, मीरा और 'निराला' के दर्शनों के बीच में महादेवी का दर्शन।

५. गीतात्मकता में संगीत की सफलता।

अध्याय १६

कुछ अन्य साहित्यिक निबन्ध

हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता

२४८. राष्ट्रीयता का संकीर्ण अर्थ है देश-भक्ति, और व्यापक अर्थों में राष्ट्रीयता का अर्थ होता है राष्ट्र के विचार, राष्ट्र की संस्कृति और राष्ट्र की भाषा। विचार, संस्कृति और भाषा का समुदाय कहलाता है राष्ट्रीयता। एक राष्ट्रीय कवि वह है जिसने राष्ट्र की भाषा में राष्ट्रीय संस्कृति को लेकर राष्ट्र के विचारों का प्रतिपादन किया हो। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर और मैथिलीशरण गुप्त इस विचार से राष्ट्रीय कवि हैं। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंगलैण्ड का और एवंगेट जर्मनी के राष्ट्रीय कवि हैं उसी प्रकार तुलसी, सूर और 'गुप्त' जी हिन्दी के कवि हैं। तुलसी से 'मानस' में भारत राष्ट्र की आत्मा के दर्शन होते हैं और सूर के 'सूर-सागर' में राष्ट्र का आश्वासन मिलता है, एक अवलम्ब मिलता है, बल मिलता है, जीवन और जीने की शक्ति मिलती है और इस प्रकार 'गुप्त' जी की भारत-भारती' और 'साकेत' में राष्ट्र के धार्मिक और राजनैतिक उत्थानों का व्यापक संदेश मिलता है। परन्तु यह व्यापक अर्थ समालोचक लोग प्रयोग नहीं करते। जब हम राष्ट्रीय कवियों पर दृष्टि डालते हैं तो हमारी दृष्टि केवल देश-प्रेम, जाति-प्रेम, और संस्कृति-प्रेम रखने वाले ही कवियों पर चली जाती है। हमारे दृष्टिकोण में संकीर्णता आ जाती है। यही राष्ट्रीयता की साधारण परिभाषा है।

यदि हम राष्ट्रीयता को उसके संकीर्ण अर्थों में लें, तो भी हमें इस विषय पर विचार करते समय दो विचारधाराओं को लेकर चलना होता है। इसमें पहिली विचारधारा का सम्बन्ध उस काल से है जो अंग्रेजी शासन के पश्चात् दिखलाई देती है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि धर्म और राजनीति में एक प्रबल संघर्ष रहा है। अंग्रेजी राज्य से पूर्व मुसलमान शासन-काल में धर्म का बोल-बाला था। इसीलिए हिन्दू धर्म के ऊपर आक्रमणकारी बनकर आनेवाले मुसलमानों के विरुद्ध जिस भावना को कवियों ने अपनी वाणी मे मुखरित किया है उस समय वही राष्ट्रीयता मानी जाती थी।। 'चन्द' और 'भूषण' इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविता के प्रतीक हैं। इन कवियों ने उस समय की जनता के हृदयों को राजनैतिक दृष्टिकोण से बल दिया, उत्साह दिया, धर्म के सहायक तथा रक्षक वीर योद्धाओं का गुण-गान किया।

समय ने करवट ली। मुसलमान राज्य भारत पर छा गया। भारतीय सभ्यता ने दूसरों को अपने में खपाना सीखा है, हज़्म कर जाना सीखा है और उसने मुसलमानियत को भी अपना ही रूप दे दिया। अपनी जैसी जातियाँ उन्हें दे दीं और अपने जैसे रीति-रिवाज भी। कबीर जैसे महाकवियों में समन्वय की भावना भरी और 'सूर' तथा 'तुलसी' जैसे राष्ट्रीय कवियों ने जनता के उद्भ्रान्त हृदयों को अपनी गोद में लेकर सहारा दिया। भक्ति का वह स्रोत भारतीय जीवन का वैराग्य एकदम समाप्त कर देना चाहता था।

मुसलमान-काल के पश्चात् राजनैतिक युग आया। पहिले युग में, जिसमें राजनीति-प्रधान हो गई, देश के नेताओं ने आपसी फूट और हिन्दू-मुसलमानों का भेद-भाव भुलाने का आदेश दिया। राष्ट्र में एक नवीन विचाराधारा ने जन्म लिया और वह राजनीति के पीछे-पीछे चल पड़ी।

भारतेन्दु-काल में सर्वप्रथम इस राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय समन्वय में संस्कृति के उत्थान की नेताओं और लेखकों ने कल्पना की और रा ट्र तथा धर्म को पृथक्-पृथक् कर दिया। भारत का समाज दो दलों में विभक्त हो गया। एक पूर्ण राजनैतिक राष्ट्रवादी और दूसरा हिन्दू धर्मी। जो दल प्रगतिशील था उसने धर्म के बखेड़े को भारत की पराधीनता के सम्मुख बैठाकर एक ओर रख दिया और जो प्रतिक्रियावादी या प्राचीनतावादी था उसने वही पुरानी प्रणाली को अपनाये रखा।

साहित्य में तो स्वयं प्रगति होती है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में दूसरे दल का अधिक महत्त्व नहीं बन सका। राजनीति में स्वार्थ को लेकर नेता चलते हैं इसलिए प्रतिक्रियावादी भी अपनी जड़ों को खोखला देखकर भी उन्हें जमाये रखने का ही धोखा जनता को देने का प्रयत्न किया करते थे। वास्तव में सत्य यह है कि जो व्यतीत हो चुका वह लौटेगा नहीं। साहित्य के क्षेत्रों में क्योंकि स्वार्थ नहीं है इसलिए विचारक को क्या पड़ी है कि वह मुक्त होकर विचार न करे और नवीनता को प्रश्रय न दे।

अंग्रेजी राज्य १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में भारतीय पराजय के पश्चात् दृढ़ हो गया। इस काल के राष्ट्रीय कवियों ने देश का करुण चित्र अंकित किया है। 'प्रेमघन' जी ने लिखा कि भारत में अंग्रेजी राज्य आ जाने से—

दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पति की छिन छिन होत हीनता॥

'भारत दुर्दशा' में भारत की परिस्थिति का भारतेन्दु जी ने अच्छा चित्र अंकित किया है। सन् १८८५ में काँग्रेस की स्थापना होने पर 'प्रेमघन' जी सहर्ष कहते हैं—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समय अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक न उसने ताका॥

इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना पृथक्-पृथक् धाराओं में बहती हुई 'गुप्त'

जी की 'भारत-भारती' तक आ पहुँचती है। 'भारत-भारती' में राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का स्पष्ट संकेत मिलता है। १९१८ के असहयोग-आन्दोलन से राष्ट्रीयता ने और पंख पसारे और माखनलाल चतुर्वेदी, 'सनेही', सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इत्यादि कवियों ने फुटकर रचनाओं द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर भारत की जनता को जागृत किया। सुभद्राकुमारी की फड़कती हुई कविता हमें 'भूषण' की याद दिलाती है। 'झाँसी की रानी' में जो ओज है वह भूषण के अतिरिक्त अन्य किसी की कविता में नहीं मिलता।

बुंदेले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनासी॥
हो मतवाली विजय, मिटादें गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

आज राष्ट्रीयता का बोल-बाला है। सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, 'चकोरी' तथा अन्य अनेकों छोटे-मोटे कवि इस धारा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस काल की राष्ट्रीय कविता केवल पराधीनता से भारत को उभारने के लिए चमत्कार-मात्र है। एक विद्रोह है विदेशी शासन के प्रति। कला के लिए उसमें स्थान बहुत है। इस कविता का इसलिए राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से जितना महत्त्व है उतना कविता होने से नहीं। काव्य के क्षेत्र में आज स्वतन्त्र हो जाने पर आशा है कि कुछ राष्ट्रीय कवि जन्म लें या वर्तमान कवियों का ध्यान उस ओर जाय और वह राष्ट्र के वास्तविक अर्थ को समझकर संस्कृति, समाज, राज-नीति, भाषा, कला और काव्य-परम्परा का ध्यान रखकर साहित्य का सृजन करें। प्रतिभाशाली कवियों से हम आशा करते हैं कि वह हिन्दी-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति करेंगे।

संक्षिप्त

१. राष्ट्रीयता के दो अर्थ : एक संकीर्ण और दूसरा व्यापक।
२. मुसलमान काल में राष्ट्रीयता का अर्थ।
३. अंग्रेजी शासन-काल में आकर राष्ट्रीयता का अर्थ।
४. राष्ट्रीय साहित्य में कला का अभाव।
५. पराधीनता के प्रति केवल चीत्कार मात्र को छोड़कर स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीयता क नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की आवश्यकता।

हिन्दी को मुसलमानों की देन

१. हिन्दू और मुसलमान पृथक् पृथक् अवश्य प्रतीत होते हैं परन्तु उनके मानव में एक्य है। हिन्दी-साहित्य हिन्दुओं का साहित्य है, भाषा, भाव और संस्कृति के

विचार से परन्तु फिर भी कुछ मुसलमान कवियों ने हिन्दी को वह रचनाएँ प्रदान की हैं कि जिन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। यह रचनाएँ उस काल की हैं, जब कि भारत में मुसलमान राज्य था और भारत की भक्ति-भावना ने भावुक मुसलमानों को अपनी धारा में प्रवाहित कर लिया था।

मुसलमानों का पहिला महत्त्वपूर्ण वर्ग प्रेमाश्रयी धारा के अन्तर्गत आता है जिसने सूफी सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय चरित्रों में प्रेमामृत का संचार किया। जायसी की प्रसिद्ध रचना पद्मावत का नाम इस स्थान पर उल्लेखनीय है, जिसके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि प्रबन्ध-काव्यों में रामचरितमानस के बाद पद्मावत का ही स्थान आता है। कुतबन, 'नूर' मुहम्मद, मँझन इत्यादि इस धारा के अन्य कवि हैं। यह, 'सूफी' धर्म प्रचार भारतीय जनता में करना चाहते थे। अवधी भाषा में इन कवियों ने अपनी रचनाएँ की। कविता के विषय के लिए इन कवियों ने हिन्दुओं की प्रचलित और अर्ध-कल्पित कथाओं को अपनाया। यह अपनी भावुकता के साथ हिन्दू-हृदयों तक पहुँचना चाहते थे। इसमें उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। हाँ, हिन्दी को पद्मावत् जैसा सुन्दर ग्रंथ अवश्य प्राप्त हो गया। इस धारा के कवियों में पाण्डित्य का अभाव था।

मुसलमानों के दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में हम 'रसखान' को पाते हैं। इस वर्ग पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव हुआ था और यह विशुद्ध कृष्ण-भक्ति की भावना को लेकर कविता-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। साहित्य-सेवा उनका लक्ष्य नहीं था, वह तो लालायित हुए थे श्याम की मनोहर मूर्ति पर। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर वह मुक्त कंठ से गाते थे।

> **मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।**
> **जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥**
> **पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।**
> **जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥**

इस वर्ग के कवि प्रेमी जीव थे जिन पर भक्ति और साहित्य का समान प्रभाव था और जिन पर भारतीयता अपना असर कर चुकी थी।

तीसरे वर्ग के कवि हमें रीति-काल में देखने को मिलते हैं। राम-भक्ति की मर्यादा ने उनके उच्छृंखल स्वभाव को अपने अन्दर समावेश करने की आज्ञा नहीं दी। या यों भी कह सकते हैं कि वह उसमें समावेश करने का साहस ही न कर सके। इस धारा में रहीम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने रहीम-सतसई, बरवै, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक इत्यादि ग्रंथों की रचना की। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुंडलियाँ लिखीं। हिन्दी-साहित्य में इस वर्ग के कवियों की संख्या सबसे अधिक है। इस धारा में जो साहित्य रचा गया वह प्रधानतया शृंगार-प्रधान है। मुसलमान भावुक तो होते ही हैं, इसलिए उन्हें इस प्रकार का साहित्य लिखने में

काफ़ी सफलता मिली है ।

चौथे वर्ग के मुसलमान लेखक सैलानी जीव हैं, जिन्होंने विनोदपूर्ण साहित्य का सृजन किया है। इन्होंने हिन्दी-साहित्य में एक नवीन धारा को प्रवाहित किया और एक प्रकार से साहित्य के गाम्भीर्य को तोड़कर उसमें दिल बहलाने और मन को हलका करने की सामग्री प्रस्तुत की। खुसरो और इंशाअल्ला खाँ इसी वर्ग के प्रधान लेखक हैं। वर्तमान हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप हमे इन्हीं दोनों की भाषा में मिलता है। खुसरो की कविता का एक निखरा रूप देखिये—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरु घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

खुसरो की मुकुरियाँ हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य का वह नमूना है जो हिन्दी-भाषा साहित्य में जब तक भाषा-साहित्य का इतिहास रहेगा सर्वदा अमर रहेगी।

पाँचवाँ वर्ग उन मुसलमान कवियों का है जो वास्तव मे उर्दू के लेखक हैं परन्तु उन्होंने हिन्दी में भी लेखनी उठाई है। वर्तमान गद्य लेखकों में तो थोड़ा-सा लिपि-भेद कर देने से अनेकों लेखक इस श्रेणी में आयेंगे।

इन ऊपर दिये गये सभी लेखकों की रचनाओं में अपनी-अपनी विशेषता है। यह कहना तो असत्य होगा कि इनकी रचनाओं पर मुसलमानी प्रभाव है ही नहीं परंतु इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि इन सभी लेखकों ने भारतीयता के साँचे में अपने साहित्य को ढाला खूब है। अपने-अपने समय की प्रणालियों और विचारधाराओं को लेकर उनमें अपनेपन की पुट इन लेखकों ने दी है। इनकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमर निधियाँ हैं और इनके साहित्य में आ जाने से साहित्य में एक ऐसा विस्तृत दृष्टिकोण उपस्थित हुआ है कि समन्वय की भावना के साथ रहस्यवाद के कई रूप सामने आ गये हैं। जायसी ने अपने दर्शन में जिस रहस्यवाद की पुट दी है उसका अपना है और उसमें हिन्दू तथा मुसलमानी भावनाओं का इतना सुन्दर समन्वय मिलता है कि पाठक इनके ग्रंथ को पढ़कर मुक्त कंठ से इनकी प्रशंसा कर उठता है। रसखान ने बहुत कम लिखा है परन्तु जो कुछ भी लिखा है उसकी तुलना हम सूर और मीरा के ही पदों से कर सकते हैं। खुसरो की तुलना करने के लिए हमारे पास कोई अन्य लेखक हिन्दी में नहीं है और रहीम, इनका स्थान भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों ने जो हिन्दी-सेवा की है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसका हिन्दी-साहित्य, भाषा और भाव-सौन्दर्य के विचार से विशेष स्थान है। भारतीय और फ़ारसी शैलियों का उसमें हमें सुन्दर समन्वय मिलता है।

नोट—महाकवि कबीर को हमने जानकर मुसलमान कवियों की श्रेणी में सम्मलित नहीं किया है, क्योंकि उनका मुसलमान या हिन्दू होना अभी तक स्पष्ट नहीं है।

संक्षिप्त

१. मुसलमानों का महत्त्वपूर्ण सहयोग है।

२. प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्ण-भक्ति शाखा, रीति-कालीन कविता और विनोद-पूर्ण साहित्य मुसलमानों की देन है।

३. वर्तमान हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप मुसलामनों से प्राप्त होता है।

४. भारतीय और फारसी शैलियों का समन्वय इन कवियों ने हिन्दी-साहित्य में किया।

५. उपसंहार।

हिन्दी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव

२५०. हिन्दी-साहित्य का आदि-काल विदेशी आक्रमणों का काल था। इस लिए हिन्दी-साहित्य पर प्रारम्भ से ही विदेशी प्रभाव हमें स्पष्ट दिखलाई देता है। इस निबन्ध में हम हिन्दी-काल-विभाजन के क्रम के अनुसार ही विचार करेंगे।

वीरगाथा-काल हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल है और पृथ्वीराज रासो उस काल का प्रतिनिधि ग्रंथ। यह राष्ट्रीयता-प्रधान है और विशेष रूप से मुसलमानी सभ्यता का घोर प्रतिद्वन्दी भी इसे हम कह सकते हैं परन्तु उसकी भाषा पर हमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। चंदरबरदाई लाहौर के रहने वाले थे और लाहौर पहिले से ही मुसलमानों के अधिकार में आ चुका था। इसलिए वहाँ की भाषा का भी उन पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। उसी प्रभावित भाषा के नमूने हम पृथ्वी-राज रासो में यत्र-तत्र देखते हैं। फिर भी छन्द, विषय इत्यादि पर इस काल में कोई विदेशी प्रभाव नहीं पढ़ा और न ही दर्शन पर, क्योंकि दर्शन-साहित्य तो इस काल में लिखा ही नहीं गया।

हिन्दी-साहित्य का दूसरा काल हमें अनेक रूप में विदेशी प्रभाव से आच्छादित दिखलाई देता है। यह सत्य है कि विदेशी प्रभाव राजनैतिक पराधीनता होने पर भी मूल तत्त्वों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका; साहित्य की आत्मा को ठेस नहीं पहुँचा सका; परन्तु रूप में, रंग में, आवरण में, सौन्दर्य में, कल्पना में, व्यवहारिकता में, और अन्य भी अनेकों रूपों में उसने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है, और खूब सफलता के साथ किया है। हिन्दी-साहित्य के व्यापक दृष्टिकोण ने उन विदेशी प्रभावों को अपनाया, उनका सम्मान किया, उन्हें बल दिया और अमरता प्रदान की।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों को अपने निर्गुण-पंथ पर चलाने के लिए भारतीय दर्शन और मुसलमानी एकेश्वरवाद का आश्रय लिया और दोनों का इतना सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया कि कबीर के रहस्यवाद का रूप खड़ा हो गया, जिससे प्रभावित होकर रवीन्द्र ने 'गीतांजलि' लिखी और नोबिल प्राइज़ (Noble prize) प्राप्त करके संसार में अमरता ली। जायसी ने भारतीय निर्गुण ब्रह्म में सूफी प्रेम का

सम्मिश्रण करके पद्मावत जैसा अमर काव्य हिन्दी को भेंट किया। रसखान ने कृष्ण भक्ति शाखा के अंतर्गत रचनाएँ करके हिन्दू और मुसलमान हृदयों को भक्ति के क्षेत्र में मिलाकर एक कर दिया। रहीम के दोहे जन-जन की वाणी बने और खुसरो ने साहित्य के मौन गाम्भीर्य को एक चहल-पहल दी। हिन्दी की पाचन-शक्ति ने सबको पचाकर अपना बना लिया और सम्मिश्रण से साहित्य के ऐसे सुन्दर गुलदस्ते सज ये कि जो किसी भी हिन्दी-साहित्य-प्रेमी की बैठक को अपने पराग और गन्ध से हर समय परिपूर्ण रखते हैं। भक्ति और रीति-काल दोनों पर समान रूप से हमें विदेशी प्रभाव दिखलाई देता है।

अब हमारे सम्मुख आता है आधुनिक काल। आधुनिक काल में मुसलमानी युग समाप्त हो गया और उसका प्रभाव पड़ने का प्रश्न भी उसके साथ-साथ हिन्दी-साहित्य से विदा हुआ। यहाँ हम पाठकों के सम्मुख यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस विदेशी प्रभाव से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य ने अपनी निधि को निरंतर बढ़ाया ही है, कम नहीं होने दिया। आधुनिक काल के साथ साथ भारत की राजनीति ने करवट बदली और यहाँ पर अंग्रेजों का शासन-काल आया। अंग्रेजी शासन-काल में यूरोप की सभ्यता भारत में आयी। लॉर्ड मेकाले और राजा राममोहनराय ने भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार किया। राज्य-सम्बन्धी कार्यों में अंग्रेज़ी का प्रयोग हुआ। न्यायालयों की भाषा अंग्रेज़ी बनी और इस प्रकार एक तरह से 'अंग्रेज़ी' भारत के सभी क्षेत्रों में छाती चली गई। भारत में विद्यालय खुले, उनमें यूरोपियन ढग की शिक्षाएँ चलीं और उन विद्यालयों में पढ़ाने के लिए पुस्तकों की आवश्यकता हुई। हिन्दी में यह सब पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं, उर्दू में नहीं थीं, फारसी में नहीं थीं और न उनके पढ़ाने वाले ही थे। इसलिए एक बार समस्त देश में अंग्रेज़ी का बोल-बाला हो गया। बंगाल और मद्रास की तो अंग्रेज़ी मानो मातृ-भाषा ही बन गई।

जहाँ एक तरफ़ अंग्रेजी का प्रभाव इस प्रकार बढ़ रहा था वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के प्रेमी भी शान्त नहीं बैठे थे। वह भी बराबर प्रयत्नशील थे। राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद विद्यालयों में हिन्दी को लाने का प्रयत्न कर रहे थे और महावीरप्रसाद 'द्विवेदी' जी ने हिन्दी को अदालतों की भाषा बनाने का आन्दोलन किया। इनके साथ-ही-साथ हिन्दी के लेखक भी मौन नहीं थे। वह अपनी उसी पुरानी रफ्तार पर चलना छोड़कर अपनी पैनी लेखनी से कविता, कहानी, समालोचना, निबन्ध, इतिहास, भाषा-विज्ञान, भूगोल, गणित और इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में उतर पड़े। देखते-ही-देखते कुछ ही दिनों में उन्होंने रात-दिन परिश्रम करके हिन्दी-साहित्य के भंडार को भर दिया। परन्तु यह सब हुआ किस प्रकार ? इन सब धाराओं में साहित्य की प्रगति किसके प्रभाव से हुई ? क्या यह सब सामग्री उन्हें संस्कृत-साहित्य से मिली ? क्या फ़ारसी ने इस प्रगति में कोई सहायता दी ? हम कहेंगे—नहीं, यह सब अंग्रेजी साहित्य की देन है। हिन्दी के अनुभवी विद्वानों ने अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ा, अनेकों पुस्तकों के अनुवाद किये और अनेकों से विचारधारा लेकर, शैलियाँ लेकर,

विषय लेकर हिन्दी की अपूर्णता को पूर्ण किया। निबन्ध संस्कृत-साहित्य में नहीं थे, उपन्यास संस्कृत-साहित्य में नहीं थे और आज तो अनेकों ऐसे नये विषय हिन्दी में आ रहे हैं कि जिन्हें संस्कृत-साहित्य जानता भी नहीं था। बिजली-विज्ञान, लोकोमोटिव, रेडियो-विज्ञान, सिनेमा-विज्ञान यह सब नये विषय हैं। इन सबका हिन्दी में समावेश हमें अंग्रेजी से ही आया हुआ मिलता है। अंग्रेजी-कविता का हिन्दी कविता पर प्रभाव पड़ा। छायावाद और प्रगतिवाद उसके उदाहरण हैं। प्रगतिवाद पर रूस के साहित्य का प्रभाव दिखलाई देता है। हिन्दी नाटकों पर बँगला का प्रभाव पड़ा और उपन्यासों पर अंग्रेजी का।

कुछ भी सही, प्रभाव सभी का है परन्तु हिन्दी ने उस प्रभाव में बहकर अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। हिन्दी ने सर्वदा विषय अपने ही रखे हैं और रूप-रंग चाहे जैसा भी हो। अपने साहित्य में विदेशी वातावरण उपस्थित करने को जिस लेखक ने भी प्रयत्न किया है वह सफल नहीं हुआ और न ही हो सकता है। हिन्दी के लेखकों ने बहुत कुशलतापूर्वक विदेशी विचारावलियों को भी अपने ही पैमाने में ढाला है और उसे वह मादक रूप दिया है कि एक हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य निधि बनकर रह गया है। इस प्रकार हिन्दी विदेशी प्रभाव की आभारी है क्योंकि उसने हिन्दी को विस्तार के लिए सामग्री दी है और विदेशी प्रभाव को हिन्दी का आभारी होना चाहिए, क्योंकि हिन्दी ने उसे व्यापकता दी, अमरत्व दिया।

संक्षिप्त

१. वीरगाथा-काल में केवल शाब्दिक प्रभाव है।

२. भक्ति-काल में भाषा, छंद, शैली, विषय और दर्शन का भी प्रभाव हुआ। यह सब मुसलमानी था।

३. रीति-काल के अंत तक मुसलमानी प्रभाव चलता रहा।

४. आधुनिक काल पर अंग्रेज़ी का प्रभाव बहुत व्यापक है। हिन्दी के सभी क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। विचार, वाद, समाज और राजनीति विशेष रूप से प्रभावित हुए।

हिन्दी का पुराना और नया साहित्य

२४१. मानव-जीवन का समस्याओं के साथ-ही-साथ साहित्य चलता है। जीवन में जिस काल के अंतर्गत जो-जो भावनाएँ रही हैं उन-उन कालों में उन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत साहित्य का भी सृजन हुआ है। प्रारम्भ में मानव की कम आवश्यकताएँ थीं, कम समस्याएँ थीं। इसीलिए साहित्यिक विस्तार का क्षेत्र भी सूक्ष्म था। वीरगाथा-काल में वीर-गाथाएँ लिखी गईं, भक्ति-काल में साहित्य का क्षेत्र कुछ और व्यापक हुआ, विकसित हुआ, भक्ति के भेद हुए और अनेकों धाराएँ प्रवाहित हुईं। निर्गुण-भक्ति, प्रेमाश्रयी-शाखा, कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति और अन्त में सब मिलकर शृंगार

की तरफ़ चल दिये। एक युग-का-युग शृंगारी कविता करते और नायक-नायिकाओं के भेद गिनते हुए व्यतीत हो गया, न समाज ने कोई उन्नति की और न राष्ट्र ने। फिर भला साहित्य में प्रगति कहाँ से आती ? साहित्य अपने उसी सीमित क्षेत्र में उछल-कूद करता हुआ झूठे चमत्कार की ओर प्रवाहित होता चला गया। भक्ति-कालीन रसात्मकता रीति-काल में नष्ट हो गई और वह प्रणाली आज के साहित्य में भी ज्यों-की-त्यों लक्षित है।

आज के नवीन युग में साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। केवल शृंगार अथवा भक्ति के क्षेत्र तक ही साहित्य सीमित नहीं है। वह मानव-जीवन की सभी खोजों के साथ अपना विस्तार बढ़ाता चला जा रहा है। यदि साहित्य का अर्थ हम सीमित क्षेत्र में ललित-कलाओं तक भी रखें तब भी ललित-कलाओं में गद्य का विकास हो जाने के कारण कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनियाँ गद्य-गीत इत्यादि साहित्य में प्रस्फुटित हो चुके हैं और नाटक-साहित्य भी अपनी विशेषताओं के साथ अग्रसर है। नाटक कम्पनियों और सिनेमा कम्पनियों ने इस साहित्य को विशेष प्रश्रय दिया है। साहित्य का रूप बदल गया और साहित्य का दृष्टिकोण भी। जब-जब राष्ट्र को जैसी-जैसी आवश्यकता रही है तब-तब उसी प्रकार का साहित्य लिखा गया है। साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है।

आज के साहित्य ने प्रेम, विरह और शृंगार को भुलाया नहीं परन्तु उनका दृष्टिकोण बदल दिया है। रीति-शास्त्रों पर आधारित स्थूल विचारों के स्थान पर भाषा और शैली के आधुनिक प्रयोग किये जा रहे हैं। नख-शिख वर्णन और प्राचीन केलि-विलास इत्यादि को आज के कवियों ने अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया। आज का कवि करता है, प्रेमी और प्रेमिका के भावना जगत में होने वाले मनोभावों का वैज्ञानिक चित्रण। वह अभिसार, विपरीत रति, सुरतारम्भ, दूती इत्यादि का समावेश अपने साहित्य में न करके तन्मयता और आत्म-बलिदान का चित्रण करता है।

वीर-काव्य आज का कवि भी लिखता है, परन्तु उसमें केवल शब्दों की झंकार-मात्र न होकर कष्ट-सहन और आत्मोत्सर्ग की भावना रहती है। युद्ध-क्षेत्र में जाकर तलवार चलाने वाले नायक का चित्रण आज के कवि को नहीं करना होता। उसे तो राष्ट्रीय स्वरूप का निरूपण करना होता है। आज की राष्ट्रीय भावना और प्राचीन राष्ट्रीय भावना में भी अन्तर आ चुका है। प्राचीन काल में धर्म पर राष्ट्र आधारित था और इसीलिए धार्मिक भावना ही राष्ट्रीय भावना थी। वही भावना हमें 'चन्द्र' और 'भूषण' में मिलती है। परन्तु आज के साहित्य में धर्म गौण है और राष्ट्र प्रधान। इसलिए वीर-काव्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का क्षेत्र पृथक् है और राष्ट्र का क्षेत्र पृथक्।

"आज के नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों के गुण-गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति,

प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं।"

—डा० रामरतन भटनागर

आधुनिक काल का रहस्यवाद भी हमें 'छायावाद' के रूप में मिलता है परन्तु उस पर अंग्रेजी रोमांटिक (Mystic Literature) साहित्य और बंगला-साहित्य का प्रभाव रहस्यवाद तथा छायावाद में है परन्तु धार्मिक भावना में नहीं। धर्म का आज के युग में प्रभाव है, दर्शन का नहीं। दर्शन का सम्बन्ध केवल दृश्य-जगत तक ही सीमित रह जाता है, आध्यात्मिक क्षेत्र तक उसे ले जाना आज के लेखक उचित नहीं समझते। कविवर 'निराला' में दार्शनिक-चिन्तन और मैथिलीशरण 'गुप्त' में 'धार्मिक भावना' का समावेश मिलता है परन्तु उसमें भी कबीर और तुलसीदास जैसी भावनाओं का सम्पूर्ण एकीकरण नहीं मिलता। सांसारिकता (Matterialisticism) का समावेश उनके साहित्य में पग-पग पर मिलता है।

नवीन युग में मानव-जीवन पर जितना साहित्य लिखा गया है उतना धर्म और दर्शन पर नहीं। मानव का विश्लेषण आज के लेखक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है, इसलिए उसने जीवन के विविध पहलुओं पर जी खोलकर विचार किया है। उपन्यास, कहानी और जीवनियों में तो प्रधान विषय ही मानव-जीवन है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में समाज का सुन्दर चित्रण किया है। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के काव्य तो हैं ही नहीं।

आज के युग ने बुद्धि को प्रधानता दी है। नवीन साहित्य बुद्धि का आश्रय लेकर चलता है और प्राचीन साहित्य भावना का। भावना-प्रधान साहित्य में रस प्रधान होता है और बुद्धि-प्रधान साहित्य में वास्तविकता, जड़ता और चमत्कार। आज का साहित्य धार्मिक क्षेत्र में गौण है परन्तु मानवता के वह अमर सिद्धान्त उसमें वर्तमान हैं जिनका दर्शन भी हमें प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता।

संक्षिप्त

१. भूमिका-पुराना और नया साहित्य क्या है?

२. प्राचीन साहित्य में वीरता, भक्ति और शृंगार है।

३. नवीन साहित्य में जीवन की प्रगतियाँ देश-भक्ति, राष्ट्रीयता और प्रेम के नवीन दृष्टिकोण हैं।

४. रहस्यात्मकता का नवीन दृष्टिकोण।

५. नवीन साहित्य में जीवन की अनेकरूपता के दर्शन मिलते हैं।

६. नवीन साहित्य में जीव का अमर संदेश है।

कुछ साहित्यिक निबन्धों की रूप-रेखाएँ

२५२. भारत की राष्ट्र-भाषा—

(१) भारत की राष्ट्र-भाषा बनने वाली भाषा सबसे अधिक बोली तथा समझी जाने वाली भाषा होनी चाहिए।

(२) वह प्राचीन राष्ट्रभाषा की उत्तराधिकारिणी होनी चाहिए और अन्य प्रान्तों की भाषा के भी निकट ही होनी चाहिए।

(३) उस भाषा में प्राचीन साहित्य की सुसस्कृत परम्परा होनी चाहिए। उसका अपना साहित्य भी उन्नत और विशाल होना चाहिए।

(४) वह भाषा देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली होनी चाहिए।

(५) उस भाषा के पास सुन्दर और सुव्यवस्थित शब्द-कोष होना चाहिए।

(६) उस भाषा की लिपि सब प्रकार से पूर्ण और भाव-व्यक्त करने में समृद्ध होनी चाहिए।

(७) हिन्दी में यह ऊपर दिये गये सभी गुण वर्तमान हैं।

२४३. देवनागरी लिपि की महानता—

(१) भारत की प्राचीन प्रचलित 'खरोष्टी' और 'ब्राह्मी' लिपियों में से यह 'ब्राह्मी' लिपि से निकली है। ब्राह्मी लिपि अधिक वैज्ञानिक थी और क्लिष्ट भी कम थी। संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त प्राकृत, नेपाली और गढ़वाली का भी उद्गम वही है।

(२) देवनागरी की वर्णमाला का उच्चारण और क्रम संसार की अन्य सब वर्णमालाओं में श्रेष्ठ समझा जाता है। देवनागरी के वर्णों का उच्चारण पृथक् और शब्द के अन्दर एक-सा ही होता है। रोमन और फारसी इत्यादि लिपि के वर्णों में यह विशेषता नहीं पाई जाती।

(३) देवनागरी में पहले स्वर और बाद में व्यंजन आते हैं। स्वरों और व्यंजनों का यह क्रम बहुत सुन्दर है। कण्ठ, तालू, मूर्धा, दन्त और फिर ओष्ठ से बोले जाने वाले व्यंजन आते हैं। इतना सुन्दर वैज्ञानिक क्रम संसार की किसी अन्य लिपि में नहीं मिलता।

(४) इस प्रकार उच्चारण और क्रम के विचार से यह संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा है।

(५) देवनागरी लिपि संस्कृत से ली गई है। इस लिपि में संस्कृत की सभी ध्वनियों का समावेश सुगमतापूर्वक हो जाता है। आजकल फारसी और अंग्रेजी के सम्पर्क में आ जाने से नई ध्वनियाँ हिन्दी में आ गई हैं। हिन्दी लिपि ने उन्हें अपनाने में बहुत स्वतन्त्रता से काम लिया है और कुछ नवीन संकेत बनाकर उन्हें अपने में पचा लिया है। जैसे ज ज़, क क़, फ फ़ इत्यादि।

२४४. हिन्दी में जीवन-साहित्य का विकास—

नोट—हिन्दी में लिखी गई जीवनियों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटकर इस विषय पर सुन्दर निबन्ध लिखा जा सकता है—

(१) आत्मकथाएँ (महात्मा गांधी इत्यादि की आत्मकथाएँ)।

(२) राजनैतिक जीवनियाँ (पं० जवाहरलाल, नेताजी सुभाष, महात्मा गांधी इत्यादि की अनेकों जीवनियाँ लेखकों ने लिखी हैं)।

(३) ऐतिहासिक जीवनियाँ (महाराणा प्रताप, रानी झाँसी, शिवाजी इत्यादि की जीवनियाँ हिन्दी में उपलब्ध है)।

(४) धार्मिक जीवनियाँ (स्वामी दयानन्द इत्यादि की जीवनियाँ लिखी गई हैं)।

(५) राम, कृष्ण इत्यादि की जीवन-कथाएँ।

(६) साहित्य के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियाँ (सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद 'द्विवेदी', रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर 'प्रसाद', प्रेमचन्द इत्यादि की जीवनियाँ)।

(७) फुटकर जीवनियाँ।

(८) हिन्दी-साहित्य में अभी तक कुछ विशेष व्यक्तियों की ही जीवनियाँ लिखी गई हैं। जीवनियाँ कहानी अथवा उपन्यासों के रूप में काव्य की अंग बनकर नहीं आई है। जब तक जीवनियाँ स्वतन्त्र रूप से काव्य का रूप नहीं बनकर आएँगी उस समय तक ललित-कला-क्षेत्र में साहित्य को ऊँचा स्थान नहीं मिल सकता।

२५५. मीरा की काव्य-साधना—

(१) मीरा के जीवन, भक्ति-साधना, निर्भीक विचार और तन्मयता के प्रति संक्षिप्त विचार।

(२) मीरा का साहित्य, उसमें कृष्ण-भक्ति और गृहस्थ-जीवन के प्रति उदासीनता।

(३) मीरा की कविता में भक्ति, प्रेम और दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण है। उससे रहस्यवाद के एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ है।

(४) मीरा की कविता में सन्त-शब्दावली का प्रयोग और भक्ति की अबाध धारा का प्रवाह मिलता है।

(५) मीरा की काव्यात्मकता, संगीतात्मकता, माधुर्य और नृत्यप्रधान तत्त्वों की उसमें विशेषता पाई जाती है।

(६) मीरा की कविता में पाण्डित्य नहीं स्वाभाविक राग और रस का सामंजस्य है, माधुर्य है और कमनीयता है।

२५६. केशव का पाण्डित्य—

(१) केशव को हिन्दी में कठिन 'काव्य का प्रेत' कहा जाता है। इनके विषय में अनेकों किंवदन्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि रीति-काल में जब राजा लोग किसी कवि को बिदाई नहीं देना चाहते थे तो उससे केशव की कविता का अर्थ पूछ लेते थे। अर्थात् केशव की कविता इतनी क्लिष्ट है कि उसका अर्थ लगाना पंडितों के लिए भी कठिन था।

(२) केशव चमत्कारवादी कवि थे। हिन्दी में सर्वप्रथम रीति-ग्रन्थ आपने ही लिखा है परन्तु रीति-काल का प्रवर्त्तक होने का सौभाग्य आपको इसलिए प्राप्त नहीं हो सका कि आपने अपने रीति-ग्रन्थ में जिस चमत्कारवादी परम्परा को अपनाया

है वह हिन्दी के आने वाले अन्य रीति-ग्रन्थ के लेखकों को मान्य नहीं हुआ।

(३) केशव की रामचन्द्रिका हिन्दी-साहित्य की निधि है। कहते हैं कि कवि ने इसे एक ही दिन में लिखकर समाप्त किया था। इस ग्रन्थ में रामायण की कथा का गान है परन्तु भक्ति-भावना को लेकर नहीं, कोरी साहित्य-भावना को लेकर। प्रबन्धात्मकता का इसमें अभाव है और ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर लिखे ये पदों को इस ग्रन्थ में उन्होंने संग्रहीत कर दिया है।

(४) केशव ने अपने काव्य में श्लेष-अलंकारों की ऐसी भरमार रखी है कि एक-एक शब्द से अनेकों अर्थ निकलते हैं। कहीं-कहीं पर तो यह अर्थ इतने व्यर्थ के भी हो जाते हैं कि ग्रन्थ के भाव से इनका दूसरा अर्थ मेल ही नहीं खाता। वहाँ पर पण्डित उन अर्थों को समझकर चमत्कार के रूप में आनन्द लाभ कर सकते हैं, परन्तु भावुक हृदय के लिए तो उसमें आनन्द के लिए कोई स्थान नहीं।

(५) केशव के पाण्डित्य को हिन्दी के प्रायः सभी विद्वानों ने माना है। यह सत्य है कि उनका दृष्टिकोण हिन्दी में प्रचलित नहीं हो पाया परन्तु वह एक प्राचीन दृष्टिकोण लेकर हिन्दी में आये और उसमें उनके अपनेपन की स्पष्ट झलक वर्तमान है।

२५७. जयशंकर 'प्रसाद' की सर्वांगीणता—

(१) काव्य-कला के सब क्षेत्रों में बा० जयशंकर 'प्रसाद' जी का समान अधिकार था। आपने हिन्दी-साहित्य के सब अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि की और सभी क्षेत्रों में पूर्ण कुशलतापूर्वक मार्ग-प्रदर्शन भी किया।

(२) आपके काल में काव्य-कला के प्रधान-अंग नाटक, कविता-काव्य, उपन्यास, कहानी और निबन्ध समझे जाते थे। इन सभी प्रकार का साहित्य जयशंकर 'प्रसाद' जी ने सृजन किया है।

(३) जीवन के सभी अंगों पर जयशंकर 'प्रसाद' जी ने प्रकाश डाला है। आपने अपने काव्य में विशेष रूप से बुद्धकालीन संस्कृति पर ही लिखा है परन्तु अन्य कालों को भी सर्वथा भुलाया नहीं है। आपके उपन्यासों में आधुनिक काल का भी चित्रण व्यापक रूप में मिलता है।

(४) जयशंकर 'प्रसाद' जी के काव्य में कवि होने के नाते कल्पना प्रधान रूप से रहती है और ऐतिहासिक नाटकों में भी कल्पना पर विशेष बल दिया गया है।

(५) कविता के क्षेत्र में आपने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही काव्य सफलतापूर्वक लिखे हैं। 'कामायनी' इस युग की एक विचित्र देन है और उस जैसा दूसरा काव्य अभी तक हिन्दी-साहित्य में नहीं लिखा गया।

(६) आपके नाटकों से आपके ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है। साथ ही आप हिन्दी के प्रथम महान् नाटककार हैं, जिनकी समता के लिए आज भी हमारे पास कोई लेखक नहीं है। यह सच है कि आपके नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं परन्तु फिर भी उनका साहित्यिक महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता।

(७) समय की प्रचलित खड़ीबोली को जयशंकर 'प्रसाद' जी ने एक नया रूप दिया, हिन्दी को नई शैली दी और काव्य को एक नवीन दृष्टिकोण दिया ।

इस प्रकार हमने देखा कि 'प्रसाद' जी जहा तक सर्वांगीणता का सम्बन्ध है, गोस्वामी तुलसीदास जी से आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास का जहाँ अपने समय की सब कविता-शैलियों पर समान अधिकार था वहाँ बा० जयशंकर प्रसाद जी ने अपनी नवीन शैली का निर्माण किया और साथ-साथ काव्य के उन सब अंगों को पुष्ट किया जिनका नाम-निशान तक भी तुलसीदास जी के समय में नहीं था ।

२५४. हिन्दी-साहित्य में विद्यापति—

(१) विद्यापति मैथिल कवि थे । उन्होंने हिन्दी में गीत-गोविन्द का अनुकरण किया और उसी पद्धति पर साहित्य-रचना की ।

(२) विद्यापति एक रसिक कवि थे । उन्होंने भक्ति-भावना में बहकर कृष्ण और राधिका के ऊपर पद नहीं लिखे । वह शैव्य थे और शृंगार-रस की कविता करते थे । इसलिए इनके पदों में भक्ति की खोज करना भूल है ।

(३) विद्यापति को मैथिल-कोकिल भी कहते हैं । यह केवल इसलिए कहते हैं कि इनकी कविता के गाने में कोकिल-कण्ठ की मधुरता और सरसता पाई जाती है ।

(४) मैथिल-भाषा हिन्दी और बँगला के बीच की भाषा है इसलिए बँगला वाले विद्यापति को बँगला का कवि कहने का भी प्रयत्न करते हैं परन्तु भाषा की जाँच-पड़ताल से उन्हें बँगला का कवि नहीं कहा जा सकता । पूर्वी हिन्दी की 'क्रियाओं' के आधार पर उनकी भाषा हिन्दी के ही निकट है ।

(५) विद्यापति ने अपह्नुति, व्यतिरेक और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों को अपनी कविता में अधिक प्रयोग किया है ।

(६) विद्यापति ने प्रार्थना और लाचारी के पद भी लिखे हैं परन्तु वह सब काव्य-प्रणाली के रूप में लिखे है, भक्ति-भावना से प्रेरित होकर नहीं ।

(७) गीतकाव्य की परम्परा में भी यह हिन्दी के सर्वप्रथम कवि हैं और इनका स्थान हिन्दी में एकाकी है ।

२५५. देव का आचार्यत्व—

(१) देव ने रस, अलंकार, नायक-नायिका-भेद इत्यादि सभी पर सुन्दर रचनाएँ की हैं । संचारी भावों में देव ने एक नया चौबीसवाँ संचारी भाव भी खोजकर निकाला है ।

(२) देव ने राग-रागिनियों और पिंगल पर भी लिखा है । देव की 'काव्य-रसायन' नामक पुस्तक से उनके आचार्यत्व का ज्ञान होता है ।

(३) देव की कविता में कहीं पर शिथिलता नहीं है । कविताओं में आभूषण सहित नायिकाओं का चित्रण किया गया है ।

(४) देव की ब्रजभाषा में कोमलता और सरलता दोनों गुण हैं । श्रुति-कटु

शब्द इनकी रचनाओं में खोजने पर भी नहीं मिलता। भाषा की उत्तमता इनका प्रधान गुण है।

(५) अनुप्रास और यमक इनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। सुन्दर लोकोक्तियाँ आपने लिखी है। नायक-नायिकाओं के वर्णन इतने सुन्दर हैं कि तस्वीर खड़ी हो जाती है।

(६) एक-एक छन्द में अनेकानेक अलंकार मिलते हैं। मानुषी प्रकृति का निरीक्षण आपका बहुत सुन्दर है।

(७) भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल इत्यादि सभी से आप आचार्यों की श्रेणी में आ जाते हैं। कविता की सरसता और उक्त गुणों के कारण हम कह सकते हैं कि यह कवि और आचार्य्य दोनों ही थे।

(८) देव की कविता में भावों की उड़ान है, चमत्कार है, भाषा में रसाद्रता है, वेग है, काव्य में सिद्धान्त-निरूपण है, क्या नहीं है देव में। वह केशव इत्यादि की भाँति आचार्य्य हैं और बिहारी की भाँति कवि।

२६०. सेनापति का प्रकृति-चित्रण—

(१) सेनापति भक्ति-काल और रीति-काल के कवि हैं। इसलिए उनके काव्य में रीति तथा भक्ति दोनों ही भावनाओं का समावेश मिलता है। उनके साहित्य में धार्मिक तथा शृंगार और अलंकारप्रियता की उभयपक्षी मनोवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। राम-भक्ति सम्बन्धी कविताओं में भक्ति और श्लेष-वर्णन, शृंगार-वर्णन और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी रचनाओं में शृंगारिकता मिलती है।

(२) सेनापति का ऋतु-वर्णन चार प्रकार का है—

(क) उद्दीपन-रूप से।

(ख) श्लेष आदि अलंकार दिखाने के लिए।

(ग) मानवीयकरण करके।

(घ) आलम्बन रूप से।

(३) उद्दीपन-रूप में मानवी और देवी दोनों चित्रण मिलते हैं। संतोष-पक्ष, वियोग-पक्ष और श्लेषों की सुन्दर रचना सेनापति ने की है। प्रकृति के मानवीकरण में प्रकृति के साथ मानव की भी प्रधानता कवि ने रखी है। प्रकृति को मानव का रूप कवि ने दे दिया है। उसे दूल्हा बनाया है इत्यादि। आलम्बन रूप में हमें सेनापति के सूक्ष्म-निरीक्षण और बिम्ब-ग्रहण तथा संश्लिष्ट-योजना की शक्ति का परिचय मिलता है।

(४) सेनापति के ऋतु-वर्णन की तीन विशेषताएँ हैं—

(क) सेनापति के वर्णनों में उद्दीपन-रूप मिलता है परन्तु आलम्बन-रूपों का भी नितांत अभाव नहीं है।

(ख) सेनापति के वर्णनों में बिम्ब-ग्रहण और संश्लिष्ट-योजना मिली है। केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र का प्रयास नहीं दीखता।

(ग) इन वर्णनों में कल्पना और अलंकार दोनों का सौन्दर्य कवि ने समान रूप से संचित कर रखा है।

(५) सेनापति की रचना में रीतिकालीनता होते हुए भी हमें जो प्रकृति-चित्रण मिलता है वह अन्य किसी कवि ने नहीं किया। प्रधान रूप से प्रकृति-चित्रण-क्षेत्र में सेनापति का विशेष स्थान है।

२६१. यशोधरा पर एक दृष्टि—

(१) बा० मैथिलीशरण जी के आख्यान-काव्यों में यशोधरा का स्थान साकेत के बाद आता है। इस रचना में प्रगीत-मुक्तकों का प्रयोग कवि ने किया है, जिसके कारण रचना में कुछ दोष आ गये हैं और कुछ गुण भी।

(२) जिस प्रकार 'साकेत' में विरहिणी उर्मिला की तपस्या का गुण-गान है, उसी प्रकार इसमें यशोधरा को प्रधान पात्र मानकर कवि ने काव्य का निर्माण किया है। प्राचीन साहित्यिकों द्वारा भुलाये गये इन दो महान् पात्रों के चरित्रों को लेकर 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्यों की रचना करना बाबू मैथिलीशरण की विशेषता है।

(३) कथा में नाटकीय सौन्दर्य है और कवि ने बहुत सहृदयता से काम लिया है। प्रबन्ध-काव्य होने पर भी इसमें नाटक के गुण वर्तमान हैं।

(४) इस प्रबन्ध-काव्य में भावात्मकता है, घटनाओं तथा कथा का क्रमिक विकास अवश्य है, परन्तु गीतों की भावप्रवणता से कहीं-कहीं पर घटना-संघटन का क्रम टूट जाता है। इसलिए इसमें आख्यान तथा काव्य की सफलता दोनों ही वर्तमान हैं।

(५) विरहिणी यशोधरा का चरित्र-चित्रण काव्य में प्रधान है परन्तु साथ ही सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) के चरित्र को भी उसी सहानुभूति के साथ कवि ने चित्रित किया है, जिस सहानुभूति के साथ 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र को।

(६) **"अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—**
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उक्त दो पंक्तियों में यशोधरा काव्य का सार आ जाता है। कवि ने अबला नारी के प्रति संवेदना प्रकट की है।

(७) काव्य में वियोग-पक्ष प्रधान है और संयोग-पक्ष का नितान्त अभाव है। मातृत्व और पत्नी के दोनों पार्श्वों को यशोधरा में चित्रित किया गया है, इन दो पार्श्वों द्वारा नारी-जीवन की महानता कवि ने सिद्ध की है।

(८) यशोधरा के विरह-वर्णन में प्राचीन शैली का चमत्कार है। षड्-ऋतु वर्णन, विरह की अन्तर्दशाओं का चित्रण, प्रकृति-मानव सापेक्ष सब रूढ़िगत हैं। किसी नवीन उद्भावना या उल्लास का प्रयोग कवि ने नहीं किया। वियोग-वर्णन के सहायक प्रकृति-चित्रण सब प्राचीन हैं।

(९) वियोग की भाव-व्यंजना में कवि ने अतुकान्त कविता का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

२६२. रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक—

(१) रामकुमार वर्मा के नाटकों पर शॉ, इब्सन, मेटरलिंक इत्यादि के नाटकों का प्रभाव है परन्तु उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति भारतीय है।

(२) आपने नाटकों में मनोवैज्ञानिक संघर्षों का सूक्ष्म विवेचन किया है और साथ ही हिन्दी-साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है।

(३) निराशाजनक परिस्थितियों के चित्रण में आप विशेष सफल हुए हैं। अधिकांशतः नाटक आपने दुखान्त ही लिखे हैं।

(४) आपके 'रेशमी टाई', 'पुरुष या स्त्री' और 'अठारह जुलाई की शाम' आदि नाटकों से वर्मा जी की आदर्शवादी कलाकारिता टपकती है। इनसे आपका सांस्कृतिक और साहित्यिक उद्देश्य की चरम भावना का पता चलता है।

(५) आपके सभी नाटकों में वस्तु-निर्माण विरह से उत्पन्न होता है और नाटकों का उद्घाटन एक कौतूहल के साथ होता है।

(६) इनके चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सौन्दर्य-युक्त और आकर्षक होते हैं। इनमें प्रौढ़ता का अभाव नहीं रहता।

(७) हृदय को अधिक-से-अधिक छूने वाली परिस्थिति पैदा करने वाले पात्रों का चयन रामकुमार वर्मा अपने नाटकों में करते हैं।

(८) पात्रों की मानसिक परिस्थिति के अनुसार ही घटनाओं का क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में संवादों का प्रयोग रामकुमार जी की विशेषता है। भाषा के कलात्मक सौन्दर्य के साथ अनुभूति-पूर्ण, हृदय-ग्राही और स्वाभाविक वाक्यों का प्रयोग आपकी रचनाओं में मिलता है। आपने प्रायः सुशिक्षित पात्रों का ही समावेश अपने नाटकों में किया है।

(९) हास्य और व्यंग्य की पुट भी इनके नाटकों में यत्र-तत्र देखने को मिलती है, परन्तु बहुत कम। इससे नाटक का गाम्भीर्य नहीं टूटता और दर्शक का मन हलका होने के स्थान पर ऊबने लगता है।

(१०) आपके नाटक रंगमंच पर सफलता से अभिनीत किये जा सकते हैं।

(११) हिन्दी के एकांकी नाटक-लेखकों में आपका एकाकी स्थान है और आपने जो रचनाएँ हिन्दी को प्रदान की हैं उनका महत्त्व भी बहुत अधिक है।

अध्याय २०

काव्य-कला सम्बन्धी निबन्ध

ललित-कला और काव्य की रूपरेखा

२६३. विषय पर दृष्टि डालते समय हमें समझ लेना होगा कि कला क्या है? सूक्ष्म रूप से उपयोगिता और सुन्दरता जिस वस्तु में हो वह कला है। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे इत्यादि का कार्य उपयोगी कला के अन्तर्गत आता है और वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला ललित-कला के अन्तर्गत आते हैं। उपयोगी कलाएँ मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए होती हैं और ललित-कला मानव के अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए। यह दोनों ही मानव के विकास के लिए परमावश्यक हैं। ललित-कला की परिभाषा बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने इस प्रकार की है, "ललित-कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित-कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।"

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है, जब वह जीवन की आवश्यकताओं के स्तर से ऊपर उठता है तो उसका शरीर रुझान सौन्दर्य-प्रधान ललित-कलाओं की ओर होता है। कोई संगीत की तरफ़ झुकता है तो कोई चित्र-कला की ओर, कोई मूर्ति-कला पर रीझता है तो कोई साहित्य पर। ललित-कलाओं के दो भेद किये जा सकते हैं, एक नेत्रगम्य (जैसे भवन-निर्माण, मूर्त्ति-कला तथा दृश्य-काव्य) और दूसरा श्रवणेन्द्रिय-गम्य (जैसे श्रव्य-काव्य और संगीत)। इन दोनों भेदों में संगीत और काव्य उत्तम कला हैं और वस्तु, चित्र तथा मूर्ति-कलाएँ मध्यम श्रेणी की। जिस ललित-कला में मूर्त्त-आधार जितना कम है वह कला उतनी ही उच्च कोटि की है। इस प्रकार काव्य का स्थान सब ललित-कलाओं में सबसे ऊँचा ठहरता है।

यहाँ हम क्रमशः पाँचों ललित-कलाओं पर विचार करेंगे। वास्तु-कला का मूर्त्त आधार ईंट, पत्थर और लोहा है। यह सभी निर्जीव वस्तु हैं। इनमें जीवन की वह मादकता कहाँ जो कविता अथवा संगीत में पाई जाती है। कोई सुन्दर-से-सुन्दर भवन देखा और समझ लिया कि यह कुतुबमीनार है, ताजमहल है, मस्जिद है, मन्दिर है इत्यादि। यहाँ विचार के लिए चिन्तन के लिए या मनन के लिए बहुत कम स्थान

है। इसीलिए पाँचों ललित-कलाओं में वास्तु-कला का स्थान सबसे छोटा है।

मूर्ति-कला में मूर्त आधार पत्थर या अन्य प्रकार की कोई वस्तु है। मूर्तिकार अपनी छैनी से काट-छाँटकर उसमें कलात्मकता पैदा करता है, मूर्ति बनाता है। परन्तु इसमें वह गति उत्पन्न नहीं कर सकता। मूर्ति बनाने में मूर्तिकार वास्तुकार की अपेक्षा मानसिक भावनाओं के चित्रित करने में अधिक सामर्थ्य रखता है। वह अपनी मूर्ति में जानदार होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है और कभी-कभी यह भ्रम वास्तविकता से अधिक कला-पूर्ण हो जाता है, चाहे उसकी उपयोगिता कुछ भी न हो। जहाँ तक उपयोगिता का सम्बन्ध है वहाँ तक वास्तु-कला मूर्ति-कला की अपेक्षा अधिक ऊँचा आसन ग्रहण करती है परन्तु ललित कलाओं के क्षेत्र में मूर्ति-कला का स्थान वास्तु-कला की अपेक्षा उच्चतम है।

चित्र-कला का मूर्त्त आधार कपड़ा, कागज इत्यादि हैं। चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा उन पर चित्र अंकित करता है। एक मूर्तिकार पत्थर का स्थूल शरीर सम्मुख रखता है और चित्रकार केवल चित्र द्वारा ही वह सब कुछ दर्शक के सम्मुख रखना चाहता है। इसलिए मूर्त आधार चित्रकार के सम्मुख मूर्तिकार की अपेक्षा कम रहता है। यहीं पर चित्रकार अपनी कला-कुशलता में मूर्तिकार से आगे निकल जाता है। वह चित्रपट पर अपनी कल्पना द्वारा ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है कि दर्शक के सम्मुख वह दृश्य उपस्थित हो जाता है जिसे वह आँखों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। चित्रकार केवल चित्र का बाहिरी आकार ही दर्शक के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता वरन् वह अपने चित्र की प्रत्येक रेखा में वह आत्मा फूंकता है कि जिससे चित्र सजीव होकर बोलना आरम्भ कर देता है और स्वयं कह उठता है कि मैं अमुक समय का, अमुक देश का और अमुक सभ्यता का चित्र हूँ। सफल चित्रकार मनुष्य अथवा प्रकृति की भाव-भंगी का प्रतिरूप, दर्शक की आँखों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है और उसमें होता है उसके अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र।

नेत्र-गम्य कलाओं के विषय में विचार करने के पश्चात् अब हम श्रव्य-गम्य कलाओं पर विचार करेंगे। संगीत का आधार नाद है जो कि मानव-कंठ और यन्त्रों द्वारा उत्पन्न होता है। यह नाद कुछ सिद्धान्तों के आधार पर सात स्वरों में बाँटकर उत्पन्न किया जाता है। एक गायक इसी नाद द्वारा अपने मानसिक भावों को श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह प्रभाव बहुत व्यापक होता है और यहाँ तक कि अच्छा गायक जीव-जन्तुओं को भी अपने संगीत के वशीभूत कर लेता है। कहते हैं गान-विद्या में इतनी शक्ति भी रही है कि उसने अपने वश में प्रकृति की शक्तियों को भी कभी कर लिया था। दीपक-राग, मेघ-राग के विषय में तानसेन इत्यादि की अनेकों किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। यदि उन्हें केवल किंवदंतियाँ भी मान लें तब भी इतना तो सत्य ही है कि संगीत में रुलाने और हँसाने की शक्ति वर्तमान है। वह मानव को क्रोध में उन्मत्त बना सकता है और साथ ही फिर शांत रस में भी डुबो सकता है। अच्छे गायक के गान का नेत्र बन्द करके सुनने से श्रोता अपने सामने

इसी दृश्य का अनुभव कर सकता है जिसका वर्णन वह अपने राग में कर रहा है। तलवारों की झंकार, विरहिणी का रोदन, पक्षियों का कलरव, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट—यह सब भाव रागों में बहुत सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किये जाते हैं। संगीत मानव की आत्मा को प्रभावित करता है। काव्य-कला के अतिरिक्त मानव को प्रभावित करने में संगीत-कला अन्य सब ललित-कलाओं से अधिक सफल है। "संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठतम सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है, एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।"—बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०।

काव्य-कला का स्थान सब ललित-कलाओं में सर्वोच्च है। काव्य-कला का आधार कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं है। इसका अस्तित्व केवल शब्दों पर अवलम्बित है। काव्य-कला नेत्र-गम्य और श्रव्य-गम्य दोनों ही प्रकार की होती है। नाटक काव्य का एक विशेष अङ्ग है जिसका रंगमंच से ही सम्बन्ध रहता है और रंगमंच का सौन्दर्य नेत्रों के ही क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। काव्यों के पठन-पाठन में भी नेत्रों से ही काम लेना होता है और उन्हीं के द्वारा काव्य को मस्तिष्क और हृदय तक पहुँचाया जाता है। संसार की सभी वस्तुओं के संकेत भाषा के पंडितों ने निश्चित कर लिये हैं और भाव तथा ध्वनि के आधार पर उनमें वह अर्थ भी व्यापक हो चुके हैं जो इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या हृदय अनुभव करता है। जीवन की घटनाओं और चित्रणों को केवल आँखों से देखना ही एक काव्यकार के लिए आवश्यक नहीं, वरन् वह तो अपने शब्दों द्वारा ऐसा चित्र पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करेगा कि एक क्षण के लिए पाठक अपने को भूलकर कवि-कल्पना में भूलने लगेगा और वह अनुभव करेगा कि वास्तव में वही चित्र जिसे वह पढ़ रहा है उसके नेत्रों का सत्य बन गया है। इन्हीं मानसिक चित्रों द्वारा काव्य का पंडित दूसरों के हृदय में अपनी पैठ करता है और वह अपनी पैनी दृष्टि द्वारा दूसरों के हृदय की परख कर लेता है। यह सब कार्य भाषा द्वारा होता है। इसलिए एक लेखक की भाषा उसकी वही वस्तु है जो मूर्ति-कलाकार की छैनी और पत्थर, चित्र-कलाकार की तूलिका और कागज और संगीतकार की मधुर ध्वनि और यंत्र। इसी के द्वारा वह अन्य जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

संसार की सभी वस्तुओं का तथा भावनाओं और कल्पनाओं का ज्ञान हमें बाह्य साधनों द्वारा और आंतरिक साधनों द्वारा होता है। बाह्य साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान बाह्य ज्ञान कहलाता है और आंतरिक साधनों द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान कहलाता है। पूर्व-संचित अनुभवों और कल्पनाओं के द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान होता है और संसार की वस्तुओं को आँखों से देखकर, हाथों से छूकर और नाक से सूँघ-कर बाह्य ज्ञान होता है। इस प्रकार हमने ज्ञान के साधनों पर विचार किया। लेखक अपनी और अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कल्पना-शक्ति का अपने काव्य में प्रयोग करता

है और इस प्रकार बाह्य तथा आंतरिक ज्ञान दोनों का ही प्रयोग वह अपने साहित्य की साधना के लिए करता है । साहित्य-कला को हमने ऊपर अन्य सभी कलाओं पर प्रधानता दी है और उसका एक प्रधान कारण यह भी बतलाया है कि काव्य-कला में अन्य कलाओं की अपेक्षा बहुत कम मूर्त्त आधार है, बल्कि यों कह सकते हैं कि बहुत कुछ हद तक है ही नहीं और मानसिक आधार को ही विशेष स्थान दिया गया है। काव्य-कला ही एक ऐसी कला है कि जो बाह्य ज्ञान का बिना आश्रय लिये मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती है वरना इसे छोड़कर अन्य सभी कलाओं को किसी-न-किसी रूप में बाह्य ज्ञान का आश्रय लेना होता है । काव्य-कला पूर्ण रूप से आन्तरिक ज्ञान पर अवलम्बित है । काव्य मन के आधार पर स्थिर है और काव्य की कल्पनाओं और भावनाओं का मूल स्रोत है। साहित्य का उद्‌गम-स्थान मन होने से यह स्पष्ट है कि उसका प्रभाव भी अन्य कलाओं की अपेक्षा मानव पर अधिक गहरा होगा। काव्य का भंडार प्रतिक्षण और प्रतिपल वृद्धि की ही ओर चलता जाता है। उसका विनाश नहीं होता, वह तो कंजूस की तिजोरी है जो उसमें कुछ डालना सीखा है निकालना नहीं। मूर्त्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, चित्र फट जाते हैं परन्तु साहित्य जो एक बार संसार मे आ चुका फिर जाने वाला नहीं। मानव-सृष्टि के आरम्भ से मानव ने जो अनुभव किया, देखा, सोचा और कल्पनाएँ कीं वह सब उसके साहित्य में धरोहर सुरक्षित रखा है। मानव के लिए यह महाजन की कितनी मूल्यवान हो सकती है इससे इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

संक्षिप्त

१. कला की उपयोगिता और उसका सौन्दर्य।
२. कला और उसके विभाग।
३. ललित-कलाओं के मूल आधार।
४. वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला।
५. ललित-कलाओं का ज्ञान।
६. काव्य-कला की अन्य सब कलाओं पर प्रधानता और उसके कारण।

काव्य क्या है ?

२६४. साहित्य—साहित्य मानव के विचारों, भावनाओं और संकल्पों की संसार के प्रति भाषामय अभिव्यक्ति है। साहित्य वह है जिसमें अर्थ और हित दोनों निहित हों। शब्द और अर्थ , विचार और भाव दोनों का समन्वय जिस काव्य में हो वही साहित्य है। साहित्य को अंग्रेजी में लिटरेचर (Literature) और अरबी में 'अदब' कहते हैं। काव्य का स्थान साहित्य में बहुत ऊंचा है । साहित्य का हृदय और मस्तिष्क भी हम काव्य को कह सकते हैं।

काव्य के पक्ष—काव्य के दो पक्ष होते हैं, अनुभूत-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष जिसे भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं। काव्य में रागात्मकता, कल्पना, बुद्धि

और शैली का सामंजस्य होता है। कवि अपने काव्य में रागात्मकता को प्रधानता देता है क्योंकि उसके काव्य की आधार-शिला अनुभूति है। कवि कल्पना द्वारा नये चित्र उपस्थित करता है और शैली द्वारा इन सब की अभिव्यक्ति करता है। शैली और रागात्मकता के संतुलन के लिए कवि बुद्धि का प्रयोग करता है और इस प्रकार वह सफल काव्य का निर्माण कर पाता है।

काव्य की परिभाषा और आत्मा— भरत मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और दण्डी तथा मम्मट आचार्यों ने अलंकार को। हिन्दी में आचार्य केशव ने दूसरे मत का प्रतिपादन किया है परन्तु वह प्रणाली हिन्दी में मान्य नहीं हुई। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मटाचार्य ने 'गुण-युक्त और दोषरहित-रचना' को काव्य कहा है, चाहे उसमें अलंकार न हों। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रागात्मक तत्त्व को प्रधानता देकर लिखा है, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" इस प्रकार हम काव्य की यह परिभाषा कहते हैं—"काव्य वह सरस रचना है जिसमें गुणों की प्रधानता और दोषों का अभाव हो। आवश्यकतानुसार ध्वनि और चमत्कार का भी प्रयोग उत्तम काव्य में होना चाहिए। रस वास्तव में काव्य की आत्मा है।"

काव्य के अंग—काव्य के आचार्यों और लेखकों ने काव्यों के अनेकों भेद किये हैं। कवि अथवा लेखक अपनी अनुभूति के स्पष्टीकरण के लिए जिस मार्ग को भी अपनाता है, बस, वही काव्य का एक अंग बन जाता है। काव्य के प्रधानतया दो भेद माने गये हैं, विषय सम्बन्धी (Subjective) जिसे गीतात्मक (Lyric) भी कह सकते हैं और दूसरा वस्तु सम्बन्धी (Objective) जिसे प्रकथनात्मक (Narrative) कहते हैं। महाकाव्य, खंडाकाव्य और मुक्तक रचनाएँ प्रकथनात्मक रचनाएँ है। जिस प्रकार पद्य-क्षेत्र में महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक आते हैं उसी प्रकार गद्य-क्षेत्र में उपन्यास, कहानी और गद्य-काव्य लिखते हैं। गद्य का क्षेत्र पद्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है इसलिए गद्य में उपन्यास, कहानी और गद्य-गीत के अतिरिक्त हमें निबन्ध, जीवनी इत्यादि इसके अन्य विभाग भी मिलते हैं। पद्य-क्षेत्र में इस प्रकार की रचनाएँ नहीं की जा सकतीं। काव्य के क्षेत्र में गद्य और पद्य सब समान रूप से आते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य, गद्य गीत, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी और समालोचना के अतिरिक्त काव्य का एक और प्रधान विभाग नाटक रह जाता है। नाटक में गद्य और पद्य दोनों का सामंजस्य मिलता है। प्राचीन नाटकों में कविता की प्रधानता थी, तो वर्तमान नाटकों में गद्य की। काव्य के ऊपर दिये गये पदों के अतिरिक्त दो और भी भेद किये जाते हैं। भारतीय शास्त्रज्ञों ने काव्य-भेद श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य किये हैं। श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत केवल नाटक जिसे रूपक भी कहते हैं, आता है। नाटक 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों के अन्तर्गत समान रूप से आता है, क्योंकि इसका

आनन्द पढ़कर और रंगमंच पर देखकर दोनों ही प्रकार से प्राप्त होता है।

व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान जो ऊपर काव्य के दो भेद पश्चिमी विद्वानों ने निर्धारित किये हैं वह भी सदोष ही है, क्योंकि दोनों के बीच कोई निश्चित रेखा खींचना कठिन है। भावना, व्यक्ति और विषय को पृथक्-पृथक् करना कठिन कार्य है। इनका मेल इतना घनिष्ठ है कि पृथक्-पृथक् करने का प्रयास विडम्बना-मात्र है। कोई गीति-काव्य ऐसा नही हो सकता कि जिसका बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध ही न हो और महाकाव्य कोई ऐसा नही लिखा जा सकता कि जिसमें कवि की आर्त्त आत्मा की भावनाओं की अभिव्यक्ति पाई ही न जाती हो। इस प्रकार सीमा निर्धारित करने में केवल भाव की प्रधानता को ही महत्त्व दिया जाता है।

काव्य के आकार विषयक भेद और उनकी विशेषताएँ—आकार के आधार पर श्रव्य-काव्य के तीन भेद किये जाते हैं—गद्य, पद्य और मिश्रित (चम्पू)। दृश्य-काव्य में नाटक या रूपक आता है। पद्य में जहाँ संगीतात्मकता की विशेषता रहती है। वहाँ गद्य में चरित्र-चित्रण और स्पष्टीकरण अधिक उत्तम रूप से किया जा सकता है। आकर्षण दोनों में किसी प्रकार कम नही होता। पद्य का आनन्द लाभ जहाँ सब पाठक नही ले सकते वहाँ गद्य में कहानी ने आज के युग में इतनी प्रधानता प्राप्त कर ली कि वह काव्य का सर्वप्रिय अंग बन गई है। इसका सबसे प्रधान कारण यही है कि कहानी और गद्य जीवन के अधिक निकट तक पहुँच सकते हैं। कविता जहाँ जीवन के गूढ़ रहस्य के उद्घाटन में अधिक सफल हो सकती है वहाँ उपन्यास और कहानी जीवन की साधारण नित्य के व्यवहार में आने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण इतने रोचक ढंग से कर सकते हैं कि पाठक उनमें अपनेपन का अनुभव करने लगता है।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्य में तारतम्य पाई जाती है, कथा लड़ीबद्ध रहती है, क्रम नहीं टूटता। जैसे—कामायनी।

मुक्तक-काव्य—मुक्तक-काव्य तारतम्यता, क्रमबद्धता और लड़ीबद्धता से मुक्त होकर चलता है। स्वच्छंद, अबाध और मुक्त धाराओं में बिहारी सतसई, पल्लव, गुञ्जन, यामा, अनामिका, निशा-निमंत्रण इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

महाकाव्य—महाकाव्य प्रबन्ध-काव्य का भेद है, इसका विशाल आकार भावों की उदारता और जीवन की अनेकरूपता को लिये हुए रहता है। रामायण, कामायनी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

खण्ड-काव्य—खण्ड-काव्य भी प्रबन्ध काव्य का भेद है और इसमें जीवन के एक खण्ड विशेष पर कवि प्रकाश डालता है। जयद्रथ-वध, पंचवटी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

उपन्यास, कहानी, निबन्ध—उपन्यास, कहानी और निबन्ध के विषयों पर हमारी इसी पुस्तक में पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण निबन्ध दिये गये हैं।

इस प्रकार हमने काव्य का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करके देखा कि काव्य साहित्य का वह प्रधान अंग है कि जिसके अन्तर्गत गद्य और पद्य की प्रबन्ध तथा मुक्तक

सभी रचनाएँ आ जाती हैं। इन सभी रचनाओं की आत्मा 'रस' है और अलंकार, ध्वनि तथा चमत्कार उसके आकर्षण। आकर्षण और रस यही दोनों वस्तु काव्य को साहित्य का प्रधान अंग बनाए हुए हैं और यही काव्य की विशेषताएँ हैं। साहित्य के अन्तर्गत जहाँ इतिहास, भूगोल, गणित इत्यादि सब आते हैं वहाँ काव्य के अन्तर्गत केवल ललित-साहित्य ही आता है।

संक्षिप्त

१. साहित्य क्या है और काव्य का उससे क्या सम्बन्ध है ?
२. काव्य के प्रधान अंग कौन-कौन से हैं ?
३. काव्य की परिभाषा और उसकी आत्मा ?
४. काव्य के प्रधान अंग और उसकी परिभाषाएँ।
५. काव्य के आकार, विषय-भेद और उनकी विशेषताएँ।

साहित्य की क्या उपयोगिता है ?

२६५. मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना कला का क्षेत्र है। उपयोगिता और फिर सौन्दर्य प्रधान उपयोगिता, बस यही कला की विशेषता है। कोनैन खाकर ज्वर उतर जाता है परन्तु कोनैन खाने का नाम सुनकर भी ज्वर चढ़ आता है। इसलिए कोनैन उपयोगी होते हुए भी अपने अन्दर सौन्दर्य का समावेश नहीं रखती। इसके विपरीत एक वीर सैनिक युद्ध-क्षेत्र में सनसनाती हुई गोलियों के समक्ष जा रहा है, रण-वाद्यों को सुनता हुआ मस्त हाथी की तरह और मन में तनिक भी भयभीत नहीं होता। वह रण-वाद्य अपने अन्दर एक बल रखते हैं और वह बल है उस कला का, संगीत का।

इस प्रकार काल और उपयोगिता दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं है जैसा कि कुछ कला के पुजारी या जिन्हें व्यभिचारी कहा जाय, मानते आये हैं। हिन्दी-साहित्य के रीति काल में इस भावना ने विशेष जोर पकड़ा था। सभी कलाएँ कला-उपयोगिता को लेकर चली हैं, केवल कल्पनाओं पर आधारित होकर नहीं चलीं। कल्पना भी यदि सत्य को ठुकराकर चलेगी तो अपना महत्त्व खो बैठेगी; न उनमें सौन्दर्य ही रहेगा और न वह मिठास ही।

संक्षिप्त रूप से हिन्दी के इतिहास पर भी हम दृष्टि डाल सकते हैं। वीरगाथा-काल का साहित्य पहिले उपयोगी था बाद में कलात्मक, इस प्रकार भक्ति-काल का साहित्य पहले उपयोगी था उसके पश्चात् कलात्मक, परन्तु रीतिकाल में यह दृष्टि-कोण बदल गया। बदल इसलिए गया क्योंकि पराधीनता के काल में ऐश और आरामतलबी का साम्राज्य छा गया और भक्ति के प्रतीकों को शृंगार का आश्रय बनाकर कवियों ने प्रयोग किया। कवि जीवन-विहीन होकर शृंगारिक कला के हाथों में खेलने वाले वह कल-पुर्जे बन गये जो सुई के नक्शे में से केवल एक ही

नम्बर का सूत निकाल सकते थे। कवियों की स्वाभाविकता नष्ट हो गई, उनकी स्वाधीनता नष्ट हो गई, उनकी कल्पना नष्ट हो गई और वहाँ पर रह क्या गई केवल एक प्रणाली के ही अनुसार निर्जीव छन्दों का मदारी की तरह इधर-उधर नचाना।

यह था कला का पतन-काल। यह कला में उत्थान नहीं था। कला अपने उत्थान में देश का, समाज का, जाति और सब के साथ विश्व के उत्थान का संदेश लेकर चलती है। उसमें संकीर्णता नहीं होती, उसमें होती है व्यापकता, प्रस्फुटन, एक विशाल चिंतना, एक महान् आदर्श जो सुन्दर होने के साथ-ही-साथ उपयोगी भी होता है। कला की उपयोगिता में सौन्दर्य का होना अनिवार्य है।

कला जीवन का ही एक अंग है, इससे पृथक् कोई वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दो युवतियों को ही लीजिए। दोनों एक ही अवस्था की हैं और यौवन के पूर्ण वेग में बह रही हैं परन्तु एक में भोलापन है और दूसरी में चांचल्य। भोली बालिका फटे वस्त्र पहने है परन्तु उसका यौवन फूटा पड़ रहा है, उसने लिपिस्टिक का प्रयोग नहीं किया हुआ है परन्तु उसके कपोलों की लालिमा गुलाब के पुष्प को भी लजा रही है और दूसरी बालिका ने बाहरी आवरणों से अपने शरीर को सजाया हुआ है। अब यदि दोनों किसी कवि के सम्मुख जायें तो उस फटे वस्त्र वाली बालिका को ही वह अपनी कविता की नायिकास्वरूप स्वीकार करेगा। क्योंकि उसके स्वाभाविक सौन्दर्य मे कला के लिए स्वाभाविक निमंत्रण है। यह निमंत्रण बनावट में कहाँ ? कला जीवन की बनावट पर नहीं जाती वह तो आकर्षित होती है जीवन की निर्मलता पर, जीवन की पवित्रता पर और सच तो यह है कि वह जीवन की वास्तविकता को प्रेम करती है।

आज का युग क्या चाहता है ? क्या है आज के युग की पुकार ? वह कहता है वास्तविकता की ओर चलो, बनावट से मानव ऊब चुका है। भारत का कलाकार भी आज वास्तविकता की खोज कर रहा है और उसी में उसे मिली है अपनी कला की उपयोगिता। कला जीवन के लिए है, कला समाज के लिए है, कला देश के लिए है। यह सत्य कला पर विचार करते समय कभी नहीं भुलाना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द ने कला का जो दृष्टिकोण संसार के सम्मुख रखा है वह हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि विश्व-साहित्य में बहुत कम कलाकार रख सके हैं। खेद का विषय है कि उस महान् कलाकार के विचारों को समाज उस समय उचित आदर न दे सका और उसकी रचनाओं का अन्य भाषाओं में प्रकाशन न हो सका, उसे उचित सम्मान और स्थान न मिल सका परन्तु वह हिन्दी-साहित्य में कला का ऐसा रूप प्रस्तुत कर गया कि जिसकी छाप कविता, कहानी, नाटक, सभी पर पड़े बिना न रह सकी। इस उपयोगिता ने ही प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया और रूस के साहित्य तथा विचारावली का भी इस पर प्रभाव पड़ा।

समय बदल गया, युग बदल गया। मूर्ति-कला में नंगी तस्वीर बनाने का

समय निकल गया। चित्र-कला में भी नंगी नारियों के स्तन मात्र दिखलाने से आज काम नही चलेगा। संगीत में अभी भी नारियों की विरह-कथा का बोल-बाला है, परन्तु यह तो जीवन की चिरसंगिनी है और उपयोगिता मे इसका स्थान किसी प्रकार अन्य भावनाओं से पीछे नही रहता। आज भिखारियों के चित्रों को लोग पसन्द करते है, किसानों के चित्रों में सौन्दर्य दिखलाई देता हे, किसान काव्यों के विषय बनकर काव्यकार के मस्तिष्क में आते हैं, श्रमजीवी के परिश्रम से प्रभावित होकर कवि रचना लिखते हं और उनसे प्रभावित होकर समय करवट लेता जा रहा है। यह समय की प्रगति है जो रुक नही सकती और रुकनी भी नही चाहिए क्योकि वह जीवन में कर्मण्यता का पाठ पढ़ाती है, अकर्मण्यता का नही; प्रगति की ओर ले जाती है रूढ़िवादी की ओर नही; कुछ करना सिखाती है, आलस्य मे पड़े-पड़े जीवन व्यतीत करना नही; जीवन में उपयोगिता लाना चाहती है केवल सौन्दर्य और वह भी वासनामय सौन्दर्य मात्र नही। आज का युग इस प्रकार की कला के उत्थान में प्रयत्नशील है और आज के कलाकार जीवन के इस उपयोगितावादी मर्म को भली प्रकार समझ चुके है। यह व्यर्थ की झूठी प्रयोजन-विहीन कलात्मकता में फसे रहकर अपनी कल्पनाशील, चिंतनशील, अनुभवशील, भावनाशील मनोवृत्तियों को कुण्ठित करना नहीं चाहते, वह चाहते हैं उपयोगिता के साथ एक प्रगति, और इस मार्ग में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिल रही है। हिन्दी के वर्तमान लेखक इस प्रकार का साहित्य सृजन करने मे बहुत प्रयत्नशील हैं।

समय-समय पर कला के पुजारियों ने कला के अपने-अपने विचारों के आधार पर अर्थ लगाकर कला की परिभाषाएँ निर्धारित की है। वह कहते हैं—

कला कला के लिए है।
कला जीवन के लिए है।
कला उपयोगिता के लिए है।
कला जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए है।
कला सेवा के लिए है।
कला आत्मानंद का दूसरा नाम है।
कला आत्माभिव्यक्ति के लिए है।
कला विनोद और विश्राम के लिए हैं।
कला में सृजनात्मकता होनी आवश्यक है।

हम कला में इन सभी गुणों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं यदि उसमें उपयोगिता का अभाव न हो, क्योंकि उपयोगिता कला का प्रधान गुण होना चाहिए।

आज साहित्य-कला पर हमारे देश का भविष्य आधारित है। हमारे बच्चों का जीवन उसी साहित्य के कर-कमलों में पलकर संसार के सम्मुख आयगा। जिस प्रकार का वह साहित्य होगा उसी प्रकार के हमारे आने वाले बालकों के चरित्र भी होंगे। यदि हमारे साहित्य में उपयोगिता का अभाव हो गया तो हमारे बच्चों के

जीवनों में उपयोगिता कहाँ से आयेगी, वे बच्चे होंगे हमारे साहित्य की छाया, प्रतिबिम्ब। इसलिए अच्छे कलात्मक साहित्य में उपयोगिता का होना उतना ही आवश्यक है जितना दूध में घी का होना अथवा उसमें मिठास का होना।

संक्षिप्त

१. कला में उपयोगिता और सौन्दर्य का सम्मिश्रण होना चाहिए तभी वह अधिक उपयोगी भी हो सकती है।

२. कला का निर्माण भी उपयोगिता के ही आधार पर हुआ है और होना भी चाहिए। जब जब कला ने उपयोगिता को ठुकराया है, उपयोगिता ने कला को ठुकरा दिया है।

३. देश, समाज और विश्व के हित के लिए उपयोगी कला को ही कलाकारों को अपनाना चाहिए। इसी में देश का कल्याण है।

४. हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि साहित्यकारों ने *उपयोगिता को कभी नहीं भुलाया।*

५. रीति-काल काव्य-कला का पतन-काल था।

६. आज का साहित्य कला में स्वाभाविकता चाहता है, जीवन चाहता है और चाहता है दैनिक जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियाँ।

७. साहित्य पर देश और जाति का भविष्य अवलम्बित है।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है

२६६. साहित्यकार समाज का एक प्राणी है। जो कुछ वह लिखता है अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर लिखता है। समाज के व्यवहार, धर्म, कर्म, वातावरण, नीति और रीति-रिवाज किसी-न-किसी रूप मे उसके काव्य में आये बिना नही रहते। आदि कवि वाल्मीकि ने भी आदि-काव्य रामायण में अपने समय की राज्य कुटुम्ब की व्यवस्था को लेकर उसे आदर्श रूप दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में भी यही किया है। साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि समाज का साहित्य से कितना घनिष्ठतम सम्बन्ध है। शेक्सपीयर के नाटकों में रानी विक्टोरिया के समय के समाज का प्रतिबिम्ब है और बर्नार्ड शॉ के साहित्य में आज के युग का। प्रेमचन्द के उपन्यासों में १९३० और उससे पहिले भारत के सामाजिक आन्दोलनों के बिम्ब हैं, और इसी प्रकार मैथिलीशरण के काव्य में भी। काव्यकार क्योंकि समाज का एक अंग है इसलिए वह समाज से बाहर जाकर कोई चमत्कारपूर्ण रचना नहीं कर सकता और यदि करता भी है तो वह समाज में अपनायी नहीं जा सकती, क्योंकि उसमें अपनेपन का अभाव रहता है।

साहित्य में समाज का दो प्रकार का प्रतिबिम्ब मिलता है, एक विपक्षी और

दूसरा प   ' भाज का विपक्षी साहित्य होता है वह समाज की कटु आलोचना करके उसकी कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करता है । वह समाज की पुरातन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है और यही विद्रोह की भावना लेकर एक विस्फोट की भाँति आता है। उसमें मंडन न होकर खंडन की प्रवृत्ति होती है। वह निर्माण न करके विनाशकारी प्रवृत्ति से अधिक प्रेरित रहता है। वर्तमान प्रगतिवादी साहित्य इस प्रकार के साहित्य का प्रतीक है। यह साहित्य एक नया समाज चाहता है, नये रीति-रिवाज चाहता है। धर्म के बखेड़ों से मानव को मुक्त कर देना चाहता है, जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ देना चाहता है ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा यह सब कुछ, यह कुछ नहीं देखना चाहता। यह समाज की किसी मान्यता को नहीं मानता। इसकी मान्यताएँ नवीन हैं, इसका सामाजिक ढाँचा नवीन है, इसकी कल्पनाएँ नवीन हैं और इसकी विचारधारा नवीन है। इस साहित्य में हमें समाज का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है परन्तु आने वाले समाज की यह साहित्य आधार-शिला होता है। इस प्रकार के साहित्य को हम समाजगत न कहकर व्यक्तिगत कहेंगे।

दूसरा साहित्य वह है जो समाज की मान्यताओं को मानते हुए सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ लेकर चलता है। वह समाज को जैसा देखता है वैसा-का-वैसा ही चित्रित भी करता है। वह सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना नहीं करता और न क्रान्ति-दृष्टा ही होता है। कहीं-कहीं पर यह समाज की त्रुटियों की उपेक्षा भी करता है। समाज की नीति, धर्म, मर्यादा इत्यादि का यह खण्डन नहीं करता। यह समाज की स्वीकृति का साहित्य है, जिसमें समाज का स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। यह साहित्य अपने समय की परिस्थितियों से सन्तुष्ट रहता है, समय की वाह-वाह इसके साथ रहती है और समाज के प्रति असन्तोष की भावना इसमें नहीं रहती। इस साहित्य में गति कम होती है और भविष्य के प्रति विचार भी कम होता है। यह अपने ही काल से सन्तुष्ट रहता है। यह साहित्यपूर्ण रूप से समाजगत होता है और इसमें व्यक्ति की प्रधानता न होकर समाज की प्रधानता रहती है।

ऊपर हमने साहित्य को व्यक्तिगत और समाजगत दो भागों में विभक्त किया है। पर दोनों प्रेरणा समाज से ही प्राप्त करते हैं। उद्गम एक होकर भी मूल दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। समाजगत साहित्य में प्रतिक्रिया मिलती है। वह समाज को ज्यों-का-त्यों स्वीकार ही नहीं करता वरन् उसकी रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न होता हुआ भी नहीं देख सकता। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उसके अन्दर एक मोह रहता है, एक प्रेम रहता है और आकर्षण भी। इसके ठीक विपरीत व्यक्तिगत साहित्य समाज में उथल-पुथल कर देना चाहता है; वह चाहता है परिवर्तन, एक क्रान्तिकारी परिवर्तन। यह वर्तमान पर दृष्टि न डालकर भविष्य पर ही देखता है। वह ज्यों-का-त्यों रहने का आदी नहीं, वह तो प्रगति चाहता है धर्म में, समाज में, रीति रिवाजों में और यहाँ तक कि राजनीति में भी। जहाँ पहिले प्रकार का साहित्य समाज में स्थिरता चाहता है वहाँ दूसरे प्रकार का साहित्य उसमें ताजगी लाने का

प्रयत्न करता है और समय के पुरानेपन के कारण उसमें जो सड़न पैदा हो गई है उसे काटकर फेंक देना चाहता है।

भक्ति काल, रीति-काल और वर्तमान काल के सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मानकर चले हैं। कुछ सुधारात्मक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कोई क्रान्ति की भावनाएँ उनमें नहीं मिलतीं। अपने-अपने काल का प्रतिबिम्ब उन साहित्यों में स्पष्ट रूप से वर्तमान है। उन्हें पूर्ण रूप से स्वीकृति की भावना है, विद्रोह की नहीं। यही कारण था कि इस साहित्य के सृजनकर्त्ता अपने समय में पूजे गये, सम्मानित हुए और उनकी रचनाओं को समाज ने अपना कहकर अपनाया। सन्त साहित्य ने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया, एक क्रान्ति पैदा करने का प्रयत्न किया, इसीलिए समाज ने उनकी उपेक्षा की और उन्हें वह सम्मान न मिल सका जो भक्त कवियों को प्राप्त हुआ। आज के युग के प्रगतिशील लेखक समाज के कटु आलोचक हैं। वह समाज के रीति-रिवाजों पर गहरी चोट करते हैं और उसकी मान्यताओं को नहीं मानते। सुधारवादियों में भी क्रान्ति की लहर दौड़ रही है। समाज की रूढ़ियों को ज्यों-का-त्यों मानकर चलने वाले साहित्य को संघर्ष के अन्दर से होकर नहीं निकलना होता और दूसरे वर्ग को प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए समाज से टक्कर लेनी होती है। पहिले प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब सुविधाएँ हैं और दूसरे प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब असुविधाएँ ही असुविधाएँ हैं।

समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य में दो प्रकार से आता है। एक प्रत्यक्ष रूप से और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से। जिस साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब होता है वहाँ पर समाज को आधार रूप से लेकर लेखक चलता है और जहाँ अप्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब आता है वहाँ साहित्य में समाज आधारस्वरूप न आकर गौण रूप से आता है, परन्तु कोई भी साहित्य ऐसा नहीं लिखा जा सकता कि जिसे लेखक समाज से नितान्त अछूता ही रख सके। हम ऊपर भी कह चुके हैं कि लेखक समाज का एक अंग मात्र है और वह कोई भी रचना ऐसी नहीं लिख सकता कि जिसमें उसके अपने व्यक्तित्व की कहीं-न कहीं पर झलक न आ जाय और यदि कहीं पर भी उसके साहित्य में अपनी झलक आ जाती है तो वह झलक उसकी अपनी न होकर समाज की ही होती है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कोई भी कवि अथवा लेखक ऐसा नहीं है कि जिसके साहित्य में उसके समय की छाप न मिलती हो। यही दशा संसार के सभी साहित्यों की है। इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य समाज से दूर रहकर अपना स्वतन्त्र रूप से निर्माण नहीं कर सकता। कला कला के लिए चिल्लाने वाले कलाकार भी समाज से अपने को पृथक् करके नहीं चल सकते। उनके साहित्य में भी किसी-न-किसी रूप में समाज की झलक आ ही जाती है।

संक्षिप्त

१. कलाकार समाज का प्राणी है, इसलिए उसके साहित्य में समाज का प्रति-

बिम्ब आना अनिवार्य है ।

२. संसार के सभी देशों के साहित्यिक इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इन देशों का समाज जब-जब जैसी-जैसी धाराओं में बहा है उसका उनके साहित्य पर अवश्यम्भावी प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ है ।

३. साहित्य समाजगत और व्यक्तिगत दो प्रकार का होता है परन्तु व्यक्तिगत साहित्य पर भी अप्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रभाव रहता है, क्योंकि दोनों के मूल में समाज ही है ।

कविता क्या है ?

२६७. साहित्य दर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है । रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के समूह को रसगंगाधर के रचयिता ने काव्य कहा है । काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनों ही आ जाते हैं । यहाँ हम केवल कविता विषय पर ही विचार करेंगे । जिस पद्यमयी रचना को पढ़कर चित्त आह्लादित हो उठे, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, मन सांसारिक दुःख को भूलकर आनन्द-विभोर हो उठे उसे कविता कहते हैं । इस विषय पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार देखिये—

"कविता वह साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है । राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहने वाली अन्तःकरण की वृत्ति से है । जिस प्रकार निश्चय के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का बाह्य या प्रत्यक्ष मानस अपेक्षित होता है । यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय है ।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है । यदि इन प्रवृत्तियों को समेटकर मनुष्य अन्तःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या सन्देह है ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, को देख क्षण भर लीन न हुआ, तो उसके जीवन में रह क्या गया ? नाना रूपों के साथ मनुष्य की रागात्मिका प्रवृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है । वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रयोग करती है ।

कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है । हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं, कोई अनुचित

या निष्ठुर काम हमे असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हे। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है तो हमें आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिए कविता मन में वेग उत्पन्न करती है।

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है।

मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिए वश में किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते, जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'सदा सच बोलो', 'चोरी करना महा पाप है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा; झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। परन्तु कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थानों को स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कामों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है।

परन्तु केवल मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही कविता का धर्म नहीं है। कविता केवल विलास की सामग्री नहीं। क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री हैं? यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होता है तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य होता है। हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार-रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान्

रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृ-भक्ति आदि की छटा देखते हैं, भरत के सर्वोच्च स्वार्थ-त्याग और सर्वांगीपूर्ण साहित्यिक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दण्डता का चित्र देखते हैं, तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है ? अब देखिये, कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम, भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है, जिसके द्वारा यह लोक देव-लोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना बंडल बाँधता आ रहा है, जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी-कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी-प्रकृति को जागृत रखने के लिए कविता मनुष्य-जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पाय।

कविता सृष्टि-सौन्दर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त कराती है कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौन्दर्य चित्त में अंकित कराती है। उसी प्रकार आदर्श, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौन्दर्य भी दिखाती है। जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं। उनका सुन्दर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दश-वदन निधन-कारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा ? जो कविता रमणी के रूप-सौन्दर्य से हमें आह्लादित करती है, वही उसके अन्तःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती है। बाह्य सौन्दर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार संतोष होता है, उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य से भी। जिस प्रकार वन, नदी, पर्वत, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम स्वार्थ-त्याग, दया-दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनन्दित होते हैं। कविता सौन्दर्य और सात्विक वृत्ति या कर्तव्य परायणता नहीं देखना चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिए कवियों ने प्रायः रूप-सौन्दर्य और अन्तःकरण के सौन्दर्य का मेल कराया है।

जो लोग स्वार्थ-वश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग

करते हैं, वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों को कविता न करनी चाहिए। कविता उच्चारण, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य-मात्र के हृदय में सौन्दर्य का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नही समझता।

कविता की भाषा—कविता का सम्बन्ध संगीत से है, इसलिए कविता की भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुणों का होना आवश्यक है। कविता में कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग अखरता है और सरस शब्द उच्चारण में अच्छे प्रतीत होते हैं। स्वराघात का ध्यान रखते हुए भाषा का कविता में प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा न होने पर कविता गायक और पाठक दोनों की ही प्रिय नहीं बन सकती। भाषा कविता का शरीर है। आत्मा के सौन्दर्य के साथ-साथ शरीर-सौन्दर्य की भी आवश्यकता होती है। पाठक अथवा श्रोता का प्रथम आकर्षण कविता के बाह्य रूप के ही कारण होता है और फिर वह कविता की अन्तरात्मा तक पहुँचता है। साधारणतया सभी पाठक कविता की अन्तरात्मा तक पहुँच भी नहीं पाते है और यदि उनके सामने बाह्यरूप से कुरूप कविता आय तो वह उसके पठन-पाठन से भी वंचित रह जाते हैं। कविता को यदि हम एक नारी का रूप मान लें तब भी उसका प्रथम आकर्षण उसका रूप, उसका सौन्दर्य ही रहेगा। नारी का स्वभाव, उसका शील, उसका कर्त्तव्य यह बाद की वस्तु हैं जिन्हें पहचानने और जानने में समय लगता है, कठिनाई होती है और कभी-कभी असफलता भी हो जाती है। यही दशा कविता की भी है। इसलिए कविता के अर्थ और भावों के साथ-साथ उसकी भाषा में सौन्दर्य आना भी आवश्यक है।

कविता के गुण—गुणों का सम्बन्ध विशेष रूप से रसों में रहता है। कविता में रसों का होना जितना आवश्यक है उतना ही गुणों का भी। प्रसाद, ओज, माधुर्य इत्यादि गुण कविता में रसों के साथ भावों के अनुसार ही कवि रख सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि कविता में जैसा रस चल रहा है उसमें उसी प्रकार की भाषा और गुण कवि को प्रयोग करना चाहिए। गुण और रसों में विभिन्नता हो जाने से काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए लेखक को रस और गुण का सामंजस्य करके अपनी रचना को उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

रस—रस कविता की आत्मा है। रीतिकालीन कवियों ने कविता में अलंकारों को प्रधानता दी है परन्तु आज के युग में उनका सिद्धान्त मान्य नहीं है। आज के युग के आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकारों को काव्य के सौन्दर्य की सामग्री मात्र। अब यह विवाद समाप्त हो चुका है। आज अलंकार वर्ण्य-विषय न रहकर केवल सौन्दर्य बढ़ाने का साधन-मात्र रह गये हैं। रस-विहीन काव्य नीरस होने से काव्य ही नहीं रहता, न उसमें कोई सौन्दर्य होता है और न हृदय-ग्राहिता। इसलिए कविता में रस का होना नितान्त आवश्यक है। कविता में कुछ-न-कुछ पुराने शब्द भी आ जाते हैं। उनका थोड़ा-बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम देते हैं। अंग्रेज़ी

कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। 'Main', 'Sawain' (मेन, स्वेन) आदि शब्द ऐसे ही हैं। अंग्रेज़ी कविता समझने के लिये इनसे परिचित होना आवश्यक है पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिएँ, वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। कविता में कही गई बातें चित्र-रूप में हमारे सामने आती हैं, संकेत रूप में नहीं आतीं।

श्रुति सुख-दाता, भाव-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्ति-विधान और अंत्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए है। बिना इसके कविता करना अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिए। कुछ लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते। छन्द और तुक दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश्य से रखे गये हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय और दूसरा नहीं? नाद सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रन्थाश्रयविहीन होने पर भी किसी-न-किसी अंश में लोगों के कंठ में बनी रहती है। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

अलंकार—कविता में भाषा को खूब ज़ोरदार बनाना पड़ता है। उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्रण चटकीला करने और रस-परिपाक के लिए कभी वस्तु के रूप और गुण को वैसा ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिए उसके समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। जहाँ किसी प्रकार की रस व्यंजना होगी, वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारिता प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार कुरूपा स्त्री अलकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार-स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती।

संक्षिप्त

१. कविता की परिभाषा, जीवन से सम्बन्ध और उपदेशात्मकता।
२. कविता की भाषा, कविता के गुण और कविता में रस।
३. श्रुति, आनन्द और अलंकार।

रूपक (नाटक) की रूपरेखा

२६८. रूपक दृश्य-काव्य है। यह श्रव्य-काव्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावों-

त्पादक है, क्योंकि इसमें कल्पना को दृश्यों का प्रत्यक्ष आश्रय मिलता है। नाटक में स्थापत्य, चित्र-कला, संगीत, नृत्य और काव्य इन सभी कलाओं का सामंजस्य मिलता है। भरत मुनि ने कहा है योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय। नाटक में केवल वर्णन-मात्र ही नहीं होता वरन् उनका प्रदर्शन भी नेत्रों के सम्मुख आता है। शास्त्रीय भाषा में नाटक को रूपक कहते हैं। नाटक में रस का संचार काव्य और अभिनय, दोनों के ही द्वारा होता है, इसलिए अन्य काव्यों की अपेक्षा नाटक रस-प्रवाह में सबसे अधिक सफल हुआ है। नाटक अनुकरण का दूसरा नाम है। हम नाटक में दूसरों की आत्माभिव्यक्ति कर लेते है और इस प्रकार रसास्वादन करते हैं। नाटक में पारस्परिक परिचय प्राप्त होता है और अनुकरण द्वारा हम दूसरों के जीवन में अपनी पैठ कर लेते हैं।

नाटक के प्रधान तत्व—नाटक के कथानक में पात्रों की विशेषता रहती है। चरित्र-चित्रण नाटककार अपने मुख से कहकर अभिनय अन्य पात्रों द्वारा कराता है। कथानक भी कथनीय कथनों द्वारा ही प्रस्फुटित होता है। पात्रों का भाव-भंगी और क्रिया-कलाप भी इसमें सहायक होते हैं। नाटक लिखने का कुछ-न-कुछ उद्देश्य भी अवश्य रहता है। उसका सम्बन्ध धर्म, समाज, जाति अथवा इतिहास किसी से भी हो सकता है। इस प्रकार इन सभी कार्यों की पूर्ति के लिए नाटक में कथावस्तु, पात्र, चरित्र चित्रण, अभिनय और रस के उद्देश्य का होना नितान्त आवश्यक है। नाट्य-शास्त्र में नाटक के चार तत्त्व माने हैं—वस्तु, पात्र, रस और अभिनय। कुछ आचार्य वृत्ति को पाँचवाँ तत्त्व मानते हैं। वृत्ति वास्तव में क्रिया-प्रधान शैली है जो कि अभिनय के अन्तर्गत भी आ सकती है।

कथावस्तु—नाटक का कथानक 'वस्तु' कहलाता है। अंग्रेजी में इसे प्लाट (Plot) कहते हैं। यह मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है जिसका सम्बन्ध गौण पात्रों तथा समस्याओं से रहता है। रामायण में राम की प्रधान कथा है परन्तु इसके अन्तर्गत, सुग्रीव, विभीषण इत्यादि की भी कथाएँ आ जाती हैं। वह अपने में सम्पूर्ण हैं परन्तु फिर भी काव्य में उनका स्थान गौण ही है। कथावस्तु विशेष रूप से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा काल्पनिक होती है। इसमें से किन्हीं भी दो के सम्मिश्रण से एक नवीन प्रकार की कथावस्तु भी बन सकती है। कथावस्तु की पाँच श्रेणियाँ या अवस्थाएँ नाट्य-शास्त्र में मानी हैं—(१) *प्रारम्भ*—इसमें किसी फल के लिए इच्छा होती है। (२) *यत्न*—इच्छा-पूर्ति का प्रयत्न इसके अन्तर्गत आता है। (३) *प्राप्त्याशा*—इच्छित फल की प्राप्ति की आशा इसमें होती है। (४) *नियताप्ति*—इस दशा में प्राप्ति के विषय में कुछ निश्चय हो जाता है। (५) *फलागम*—क्योंकि नाटकों को सुखांत माना है इसलिए अंत में फल-प्राप्ति आवश्यक है। यूरोपीय नाट्य-शास्त्रों में भी यह पाँच अवस्थाएँ—Exposition, Incident, Rising, Action, Crisis, Denoument, Catastrophe के नामों से

प्रसिद्ध हैं। इन्हीं अवस्थाओं द्वारा नाटक का उतार-चढ़ाव होता है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के वह चमत्कार-पूर्ण अंग हैं जो कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। यह 'बीज', 'बिन्दु', 'पताका', 'प्रकरी' और 'कार्य' पाँच होती हैं।

संधियाँ—संधियों में अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों का मेल कराया जाता है। यह संधियाँ एक एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं और प्रकृतियों से मेल कराती हैं। संख्याएँ भी अर्थ-प्रकृतियों की भाँति पाँच हैं—'मुख', 'प्रतिमुख', 'गर्भ', 'विमर्श' और 'निर्वहण'।

अर्थोपेक्षक—नाटक में कुछ सामग्री ऐसी होती है जिसकी दर्शक को केवल पात्रों द्वारा सूचना भर दिलाई जाती है; उसे सूच्य कहते हैं और सूच्य की सूचना देने के साधन अर्थोपेक्षक कहलाते हैं। यह भी पाँच होते हैं। (१) **विष्कम्भक**—इसमें पहले हो जाने वाली या बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। केवल दो अप्रधान पात्रों के कथोपकथन द्वारा ऐसा कराया जाता है। नाटक के प्रारम्भ अथवा दो अंकों के बीच में यह आ सकता है। शुद्ध और सकर इसके दो प्रकार हैं। (२) **चूलिका**—पर्दे के पीछे से जिस कथा भाग की सूचना दी जाती है वह चूलिक कहलाता है। (३) **अंकास्य**—अंक के अन्त में मंच छोड़कर जाने वाले पात्रों से आगामी अंक की जो सूचना दिलाई जाती है वह अंकास्य कहलाता है। (४) **अंकावतार**—अंकावतार में बिना पात्रों के बदले हुए ही पिछले अक की कथा को आगे चलाया जाता है। पहले ही अंक के पात्र बाहर जाकर फिर लौट आते हैं। (५) **प्रवेशक**—प्रवेशक घटनाओं की सूचना देने के लिए होता है।

कथोपकथन—कथोपकथन चार प्रकार का होता है। (१) **सर्वश्राव्य**—जो सबके सुनने के लिए होता है। (२) **अश्राव्य**—जो अन्य पात्रों के सुनने के लिए नहीं होता। (३) **नियत काव्य**—जो कि कुछ नियत पात्रों के सुनने के लिए होता है और (४) **आकाशभाषित**—जिसमें कि आकाश की ओर मुँह करके किसी कल्पित व्यक्ति से बात की जाती है।

पात्र—नाटक में पात्रों की विशेषता रहती है। नाटक के सभी तत्त्व पात्रों के ही आश्रित रहकर चलते हैं। कथा का प्रधान पात्र नायक कहलाता है और उसे परखने की कसौटी यह है कि कथा का फल जिस पात्र से सम्बन्धित हो, बस वही नायक है। श्रोता, द्रष्टा और पाठक नायक के ही उत्थान और पतन में अधिक रुचि रखते हैं। हमारे नाट्य-शास्त्रों में नायक को सभी उच्च और उदार गुणों से सम्पन्न माना है। वह विनयशील, त्यागी, कर्तव्य-परायण, कार्य-कुशल, वीर, पराक्रमी, उच्च वंशज, साहसी, स्वाभिमानी, कलाकार, सुन्दर इत्यादि गुण वाला होना चाहिए। आज का नाटककार अपने नायक को सर्वगुणसम्पन्न तो चाहता है परन्तु वह उच्च-वंशज भी हो इसकी ओर विशेष जोर नहीं देता। वह तो कीचड़ से कमल खोजने का प्रयत्न करता है और मिट्टी से हीरा निकालता है। आज का नाटककार नायक को

मानव गानकर चलता है, इसलिए उसके चरित्र में कमज़ोरियाँ आ सकती है। नायक कुछ विशेष गुण सम्पन्न होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह सांसारिक कमज़ोरियों से मुक्त है। नाट्य-शास्त्र ने नायक चार प्रकार के माने हैं। (१) धीरोदात्त—यह नायक शोक और क्रोध में विचलित नहीं होता, गम्भीरता, क्षमादान, आत्म-श्लाघा न करने वाला, अहंकार-शून्य, दृढ़-व्रत होना यह इसके प्रधान गुण हैं। महाराज रामचन्द्र धीरोदत्त—के आदर्श हैं। (२) धीरललित—यह नायक सरल स्वभाव वाला, सुख-सन्तोषी, कलाविद् और निश्चिन्त होता है। शकुन्तला के महाराज दुष्यन्त इसके उदाहरण हैं। (३) धीरप्रशान्त—यह नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है। क्षत्रिय नहीं क्योंकि सन्तोष इसका प्रधान गुण है। 'मालती-माधव' का माधव इसका उदाहरण है। (४) धीरोद्धत—यह नायक मायावी और आत्मप्रशंसापरायण होता है। धोखा और चपलता इसकी नस-नस में भरा रहता है। अहंकार और दर्प इसके गुण हैं। रावण इसका उदाहरण है।

नायकों के शृंगारिक दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्हें चार भेदों में विभाजित किया गया है। (१) अनुकूल—ऐसा नायक एक पत्नी-व्रत होता है जैसे श्री रामचन्द्र। (२) दाक्षिण्य—जो नायक कई रानियाँ रखकर भी प्रधान महिषी का आदर करता हो और यथासम्भव सबको प्रसन्न रखता हो। उदाहरणस्वरूप श्रीकृष्ण को ले सकते हैं। (३) शठ—यह नायक अन्य स्त्रियों से भी प्रेम प्रकट अवश्य करता है। परन्तु निर्लज्जता के साथ नहीं। (४) धृष्ट—यह नायक खुले रूप में दुराचार करता है और निर्लज्ज भी होता है। वह अपनी स्त्री का दिल दुखाने में भी नहीं चूकता।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में रहस्योद्घाटन के लिए विदूषक का प्रयोग किया जाता था। अंग्रेज़ी नाटकों में इस प्रकार के पात्र को क्लाउन कहते हैं। यह पात्र नाटक के गम्भीर वातावरण में हास्य की पुट लाता है। नायक का यह विश्वासपात्र होता है। संस्कृत-नाटकों में उसका ब्राह्मण होना आवश्यक था। नायक के प्रेम-कार्य में यह विशेष सलाहकार रहता है।

अन्य पात्र—नायक और विदूषक के अतिरिक्त प्रतिनायक, नायिका, प्रतिनायिका यह तीन अन्य प्रधान पात्र होते हैं। नायक का कार्य बिना प्रतिनायक के सम्पन्न हो ही नहीं सकता और नायिका का इसी प्रकार प्रतिनायिका के बिना। इसलिए ये पात्र भी नाटक में उतने ही आवश्यक हैं।

चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण उपन्यास की भाँति विश्लेषणात्मक ढंग से न होकर परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से होता है। नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और कभी-कभी पात्र स्वयं अपने चरित्र का भी उद्घाटन करते हैं। स्वगत-कथा अस्वाभाविक अवश्य लगती है परन्तु वह चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए कहीं-कहीं पर आवश्यक हो जाता है।

रस-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त की विवेचना हमारे यहाँ नाटकों से ही आरम्भ

होती है। प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई रस अंगी रूप से ले लिया जाता है और अंग-रूप से दूसरे रस भी उसमें आते हैं। पश्चिमी नाटककारों ने इसकी अपेक्षा उद्देश्य को प्रधानता दी है। जैसे हमारे नाटककार किसी प्रधान रस को लेकर रचना करते हैं वैसे पाश्चात्य नाटककार किसी विशेष उद्देश्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से लेकर चलते हैं। यह उद्देश्य आन्तरिक और बाह्य रूपों से सम्बन्ध रखते हैं।

दुखान्त और सुखान्त नाटक—भारतीय साहित्य की आदर्शवादिता बपौती है। इसी के आधार-स्वरूप संस्कृत-साहित्य में दुखान्त नाटकों का समावेश नहीं किया गया। अच्छे काम करने वाले का अन्त दुःखमय दिखाकर समाज में अच्छे कामों के प्रति अभिरुचि नहीं हो सकती। यही कारण था कि नाटक में घोर करुणा रस का प्रवाह होने पर भी नाटककार उन्हें अन्त में सुखान्त ही कर देते थे। पाश्चात्य साहित्य में आदर्शवादिता का अभाव और यथार्थवादिता की प्रधानता मिलती है। दुखान्त नाटक में दर्शक की सहानुभूति पात्रों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाती है। इस स्वाभाविक आकर्षण को भारतीय कलाकारों ने कला की कमजोरी मानकर उसे नहीं अपनाया। साथ ही भारतवासी जीवन का आदर करते थे और मंच पर मानव को इस प्रकार कष्ट होता हुआ देखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भारतीय नाटककारों ने दुखान्त नाटक लिखकर सुखान्त नाटक ही लिखे हैं। आज के युग में दुखान्त नाटक का लिखा जाना भी प्रारम्भ हो गया है।

अभिनय—अभिनय नाटक का प्रधान अंग है। भरत मुनि ने अभिनय की विशद विवेचना की है। अभिनय के चार प्रधान प्रकार हैं। (१) **आंगिक**—आंगिक अभिनय का सम्बन्ध पात्रों के रंगमंच पर अंग-संचालन-विधि से है। वह किस प्रकार चलता है, उठता है, बैठता है, हाथ चलाता है, पैर चलाता है, नेत्र घुमाता है, भौंहें चलाता है, मुस्कराता है इत्यादि। (२) **वाचिक**—इसके अन्तर्गत वाणी और स्वर का सम्बन्ध है। वाणी द्वारा आङ्गिक अभिनय को स्पष्टता मिलती है। भरत मुनि ने वाणी के अभिनय में स्वर-शास्त्र, व्याकरण तथा छन्द-शास्त्र को लिया है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न श्रेणी के पात्रों से भिन्न भिन्न स्वराघात के साथ भाषा बुलवाई जाती है। (३) **आहार्य अभिनय**—इसके अन्तर्गत पात्रों के विभिन्न प्रकार के आभूषणों, वस्त्रों और उनके रंगों का विवेचन किया जाता है। पात्रों के वर्णों का भी सम्बन्ध आहार्य अभिनय से ही है। (४) **सात्विक अभिनय**—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्पन और अश्रुप्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण को सात्विक अभिनय कहते हैं।

वृत्तियाँ—नाटक में चार वृत्तियाँ होती हैं (१) **कौशिकी वृत्ति**—इसका सम्बन्ध शृंगार और हास्य से है। (२) **सात्वती वृत्ति**—इसका सम्बन्ध शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य इत्यादि से है। (३) **आरभटी वृत्ति**—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, आघात-प्रतिघात इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं। (४) **भारती वृत्ति**—इसका सम्बन्ध स्त्रियों से न होकर पुरुष नटों से रहता है। साहित्य-दर्पणकार का

मत है कि यह सभी रसों में प्रयोग की जाती है। इनका सम्बन्ध केवल शब्दों से है।

रूपकों के भेद—नाटक शब्द से रूपक शब्द अधिक व्यापक है। इसलिए भारतीय नाट्य-शास्त्रज्ञों ने रूपक शब्द का ही प्रयोग किया है। रूपक रस प्रधान होते हैं और उपरूपक भाव प्रधान। रूपक दस प्रकार के होते हैं। (१) **नाटक**—नाटक पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, और चौसठ संध्य माने गये हैं। पाँच से दस तक अंक इसमें होते हैं। इसका विषय कल्पित नहीं होता और नायक धीरोदात्त होता है। उदाहरण में भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक को ले सकते हैं। (२) **प्रकरण**—इसकी कथावस्तु नाटक की-सी होती है, परन्तु इसका विषय कल्पित होता है। शृंगार-रस की इसमें प्रधानता रहती है। (३) **भाण**—यह एक अंक और एक पात्र होता है। इसमे धूर्त पात्र हास्य-प्रधान अभिनय करके दर्शकों को हँसाता है। (४) **व्यायोग**—यह वीर रस प्रधान एकांकीय नाटक होता है। इसमें स्त्री पात्र का अभाव रहता है। (५) **समवकार**—१२ तक इसके नायक हो सकते हैं। देवता और दानवो की इसमे कथा रहती है। (६) **डिम**—इसमें ४ अंक और १६ नाटक होते हैं। रौद्र रस का इसमें प्राधान्य रहता है। (७) **ईहा-मृग**—इसमें धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक रहता है। इसमें चार अंक होत हैं और कथा में प्रेम-प्रधान रहता है। (८) **अंक**—यह एक अंक का करुण रस प्रधान नाटक होता है। (९) **वीथी**—यह शृङ्गार रस का कल्पित एक अंक का नाटक होता है। (१०) **प्रहसन**—इसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। उपरूपकों के यह अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी-सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

रंगमंच—अभिनय नाटक का प्रधान गुण है और इसके लिए रंगमंच की आवश्यकता है। हिन्दी का रंगमंच अपूर्ण और अधूरा है। भरत मुनि ने तीन प्रकार की नाट्यशालाएँ बतलाई हैं— चतुरस्त्र, विकृष्ट और त्र्यस्य। वर्तमान युग में रंगमंच बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका है। बिजली ने रंगमंच में कुछ ऐसी विशेषताएँ पैदा दर दी हैं कि दर्शक देखकर चकित रह जाता है। नवीन आविष्कारों ने रंगमंच के उत्थान में बहुत सहयोग दिया है। जो नाटक रंगमंच पर सफल नहीं हो सकते वह अधूरे हैं और उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता जो रंगमंच पर सफल उतरने वाले नाटकों को प्राप्त होगा।

इस प्रकार हमने रूप-शीर्षक के अन्तर्गत नाटक के प्रधान तत्वों, नाटक की कथावस्तु, संधियाँ, अर्थप्रकृतियाँ, कथोपकथन, पात्र चरित्र-चित्रण, रस-सिद्धान्त, वृत्तियाँ और रंगमंच पर विचार किया। यह नाटक के प्रधान तत्व हैं और उसमे नाटककार इन सबका सामंजस्य करके अपने ग्रन्थ की रचना करता है।

संक्षिप्त

१. रूपक की परिभाषा।
२. नाटक के प्रधान तत्त्व और कथावस्तु।
३. रूपक की अर्थ-प्रकृतियाँ और संधियाँ।
४. रूपक के पात्र, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण।
५. अभिनय, रस तथा सिद्धान्त।
६. वृत्तियाँ और नाटक के भेद तथा उपभेद।
७. रंगमंच पर तथा उपसंहार।

उपन्यास क्या है ?

२६६. उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की राय नहीं मिलती। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। उपन्यास के विषय में मुंशी प्रेमचन्द इस प्रकार लिखते हैं—

'मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

जैसे दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिनय में भिन्नता और विभिन्नता में अभिन्नता दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार को चरित्रों का चित्रण करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमें अपनी तरफ़ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यहीं से उपन्यासकारों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक आदर्शवादी वर्ग और दूसरा यथार्थवादी वर्ग।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न-रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम अच्छा होता है या कुचरित्रता का परिणाम बुरा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी और बदी का फल बन्द नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं और अपमानित होते हैं। नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं। यशस्वी बनते हैं। उनको बदी का फल उलटा

मिलता है। यथार्थवाद अनुभव की बेड़ियों से जकड़ा होता है और क्योंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल-से-उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ दाग धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है और हमको अपने चारों ओर बुराई नजर आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना, बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे काला नहीं दिखाएँ जितना वह वास्तव में है, लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव-स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिसके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तब फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हों और जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए, वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो गया है। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उप-न्यास की यही विशेषता है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो,—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती हैं—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने में कोई हानि नहीं होती बल्कि, यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही नहीं सकेंगे। उस चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, केवल मनोरंजन-मात्र हो सकता है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी है। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का

मन बहलाना नहीं है । यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है । साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारी मनुष्यता को जगाता है, हम में सद्भावों को भरता है और हमारी दृष्टि को फैलाता है ।"

इस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों के दो भेद किये, एक यथार्थवाद और दूसरा आदर्शवादी । इन दो भेदों के अतिरिक्त भी उपन्यासों के अनेकों भेद और उपभेद होते हैं ।

कथा-प्रधान उपन्यास—कथा-प्रधान उपन्यास में लेखक का ध्यान विशेष रूप से उपन्यास की कथा और घटनाचक्रों पर रहता है। वह पाठक को कथा के सौन्दर्य में फँसाकर रखता है और उसी सौन्दर्य से अपने उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। कथा का तारतम्य कहीं पर टूटने नहीं देता । जासूसी उपन्यासों में विशेष रूप से यह सौन्दर्य मिलता है। इन उपन्यासों में घटनाओं का जमाव इतना रोचक और सुव्यवस्थित होता है कि पाठक एक बार कथा प्रारम्भ करके फिर समाप्त करने से पूर्व छोड़ नहीं सकता । यह उपन्यास का प्रकार भी है और एक गुण भी । इन उपन्यासों में घटनाओं की जादूगरी के लिए ही प्रधान स्थान रहता है । जीवन पर इन उपन्यासों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यदि पड़ता भी है यो वह उपन्यास व्यसन के ही रूप में पड़ता है । क्योंकि जीवन के रहस्य के विषय में वह कुछ कहते ही हैं ।

चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास—चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासों में कथा और घटनाओं पर विशेष जोर देकर चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है । इन उपन्यासों में जीवन की समस्याओं को लेकर लेखक चलता है और उन्हीं के आधार पर चरित्रों का निर्माण करता है। उसके पात्र समाज के चरित्रों के प्रतीक बनकर चलते हैं और इस रूप में वह न केवल देश और समाज का ही वरन् मानव-जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं । लेखक अपने पात्रों में वह जीवन भरता है जिसकी मानव-समाज को आवश्यकता होती है और साथ-साथ उन्हें उन पात्रों के साथ रखता है जिनके कारण समाज दूषित है, कलुषित है और निन्दित है । चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासकार के सम्मुख एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है और चरित्र-चित्रण में जितनी स्वतन्त्रता एक उपन्यासकार को है उतनी अन्य किसी भी साहित्यकार को नहीं है । नाटककार, निबन्धकार, काव्यकार, कवि कोई भी इतनी स्वतन्त्रता से अपने पात्रों का चित्रण नहीं कर सकता जितना एक उपन्यासकार। इसलिए उपन्यास का चरित्र-चित्रण सबसे पूर्ण रहता है। इस कोटि के उपन्यास सबसे उत्तम कोटि के उपन्यास कहलाते हैं ।

सामाजिक उपन्यास—सामाजिक उपन्यासों में समाज के यथार्थवादी चरित्र उपन्यासकार प्रस्तुत करता है । देश और समाज के हित के लिए ऐसे उपन्यासकार हितकर सिद्ध होते हैं और ऐसे उपन्यासकारों को समाज में प्रसिद्धि भी अधिक मिलती है। इस प्रकार के उपन्यासों में क्योंकि समाज को अपने चित्र देखने को मिलते हैं

इसलिए उसे सबसे अधिक प्रिय इसी प्रकार की रचनाएं होती हैं। चरित्र-चित्रण भी लेखक कई प्रकार से करते हैं। एक तो केवल ऊपरी परिस्थितियों को लेकर वर्णनात्मक रूप से करते हैं और दूसरे मनोवैज्ञानिक रूप से करते हैं। मुं० प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता न मिलकर वर्णनात्मकता अधिक मिलती है। आज के उपन्यासकारों में मनोवैज्ञानिकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास कथा-प्रधान भी हो सकते हैं और चरित्र-चित्रण-प्रधान भी। इन उपन्यासों में पात्र और कथा इतिहास में से ली जाती हैं। ऐतिहासिक कहने का अर्थ यह नहीं होता कि उनमें इतिहास के आधार पर कोरी कथा-मात्र का वर्णन होता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना के आधार पर इसमें रोचकता पैदा करने के लिए उलट-फेर भी कर सकता है, परन्तु वह उलट-फेर इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि जिससे प्रधान तथ्यों का अनुमान गलत लगने लगे। हिन्दी में श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इस प्रकार के सुन्दर उपन्यास लिखे हैं।

इस प्रकार हमने उपन्यास-साहित्य पर विचार किया और उपन्यास को किन-किन वर्गों में बांटा जा सकता है इस पर भी विचार किया। चरित्र-चित्रण का उपन्यास में अन्य सभी प्रकार के साहित्य से अधिक क्षेत्र है, इसलिए जीवन की जितनी सुन्दर विवेचना उपन्यास में हो सकती है उतनी न प्रबन्ध-काव्य में हो सकती है और न नाटक या मुक्तक कविता, निबन्ध और कहानी के तो क्षेत्र ही बहुत सीमित होते हैं। इसलिए मानव-जीवन की विवेचना का उपन्यास सबसे अच्छा और व्यापक माध्यम है।

संक्षिप्त

१. परिभाषा।
२. आदर्शवाद और यथार्थवादी उपन्यास।
३. कथा-प्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यास।
४. सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास।

कहानी की रूपरेखा

२७०. मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में 'आख्यायिका केवल घटना है।' आंशिक रूप में यह सत्य भी है और जिस दृष्टिकोण से मुंशी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखी हैं वहाँ यह पूर्ण रूप से सत्य थी। परन्तु आज बहुत-सी कहानियों में हमें घटना मिलती ही नहीं, केवल पात्र या परिस्थिति का विश्लेषणात्मक चित्रांकन ही मिलता है। वह भी कहानियाँ हैं और बहुत कला-पूर्ण कहानियाँ। प्रेमचन्द जी ने स्वयं भी लिखा है, "वर्त्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ या पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि कहानियों में एक-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को

खोलने की चेष्टा की गई है ।" इस प्रकार प्रेमचन्द जी के विचारानुकूल यदि हम क़हानी की परिभाषा दें तो यों कह सकते हैं कि कहानी एक घटना है जिसका स्थान मानव के मन में भी हो सकता है और जीवन की बाह्य परिस्थिति में भी ।

आज की कहानी नानी-थेवते की कहानी न होकर कला-पूर्ण मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्‌घाटन है । किन्तु जब कहानी मनोवैज्ञानिकता से न फिसलकर मनोरंजन के क्षेत्र में आ जाती है तो उसकी परिभाषा हमें फिर बदलनी पड़ती है । यह सर्वदा नहीं होता कि सभी कहानियाँ किसी लक्ष्य, धर्म अथवा नीति और समस्या को ही लेकर लिखी जायें । कितनी ही रचनाएँ लेखक की कल्पना पर आधारित रहकर उसकी कला के चमत्कारस्वरूप ही प्रस्फुटित होती हैं । उनमें सौन्दर्य होता है, चमत्कार होता है, हृदय-ग्राहिता होती है परन्तु समस्या या मनोवैज्ञानिकता नहीं होती और इस प्रकार की कुछ कहानियाँ संसार-साहित्य में उच्च कोटि की कहानियाँ हैं । उदाहरण-स्वरूप हम 'गिफ्ट आफ मैगी' को ले सकते हैं । कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और साथ ही उसकी टैकनीक भी एक प्रकार की नहीं होती । वह अनेकों प्रकार की होती हैं । जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्य और नाटक से उपन्यास का क्षेत्र अधिक व्यापक है उसी प्रकार निबन्ध, मुक्तक-कविता और गद्य-गीत इत्यादि से कहानी का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है ।

कहानी में मानव-अमानव सभी प्रकार के पात्र लिये जा सकते हैं । हिन्दी के प्राचीन साहित्य में वर्तमान कहानी का प्रारम्भिक रूप भी देखने को नहीं मिलता, क्योंकि कहानी और उपन्यास संस्कृत-साहित्य की देन नहीं हैं । फिर भी संस्कृत-साहित्य में कुछ कहानी के आकार की रचनाएँ अवश्य मिलती हैं जिसमें गम्भीर विषयों को सरल बनाकर समझाने का विद्वानों ने प्रयत्न किया है । जाबालि और नचिकेता के उपाख्यान इसी प्रकार की रचनाएँ हैं । ऋग्वेद की अपाला की कथा और ब्राह्मणों की बामदेव और रोहित की कथाओं में भी कहानी का ही रूप मिलता है । संस्कृत-साहित्य के पश्चात् हमें बौद्ध भिक्षुओं की जातक कथाएँ मिलती हैं । यह कथाएँ मध्य एशिया, यूरोप, अरब, मिश्र इत्यादि प्रदेशों तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पहुँचीं । ३०० ई० पू० डेमी ट्रीमिस ने यूनान में इनका संग्रह किया और बाद में यही संग्रह 'ईसप की कहानियाँ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यूरोप के सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य पर इन कहानियों का प्रभाव मिलता है । जातक कथाएँ पाली और प्राकृत भाषा में लिखी गईं थीं । अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन बौद्ध-कथाओं के आधार पर कथाओं की रचना हुई । गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' ६०० ई० पू० में लिखी गई । यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता परन्तु संस्कृत 'बृहत-कथा-मंजरी' और 'कथा-सरित्सार' में इसकी कथाएँ मिलती हैं । यह कथाएँ आरम्भ में उपदेशात्मक प्रवृत्ति को लेकर लिखी गईं परन्तु धीरे-धीरे यह मनोरंजकता की ओर बढ़ती गईं । 'दशकुमार-चरित्' की रचना तक इन कथाओं में धार्मिक प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होकर सांसारिकता आ गई ।

आज की कहानी का इस प्राचीन कहानी-साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं और

न ही यह साहित्य उस प्राचीन साहित्य की देन ही है। आज के युग का कथा-साहित्य पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है। १९वी शताब्दी के पूर्व कहानी अपने वर्तमान रूप में नही थी। परन्तु उपन्यास और नाटक इत्यादि मे कथा के तत्त्व वर्तमान थे। कहानी ने नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता ली और उपन्यास से चरित्र-चित्रण। काव्य से कहानी ने प्रकृति-चित्रण और रसात्मकता ली। इस प्रकार वर्तमान कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनो तत्त्वों का अपने में सामंजस्य करके पाठकों का मनोरंजन किया। तीन तत्त्वों की प्रधानता होने के कारण ही आज कहानी-साहित्य ने जो सर्वप्रियता प्राप्त की है वह साहित्य का कोई भी अंग प्राप्त नहीं कर सका।

कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र-चित्रण होने की आवश्यकता होती है, परन्तु यह प्रतिबन्ध निभाने कभी-कभी लेखक के लिए कठिन हो जाते हैं, कथानक से इन सब का सम्बन्ध है। कहानी एक उद्देश्य या दृष्टिकोण को लेकर चलती है तो उसमें आद्योपांत भाव की एकता भी रहेगी। कहानी का बीज-वस्तु एक और स्पष्ट होना चाहिए। लेखक को लिखने-लिखते बीज-वस्तु से बहककर इधर-उधर नहीं निकल जाना चाहिए। कथा का कथानक बीज-वस्तु पर ही केन्द्रित रहकर चलना चाहिए। कथा के तीन अंग होते हैं—आरम्भ, कथानक और अन्त। परन्तु इन सब का विभाजन करके ही लेखक लेखनी उठाए यह आवश्यक नहीं। कथा सर्वदा सुसंगठित रहनी चाहिए। कथा में जहाँ तक हो सके एक ही घटना रखी जाय और यदि एक से अधिक रखनी अनिवार्य हो जायँ तो उनका पारस्परिक सूत्र सुदृढ़ होना चाहिए। कथा में पात्र जितने कम हों उतना अच्छा है। व्यर्थ के पात्र तो होने ही नहीं चाहिएँ। कथावस्तु स्वाभाविक, सरल और मनोरंजक होनी चाहिए, जिससे पाठक उसे पढ़ने में उकता न जाए। कथा सांकेतिक हो तो और भी अच्छा है। कथा का प्रवाह टूटना नहीं चाहिए और न ही उसमें बाधा पड़नी चाहिए। कहानी अप्रतिपादित वस्तु की ओर कलात्मक रूप से संकेत करने वाली होनी चाहिए। उसे इतिवृत्तात्मक कथा-मूलक निबन्ध की भाँति नहीं लिखा जा सकता। कला होने के नाते इसमें सांकेतिक प्रवृत्ति का आना बहुत आवश्यक है।

वर्तमान कहानियों में चरित्रों का निर्माण मनोविज्ञान के आधार पर होता है। केवल समस्यामूलक कहानियों में ही हमें चरित्र-चित्रण मिलता है कथा-प्रधान कहानियों में नहीं। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्रों का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। चरित्र-चित्रण उपन्यास का विषय अवश्य है परन्तु चरित्र का 'निर्माण' कथा में ही होता है और उसका विकास और विश्लेषण उपन्यास में हो पाते हैं। पात्र-प्रधान कहानी में चरित्र-चित्रण प्रधान है और मनोवैज्ञानिक कहानियों में समस्या का उद्घाटन, परन्तु समस्या के उद्घाटन में चरित्र-चित्रण कुछ-कुछ अंशों में अवश्य आ जाता है। यहाँ तक हम कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण पर विचार कर चुके। अब हमें शैली पर विचार करना है।

शैली का सम्बन्ध कला के विषय और लिखने की प्रणाली से विशेष होता है। शैली विषय और लेखक की प्रणाली तथा भाषा तीनों के सामंजस्य से बनती है। वस्तु-प्रधान, कथोपकथन-प्रधान, दृश्य-चित्रण-प्रधान तथा सम्बोधन-प्रधान शैलियों द्वारा कहानियाँ लिखी जाती हैं। कुछ कहानियाँ केवल कथोपकथन के आधार पर चलती हैं। जयशंकर 'प्रसाद' जी की कहानियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। कुछ कहानियों में कथोपकथन तथा वस्तु-वर्णन दोनों का सामंजस्य करके कहानीकार चलता है और इस सम्मेलन को बहुत कला-पूर्ण ढंग से निभाता है। कुछ लेखक अपनी शैली में सम्बोधन पर विशेष जोर देते हैं तो उनकी शैली सम्बोधन-प्रधान कहलाती है। कुछ शैलियाँ विचारों के आधार पर बनती हैं। कुछ लेखक की भाषा के आधार पर बनती हैं और कुछ व्यक्ति-प्रधान शैलियाँ होती हैं। 'प्रबन्ध-सागर' के भूमिका भाग में हमने शैलियों पर प्रकाश डाला है। उसे पढ़ने पर भी विद्यार्थियों को इस विषय का ज्ञान हो जायगा और वह स्वयं भी विभाजन करके नवीन शैलियों के नामकरण कर सकते हैं।

इस प्रकार कहानी वह साहित्य-कला है जो आज के हर पाठक को सर्वप्रिय है और विशेष रूप से भावुक प्रेमियों को। साहित्य का वह अंग अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर रहा है और करेगा भी क्योंकि जीवन की समस्याओं का सब से मनोरंजक रूप केवल यही साहित्य-कला प्रस्फुटित कर सकती है।

संक्षिप्त

१. कहानी पर मुं० प्रेमचन्द के विचार और उनकी परिभाषा।
२. कहानी का प्राचीनतम रूप।
३. आधुनिक कहानी की रूप-रेखा और उसकी शैलियाँ।

समालोचना और साहित्य का सम्बन्ध

२७१. समालोचक साहित्यकार का पथ-प्रदर्शक होता है और आलोचना-साहित्य का निर्धारित मार्ग। आलोचना के विषय में पहिले एक बात समझ लेनी चाहिए कि इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस केवल विषय के पंडितों को ही करना चाहिए अन्यथा वह आलोचना पथ-भ्रष्ट करने वाले मूर्ख गाइड का कार्य करेगी जिससे लेखक, रचना और विशेष रूप से साहित्य की हानि होगी। आलोचना करने का अधिकार केवल उस व्यक्ति को ही है जो विषय का भली प्रकार ज्ञाता हो, विषय के ऊँच-नीच को समझता हो तथा उसके पक्ष और विपक्ष पर अपनी राय प्रकट कर सके।

आलोचना-क्षेत्र में जो कुछ भी कार्य हुआ है वह गद्य-युग में ही समझा जा सकता है। वैसे संस्कृत-साहित्य में भी हमें बड़े-बड़े ग्रन्थों के भाष्य मिलते हैं और उसकी सुन्दर टीकाएँ भी हुई हैं परन्तु उस काल की और वर्तमान काल की टीका-प्रणाली में महान् अन्तर है। प्राचीन आलोचना को हम समालोचना कहें, भाष्य कहें,

टीका कहें, प्रशंसा कहें या और भी इसी प्रकार का कोई शब्द खोजा जा सकता है, परन्तु यह मानना होगा कि आचार्यों ने सभी ग्रन्थों के केवल एक ही पहलू पर विचार किया है दूसरे पर नहीं। यदि प्रशंसा करने पर तुल गये हैं तो राई को पर्वत कर दिया है और यदि बुराई पर उतर आये हैं तो पर्वत को राई बना दिया है। संस्कृत-साहित्य से लगाकर हिन्दी-साहित्य के महावीरप्रसाद द्विवेदी-युग तक हमें यह प्रणाली देखने को मिलती है। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी सतसई की टीका को देखने से यह पता चलता है कि शर्मा जी ग्रन्थ हाथ में लेकर इस बात पर तुल गये थे कि उन्हें ग्रन्थ की प्रशंसा ही करनी है। यदि ग्रन्थ में कहीं पर ज्योतिष का कोई शब्द आ गया है तो वैद्यराज। इसी प्रकार एक-एक शब्द से शर्मा जी ने बिहारी को न जाने कितनी उन विद्याओं का प्रकांड पंडित ठहराया है जिन्हें एक-एक को सीखने में मनुष्य का जीवन चला जाता है और उनका अध्ययन समाप्त नहीं होता।

खैर, यह थी प्राचीन प्रणाली। आज का आलोचक या समालोचक इस दृष्टिकोण से यदि चलेगा तो वह लेखक का तो मार्ग अवरुद्ध करेगा ही अपना भी मार्ग अवरुद्ध कर लेगा। आज केवल तारीफ़ करने वाली आलोचना काम नहीं देती। समालोचक को विषय का विश्लेषण करना होता है। विषय के अच्छे-अच्छे तत्त्वों को एक ओर निकालना होता है और न्यूनता प्रदर्शित करने वाले तत्त्वों को एक तरफ़। फिर समालोचक को यह भी प्रदर्शित करना होता है कि लेखक के उन तत्त्वों में कमी रह जाने का कारण क्या है और जिन तत्त्वों में सौन्दर्य आया है, उनमें सौन्दर्य लेखक की किस विशेषता के कारण आया। आज के समालोचक को रचना के साथ-साथ लेखक को भी समझना होता है। समालोचक का कर्त्तव्य केवल अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा भर कह कर समाप्त नहीं होता। यदि वह किसी चीज़ को बुरा कहने का साहस करता है तो उसे अच्छी वस्तु का उदाहरण देना होता है, उसके अनुकूल परिस्थितियों का संकेत करना होता है और लेखक के सम्मुख एक सुझाव रखना होता है जिससे वह भविष्य में इस प्रकार का भूल अपनी रचनाओं में न करे। ऐसा करने का साहस साधारण समालोचक नहीं कर सकता।

समालोचना पर साहित्य का भविष्य आधारित है। यदि आलोचनाएँ उचित हैं और उनका मार्ग-प्रदर्शन ठीक है तो कोई कारण नहीं कि साहित्य का भविष्य उज्ज्वल होगा और यदि आलोचनाओं में स्वार्थ और द्वेष की बदबू आती है तो समझ लो कि उन आलोचनाओं से प्रभावित होने वाला साहित्य भी सड़ जायगा और एक-न-एक दिन उससे भी बदबू आने लगेगी। यदि अच्छे लेखक को प्रोत्साहन न मिला तो वह लिखना बन्द कर देगा और यदि खराब लेखक की प्रशंसा हुई, उसे प्रोत्साहन मिला तो वह अपनी त्रुटियों को साहित्य में ज्यों-का-त्यों रखकर गले-सड़े साहित्य-भंडार को भर देगा और कोई कारण नहीं है कि फिर उसके सम्पर्क में आकर अच्छे साहित्य में भी सड़न पैदा न हो जाय। अच्छे लेखक उसका अनुकरण करना आरम्भ कर देंगे और इस प्रकार एक ऐसी गलत प्रणाली का साहित्य में आविष्कार होगा कि

आवे का आवा ही खराब हो जायगा और फिर कुम्हार के उस आवे में से जो बर्तन भी निकलेगा वह या तो टूटा हुआ होगा, या कच्चा होगा। परिपक्वता नहीं आ पायगी और साहित्य में एक कमजोर उथलापन आ जायगा। वह साहित्य उच्च कोटि के साहित्यों में गिना जाना बन्द हो जायगा। वह अन्य साहित्य से दौड़ में पछड़कर पीछे रह जायगा और इस सबका दोष जायगा समालोचकों के सिर पर।

समालोचना स्वयं भी एक साहित्य है। यह न केवल साहित्य के समझने में सहायक के रूप में ही प्रशंसनीय है वरन् स्वतन्त्र रूप से भी अपने में अपनापन रखती है। कहानी, उपन्यास इत्यादि के पढ़ने में जिस प्रकार पाठक आनन्द-लाभ करते हैं उसी प्रकार अच्छी समालोचना के पढ़ने पर भी पंडितों के सिर झूम जाते हैं और वह लेखक के प्रति वाह-वाह कहे बिना नहीं रहते। समालोचना उथला विषय नहीं है, गूढ़ विषय हैं, खोज का विषय है जिसमें लेखक को मस्तिष्क और भावुकता दोनों से काम लेना होता है। लेखक की खोज करते हुए भी समालोचक को लेखक के प्रति भावुकता को नहीं खो देना होगा। समालोचक चाहे डाक्टर की भाँति लेखों को काट-छाँटकर फेंक दे परन्तु उसका उद्देश्य सर्वदा लेखक का सुधार करना ही होना चाहिए। नश्तर मारने वाला डाक्टर भी हमें प्रिय लगता है और वह समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। इसी प्रकार समालोचक भी साहित्य का सबसे बड़ा हितैषी होता है। डाक्टरों की भाँति इनके भी दो भेद हैं। एक वह जो मीठी तथा पैनी छुरी से काम लेता है और दूसरा वह जो भावुकता को पास तक नहीं फटकने देता। वह यदि कोनैन देना चाहता है तो खाँड चढ़ी हुई गोलियाँ नहीं देता, बस साधारण ही दे डालता है।

इस प्रकार समालोचना साहित्य का प्राण है, स्फूर्ति है। मार्ग-दर्शक है, न्यूनता-निवारण-विधि है, सहयोग है, प्रोत्साहन है, क्या नहीं है आलोचना, यदि वह वास्तव में अपने कर्त्तव्य को समझकर लिखी गई है। एक बच्चे का बनना और बिगड़ना जिस प्रकार एक शिक्षक पर आधारित है उसी प्रकार एक लेखक का बनना और बिगड़ना उसके समालोचकों पर आधारित है।

संक्षिप्त

१. प्राचीन साहित्य में आलोचना और उसके प्रकार।
२. समालोचक का कर्त्तव्य और उसका उत्तरदायित्व।
३. उचित समालोचना से लाभ और गलत समालोचना से हानि।
४. समालोचना की आवश्यकता।

काव्य में रस और अलंकार का स्थान

२७२. साहित्य के आचार्यों में काव्य के विषय में दो प्रधान विचारधारा मिलती हैं। एक चमत्कारवादी विचारधारा और दूसरी रसवादी विचारधारा। रीति-

काल में विशेष रूप से जिस धारा का जोर रहा वह अलंकारवादी विचारधारा है। शेष सभी कालों में रसवादी धारा का प्राधान्य मिलता है। अलंकारवादी विचारधारा के दो प्रवाह हिन्दी-साहित्य में आये, एक केशव द्वारा, जिसमें मम्मट और उद्भट का अनुकरण किया गया था। इस चमत्कारवादी काव्यधारा में प्रवाहित होने वाले कवि कविता को अलकारों के लिए मानते थे। वहाँ वाह-वाह का बोल-बाला रहता था और हृदय को छूने वाले तत्वों का अभाव। केशव की तमाम रामचन्द्रिका को पढ़ जाने पर भी कहीं एक पंक्ति भी ऐसी न मिलेगी जिसे पढ़कर पाठक एक क्षण के लिए भी हृदय थामकर बैठ जाय। हां, यह अवश्य है कि यदि पंडित है तो वह शब्दों की उछल-कूद पर वाह-वाह हर पद पर कह सकता है। चमत्कार-प्रधान कविता लिखने वाले कवियों में बिहारी को हम अपवादस्वरूप ले सकते हैं, क्योंकि उसकी कविता में चमत्कार की प्रधानता होते हुए भी रस का नितान्त अभाव हो, ऐसी बात नहीं है।

अलंकार का अर्थ है 'सौन्दर्यवर्धक आभूषण'। आभूषण किसी भी वस्तु का बाह्य रूप बन सकता है, अंतरंग नहीं। बाह्य रूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो जब तक उसमें प्राण न हों, जीवन का रस न हो, तब तक वह बाह्य रूप व्यर्थ ही रहता है। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के बाह्य रूप से न होकर उसकी आत्मा से होता है। काव्य की आत्मा में जीवन-स्फूर्ति लाना, मादकता लाना, हृदय-ग्राहिता लाना, यह सब रस का कार्य है। यदि 'अलंकार' काव्य में आकर्षण पैदा करता है तो 'रस' काव्य को जीवन प्रदान करता है। जिस प्रकार एक पत्थर की सुन्दर मूर्ति को आभूषण से लादने पर भी वह चल नहीं सकती, चाहे संगतराश ने उसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो और उसका अङ्ग-अङ्ग आभूषणों से लदा हुआ क्यों न हो, उसी प्रकार काव्य भी बिना रस के उसी सुन्दर प्रस्तर-मूर्ति के समान है यदि उसमें रस का संचार नहीं। रस का संचार काव्य की प्रधान आवश्यकता है।

रस का सम्बन्ध संचारी भावों और उद्भावों से है और उन्हीं का आश्रय लेकर वह परिपक्व अवस्था तक पहुँचता भी है। रस विहीन काव्य उस खोई के पट्ठे के समान है जिस गन्ने को कोल्हू में पेलकर रस निकाल लिया गया हो और वह सूखा पट्ठा अवशेष रह गया हो। अलंकारों से काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है, उसमें प्रभावोत्पादकता आती है, भाषा में सौन्दर्य आ जाता है और कहीं-कहीं पर चमत्कार रस-प्रवाह में भी सहायक होता है परन्तु फिर भी अलंकारों का प्रयोग सोच-समझकर करना होता है, आँख मींचकर नहीं। घी बल-बर्द्धक पदार्थ है परन्तु अधिक पी लेने से हानिप्रद ही सिद्ध होता है। मात्रा से अधिक अलंकारों का प्रयोग भी काव्य में सौन्दर्य लाने की अपेक्षा उल्टा भद्दापन लाने लगता है और काव्य उनके भार से बोझिल हो उठता है। उनकी दशा ठीक उसी प्रकार की हो जाती है जैसे मानो किसी नाजुक-सी बालिका के गले में पाँच सेर की माला डाल दी जाय, उसके हाथों में दो दो सेर के कड़े, पैरों में पाँच-पाँच सेर के आभूषण और इसी प्रकार आभूषणों से उसे लाद दिया जाय। अब चाहे वह आभूषण सोने के ही क्यों न हों, और उसमें हीरे-

जवाहरात ही क्यों न जड़े हों, परन्तु उस बालिका का बदन तोड़ने के लिए तो वह आभूषण का कार्य न करके हथकड़ी, बेड़ी और तौक़ का कार्य करेंगे और बोझ के कारण उसकी गर्दन ऐसी झुक जायगी कि वह अपने साधारण सौन्दर्य को भी अवशेष नहीं रख सकेगी। उसकी गर्दन झुक जायगी, कमर में बल पड़ जायगा, मुँह पर स्वेद-कण झलक आयेंगे, मस्तक पर उद्विग्नता के चिह्न होंगे और वह अपने को उन आभूषणों से मुक्त करने के लिए छटपटाने लगेगी। अब सोचिए ऐसे आभूषणों से क्या लाभ? काव्य की दशा भी अधिक अलंकारों के चक्कर में पड़कर ठीक उसी बालिका की ही भाँति होती है। काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और अलंकारों की कूद-फाँद नट की कलाबाजी से बढ़कर और कुछ नहीं रहती।

किसी काव्य को सुनकर या अभिनय को देखकर हृदय में जो अकथनीय और अनुपम रस उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। बुद्धि, कल्पना और अनुराग का आश्रय लेकर कवि काव्य का सृजन करता है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव मानव के मन में उत्पन्न होते रहते हैं। स्थायी भाव स्थिर रहते हैं और अन्य सब परिस्थितियों-वश उत्पन्न होते रहते हैं। "स्थायी भाव विभाग के सहारे उत्पन्न और पोषित होकर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर संचारी भाव फूल के समान क्षण-क्षण फूलकर इन सबके संयोग से मकरंद रूप रस बनता है जो कि मधुप रूपी कवियों का जीवनाधार होता है" इससे सिद्ध होता है कि रस स्थायी भाव की परिभाषा की परिपाक अवस्था है और वह हृदय में किसी-न-किसी रूप में हर समय वर्तमान रहती है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं, एक शब्दालंकार और दूसरे अर्थालंकार। शब्दालंकार का सम्बन्ध केवल शब्द तक सीमित रहता है, काव्य के अर्थ से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरे प्रकार के अलंकार अर्थालंकार होते हैं जिनका सम्बन्ध काव्य के अर्थ से रहता है। प्रथम प्रकार के अलंकार में ध्वनि की विशेषता रहती है और वह संगीत में बहुत सहायक होते हैं। दूसरे प्रकार के अलंकार काव्य में गाम्भीर्य लाते हैं और कवि के पाण्डित्य की कसौटी के रूप में भी हम उन्हें रख सकते हैं। कुछ लोगों का मत है कि अलंकारों के बिना भी कविता अच्छी बन सकती है, अतः ये अनावश्यक हैं परन्तु हम इससे सहमत नहीं। कविता में जहाँ अलंकारों का आधिक्य बुरा लगता है, वहाँ इनका अभाव भी अखरने लगता है। यत्र-तत्र अलंकारों के आजाने से काव्य की रोचकता और सौन्दर्य में वृद्धि होती है। बिना अलंकारों के भी काव्य की शोभा नहीं। क्योंकि शृंगार सौन्दर्यवर्धक होता है और सौन्दर्य बिना काव्य-कला निरर्थक है।

रस नौ हैं 'शृंगार', 'हास्य', करुणा', 'रौद्र', 'वीर', 'भयानक', 'बीभत्स', 'अद्भुत' और 'शान्त' और इनके नौ ही स्थायी भाव हैं जो हृदय में हर समय वर्तमान रहते हैं। नाट्य-शास्त्र में आठ रस माने जाते हैं क्योंकि वहाँ 'शान्त रस' के लिए कोई स्थान नहीं, कुछ विद्वान् 'स्नेह' को स्थायी भाव मानकर 'वात्सल्य' को एक दसवाँ रस मानते हैं। कुछ विद्वान् 'अनुराग' को स्थायी भाव मानकर भक्ति को ग्यारहवाँ रस

मानते हैं परन्तु परम्परागत प्रचलित रस नौ ही हैं, क्योंकि 'अनुराग' और 'स्नेह' को पण्डित 'रति' के अन्तर्गत लेकर भक्ति और वात्सल्य को भी शृंगार के ही अन्तर्गत ले लेते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य के लिए अलंकार और रस उसके बाह्य रूप और आत्मा के समान ही कला को जीवित रखने के लिए दोनों ही नितान्त आवश्यक हैं। रस-विहीन काव्य काव्य नहीं है और अलंकार-विहीन काव्य सुन्दर नहीं है। सुन्दर न होने पर भी काव्य अपने आसन से गिर जाता है और उसके पठन-पाठन में जो अलौकिक आनन्द आना चाहिए वह नहीं आ पाता। अन्त में रस और अलंकार के विषय को समाप्त करते हुए हम विद्यार्थियों को यह और बतला दें कि भरत-मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और यही मत आज के विद्वान् भी मानते हैं। दण्डी, मम्मट आदि का अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाला आज के काव्यकारों के लिए मान्य नहीं है।

संक्षिप्त

१. अलंकार के लिए काव्य की रचना नहीं होनी चाहिए। काव्य की सौन्दर्यवर्धकता के लिए अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए।

२. रस काव्य की आत्मा है। बिना रस काव्य निर्जीव पत्थर के पुतले के समान है।

३. रस स्थायीभाव के रूप में हृदय में हर समय वर्तमान रहता है जो परिस्थिति पाकर पनपता है।

काव्य की कसौटी क्या है ?

२७३. कोई काव्य हीन है अथवा उत्कृष्ट इसकी कसौटी काव्य के गुण और दोष हैं। इसलिए उस कसौटी का निर्णय करने से पूर्व यह आवश्यक है कि काव्य के उन गुण और दोषों का निर्णय किया जाय कि जिनके आधार पर काव्य की हीनता और उत्कृष्टता निर्धारित करनी है। आज के समालोचक और प्राचीन विचारकों के मत में अनेकानेक दृष्टिकोणांतर हो गये हैं। प्राचीनतम विचारक अथवा यों कहिए कि काव्याचार्य अलंकार को काव्य की कसौटी मानते थे। इस विचार के प्रवर्त्तकों के रूप में हम मम्मटाचार्य और आचार्य उद्भट को ले सकते हैं। उस समय अलंकार के अन्तर्गत केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार ही नहीं आते थे वरन् काव्य के गुण, दोष, शैली इत्यादि सभी विचार इन चमत्कारवादी आचार्यों के विचार से अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते थे।

धीरे-धीरे अलंकार का यह स्थूल विचार खण्ड-खण्ड होकर रसवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद इत्यादि के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ और आगामी आचार्यों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये। इन सब वादों के आचार्यों ने अपने-अपने

वाद को काव्य की कसौटी माना है। परन्तु यदि हम विश्लेषणात्मक रूप से विचार करें तो उनमें से एक भी वाद काव्य की सर्वाङ्गीणता के विचार से सुन्दर काव्य की कसौटी नहीं बन सकता। यह सभी वाद काव्य के आंगिक निरीक्षण में ही सफल हो सकते है विषय की सम्पूर्ण-रूप से विवेचना नहीं कर सकते। पाण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ' वाले काव्य को सुन्दर काव्य कहा है। विश्वनाथ ने 'रस' को काव्य की कसौटी माना है। आचार्य उद्भट ने 'अलंकार' को काव्य की आत्मा माना है। आचार्य कुन्तक के विचार से 'वक्रोक्ति'-प्रधान काव्य सर्वोत्तम काव्य है। आचार्य वामन ने 'रीति' को ही काव्य का सर्वोत्तम गुण कहा है। इस प्रकार प्राचीनता-वलम्बियों ने काव्य की यह पाँच कसौटियां निर्धारित की हैं। साहित्य के मर्मज्ञों ने इन्हीं पांच विचारों के मताधीन ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय का निर्माण किया और यह पाँचों धाराएँ समय-समय पर अपनी-अपनी विशेषता के साथ हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित होती आ रही हैं।

ऊपर दी गई पाँचों धाराओं के आचार्यों ने अपना मत निर्धारित करने में हठ से काम लिया है, समन्वय की भावना से नहीं। किसी भी विचार के निर्धारित करने में जब हठ से काम लिया जायगा तो सत्य को तिलांजलि देनी होगी। यही कारण है कि किसी तथ्य-निरूपण में कभी भी हठ से काम नहीं लेना चाहिए। जब हम काव्य की कसौटी पर विचार करते हैं तो हमें विचारना चाहिए कि हमारा विचार किसी भी ऐसी वस्तु पर केन्द्रित न हो कि जिसका सम्बन्ध काव्य के किसी आंशिक रूप से हो। आज का विचारक काव्य के किसी गुण को काव्य की कसौटी न मानकर पाठक या रसिक-हृदय व्यक्ति के हृदय को काव्य की कसौटी मानता है। रसिक-हृदय रचना पढ़कर एकदम कह सकता है कि अमुक काव्य किस श्रेणी का है ? जो रचना पाठक के हृदय को जितने निकट से छूने में सफल होती है वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार सुसंस्कृत-रसिक पाठक या श्रोता का हृदय ही उत्तम काव्य की कसौटी हुआ। सभी रसिक-हृदय व्यक्तियों में अन्तर होता है और फिर संसार के सभी व्यक्ति सुसंस्कृत या रसिक भी नहीं हो सकते। इसलिए वह कसौटी भी सबके लिए मान्य नहीं हो सकती।

वास्तव में काव्य के परखने के लिए किसी निश्चित कसौटी को निर्धारित करना एक समस्या है। काव्य-समीक्षा के लिए किसी निश्चित सिद्धान्त का निरूपण करना कठिन है। किसी भी काव्य को परखने के लिए ऊपर दिये गये वादों को भी ध्यान में रखना चाहिए। यह सत्य है कि उनमें से पूर्ण एक भी नहीं है परन्तु आंशिक रूप से सभी का अच्छे साहित्य में किसी न किसी रूप में समावेश रहा है। रीति वक्रोक्ति और अलंकार यह काव्य के गुण और शैलियाँ भी कही जा सकती हैं। गुण और शैली दोनों का ही काव्य में महत्त्व है। जिस सीमा तक इनका काव्य में महत्त्व है, उसी सीमा तक यह काव्य की कसौटियाँ भी हैं। यह तीनों ही काव्य के गुण हैं,

सम्पूर्ण काव्य के नही, किसी-किसी काव्य मे इनमे से एक की प्रधानता भी हो सकती है और किसी मे दो की।

'रीति', 'वक्रोक्ति' और 'अलकार' के बाद रह जाते है 'ध्वनि' और 'रस'। कुछ आचार्य 'ध्वनि' को काव्य मानते है और कुछ रस को परन्तु हम इन पाँचो के समन्वय को काव्य कहते है। 'ध्वनि' और 'रस' काव्य के प्रधान गुण है जिन्हे कि आचार्य आत्मा कहकर पुकारते है। काव्य मे भाव, विभाव और सचारी भाव, यह सभी खोजने पडते ह परन्तु यह आवश्यक नही कि अच्छे काव्य मे यह सभी प्रचुर मात्रा मे मिल सके। किसी काव्य मे किसी विशेष गुण का आधिक्य होता है, तो दूसरे मे किसी दूसरे का।

ऊपर काव्य के अन्तर्गत जिन-जिन तत्त्वो का हमने विवेचन किया है उनमें बौद्धिक तत्व पर विचार नही किया गया। आज के युग मे मनोविज्ञान का स्थान साहित्य मे प्रधान है। केवल रस और ध्वनि के ही आधार पर कोई साहित्य सर्वगुण-सम्पन्न नही हो सकता। आज का समालोचक साहित्य के अन्य तत्त्वों पर विचार करने से पूर्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व को खोजता है। 'रस' का सम्बन्ध हृदय से है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इस प्रकार मानव मे हृदय और मस्तिष्क यही दो वस्तु प्रधान प्रतीत होती है, जिनका साहित्य से सम्बन्ध है। किसी काव्य मे हृदय तत्त्व की प्रधानता रहती है तो किसी मे बुद्धि-तत्त्व की। दोनो ही प्रकार के उच्च कोटि के साहित्य हो सकते है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य मे हृदय-पक्ष प्रधान है तो सत साहित्य मे बुद्धि-पक्ष। जिस साहित्य मे दोनो पक्षो का सामंजस्य हो वह सबसे सुन्दर काव्य हो सकता है। इस प्रकार हमने काव्य का विवेचन करके उसके पाँच वादो पर विचार किया और अन्त में काव्य के हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष पर दृष्टि डाली। अब प्रश्न रह जाता है उत्तम काव्य की कसौटी के निर्धारित करने का। इसलिए काव्य की कसौटी पाठक का हृदय और उसकी बुद्धि ही ठहरती है। इन्ही दो मानव के पक्षो पर उत्तम काव्य का मापदड निर्धारित किया जा सकता है।

संक्षिप्त

१. काव्य के प्रधान गुण कौन-कौन से हैं ?

२. रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद और रसवाद का स्पष्टीकरण।

३. अच्छे काव्य में सभी गुणों के समन्वय की आवश्यकता है।

४. अच्छे काव्य में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों अथवा एक की भी प्रधानता रह सकती है।

कुछ साहित्यिक निबन्धों की रूप-रेखाएँ

२७४. आधुनिक साहित्य में रस का स्थान—

(१) रस और प्रज्ञात्मकता, ज्ञान और राग के पारस्परिक सम्बन्ध।

(२) प्राचीन साहित्य-शास्त्रों में की गई रस-विवेचना और उनका संक्षिप्त विचार।

(३) आधुनिक कविता व्यंजनात्मकता (Objective) की ओर से आत्म-व्यंजनात्मकता (Subjective) की ओर बढ़ रही है।

(४) आत्मव्यंजनात्मक कविता पर बंगाल और अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव है जिसमें रस-सृष्टि पर ध्यान नहीं दिया गया। यह सब भाव-प्रधान कविताएँ हैं।

(५) आज का साहित्य कोरा रस-प्रधान साहित्य नहीं है। उस पर बुद्धिवाद का पूर्ण प्रभाव है, और बिना मनोविज्ञान के आज जिस साहित्य का निर्माण किया जायगा वह सम्मान को प्राप्त नहीं हो सकता।

(६) प्राचीन रस के दृष्टिकोणों में अन्तर होता जा रहा है। वीर-रस केवल भूषण और सूदन की मार-काट तक ही सीमित नहीं रह सकता। आत्मबलिदान और आत्मपीड़न की भावनाओं को लेकर आज वीर रस पूर्ण कविताएँ लिखी जाती हैं। 'वीभत्स' में केवल रक्त, मांस, मज्जा इत्यादि का नाम लेने भर से काम नहीं चल जाता। शृंगार का क्षेत्र केवल 'परकीया' और 'सामान्य' तक ही सीमित नहीं रहा। शृंगार और दाम्पत्य का अन्तर कवियों ने आज स्पष्ट कर दिया है। आज के कवियों का सम्मान केवल रस-सिद्धान्त के रीतिकालीन विश्लेषणों तक ही सीमित नहीं है। उसमें विभिन्न भावों का चमत्कार और सौन्दर्य भरकर मुक्तक कविताओं की रचना की जाती है।

(७) आज के मुक्तक-कविता-क्षेत्र में रस-परिपाक के लिए कम सम्भावना है। छोटे-छोटे गीतों में अनुभव, विभाव इत्यादि भरकर रस-उत्पादन की चेष्टा नहीं की जाती। आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव इत्यादि सभी को यदि उस छोटी-सी कविता में ठूँसकर रस पैदा करने का प्रयत्न किया जाय तो न रस ही उत्पन्न होगा और न भावों की तीव्रता और सौन्दर्य उसमें आ पायगा।

(८) आज के बदले हुए दृष्टिकोण में रसों के वर्तमान प्रयोगों को देखना होगा और उनका अन्तर समझना होगा। रस के साथ भावों का समावेश और आत्माभिव्यक्ति की मनोवैज्ञानिक पुट का आना आवश्यक है। इस प्रकार वर्तमान परिस्थिति में रस का जो रूप बन गया है उस पर नवीन प्रकार से विचार करने की आवश्यकता है और इस बात की भी आवश्यकता है कि समय और आवश्यकता के अनुसार उन्हें परिवर्तित और परिवर्धित किया जाय।

२७५. काव्य में करुण रस का स्थान—

(१) काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने 'शृङ्गार' और 'करुण रस' को रस-राज माना है। भवभूति ने करुण रस को स्वतन्त्र मानकर अन्य रसों को इसका विकार-मात्र माना है।

(२) शृङ्गार रस जीवन की अधिक परिस्थितियों को छूता है। यह सब रसों से अधिक व्यापक है। इसमें सबसे अधिक संचारी भाव आते हैं। इसलिए इसे रस-

राज कहा जाता है परन्तु स्थायी प्रभाव और मनोवृत्तियों के परिष्कार को यदि काव्य में हम प्रधानता दें तो 'शृङ्गार' को रस-राज न कहकर 'करुणरस' को ही रस-राज कहना होगा।

(३) करुण रस की अनुभूति का विश्लेषण करुण रस में अपने दुःख के साथ-ही-साथ पर-दुःख की भावना का प्राधान्य रहता है और दूसरे के दुःख में भी आत्मा उसी प्रकार द्रवित हो उठती है जिस प्रकार अपने दुःख में।

(४) "मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली करुणा है।" (रामचन्द्र शुक्ल)। जैन और बौद्ध धर्म में करुण रस को प्रधानता दी गई है। मानव के हृदय पर किसी भी मनोवृत्ति का इतना उद्वेगपूर्ण और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता जितना करुणा का पड़ता है।

(५) करुणा के कई भेद किये जा सकते हैं; जैसे स्त्री-विछोह, पति-विछोह, पुत्र-विछोह इत्यादि। पति-विछोह में पद्मावत में नागमती की क्या दशा होती है इससे हिन्दी-साहित्य के पाठक पूर्ण परिचित हैं। पुत्र-विछोह में दशरथ का प्राणान्त हो जाता है। यह दो प्रधान करुण रस के कारण हैं। इनके अतिरिक्त धन-सम्पत्ति के लुट जाने पर भी करुणा का उदय होता है परन्तु यह करुणा कवि-हृदय पर विशेष प्रभाव नहीं डालती।

(६) करुणा की प्रवृत्ति मानव की श्रेष्ठतम प्रवृत्ति है, जिसका प्रभाव भावुक हृदय पर होना अनिवार्य है। वैभव को देखकर चाहे हम उसकी ओर आकर्षित न हों परन्तु किसी को यदि वास्तव में करुणाजनक परिस्थिति में देखते हैं तो चाहे हम उसे सहायता पहुँचाने के योग्य भी न हों परन्तु हमारा हृदय अवश्य पिघलने लगेगा।

(७) हिन्दी साहित्य में सम्पूर्ण रूप से किसी कवि ने करुण रस प्रधान ही रचना की हो ऐसी बात न होते हुए भी प्राचीन साहित्य में सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीत तथा जायसी का नागमती-विरह-वर्णन विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक कविता-साहित्य में करुण-रस पर प्रबन्धात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की उच्च कोटि की रचनाएँ मिलती हैं। मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', 'पंत', महादेवी वर्मा 'बच्चन' इत्यादि कवियों ने उच्च कोटि की करुण रस-प्रधान कविताएँ की हैं।

(८) करुणा का स्थान हृदय में बहुत स्थायी है। किसी भी काव्य को हृदय-ग्राही बनाने के लिए या तो उसमें शृंङ्गारिकता का होना आवश्यक है, या संवेदना का। संवेदना-प्रधान साहित्य समाज और देश के लिए शृंगारिक काव्य की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। संवेदना के साथ करुणा का घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ संवेदना है वहाँ सहयोग है और जहाँ सहयोग है वहाँ उत्थान है। इस प्रकार करुण रस-प्रधान साहित्य उन्नतिमूलक है, अवनतिमूलक नहीं। उनमें निराशा का स्थान अवश्य है परन्तु दया और संवेदना से उत्साह अधिक गति के साथ साहित्य में स्थान पाता है।

(९) उपसंहार—इस प्रकार करुण रस द्वारा हमारी सहानुभूति को प्रश्रय मिलता है, संवेदना के साथ सहयोग और प्रोत्साहन मिलता है। भावुक हृदय की

कोमल वृत्तियाँ करुण रस से प्रभावित होकर जन-मंगल की ओर अग्रसर होती हैं।

२७६. काव्य में कल्पना का स्थान—

(१) भूमिका—वास्तविक अनुभव, लोक-ज्ञान और मनोविज्ञान का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी काव्य का सृजन बिना कल्पना के नहीं हो सकता। साधारण वस्तु के वर्णन में अलौकिक आनन्द की अनुभूति करना कवि-सुलभ कल्पना का ही कार्य है।

(२) काव्य में अलंकारों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है और अलंकारों का जन्म ही कल्पना से होता है। बिना कल्पना के अलंकारों में चमत्कार नहीं आ सकता। प्राचीन आचार्यों के एक वर्ग ने तो कल्पना को इतना महत्त्वपूर्ण माना है कि उन्होंने अलंकारों को ही काव्य मान लिया है।

(३) कवि संसार की सभी वस्तुओं को नहीं देखता परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर अपनी अनुभूति से उन तथ्यों तक अपनी पहुँच करता है जिन्हें साधारण व्यक्ति आँखों से देखकर भी प्राप्त नहीं कर सकता।

(४) कवि संसार के सम्मुख देश, समाज और मानव के हित के लिए आदर्श उपस्थित करता है। यह आदर्श के प्रतीक के रूप में सामने आते हैं और मानव का पथ-प्रदर्शन करते हैं। कवि यह सब कुछ कल्पना के ही आधार पर कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम, सीता, दशरथ, भरत इत्यादि के चरित्रों का निर्माण कल्पना के ही तो आधार पर किया है।

(५) कल्पना आनन्दमूलक है, मनोरंजनमूलक है, रसोत्पादक है और गाम्भीर्य-वर्धक है। इस प्रकार इन सभी गुणों को काव्य में कल्पना से प्रश्रय मिलता है। कल्पना कवि की वह शक्ति है जिसके बल से कवि मानव को देवता और निर्बल को सबल बना सकता है। कल्पना के आधार से मानव अपनी वर्तमान कठिन परिस्थितियों को भूलकर भविष्य के आनन्द में झूम सकता है और इस प्रकार प्रयत्नशीलता की ओर अग्रसर होता है।

(६) कल्पना द्वारा कवि अव्यावहारिक और व्यावहारिक बातों की सीमा तक सुगमतापूर्वक पहुँच जाता है। वह परिचित वस्तु में नमक-मिर्च मिलाकर उसे ताजा बना देता है। अनदेखी वस्तु को कल्पना द्वारा पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देता है। पुराने अनुभवों और इतिहास का आधार लेकर पूर्व-काल को वर्तमान में लाकर सजा देता है और इस प्रकार समाज अपनी आज की तुलना प्राचीन से करके उन्नति का मार्ग खोज लेता है।

(७) उपसंहार—कल्पना में सत्य और असत्य का समन्वय है, उच्छृंखलता और गाम्भीर्य का सामंजस्य है। कल्पना के आधार पर ही कवि इस लोक में उस लोक के चित्र उपस्थित करता है और मानव को आशावादी होने का पाठ पढ़ाता है। मानव-जीवन से नैराश्य को नष्ट कर देने के लिए कल्पना की नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकार कल्पना काव्य का वह प्रधान गुण है कि जिसके बिना काव्य की भित्ति

खड़ी ही नहीं की जा सकती और यदि हो भी जायगी तो उसमें सौन्दर्य और चमत्कार का अभाव रहेगा और यह दोनों काव्य के प्रधान गुण हैं।

२७७. काव्य में शैली की विशेषता—

(१) परिभाषा—शैली अंग्रेजी शब्द Style का पर्यायवाची है। मन के विचार, बुद्धि के चिन्तन और हृदय की अनुभूतियों के काव्य में स्पष्टीकरण के ढंग को शैली कहते हैं।

(२) यह स्पष्टीकरण भाषा के कारण, भावनाओं के कारण, चिन्तन और व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण होता है। इसलिए शैलियों का विभाजन भी इन्हीं विशेषताओं के आधार पर किया जाता है।

(३) विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और तर्क-प्रधान चार प्रधान साहित्य की शैलियाँ मानी जाती हैं और इन चारों में अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। इन सभी शैलियों के मूल में मानव की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं—(क) चिन्ताधर्मी प्रवृत्ति (ख) अनुभूतिधर्मी-प्रवृत्ति।

(४) भाषा-सम्बन्धी शैलियाँ भाषा के गुणों और दोषों के आधार पर बनती हैं जो माधुर्य, ओज, प्रसाद इत्यादि गुणों से युक्त होती हैं।

(५) व्यक्ति-प्रधान शैली में लेखक का व्यक्तित्व झलकता है। उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ उसके लेख की भाषा और उससे भावों में इस प्रकार प्रयुक्त होती हैं कि उस लेख को पढ़ते ही पाठक कह उठता है कि अमुक रचना अमुक व्यक्ति की है।

(६) कुछ आचार्य रसों के आधार पर भी नवीन शैलियों का निर्माण करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक लेखक अपनी शैली पृथक् ही मानते हैं।

इस प्रकार काव्य के आकार में शैली को यदि हम काव्य की देह नहीं कह सकते हैं तो उसकी वेश-भूषा अवश्य कह सकते हैं। काव्य की सजावट, काव्य का भाव, काव्य का विषय इन सभी का शैली से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। शैली काव्य में आकर्षण पैदा करती है और पाठक के मन में काव्य को पढ़ने की रुचि पैदा करना भी काव्य-शैली का ही गुण है। शैली-विहीन काव्य बेपेंदी के लोटे के समान है जिसका कोई स्थायित्व नहीं।

२७८. साहित्य किसके लिए है?

(१) साहित्य किस उद्देश्य से लिखा जाता है इसके विषय में अनेकों मत प्रचलित हैं और सभी मतधारी तर्क द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं। मनोवैज्ञानिक साहित्य को 'अहं' के स्पष्टीकरण का माध्यम समझता है। उसकी दृष्टि में 'आत्म-प्रकाशन' ही साहित्य का चरम लक्ष्य है। आशावादी साहित्य द्वारा भविष्य के सुख-मय होने का स्वप्न देखता है। आदर्शवादी समस्त संसार में प्यार और सहिष्णुता की कल्पना करता है। नीतिवादी साहित्य द्वारा मन और आत्मा का परिष्करण करना चाहता है। कलावादी साहित्य का उद्देश्य केवल 'कला' को मानता है।

(२) साहित्य के प्रधान अंग उसकी भाषा, भाव और कल्पना हैं। भाषा काव्य का साधन है साध्य नहीं। परन्तु साहित्यकार के लिए यह उतनी ही आवश्यक है जितनी कि किसी भवन-निर्माता को भवन बनाने की सामग्री या मूर्तिकार के लिए पत्थर अथवा चित्रकार के लिए उसी की तूलिका, उसका कागज और उसका कपड़ा। भाषा के पीछे दौड़ने वाले काव्य शैली को काव्य का सर्वस्व मान लेते हैं।

(३) विचारों या भावों का कलात्मक स्पष्टीकरण काव्य कहलाता है। उपयोगात्मक या व्यवसायी ढंग से लिखी गई रचना काव्य की कोटि में नहीं आती। साहित्य में कल्पना का स्थान अवश्य है, परन्तु वह निरर्थक नहीं होनी चाहिए।

(४) काव्य का विवेचन करते समय सार्थकता को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। वह काव्य जो सार्थक नहीं, काव्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं हो सकता। काव्य किसी बात को कलात्मक ढंग से कहने का नाम है। कलात्मक ढंग से कही गई बात का प्रभाव उपदेशात्मक बातों की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए समाज के उत्थान और पतन में जो हाथ साहित्य का रहता है वह अन्य किसी वस्तु का नहीं रहता। साहित्य समाज की नींव-शिला है और उसी के धरातल पर समाज के चरित्र का निर्माण होता है।

(५) काव्य का प्रभाव रस, नीति और बुद्धिवाद तीन धाराओं में हुआ है। तीनों के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण हैं। परन्तु सर्वोच्च साहित्य वही है जिसमें तीनों का सम्बन्ध मिले।

(६) साहित्य-विवेचना में हमें दो प्रधान वाद दृष्टिगोचर होते हैं, एक आनन्द-वादी और दूसरा उपयोगितावादी। आनन्दवादी एक प्रकार से व्यक्ति-प्रधान है और उपयोगितावादी समाज-प्रधान। समाज-प्रधान जनता का अपना साहित्य होता है। इसलिए उसके प्रचार और व्यापक होने में भी सहयोग मिलता है। व्यक्ति-प्रधान साहित्य विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक और सीमित होता है, इसलिए उसकी पहुँच उतनी व्यापक नहीं हो सकती।

(७) इस प्रकार हम साहित्य को केवल मनोरंजन के लिए नहीं मान सकते। साहित्य का बहुत बड़ा उपयोग है और साहित्यकार के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व। साहित्यकार का सृजन पकौड़ी और मिठाई बनाने वाले के समान नहीं है। उसका प्रभाव व्यापक है, स्थायी है, इसलिए उस काव्य में भी व्यापक और स्थायी गुणों का वर्तमान होना आवश्यक है। काव्य का प्रभाव पाठकों के आचरण पर पड़ता है, मस्तिष्क पर पड़ता है और उनके जीवन पर पड़ता है, इसलिए साहित्यकार को कोई अधिकार नहीं है कि पाठकों के जीवन से खिलवाड़ करे। साहित्य समाज का पथ-निर्देशक बनकर आना चाहिए, पथ-भ्रष्टा नहीं।

२७१. साहित्य-क्षेत्र में गद्य और पद्य का स्थान—

(१) प्रायः सभी देशों का प्राचीनतम साहित्य पद्य में मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य का प्रारम्भ गद्य से होता है।

(२) प्राचीन काल में न पुस्तकों का साधन था और न छापेखानों का। विविध वैज्ञानिक दिशाओं में ज्ञान का विस्तार भी आज जैसा नहीं था। विद्या का गुण समझा जाता था कि 'विद्याकंठ' अर्थात् जो ज्ञान कंठस्थ है, बस वही तुम्हारी विद्या है। एक काल यह रहा है जब काव्य-ग्रन्थ पिता पुत्र को कंठस्थ करा देता था और फिर पुत्र अपने पुत्र को। इसी प्रकार काव्य स्थायी रहता था।

(३) उस काल में काव्य सूत्र-रूप में सुरक्षित रखा जाता था। बड़े-बड़े उपन्यासों को कंठस्थ करना एक समस्या थी और फिर पद्य की अपेक्षा गद्य को कंठस्थ करना भी कठिन कार्य था। इसलिए उस काल में पद्य की रचना हुई भी तो वह काव्य का रूप नहीं बन सकी।

(४) आधुनिक काल में जब कागज और छापेखानों का आविष्कार हो गया और मोटे-से-मोटे साहित्यिक ग्रंथों के भी सुरक्षित रखने का साधन बन गया तो साहित्यिक क्षेत्र में पद्य का स्थान गद्य ने लेना प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु-युग से पूर्व हिन्दी-साहित्य में गद्य लिखी अवश्य गई परन्तु साहित्य के दृष्टिकोण से उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

(५) पद्य का स्थान गद्य ने लेना प्रारम्भ कर दिया और काव्य का क्षेत्र भी व्यापक होने लगा। जहाँ साहित्य में कविता और नाटक लिखे जाते थे वहाँ उपन्यास, कहानी, गद्य-गीत, जीवनियाँ और समालोचनाओं का अपार साहित्य लिखा जाने लगा।

(६) पद्य में जहाँ रागात्मक वृत्ति प्रधान रहती है वहाँ गद्य में व्यापक चरित्र-चित्रण और विस्तार के साथ वर्णन करने की शक्ति वर्तमान है। आज गद्य और पद्य दोनों में अपार साहित्य का सृजन हो रहा है और पद्य का स्थान गद्य ने ले लिया है। गद्य में यह विशेषता है कि इसके अन्तर्गत हर विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। पद्य में सभी विषयों पर रचना नहीं की जा सकती। पद्य के लिए कुछ विशेष ही विषय चुनने होते हैं।

२८०. काव्य के प्रमुख अंग—

(१) काव्य के दो मुख्य अंग हैं (१)—दृश्य-काव्य और (२) श्रव्य-काव्य।

(२) दृश्य-काव्य के अन्तर्गत नाटक आता है। नाटक रूपक का ही पर्याय-वाची शब्द हो गया है। नाट्य-शास्त्र के पंडितों ने दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक माने हैं। नाटक रंगमंच पर पात्रों द्वारा खेला जाता है और इस प्रकार वह दृष्टि के सम्मुख अपना प्रदर्शन करके दर्शकों को प्रभावित करता है।

(३) नाटक को दृश्य-काव्य माना अवश्य गया है परन्तु उसमें श्रव्य-काव्य के भी गुण होते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार बाबू जयशंकरप्रसाद के नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रखने की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत बहुत सुगमता से रखे जा सकते हैं।

(४) श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, उपन्यास, कहानी,

निबन्ध, गद्य-काव्य, जीवनियाँ इत्यादि आते हैं।

(५) उपसंहार—काव्य के प्राचीन अंगों में आज वृद्धि हो गई है। पहिले केवल भाँति-भाँति की कविताओं को ही काव्य कहा जाता था, परन्तु आज पद्य का साहित्य में स्थान बन जाने से काव्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि भी आ गये हैं। इस प्रकार काव्य के अंगों में बराबर वृद्धि होती जा रही है और काव्य हर प्रकार से उन्नतिशील है।

अध्याय २१

धार्मिक और दार्शनिक निबन्ध

हिन्दू धर्म और उसके धर्म-ग्रन्थ

२८१. वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन आर्यत्व का अवशेष है। जिस समय आर्य में आये तो यहाँ पर द्राविड़ लोग रहते थे। आर्यों ने उनमें कुछ को तो अपना दास बनाकर शूद्र नामकरण कर दिया और उनमें से कुछ दक्षिण भारत का भाग गये। उत्तर भारत पर आर्यों का धीरे-धीरे साम्राज्य स्थापित हो गया और आर्य-धर्म भारत का प्रधान धर्म बन गया।

आर्य ऋषि-मुनियों ने अपने धर्म-ग्रन्थों का निर्माण किया। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण इत्यादि आर्यों के प्रधान ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये। इनके अतिरिक्त गीता, ब्राह्मण-ग्रन्थ, तंत्र-ग्रन्थ, षट-दर्शन और उनकी टीकाएँ इत्यादि भी बहुत से ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में रामायण, महाभारत और पुराणों को छोड़कर शेष ग्रन्थों में कर्म-काण्ड और आध्यात्मिक चिन्तन दिया गया है।

मध्य-युग में आकर यही आर्य-धर्म हिन्दू-धर्म कहलाया और इसमें अनेकों प्रकार के विचारक जन्म लेकर आये। अनेकों वादों का हिन्दू-धर्म में उदय हुआ। नये-नये आचार्यों ने अपने नये-नये दृष्टिकोण जनता के सामने रखे और धर्म भी विविध धाराओं में बहने लगा। एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद यह प्रधान प्रवृत्तियाँ धर्म के क्षेत्र में आ गईं। इस प्रकार आर्यों की प्राचीन और नवीन अनेकों धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ अनेकों ग्रन्थ लिखे गये परन्तु जिन्हें हिन्दुओं के प्रतीक-धर्म-ग्रन्थ कह सकते हैं वह केवल रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध केवल इन्हीं ग्रन्थों से है।

हिन्दू शब्द आर्यों को मुसलमानों ने दिया, जिसका अर्थ 'काफिर' है। यह अपमानसूचक शब्द है परन्तु धीरे-धीरे रूढ़ि हो गया और व्यापक भी। इसी शब्द के आधार पर हमारा धर्म हिन्दू-धर्म हुआ। जिस समय से इस धर्म और संस्कृति के साथ हिन्दू शब्द का सम्मिलन हुआ है उस समय से इस धर्म को परतन्त्र परिस्थितियों में रहना पड़ा है। देश के परतन्त्र होने पर भी पूर्वजों ने धर्म का ढाँचा इतना सुदृढ़ बना दिया था कि घोर आपत्ति काल में भी धर्म की बराबर रक्षा होती रही और धर्म-वीरों

ने प्राणों की आहुतियाँ समय-समय पर दे-देकर भी धर्म की रक्षा की। हिन्दू धर्म के लालों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए हँसते-हँसते बलिदान दिये हैं। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे, बन्दा वैरागी, हकीकतराय, स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि के अमर बलिदान हिन्दू धर्म के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों से लिखे हुए हैं। उनकी अमर कहानियाँ आज भी धर्मपरायणा शिक्षित नारियाँ अपने बच्चों को सुनाकर उनमें धार्मिक भावनाओं का समावेश करती हैं।

हिन्दू धर्म चार प्रधान वर्णों में विभाजित है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारम्भ में इन चारों वर्णों का निर्माण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर हुआ था; परन्तु धीरे-धीरे धर्म में विचारकों का स्थान कर्म-काण्डी रूढ़िवादियों ने ले लिया और कर्म का स्थान भी जन्म ने लेना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इन चारों वर्गों का भी विभाजन होना प्रारम्भ हो गया और हिन्दुओं में अनेकों जातियों का उदय हुआ। अनेकों प्रकार के ब्राह्मण बन गये, अनेकों प्रकार के वैश्य हो गये और इसी प्रकार शूद्रों में भी विभाजन हो गया। हिन्दू धर्म के साथ-ही-साथ हमें भारत में कुछ अर्ध-हिन्दू जातियाँ भी मिलती हैं जिन्हें हम भुलाकर नहीं चल सकते। उदाहरण के लिए सिख सम्प्रदाय और जैनियों को ही ले सकते हैं। इनके धर्म-ग्रन्थ पृथक् अवश्य हैं परन्तु रीति-रिवाजों में यह हिन्दुओं की भाँति गौ-रक्षा करना अपना धर्म समझते हैं, हिन्दू त्यौहारों को मानते हैं और सिर पर चुटिया भी रखते हैं।

हिन्दू धर्म में जातियों का उदय हुआ। इससे समाज और धर्म छिन्न-भिन्न होता गया। जाति-विद्वेष की मात्रा बढ़ी और पारस्परिक घृणा को प्रश्रय मिला। जाति के उत्थान में यह सहायक न होकर बाधक हुई। अमानुषिक प्रवृत्तियाँ इनमें जागृत हो गईं और मानवता तथा सभ्यता का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। जाति-प्रथा का एक लाभ अवश्य हुआ कि इसने किसी-न-किसी रूप में आर्यत्व की शुद्ध रक्तता को स्थायी रखने में सहायता दी।

हिन्दू धर्म आज तक जीवित है किस आधार पर? केवल अपने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर वह जीवित है। इन्हीं ग्रन्थों ने धर्म को जीवन प्रदान किया है और हिन्दू संस्कृति को धर्म की छाती के रूप में सुरक्षित रखा है। यों जितने भी ग्रन्थ हम ऊपर गिना चुके हैं सभी महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु यहाँ हम विशेष रूप से रामायण और महाभारत पर ही विचार करेंगे, क्योंकि संस्कृति-ग्रन्थ धीरे-धीरे केवल पण्डितों का धन बन गये और साधारण जनता का उन तक पहुँचना असम्भव हो गया। जनता ने गीता, रामायण और महाभारत की कथाओं पर ही सन्तोष किया और जो इनसे बढ़े उन्होंने पुराणों तक अपनी पहुँच की। इससे अधिक नहीं।

रामायण—रामायण की रचना महाकवि वाल्मीकि ने की और गोस्वामी तुलसीदास ने उसको भाषा में लिखा। तुलसीकृत रामायण ने जनता में वह सम्मान प्राप्त किया जो सम्भवतः आर्यों के आदि-काल में वेदों ने प्राप्त किया होगा। आज रामचरितमानस हिन्दू धर्म का प्राण है। रामायण आपत्ति काल में सुदृढ़ रहना सिखाती

है और कर्तव्यपरायणता तो उसमें कूट-कूट कर भरी है। रामायण में राम-राज्य का इतना सुन्दर चित्र संसार के सामने रखा है कि आज के युग का महान् राजनीतिज्ञ गांधी भी उससे प्रभावित हुआ और उसने भारत का कल्याण भविष्य में राम-राज्य की स्थापना में ही सोचा। रामायण, व्यक्ति के लिए है, समाज के लिए है, धर्म के लिए है और देश के लिए है। रामायण में जितनी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं वह सभी व्यापक हैं, सब काल के लिए हैं। जीवन की साधारण प्रवृत्तियों में कभी कोई अन्तर नहीं होता।

महाभारत-गीता—गीता हिन्दू धर्म का वह महान् उपदेश है कि जिसका सम्मान न केवल भारतवर्ष में ही वरन् अन्य देशों में उसे बड़े चाव से पढ़ा जाता है। लोकमान्य तिलक ने गीता के ही आदेश पर चलकर भारत में असहयोग आन्दोलन को जन्म दिया और बाद में महात्मा गांधी ने उसे अपनाया। गीता का महान् उपदेश—

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महादुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।

इसी बात को लेकर लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर ली और भारत को स्वतन्त्र कराया। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में कितनी महान् शक्ति है इससे हम इसका अनुमान कर सकते हैं। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ हिन्दू धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रतीक हैं, जीवन हैं, और इन्हीं के बल पर यह युग-युग तक अपने को स्थायी रख सकेगा।

संक्षिप्त

१. प्रस्तावना—आर्य-धर्म का प्रसार।
२. आर्यों के प्रधान ग्रन्थ और उसका प्रभाव।
३. मुसलमान-काल में हिन्दू धर्म का विविध रूपों में फैलना।
४. आधुनिक राजनीति पर रामायण और गीता का प्रभाव।

हिन्दू धर्म और विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध

२८२. धर्म और विज्ञान दोनों परस्पर विरोधी विचार हैं। धर्म का उद्‌गम श्रद्धा है तो विज्ञान का तर्क, एक अनुभूति-आश्रित है तो दूसरा बुद्धिगम्य। धर्म का जन्म हृदय में होता है तो विज्ञान का मस्तिष्क से। धर्म रूढ़ियों पर आश्रित है और विज्ञान प्रगतिवाद पर, खोज पर, नवीन दृष्टिकोण पर। एक प्राचीन है और दूसरा नवीन। दोनों में सामंजस्य स्थापित करना कठिन है परन्तु यह सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज के प्रवर्तकों ने किया। अब विचारणीय बात यह है कि क्या वास्तव में धर्म का विचार से कोई सम्बन्ध नहीं और विज्ञान श्रद्धा शून्य है? हृदयवाद के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों पर

जब हम विचार करके देखते हैं तो हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म श्रद्धाश्रित न होकर तर्क और सत्य पर आश्रित है। उपनिषदों में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग पर ऋषियों ने विशेष बल दिया है।

धर्म का क्षेत्र दर्शन है। इस दर्शन में धर्म विचार करता है कि मानव और मानव का जीवन क्या है ? अन्य जीव-जन्तुओं का जीवन क्या है ? जीवन में परिवर्तन का क्या स्थान है, जीवन क्या है ? और कैसे है ? मृत्यु क्या है, तथा जीवित और मृतक में क्या अन्तर है ? चेतना किसे कहते हैं ? इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया दुख, सुख क्या सत्य है या असत्य ? मन क्या है ? यह संसार मिथ्या है या सत्य—यह सभी प्रश्न दार्शनिक के प्रश्न हैं। धर्म की भी मूल समस्याओं को धर्म ने सुलझाया है और विज्ञान भी इन्हीं की वैज्ञानिक खोज में लगा हुआ है। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है।

हिन्दू धर्म के अनुसार प्रकृति की शक्तियाँ प्रकाश, ताप, स्थल, जल, वायु इत्यादि देवता कहलाती हैं। इनकी शक्तियाँ महान् हैं। प्राण द्वारा मानव का इन महान् शक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता है। आर्य-जाति ने इन महान् शक्तियों की उपासना के लिए ही सब कर्म-काण्ड की योजना की है, योगी प्राण-शक्ति का संग्रह करके नाशकारी विकार से आत्मा को मुक्त करता है और ऊर्ध्वरेता बनकर अमृत तत्त्व अर्थात् अमरत्व को प्राप्त करता है। जीवन धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों दोनों के लिए पहेली है, समस्या है। मृत्यु के सम्बन्ध में दोनों की परिभाषाएँ मिलती-जुलती ही हैं। ऊर्जित-प्राण होना जीवन है और अध-प्राण होना मृत्यु। यह विचार दोनों को मान्य है।

जहाँ दर्शन और विज्ञान की खोज समाप्त होकर यह कह देती है कि बस इससे अधिक कुछ नहीं, वहाँ से हिन्दू धर्म का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। धर्म जीवन में सहृदयता और आशा का पाठ पढ़ाता है। केवल निराश होकर बैठ रहने के लिए धर्म नहीं है। जीवन के रहस्य को सूक्ष्म रूप से समझने वाले जीवनदर्शी प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसीलिए धर्म में माया को प्राधान्य नहीं दिया, इसीलिए शंकराचार्य का यह उपदेश नहीं दिया कि जीवन मिथ्या है, भ्रम बुद-बुद के समान है, पहेली है क्योंकि ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् तो जीवन ही अकर्मण्य हो जाय। अंग्रेजी विचारक कवि भी इस विषय में कहता है—

"शोक भरे शब्दों में मुझ से कहो न जीवन सपना है।"

मानव को जीवन में श्रद्धा रखनी चाहिए। जीवन के प्रति अविश्वास रखकर मरने की अपेक्षा आत्मप्रतारणा के साथ जीना अच्छा है। आज पाश्चात्य वैज्ञानिक अपनी निरंतर खोज के पश्चात् कहते हैं कि संसार अनन्त है, परन्तु हिन्दू धर्म ने इस ज्ञान को पहले ही जान लिया था। भगवान् के विराट् रूप की कल्पना में संसार की अनंतता का आभास ऋषि-मुनियों ने दिया है। काकभुशुण्ड जी भगवान् राम के मुख में जाकर कहते हैं—

उदर माँझ सुनु अण्डज राया। देखहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥

एक एक ब्रह्माण्ड मँह रहउ बरसु सत एक।
यह विधि मैं देखत फिरेऊँ अण्डकटाई अनेक ।।

जीवन की अनश्वरता का जो निर्णय आज के वैज्ञानिक अपनी सम्पूर्ण खोजों के पश्चात् कर चुके हैं वह निर्णय हमारे धार्मिक ऋषि-मुनि न जाने कितने वर्ष पूर्व कर चुके हैं। इस अनन्त विश्व के एक साधारण अंश को मनुष्य ग्रहण करता है अपनी बुद्धि के बल से और यह भी सब नहीं कर सकते। शेषनाग पर विष्णु के शयन करने से आचार्यों का अर्थ है कि शेष अनन्त विश्व का प्रतीक होकर विष्णु को वर्तमान संसार के रूप में सँभाले हुए है।

इस प्रकार जीवन की सभी रहस्यात्मक प्रवृत्तियों पर हिन्दू धर्म के विचारकों ने विचार किया है, खोज की है, अध्ययन किया है और निरीक्षण करके जिन निर्णयों पर पहुँचे वहीं पर आज के वैज्ञानिक पहुँच रहे हैं। क्षेत्र दोनों के पृथक्-पृथक् नहीं, हाँ, साधन अवश्य दो हैं। वैज्ञानिक वास्तविक वस्तुओं के विश्लेषण और निरीक्षण द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचता है और धर्माचार्य का साधन है उसकी अनुभूति, उसका आत्म-बल और उसकी तपस्या।

धर्म के क्षेत्र में किसी-न-किसी रूप में रूढ़िवाद का आना अनिवार्य है, परन्तु हिन्दू धर्म में तर्क और चिन्तन के लिए पूर्ण स्थान है। ऊपर हम कह चुके हैं कि ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज का निर्माण तर्क पर हुआ है। इन दोनों ही धाराओं पर वैदिक-काल का प्रभाव है। वेदों में जिस विषय को भी लिया गया है तर्क द्वारा ही उसका प्रतिपादन किया गया है; ब्रह्म-वाक्य बनाकर या अन्धविश्वास के साथ नहीं। हिन्दू धर्म अंधविश्वास पर आश्रित न होने के कारण आज के वैज्ञानिक युग में भी सुगमतापूर्वक चल सकता है और इसे अपने को बदलती हुई परिस्थितियों में समुन्नत करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करना होगा।

संक्षिप्त

१. धर्म क्या है? विज्ञान क्या है? दोनों के पृथक्-पृथक् क्षेत्र कौन-कौन से हैं?

२. जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में धर्म और विज्ञान का विचार।

३. धर्म श्रद्धा-मूलक है और विज्ञान तर्क-मूलक।

४. हिन्दू धर्म अपने अध्यात्म-वाद से जीवन के विषय में जो निर्णय अनेकों वर्ष पूर्व दे चुका है उसे आज के वैज्ञानिकों को अपने एक्सपरीमेंटों (Experiments) के पश्चात् मानना पड़ा है।

हिन्दू धर्म का राजनीति से सम्बन्ध

२८३. हिन्दू धर्म प्राचीन आर्य-धर्म का अवशेष है, अथवा रूपान्तर भी इसे कह सकते हैं। प्रारम्भ में आर्य-जाति ने जब अपने को चार वर्णों में विभाजित किया

तो ब्राह्मण को मस्तिष्क का रूप दिया, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उदर और शूद्र जंघाओं के रूप में ग्रहण किये गये। मानव शरीर में यह चारों ही भाग एक दूसरे के सहयोगी हैं और महत्त्व के विचार से कोई भी कम नहीं गिना जा सकता। परन्तु मस्तिष्क के संकेत पर क्योंकि सब को कार्य-संचालन करना होता है इसलिए प्रधानता मस्तिष्क की हुई, भुजायें क्योंकि रक्षा का भार अपने ऊपर लेती हैं इसलिए दूसरा स्थान उनका हुआ, इसी प्रकार तीसरा वैश्य और चौथा शूद्र हुआ।

जब तक वर्णाश्रम जातियों में बंटकर खण्ड-खण्ड नहीं हो गया तब तक यह ढाँचा ज्यों-का-त्यों चलता रहा। राजा का प्रधान मन्त्री ब्राह्मण होता था और देश की प्रायः सभी समस्याओं को सुलझाना इसी का कर्त्तव्य था। इसी के संकेत पर राजा कार्य करता था। राजा वीर और साहसी होता था। हिन्दू धर्म ने राजा, प्रजा, मंत्री सभी के कामों को निर्धारित किया है और भारत में एक समय वह था जब धर्म का राज्य होता था।

यूरोप के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि वहाँ राजाओं पर धार्मिक काल में पोप का प्रभुत्व था। वह धर्म-प्रधान युग था और राजनीति धर्म के अन्तर्गत रहती थी। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रणाली लुप्त होती चली गई और निरंकुश राजाओं ने धर्म-कर्म सभी को तिलाञ्जलि देकर भोग-विलास में जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी कठिन परिस्थितियों में धर्माचारियों ने कूट-नीति से भी कार्य लिया। आचार्य चाणक्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। नन्द-वंश धर्मान्ध हो चुका था। नन्द का सर्वनाश करके चन्द्रगुप्त को राजा बनाना चाणक्य का ही काम था। इस प्रकार इस काल में धर्म का राजनीति के क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ था।

भारत की राजनीति ने पलटा खाया। देश पराधीन हो गया। राजनीति एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। कहीं-कहीं पर कभी-कभी कोई चिंगारी-सी अवश्य चमक जाती थी परन्तु वह धर्म के विस्तार के लिए पर्याप्त क्षेत्र नहीं था। राजनीतिक पराधीनता के पश्चात् हिन्दू जनता पराश्रित हो गई, असहाय हो गई। ऐसी कठिन परिस्थिति में जब राजनीति जनता को आश्वासन नहीं दे सकी तो धर्माचारियों ने हिन्दू धर्म के बुझते हुए दीपक को स्नेह-घृत से भर दिया।

हिन्दू धर्म ने कर्त्तव्य सिखलाया, आत्म-बल दिया, बलिदान की शक्ति दी, जीवन की अनश्वरता का उपदेश दिया, आत्मा को अमर कहकर जनता को मृत्यु के भय से दूर किया। हिन्दुओं को दृढ़ करके कर्त्तव्य-परायण बनाया। संस्कृति की रक्षा का उपदेश दिया और आज के युग में हिन्दू धर्म का जो अवशेष दिखलाई दे रहा है यह सब उन्हीं भक्तिमार्गी आचार्यों की कृपा है जिन्होंने इस कठिन काल में इस वृक्ष को अपना जीवन-दान देकर सूखने से बचाया।

आज के युग में धर्म धर्म के स्थान पर है और राजनीति राजनीति के स्थान पर। धर्म का सम्बन्ध आत्मा की शुद्धि से, आचरण की सभ्यता से और ईश्वर के चिन्तन से है और यह तीनों ही व्यक्तिगत विषय हैं, सामाजिक या राजनैतिक

नहीं। वैसे सूक्ष्म रूप से व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है, इसलिए व्यक्ति का विषय ही आज समाज का विषय है और प्रजातन्त्र के विधान में समाज की समस्या ही राष्ट्र की समस्या है, देश का विषय है, परन्तु सीधे रूप में धर्म राजनीति के क्षेत्र में नहीं आता। आज राजनीति को पृथक् रूप से अपना संचालन करना है और धर्म को पृथक् रूप से। प्राचीन काल में जिस प्रकार धर्म की राजनीति पर प्रधानता रहती थी उसी प्रकार आज राजनीति का बोल-बाला है। धर्म, समाज, साहित्य सभी को राजनीति की ओर ताकना पड़ता है।

धर्म का महत्त्व इस प्रकार आज के युग में निश्चित रूप से कम होता जा रहा है। राज्य की ओर से प्रश्रय कम मिलता है और आज पाश्चात्य प्रभाव के कारण लोगों की अवस्था भी धर्म में बहुत कम रह गई है। जहाँ तक ईश्वर का नाम और मन्दिर-दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ तक तो बहुत से व्यक्ति मिल भी जाते हैं परन्तु कर्म-काण्ड के लिए तो आज एक प्रतिशत भी व्यक्ति तैयार नहीं। जन्म, विवाह और मृत्यु बस तीन ही समय कर्म-काण्ड के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार आज की राजनीति में धर्म का कोई हाथ नहीं, कोई महत्त्व नहीं। इतना महत्त्व अवश्य है कि वर्तमान राजनीति के कर्णधार पूरे हिन्दू थे और हिन्दू-धर्म पर उन्हें पूरी आस्था थी। उन्होंने अपने राज्य-संचालन के जो मार्ग सोचे वह भी उन्होंने हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों के ही आधार पर विचारकर बनाए। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी को गीता पर महान् आस्था थी और उनके जीवन-कालीन राजनैतिक संघर्षों में गीता की प्रधान विचारावलि रही है। महात्मा गांधी के राम-राज्य की कल्पना भी उसकी धार्मिक कल्पना थी। परन्तु खेद है कि गांधीजी की अकाल-मृत्यु के कारण वह राम-राज्य की कल्पना फलीभूत न हो सकी।

संक्षिप्त

१. हिन्दू-धर्म और राजनीति: वर्णाश्रम धर्म की स्थापना।

२. राजनीति पर धर्म की प्रधानता।

३. पराधीनता-काल में राजनीति का लोप और धर्म का आश्वासन।

४. वर्तमान राजनीति में धर्म का गौण स्थान; धर्म पर राजनीति की प्रधानता।

हिन्दू धर्म के गुण और अवगुण

२८४. हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना है कि वास्तव में हिन्दू धर्म क्या है? धर्म के विषय में वेदव्यास का मत है कि 'धर्म-धारित प्रजा और समाज को धारण करती है। अधर्म है अनाचार और उच्छृंखलता तथा धर्म है श्रेष्ठ सामाजिक आचार-विचार।' ऋग्वेद में भी सत्-पथ पर चलने के लिए आचार-सुधार की आवश्यकता बतलाई है। इस प्रकार धर्म आचार-

मूलक है, अनाचारमूलक नहीं। हिन्दू धर्म में मनु के विचार से धर्म-पालन के लिए ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण का चुकाना परमावश्यक है। ऋषि-ऋण के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति, देव-ऋण के अन्तर्गत हवन, पुण्य-कर्म इत्यादि और पितृ-ऋण के अन्तर्गत पिता के प्रति कर्त्तव्य-पालन आता है।

हिन्दू धर्म में जीवन को व्यवस्थित करने के लिए जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है उसी प्रकार मानव-जीवन को भी चार आश्रमों में विभाजित किया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन चारों आश्रमों का पालन करना आवश्यक है। धर्म समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा मानव इस लोक में अपने जीवन को सुधारकर परलोक को सुधारता है। वास्तव में धर्म का सम्बन्ध मानव-जीवन से है।

हिन्दू-धर्म ने समाज और मानव-जीवन की व्यवस्थाएँ प्रारम्भ में निर्धारित कीं, उनके बन्धन ज्यों-के-त्यों बने हुए नहीं रह सके। समय और व्यक्ति के अन्तर से इन सब में अन्तर प्रारम्भ हो गये। वर्ण-व्यवस्था जातियों में बदलती चली गई और आश्रम-धर्मों का उचित पालन होना बन्द हो गया। संन्यासियों ने विवाह करने शुरू कर दिये और ब्रह्मचारियों ने विषय-भोग। इसका प्रभाव समाज पर बुरा पड़ा। समाज और भी अव्यवस्थित होने लगा। आचार्यों ने इस प्रकार अनाचरण करने वाले व्यक्तियों के लिए सामाजिक दण्ड निर्धारित करके इन प्रवृत्तियों को रोकने के प्रयत्न किये। फलस्वरूप वर्णों से बहिष्कृत व्यक्तियों ने अपनी-अपनी जातियों का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनेकों जातियों के जन्म हुए। एक-एक वर्ण की अनेकानेक उप-शाखाएं बनती चली गईं। इस जाति भिन्नता के कारण समाज का संगठन टूट गया। समाज की शक्ति क्षीण होती चली गई और इतने भेद और उपभेद पैदा हो गये कि संगठन का सूत्र एकदम समाप्त हो गया। यह विच्छेदात्मक प्रकृति इतनी बलवती हुई कि इसका प्रभाव भारत में आने वाले मुसलमान-धर्म पर भी पड़े बिना न रहा। भारत के मुसलमानों में भी जातियाँ आज मिलती हैं। यह मुसलमान धर्म पर हिन्दू धर्म की गहरी छाप है। इस्लाम धर्म का संगठन भी भारत में आकर छिन्न-भिन्न हो गया।

हिन्दू धर्म की इस विच्छेदात्मक प्रवृत्ति का खंडन स्वामी दयानन्द ने किया और संगठन की एक बार भारत में ऐसी लहर चलाई कि सभी वर्णों को मिलाकर ॐ के झंडे के नीचे खड़ा कर दिया। इस भावना को महात्मा गांधी ने अपने हरिजन आन्दोलन द्वारा विशाल रूप देकर राजनीति का अंग बना दिया और ऐसा व्यापक बना दिया कि वर्तमान राजनीति में उस सगठन की आवश्यकता ही नहीं रही। आज के प्रजातन्त्रवाद में एक पण्डित को भी राय माँगने के लिए भंगी की झोंपड़ी पर जाना पड़ता है।

हिन्दू धर्म मध्य-युग में आकर एक प्रकार से कर्म-काण्ड प्रधान हो गया था। धर्म विचारात्मकता की ओर से रूढ़िवाद की तरफ़ बढ़ रहा था। यह धर्म की

स्वस्थ्यावस्था नहीं थी। धर्म पर जन्म की प्रधानता हो चुकी थी। मठों की स्थापना होने लगी थी और मठाधीशों की परिस्थिति राजा महाराजाओं-जैसी होने लगी थी। इन मठाधीशों का जनता पर प्रभाव था, क्योंकि जनता धर्म-भावना-प्रधान थी। यही कारण था कि इन मठाधीशों की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। मुसलमान-युग में भी हमें मुसलमान-मठाधीशों के ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं। निजामुद्दीन औलिया की प्रसिद्ध गाथा से इतिहास के विद्यार्थी सभी परिचित हैं। प्रारम्भ में यह मठ धर्म के केन्द्र थे, विद्या अध्ययन करने के लिए विश्व-विख्यात विद्यालय थे, बड़े-बड़े विचारक और योगी वहाँ पर रहते थे, परन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न चल सकी। मानव-जीवन में स्वार्थ और विलास की न्यूनताएँ कहीं बलवती होती हैं। इनके प्रभाव से परिस्थिति यहाँ तक गम्भीर बनी कि वही ज्ञान के केन्द्र, व्यभिचार, स्वार्थ और ऐश्वर्य के केन्द्र बन गये। कर्म-काण्ड का रूप बदलने लगा। यज्ञ पर जानवरों की बलि दी जाने लगी और कहते हैं कि कहीं-कहीं पर मानव की बलि भी दी जाती थी। अनार्य जातियों के कुछ देवी-देवताओं को भी हिन्दू धर्म ने अपने में मिला लिया और उनकी पूजा भी होने लगी। जैसे काली की पूजा का विधान हमें वेदों में नहीं मिलता।

यह परिस्थिति अधिक दिन तक न रह सकी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हिन्दू धर्म की इन्हीं खराबियों के कारण हुआ। यह दोनों ही धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म के रूपान्तर हैं, सुधार हैं। हिन्दू धर्म में इस काल के अन्दर जो अवगुण या दोष भी उत्पन्न हो गये थे वह हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों में निहित नहीं थे। धर्म-सिद्धान्तों के निरूपण और उनके प्रयोग में दोष आ गये थे, उनके मूल में नहीं। जैन और बौद्ध धर्म के नवीन विचारकों ने हिन्दू धर्म के उन दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और आचरण की सत्यता पर बल देकर धर्म के नवीन दृष्टि-कोण का निर्माण किया। हिन्दू धर्म में कुछ प्रथाएँ ऐसी बनती चली गईं कि जिन्हें अंग्रेजी शासन-काल में आकर सरकारी कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता हुई। सती की प्रथा को हम इसके उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। ब्रह्म-समाज ने इस प्रथा के विपरीत विद्रोह किया और फिर सरकार को अन्त में नियम द्वारा यह प्रथा बन्द करनी पड़ी। इस प्रकार अछूतों का मन्दिरों में जाना, कुओं पर चढ़ना इत्यादि पर आर्य-समाज ने बल दिया, महात्मा गांधी ने आन्दोलन किये और वर्तमान शासन-व्यवस्थाओं ने उन्हें मानकर कानून बना दिया।

हिन्दू धर्म के आर्य-काल में नारी का स्थान पुरुष से किसी प्रकार भी कम नहीं था। नारी का स्थान स्वार्थी आचार्यों ने बराबर गिराकर यहाँ तक बना दिया कि उसे विद्या और समाज के क्षेत्रों के बाहर निकालकर घर की भित्तियों में बन्द कर दिया। यह थी धर्म की गिरावट। अंग्रेजी शासन-काल में स्त्री-समाज पर पाश्चात्य नारी-आन्दोलनों का प्रभाव हुआ। आर्य-समाज ने नारी-शिक्षा पर भी बल दिया और आज उनमें भी शिक्षा बढ़ती जा रही है। स्त्री-शिक्षा के लोप का जो प्रधान प्रभाव

मालूम देता है वह मुसलमान शासन-काल में मुसलमानी धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव है। इसका प्रभाव समाज पर बुरा पड़ा क्योंकि बच्चों का निर्माण जितना स्त्रियों के हाथ में है उतना पुरुषों के हाथ में नहीं और बच्चों पर समाज और देश का भविष्य आधारित है।

इस प्रकार हमने हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया और देखा कि धर्म के अवगुणों का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों से नहीं है। उनके व्यवहार और जीवन मे प्रयोग से है। यदि आज भी हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को उनके मूल रूप में अपनाया जाय तो वह व्यक्ति और समाज के लिए लाभदायक सिद्ध होंगे। हिन्दू धर्म की मूल धारा हिन्दुओं के हृदयों में सतत प्रवाहित रही है और वह यही मूल आत्मा है जिसके बल पर आज तक हिन्दू धर्म जीवित रह सका है।

संक्षिप्त

१. धर्म क्या है? हिन्दू धर्म क्या है?

२. हिन्दू धर्म का प्राचीनतम रूप—आर्यकाल।

३. हिन्दू धर्म का मध्ययुग जिसमें बुद्धिवाद की ओर से धर्म रूढ़िवाद की ओर आया।

४. भारत के पराधीनता-काल में धर्म पर विदेशी प्रभाव।

५. हिन्दू धर्म की मुक्तधारा सतत प्रवाहित रही।

६. यज्ञ-बलि, सती-प्रथा, जाति-भेद, अछूत विचार, नारी का अपमान यह प्रधान हिन्दू धर्म के अवगुण थे जो कर्म-क्षेत्र में काव्य-परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते चले गये। धीरे-धीरे इन सभी का सुधार हुआ और जब-जब जैसा-जैसा समय आया उस समय वैसा ही रूप धर्म ने निर्धारित किया। इस प्रकार हिन्दू धर्म के अमरत्व का प्रबल प्रमाण सबके सम्मुख है।

७. धर्म आज जीवन की मूल प्रवृत्ति के रूप में है जिसके ऊपर से दर्शन करने कठिन हैं और उनके उचित प्रयोग से आज भी समाज का महान् हित हो सकता है।

मध्य-युग के भक्ति आन्दोलन

२८५. भारत के इस्लामी राज्य की स्थापना होनी थी कि हिन्दू जनता के हृदय से उत्साह, गर्व और गौरव जाता रहा। देव-मन्दिर गिराये जाने लगे और पूज्यनीय स्थानों का अपमान हुआ। यह सब जनता ने अपनी आँखों से हृदय पर पत्थर रखकर देखा और सहन किया। हिन्दू-जीवन में घोर उदासीनता छा गई। धर्म के क्षेत्र में वज्रयानी सिद्ध-कापालिक और नाग-पंथी जोगियों का जोर था। धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों धाराओं में प्रभावित हो रहा था। इस काल में इन तीनों के सामंजस्य की आवश्यकता थी। ज्ञान-क्षेत्र में कुछ विचारक आते हैं और कर्म तथा

भक्ति का समावेश महाभारत-काल के पश्चात् पुराण-काल से मिलता है, कभी कुछ समुन्नत रूप में और कुछ दबे हुए रूप में।

वज्रयानी सिद्धान्तों का दृष्टिकोण आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण विधायक नहीं था। वह जनता को कार्य-क्षेत्र से हटने पर तुले थे। सं० १०७३ में रामानुजाचार्य ने जिस सगुण-भक्ति का निरूपण किया, जनता ज्ञान-मार्गियों की अपेक्षा उसकी ओर अधिक प्रभावित होती जा रही थी। संवत् १२५४–१३३३ में गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव-सम्प्रदाय चलाया। इसी काल में जयदेव और विद्यापति के गीतों से कृष्ण-भक्ति का जनता में प्रचार हुआ। १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के शिष्य स्वामी रामानन्द ने विष्णु के राम-अवतार को लेकर भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय में राम-भक्ति शाखा का आविर्भाव हुआ। इसी काल में श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेम मूर्ति को लेकर कृष्ण-भक्ति-शाखा का प्रचार किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक धाराओं का प्रवाह हिन्दू धर्म की मूल प्रवृत्तियाँ बनकर भारत के कोने-कोने में प्रवाहित हो चला।

एक ओर तो यह प्राचीन भक्ति-मार्ग सगुणोपासना के आधार पर तय्यार हो रहा था, जिसमें भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप का निरूपण किया और दूसरी ओर मुसलमानों के स्थायी रूप से भारत में बस जाने के कारण 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' का विकास हुआ। वज्रयान और नाथ-सम्प्रदायों में शास्त्रज्ञ विद्वानों की कमी थी और विशेष रूप से इनका प्रभाव भी भारत की छोटी ही जातियों पर अधिक था। 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' का सीधा सम्बन्ध भी इन्हीं धाराओं से जुड़ा। यह लोग पूजा-अर्चना को व्यर्थ मानते थे, केवल अन्तर्मुख साधनाओं द्वारा ईश्वर इनके मत से प्राप्त था। इस धारा के साधु इङ्गला, पिङ्गला सहस्र कमलदल इत्यादि के उलटे-सीधे नाम लेकर मूर्ख जनता पर अपना प्रभाव सिद्ध बनकर जमाते थे। हिन्दू मुसलमानों में यह भेद नहीं मानते थे। यह धारा हृदय-पक्ष-शून्य थी और इसका सम्मान अन्तर्साधना की ओर था।

इसी काल में महाराष्ट्र देश में मानव ने साधना-तत्त्व के साथ रागात्मक तत्त्व का समावेश करके उस भक्ति-मार्ग का आभास दिया जिसे बाद में जाकर कबीरदास ने अपनाया। कबीर ने अपने निर्गुण-पंथ में जहाँ एक ओर भारतीय वेदान्त को अपनाया वहाँ दूसरी ओर सूफी प्रेम-धारा को अपनाकर निर्गुण ब्रह्म का भक्ति-रूप खड़ा किया। इस प्रकार कबीर ने नाथ-पंथ के जनता पर पड़ने वाले शुष्क प्रभाव को नष्ट करके उसमें किसी हद तक सरसता का संचार किया, परन्तु खेद की बात यह थी कि सरसता के लिए कबीरपंथ में भी स्थान कम ही था। इस प्रकार इस पंथ की अन्तर्साधना में रागात्मक वृत्ति तो मिल गई परन्तु कर्म के क्षेत्र में वही पुरानी स्थिति बनी रही। ईश्वर के धर्म-स्वरूप में लोक-रंजन की भावना का आविष्कार न हो सका और जनता के जीवन में जो जागृति या सरसता आनी चाहिए थी वह न आ सकी। "यह सामान्य-भक्ति-मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप

लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।"—रामचन्द्र शुक्ल। यह सब होते हुए भी निर्गुणपंथियों ने अपने विचारों मे सामंजस्य की भावना को विशेष स्थान दिया। एक ओर नाग-पंथ के योगियों से योग-भावना ग्रहण की तो दूसरी ओर नामदेव से भक्ति-भावना। रामानन्द जी से अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें लीं और साथ ही दूसरी ओर सूफी फ़कीरों से रागात्मकता, वैष्णव धर्मावलम्बियों से अहिंसावाद और प्रवृत्तिवाद ग्रहण किया। इस प्रकार वह न तो पूर्ण रूप से अद्वैतवादी ही हैं और न एकेश्वरवादी ही। दोनों का मिला-जुला रूप इसमें मिलता है। बहु देवोपासना, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा का इन भक्तों ने खंडन किया है। खंडात्मक प्रवृत्ति इनकी विशेष प्रवृत्ति थी जिसमें नमाज, रोजा, व्रत, कुरबानी यह सब व्यर्थ हो जाते हैं। ब्रह्म-माया, जीव, सृष्टि और आनन्दवाद की चर्चा इन लोगों ने पूरे, ब्रह्म ज्ञानी बनकर की है। विशुद्ध-ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन इनकी विशेषता थी।

सगुणोपासना को भक्तों ने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में माना है। केवल भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने सगुण रूप को ही प्रश्रय दिया है। सगुण भक्त अव्यक्त की ओर संकेत तो करते हैं, परन्तु उनके पीछे नहीं पड़ जाते।

इस प्रकार सगुण और निर्गुण दो भक्ति-धाराएँ विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक साथ-साथ चलती रहीं। निर्गुण-धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा थीं। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफ़ी प्रेम-धर्म की प्रधानता थी। यह शाखा केवल साहित्यिक-क्षेत्र तक ही प्रधानता पा सकी। जनता में इसे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। जिस प्रकार निर्गुण-धारा के अन्तर्गत दो शाखाएँ थीं उसी प्रकार सगुण-भक्ति उपासकों के भी दो मार्ग थे। एक भक्ति-शाखा और दूसरा कृष्ण-भक्ति-शाखा, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मध्य-युग में भक्ति के यही प्रधान आन्दोलन थे।

संक्षिप्त

१. मध्यम युग की प्रारम्भिक धर्म-प्रधान धाराएँ।

२. निर्गुण और सगुणोपासना की प्रधान धाराएँ।

३. निर्गुण-धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी, दो प्रधान धाराएँ बनीं।

४. सगुण-धारा के अन्तर्गत राम-भक्ति-शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा यह दो शाखाएँ बनीं।

हिन्दू धर्म और पुराण

२८६. वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म के प्रधान धार्मिक ग्रन्थ हैं। भारतीय धार्मिक चिन्तन इन्हीं प्रधान ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुआ है। ब्राह्मणों ने पुराण के ही आधार पर हिन्दू धर्म का अवस्थान किया है। इन ग्रन्थों में

हिन्दू धर्म की आत्मा है, हृदय है।

पुराणों में हमें इतिहास-चर्चा, शास्त्र, धर्म-विचार, लोक-कथाएँ तथा लोक-भावनाएं मिलती हैं। रामायण और महाभारत, शैली, विस्तार, भावना और प्रकार की दृष्टि से पुराणों से भिन्न हैं। परन्तु इनके धार्मिक मूल तत्त्वों के आधार से अभिन्न ही हैं। पुराणों में हमारे राजन्य और क्षत्रिय वर्ग का इतिहास छुपा रखा है। इतिहास सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर कलियुग के प्रारम्भ तक का है—एक दीर्घ काल का यह इतिहास आर्यों, अनार्यों और उन सभी जातियों का है जिन्होंने समय-समय पर आकर आक्रमण किए और फिर वह आर्यजाति में ही अन्तर्निहित हो गईं। सत्य यह है कि यह कल्पना और भावना-प्रधान ग्रन्थ ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों की भाँति पिछले चार-पाँच हज़ार वर्षों का भावात्मक इतिहास अपने में छुपाये हुए हैं परन्तु यह कहना असम्भव है कि इनमें कल्पना का अंश कहाँ तक है।

पुराण हिन्दू-धर्म, हिन्दू-चर्चा और हिन्दू-संस्कृति की निधि हैं। संस्कृति के अन्तर्गत विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म को समझने के लिए पुराणों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। पुराण वैष्णव धर्म के प्राण हैं। परन्तु खेद की बात यह है कि एक काल ऐसा आया जब विद्वानों ने पुराणों को सही अर्थों में न समझकर उनकी अभिव्यंजनाओं और रूपकों को जनता के सम्मुख इस प्रकार रखा कि विचारकों के लिए इसके अतिरिक्त कहने को और कुछ न रहा कि यह सब व्यर्थ के बकवासी ग्रन्थ हैं, कपोल कल्पित हैं। हमारा धर्म वेद और उपनिषदों पर आधारित है। पुराण हमारे धर्म-ग्रन्थ नहीं हैं। इस विचारधारा का प्रतिपादन भारत की जनता में 'ब्रह्म-समाज' और 'आर्यसमाज' ने किया और इतने प्रबल आन्दोलन किए कि एक बार तो वास्तव में पुराण जनता को निन्दनीय-से प्रतीत होने लगे।

पौराणिक धर्म भक्ति और भावना-प्रधान है बुद्धि-प्रधान नहीं। बुद्धि-प्रधान विचारधारा वाले व्यक्तियों ने खंडन-मंडन का आश्रय लिया और पैनी धार वाली छुरी से धर्म को छीलना प्रारम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप अनैतिक चेतना और अनैतिक बुद्धि ने जन्म लिया और धर्म अनुभूति-प्रधान न रहकर बुद्धि-प्रधान बनने लगा इस विचारधारा पर ईसाई धर्म का भी प्रभाव था। अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति विज्ञान की नवीन खोजों से भी प्रभावित होते जा रहे थे। वैज्ञानिक दृष्टि से विकास-वाद की नींव पड़ चुकी थी और हृदय पर बुद्धि को प्रधानता मिलनी समाज में भी प्रारम्भ हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में भला फिर पुराणों को कौन पूछता। लोगों ने पुराणों के उस महानतम महत्त्व को भी भुला दिया कि जिसके कारण उनका आज अस्तित्व मात्र ही अवशेष रह गया था। मुसलमान-काल में यह पुराणों का ही बल था कि जिसने पराधीन पड़ी जनता के हृदयों को भी उत्साह और मंगल की भावना से निरन्तर भरा और उन्हें कर्त्तव्य-परायण बनाया।

वेद, शास्त्रों और उपनिषदों तक ही आर्य-जाति की धर्म चिन्ता को सीमित करने वाले व्यक्ति न केवल हिन्दू धर्म के साथ ही अपकार करते हैं वरन् वह अपनी

जाति, अपने इतिहास, अपने गौरव और प्राचीन ज्ञान के प्रति भी अन्याय कर रहे हैं। वेद, उपनिषदों के पश्चात् क्या आर्य जाति ने चिंतन करना बन्द कर दिया था ? और जो कुछ था क्या वह ढोंग था, गलत था, पाखंड था, मूर्खता थी, पतन था—ऐसा क्यों ? यह सब कुछ होने का कोई कारण तो चाहिए ऐसा विचार करना भ्रम है। वेद और उपनिषदों में जहाँ एक अत्यन्त छोटे वर्ग की धर्म-चिन्ता है वहाँ पुराणों में जनसाधारण की धर्म-चेतना वर्तमान है। वेद और उपनिषदों ने प्रभावित किया है चिन्तकों को, विचारकों को, परन्तु महाभारत, रामायण और पुराणों का क्षेत्र उतना सीमित नहीं है, वह बहुत व्यापक है, विस्तृत है। पुराण भारत के जन-जन की वाणी है, हृदय हैं, विचार हैं, धर्म हैं और नित्य के जीवन की भावनामय अनुभूतियाँ हैं। इसके प्रमाणस्वरूप हम भारत के देव, मन्दिरों, कथोपाख्यानों और काव्य-चित्रों तथा मूर्तियों को ले सकते हैं। इन सभी पर पुराणों की गहरी छाप है।

पुराणों को भावात्मक इतिहास मानना अधिक उचित होगा। सूर्य-वंश, चन्द्र-वंश, अग्नि-वंश, इसी प्रकार अनेकों वंशों की कथाएँ इनमें भरी पड़ी हैं। अनेकों वंशों के उत्थान-पतन, अनेकों आर्य और अनार्य जातियों की महान् संघर्ष-गाथाएँ इनमें मिलती हैं। इन्हीं कथाओं के साथ-साथ देव-कथाओं को इनमें स्थान दिया गया है। विष्णु, शिव, उमा, कार्तिकेय इत्यादि अनार्यों के देवता थे और इन्द्र, वरुण इत्यादि आर्यों के। कालान्तर में अनार्यों के देवता विष्णु और शिव आर्य देवताओं में मिलकर जनता में मान्य हुए। पुराणों में देव-कथाएँ सुन्दर रोमांस की भांति आती हैं। पुराणों में नीति को भी स्थान मिला है। व्रत-चर्य्या, रहन-सहन, तीर्थ-यात्रा, कला-कौशल इत्यादि के विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। जन्म से लेकर मरण तक की सब जीवन से सम्बन्ध रखने वाली परिस्थितियों पर पुराणों की व्याख्या मिलती है। उच्चतम आध्यात्मिक, मानसिक और व्यवहारिक ज्ञान हमें पुराणों में मिलता है।

भारत की दो-डेढ़ हजार वर्षों की कला, साहित्य वस्तु तथा मूर्ति-निर्माण इत्यादि सब कुछ पुराणों में ही तो मिलता है। पुराण हमारे उस काल का साहित्य है जिस काल का न इतिहास मिलता है और न कोई अन्य ग्रन्थ ही। प्राचीन काल से धर्म और साहित्य कभी दो वस्तु नहीं रहे। भक्ति-काल तक प्रथा ज्यों की त्यों चली आ रही है। तुलसीकृत रामायण यदि उत्तम काव्य है तो धर्म ग्रन्थ भी वह है। इसी प्रकार पुराण भी हमारे इतिहास हैं, आख्यान-काव्य हैं, धर्म ग्रन्थ हैं और साहित्य हैं। पुराणों में इन सभी का सामंजस्य है। संस्कृत कवि माघ, भास और कालीदास ने अपनी रचनाओं के मूल में पौराणिक आख्यानों को लिया है। मध्य-युग में लिखे गये सभी साहित्य पर पुराणों का गहरा प्रभाव है। रामायण और सूर-सागर दोनों में पुराणों की कथाएँ लेकर कवियों ने काव्यों का निर्माण किया है। आज के युग में उदयशंकर के नृत्य, रवीन्द्र-स्कूल के चित्र पौराणिक नहीं तो और क्या हैं ?

इस प्रकार हमने देखा कि पुराणों में सौन्दर्य-शास्त्र, काव्य, इतिहास, वेद-

कथाएँ, देवताओं का रोमांस, जीवन सम्बन्धी विचार, नीति-विचार यह सब मिलता है परन्तु इनके साथ-ही-साथ आध्यात्मिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है। जनता के धार्मिक विश्वासों को दृढ़ करने में जो कार्य पुराणों ने किया है वह अन्य ग्रन्थ नहीं कर पाए। विजातीय धर्मों से टक्कर लेकर जनता को अपने कार्य से विमुख न होने देना, यह पुराणों का ही काम था, चाहे इस अटल सत्य को आज के धार्मिक विचारक न समझ सकें।

संक्षिप्त

१. हिन्दू धर्म में पुराणों का महत्त्व।

२. पुराणों में हिन्दू धर्म का पुरातन इतिहास छुपा हुआ पड़ा है।

३. पुराणों में नीति है, कला है, जीवन सम्बन्धी ज्ञान है और अन्त में आध्यात्मिक तत्त्व की भी प्रधानता है।

४. यह अनुभूति-प्रधान ग्रन्थ है, बुद्धि-प्रधान नहीं। काव्य है, कोरा इतिहास नहीं।

जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म

२८७. छठी शताब्दी ई० पू० जब मगध के राजा अपने आस-पास के राज्यों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती राज्य की स्थापना कर रहे थे उसी समय भारत में कुछ ऐसे सुधारक नेताओं ने जन्म लिया जिन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपने धार्मिक साम्राज्यों का स्वप्न देखा। श्री महावीर और गौतम बुद्ध यह सुधारक थे। इन्हीं दो महान् आत्माओं ने जैन-धर्म और बुद्ध-धर्म को जनता में फैलाया और हिन्दू-धर्म में पैदा हुई कुरीतियों के विपरीत शक्तिशाली आन्दोलन किया।

आर्य लोग प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना करके उनकी पूजा करते थे। देवताओं के रूप में उनकी आराधना होती थी। इन देवताओं की पूजा का यज्ञ प्रधान साधन था। यज्ञों का कर्म-काण्ड जो कि पहले बहुत सुगम था, धीरे-धीरे जटिल होता चला आ रहा था। सर्वप्रथम यज्ञों में पशुओं की बलि प्रारम्भ हुई। एक-दो-तीन और अन्त में यहाँ तक कि एक-एक यज्ञ में हज़ारों की संख्या में पशु-हिंसा होने लगी। यह बलि की प्रथा यहाँ तक बलवती हुई कि पशुओं से चलकर मानव तक आ पहुँची और बेचारे इधर-उधर से आने-जाने वालों को भी उन यज्ञों से भय लगने लगा।

समाज की व्यवस्था बिगड़ रही थी। ऊँच-नीच का भेद-भाव सीमा लाँघकर घृणा के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुका था। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने समाज, धर्म और शासन की सब शक्तियाँ हस्तगत करके अपने को ऊँचा समझना प्रारम्भ कर दिया था। वर्णाश्रम धर्म-कर्म प्रधान न रहकर जन्म-प्रधान बन गया था। शूद्रों और दासों की एक ऐसी श्रेणी का जन्म हो गया था कि जिसे इन लोगों ने मानवता के साधारण

अधिकारों से भी वंचित कर रखा था। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं रह गये थे। धर्म के क्षेत्र में ढोंग और पाखण्ड का बोल-बाला था और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण मिलकर जनता पर मनमाना अत्याचार कर रहे थे। ऐसे आपत्ति-काल में महावीर और गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म में सुधार करने का सफल प्रयास किया।

महावीर—जातक गणराज्य में जिसकी राजधानी कुण्डग्राम थी, गण-मुख्य सिद्धार्थ के घर स्वामी महावीर ने जन्म लिया। इनका बाल्य और युवा-काल समृद्ध परिस्थिति में व्यतीत हुआ, परन्तु इनकी प्रकृति प्रारम्भ से ही सांसारिक भोग-विलास से परे थी, यह 'प्रेम' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहते थे। इसी लिए इन्होंने गृहस्थ-जीवन का परित्याग करके तपस्वी-जीवन को अपनाया। बारह वर्ष तक घोर तपस्या की और तब ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् इन्होंने अपने शेष जीवन को अपने विचारों के प्रचार में लगा दिया। आपका धार्मिक आन्दोलन जैन धर्म कहलाया। इनकी मृत्यु ७० वर्ष की आयु में ४५७ ई० पूर्व हुई।

जैन धर्म—वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसके अनुसार मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है। इसके लिए मनुष्य को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह (धन-संचय को परिमित करना) इन पाँच बातों का अनुसरण करना चाहिए। इन पाँच विषयों का भली भाँति पालन करते हुए प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन से दुराचार और अपवित्रता की भावनाओं को निकाल देना चाहिए। सदाचरण और पवित्र जीवन से ही मानव को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस धर्म में अहिंसा और तपस्या पर विशेष बल दिया गया है। ईश्वर कोई पृथक् नहीं है, मनुष्य ही मोक्ष में पहुँचकर ईश्वर के स्थान को प्राप्त कर लेता है।

गौतम बुद्ध—गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य गण में गणमुख्य शुद्धोधन के यहाँ हुआ था। इनका बाल-काल बड़े लाड़-प्यार में व्यतीत हुआ परन्तु वर्धमान महावीर के ही समान इनकी प्रवृत्ति भी प्रारम्भ से 'श्रेय' मार्ग की ही ओर थी। २९ वर्ष की आयु में यह घर का परित्याग करके निकल पड़े और सात वर्ष तक तत्त्व-ज्ञान की खोज में इधर-उधर भटकते फिरे। गौतम ने घोर तपस्याएँ कीं परन्तु तपस्या में उनकी आत्मा को शान्ति न मिली। इससे परेशान होकर वह वर्तमान बुद्ध गया के पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे सात दिन तक ध्यान-मग्न पड़े रहे और वहीं पर उनकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का प्रकाश हुआ। साधना सफल हुई और वह ज्ञान-दशा को प्राप्त हुए। यहीं पर 'बोध' प्राप्त करके वह बुद्ध भगवान् बने।

बौद्ध धर्म—गौतम बुद्ध ने समाज के ऊँच-नीच के भेद-भावों का बहुत विरोध किया। केवल जन्म के कारण वह किसी को ऊँचा व नीचा मानने के लिए उद्यत नहीं थे। वे सच्चे अर्थों में समाज-सुधारक थे। उनकी दृष्टि में न कोई अछूत था और न कोई ब्राह्मण। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी को अपना शिष्य बनाया और एक भाव से सबको दीक्षा दी। पशु-हिंसा का गौतम बुद्ध ने कट्टर विरोध

किया। अहिंसा पर आपने विशेष बल दिया। केवल यज्ञों का ही उन्होंने विरोध नहीं किया वरन् पशुओं को किसी प्रकार भी कष्ट देना उनके सिद्धान्तों के विपरीत था। यज्ञ में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। वह चाहते थे चरित्र की शुद्धता और काम, क्रोध तथा मोह पर मानव की विजय। यज्ञ का अनुष्ठान वह व्यर्थ समझते थे। कर्मकाण्ड का गौतम बुद्ध ने विरोध किया और आचरण की शुद्धता को अपने धर्म का प्रधान लक्ष्य बनाया। स्वर्ग और मोक्ष को भी आपने इसी लोक में माना है, किसी पृथक् लोक में नहीं। आपने उच्च बनने के लिए यह आठ साधन बतलाए हैं—(१) सत्य-चिंतन, (२) सत्य-संकल्प, (३) सत्य-भाषण, (४) सत्य-आचरण, (५) सत्य-रहन-सहन, (६) सत्य-प्रयत्न, (७) सत्य-ध्यान, और (८) सत्य-आनन्द। निर्वाण-पद प्राप्त करने को बुद्ध भगवान् ने जीवन का चरम लक्ष्य माना है। निर्वाण मानव की वह अवस्था है जब वह ज्ञान द्वारा अज्ञान को भगा देता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से सहस्रों वर्षों का अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान द्वारा मानव के मन की अविद्या का अन्धकार लुप्त हो जाता है।

इस प्रकार हमने जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म पर दृष्टि डालकर देखा कि यह कोई नवीन धर्म नहीं थे और न ही इनका चिंतन प्राचीन हिन्दू धर्म से कुछ विशेष विपरीत ही था। इन्हें हिन्दू धर्म में हम प्रतिक्रिया (Reaction) कह सकते हैं। इन सुधारकों ने दार्शनिक रहस्यों की छानबीन करके केवल उस काल में धर्म के अन्तर्गत जो बुराइयाँ आ चुकी थीं उन्हीं का खण्डन करके आत्मा और जीवन की पवित्रता पर बल दिया है। गौतम बुद्ध ने ईश्वर के विषय में चिन्तन पर बल नहीं दिया, क्योंकि उसके होने या न होने से आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

संक्षिप्त

१. जिस काल में यह सुधारात्मक आन्दोलन प्रारम्भ हुए उस समय देश और धर्म की क्या दशा थी?

२. वर्धमान महावीर और जैन धर्म।

३. गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म।

कुछ धार्मिक निबन्धों की रूप-रेखाएँ

२८८. शंकराचार्य और उनका दर्शन—

(१) जिस प्रकार धर्म में अनेकों खटकने वाली बातें आ जाने पर जैन धर्म और बौद्ध धर्म के सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई उसी प्रकार कालान्तर से बौद्ध धर्म की अनेकों आचरण-सम्बन्धी कमियाँ आने लगीं और एक बार फिर से हिन्दू धर्म के उत्थान का नवीन युग आया।

(२) हिन्दू धर्म के आचार्यों ने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थों में बौद्ध-भिक्षुओं को पछाड़ा और जनता में अपने पुरातन धर्म का प्रतिपादन करके सम्मान बढ़ाया।

(३) हिन्दू धर्म के इन आचार्यों मे कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य शकराचार्य्य विशेष उल्लेखनीय है। शकराचार्य्य ने अपने तर्क से केवल बौद्ध धर्म को भारत की सीमा से बाहर निकाल दिया।

(४) शकराचार्य्य का जन्म ७८८ ई० मालाबार में हुआ था। इन्होंने वेदान्त मत का प्रतिपादन करके केवल एक ब्रह्म को माना है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ भ्रम है, मिथ्या है।

(५) ब्रह्म ज्ञान से ही आपने मोक्ष-प्राप्ति मानी है। भारत भर में घूमकर आपने बौद्धो को शास्त्रार्थ में परास्त किया और एक प्रकार से धर्म-क्षेत्र मे दिग्विजय प्राप्त की।

(६) शकराचार्य्य अधिक दिन तक अपने मत का प्रचार न कर सके और केवल ३२ वर्ष की आयु मे ही केदारनाथ मे आपका देहान्त हो गया ?

(७) यह वेदान्ती लोग ईश्वर की पूजा शिव के नाम से करते हैं। शंकराचार्य्य ने ज्ञान-मार्ग का उपदेश दिया जिसे साधारण जनता समझने मे असमर्थ रही। इसलिए यह ज्ञानमार्गी मत केवल कुछ बुद्धि-प्रधान जनता तक ही सीमित रहा, साधारण जनता तक नही पहुंच सका।

२८६. स्वामी दयानन्द और उनके सिद्धान्त—

(१) समाज के सम्मुख धर्म की व्यवस्था कर्मकाण्डी लोग व्यर्थ की रूढियों में घुमा-फिराकर कहते थे। गौतम-बुद्ध और वर्धमान महावीर के सुधारो के भी कुछ इसी प्रकार के कारण थे। कालांतर से वैदिक-धर्म का रूप बदल चुका था। अनेकों प्रकार के मत-मतान्तरों ने जन्म लेकर प्रधान धर्म की गति को रोक दिया था। बाह्याडम्बर को वास्तविकता पर प्रधानता मिल चुकी थी। धार्मिक मतों मे आपसी वैमनस्य पैदा हो गया था। जाति-भेद पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। समाज में स्त्रियो का कोई स्थान न था। उनके लिए न विद्या थी और न किसी प्रकार की स्वतन्त्रता। बाल-विवाह, बहु-विवाह इत्यादि अनेकों बुराइयाँ आ चुकी थी। ऐसे काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ।

(२) गुजरात प्रान्त के टंकारा नामक ग्राम मे आपका जन्म हुआ, जन्म-तिथि अभी तक अज्ञात है। इनके पिता का नाम कृष्णजी तिवाडी था और यह एक राजा के कारिन्दे थे और शिव के पुजारी इसलिए आपने अपने पुत्र का नाम मूलशकर रखा था।

(३) १४ वर्ष की आयु में आपने व्याकरण, यजुर्वेद और कई संस्कृत-ग्रन्थ पढ लिये थे। शिवरात्रि को इन्होने व्रत रखा। आधी रात पर पूजन होता था। अन्य पुजारी सो गये परन्तु वह जाग रहे थे। इसी समय एक चूहा आकर शिवलिंग पर से कुछ सामग्री उठाकर ले गया। बस इसी से मूलशंकर का मूर्ति-पूजा से विश्वास उठ गया और उन्होंने सोचा कि जो पत्थर की मूर्ति अपनी सामग्री की भी रक्षा चूहे से नही कर सकती वह हमारी क्या रक्षा कर सकती है।

(४) इसके कुछ दिन पश्चात् उनकी भगिनि का देहान्त हो गया। सब रो रहे थे परन्तु वह नहीं रोए। उसी समय से उन्हें वैराग्य होने लगा और अन्त में एक दिन घर छोड़कर भागना पड़ा।

(५) अनेकों स्थानों की खाक छानकर वह मथुरा पहुँचे और वहाँ प्रज्ञाचक्षु श्री वृजानन्द जी से उन्होंने दीक्षा ली। जब विद्या समाप्त कर चुके तो गुरु वृजानन्द ने कहा—बेटा, संसार में अज्ञानांधकार फैल रहा है। ज्ञान-ज्योति से उन्हें दूर करना। यह गुरु को वचन देकर देशाटन को निकल पड़े और धूमधाम के साथ प्राणों का मोह त्यागकर पाखंड खंडनी पताका फहरा दी।

(६) स्वामी दयानन्द ने मूर्ति-पूजा का खंडन, श्रद्धा-प्रथा का खंडन, वैदिक-शिक्षा का प्रचार, अछूतों का उद्धार, संस्कृत का पुनरुद्धार, हिन्दी की उन्नति, गौ-रक्षा का प्रचार, स्त्री-शिक्षा का प्रचार यह सभी कुछ किया और आर्य-समाज की स्थापना। आर्य-समाज ने हिन्दुओं के संगठन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कन्याओं की शिक्षा में इनका प्रधान सहयोग रहा है।

(७) सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का ग्रन्थ है, जिसमें सभी धर्मो की विवेचना करके आर्य-धर्म की विशेषताएँ प्रकट की गई हैं।

(८) ३० अक्टूबर दीपावलि के दिन सन् १८८८ में अजमेर में आपका देहान्त हुआ। आपको आपके विरोधियों ने दूध में काँच पिसवाकर पिलवा दिया था।

(९) उपसंहार—स्वामी दयानन्द ने किसी नये मत या धर्म की स्थापना नहीं की। उन्होंने तो अपने प्राचीन आर्य-धर्म को ही जनता के सम्मुख स्पष्ट करके रखा है। स्वामी दयानन्द ने उस काल में हिन्दू-जनता का जो हित किया है, हिन्दू-जनता उस ऋण से कभी भी उऋण नही हो सकेगी।

२१०. हमारे ज्ञान-प्राप्ति के साधन—

(१) ज्ञान-प्राप्ति के तीन साधन हैं—(क) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, (ख) तर्क-जन्य ज्ञान, और (ग) अनुभूति-जन्य ज्ञान।

(२) इन्द्रिय-जन ज्ञान सबसे साधारण है और वह मोटी-से-मोटी बुद्धि वाले व्यक्ति को भी प्राप्त हो सकता है। आँखों से देखने, कानों से सुनने, हाथों से छूने इत्यादि का ज्ञान इस श्रेणी के अन्तर्गत आगया।

(३) तर्क-जन्य ज्ञान का मूल स्रोत बुद्धि है। पश्चिम के मनीषी तर्क-बुद्धि और विज्ञान का आश्रय लेकर ज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु पूर्वी विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। यह तर्क और बुद्धि से ऊपर भी कुछ मानते हैं। जहाँ तक तर्क का क्षेत्र है उसका नाम आपने दर्शन इसलिए रखा है कि उसके द्वारा ज्ञातव्य विषय का केवल दर्शन भर ही हो सकता है, उसके रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सकता।

(४) किसी भी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु से एकात्मता स्थापित करने की आवश्यकता है और एकात्म स्थापित करना

अनुभूति-जन्य ज्ञान के अन्तर्गत आता है। हिन्दू-शास्त्रों में इस प्रकार के ज्ञान को 'प्रज्ञान', 'प्रतिमा', 'आर्ष-ज्ञान', 'सिद्ध-दर्शन', 'योगी', 'प्रत्यक्ष' इत्यादि नाम दिये गये हैं।

(५) पश्चिमी विचारकों में जड़तत्त्व की प्रधानता मिलती है और पूर्वीय विचारकों में अध्यात्म-तत्त्व की।

(६) ज्ञान-प्राप्ति के इन तीनों साधनों में तर्क-जन्य और अनुभूति-जन्य प्रगाढ़ विषयों पर विचार करने के लिए प्रधान साधन हैं। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में भी किसको प्रधानता दी जाय ?

(७) ऋषियों ने विद्या को 'परा' और 'अपरा' दो शब्दों में रखा है। 'परा' के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ज्ञान आते हैं। ऋषियों ने इसी प्रकार-ज्ञान को परम ज्ञान माना है और यह भी माना है कि इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। अपरा ज्ञान के अन्तर्गत आत्मानुभूति आती है।

(८) 'परा' और 'अपरा' दोनों ज्ञान में से किसे पूर्ण कहें और किसे अपूर्ण, यह प्रश्न विचारणीय है। वास्तव में पूर्ण एक भी नहीं है। यह प्रश्नों के स्पष्टीकरण मात्र हैं, प्रश्नों के हल नहीं। सभी प्रधान विचारकों ने अपने-अपने ज्ञान को पूर्ण माना है, ज्ञान वह है जो पकड़ में आ जाय और सत्य ज्ञान व्यापक होते हैं इसीलिए पकड़ में नहीं आते।

(९) केवल सत्य-साधन द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और जो प्रश्न असाध्य हैं उनका सत्य-साधन द्वारा स्पष्टीकरण हो सकता है।

(१०) उपसंहार—पूर्वीय और पश्चिमीय ज्ञान की साधारण समीक्षा।

२३१. समाज और राजनीति में धर्म—

(१) मानव-जीवन में यदि संसार के इतिहास पर दृष्टि डालें तो प्रधान तत्त्वों के अधीन विश्व का कार्यक्रम चलता आया है। कभी धर्म की प्रधानता होती है, कभी अर्थ की, और कभी राजनीति की।

(२) सृष्टि के प्रारम्भिक युगों में मानव की आस्था ईश्वर में अधिक होने के कारण प्रत्येक देश में और शासन-व्यवस्था में धर्म की प्रधानता रहती थी, धर्माचार्यों का प्रभुत्व रहता था। प्रारम्भ में यह धर्माचार्य निस्वार्थ भाव से मानव, जाति और देश के उत्थान के लिए त्यागी बनकर सेवा-भाव से इस प्रधान आसन को ग्रहण करते थे और यही कारण था कि राजे-महाराजे भी उनके चरण छूते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

(३) इसका फल यह हुआ कि धर्माचार्यों का महत्त्व बढ़ गया, और जनता पर उसका प्रभाव हो गया। राजगद्दियों की भाँति धर्म की भी गद्दियाँ बन गईं और उसमें शक्ति को संगठित करने की भी भावना-प्रधान हो गई। प्रारम्भ में जो राजे, महाराजे सरदार और प्रजा धर्माचार्यों का आदर करते थे वह उनके उच्च आचरण, पांडित्य और निस्वार्थ सेवा के लिए करते थे। परन्तु अब उसके स्थान पर धार्मिक मठों में

राजाओं से भी अधिक ठाठ-बाट थे, शृंगार था और यदि यह भी कह दिया जाय कि यह व्यभिचार के अड्डे बन गये थे तो अनुचित न होगा। भगवान के नाम पर धन, भोग-विलास और ऐश्वर्य मठाधीशों को प्राप्त होता था।

(४) इन आचरणों के कारण धर्म से आस्था उठने लगी। राजपद और धर्म के बीच में संघर्ष छिड़ गया। कुछ विश्वासी जनता ने धर्म का साथ दिया और राजा ने अपनी शक्ति का उपयोग किया। यह संघर्ष यूरोप में प्रधान रूप से चला और फलस्वरूप धार्मिक पोप की महत्ता नष्ट हो गई।

(५) स्वाधीन देशों में धर्म की प्रधानता राजनैतिक क्षेत्र से समाप्त हो गई परन्तु पराधीन देशों में वह जनता के बीच बराबर चलती रही। भारत जैसे देशों में जहां कई धर्मों के व्यक्ति रहते हैं वहां शासकों ने इस अस्त्र को पारस्परिक फूट पैदा करने के लिए भी अपनाया। परन्तु मानव प्रगतिशील है और मानव के साथ समाज और शासन-व्यवस्थाएँ चलती हैं। शासन व्यवस्थाओं में परिवर्तन होने पर राजपद और अन्त में साम्राज्यवाद का भी अन्त-सा हो गया, जिसके फलस्वरूप भारत जैसे देश स्वतन्त्र हुए और यहाँ भी साम्राज्यवाद के अन्तिम चरण में धर्म ने अपना काड दिखलाया जिसके फलस्वरूप लाखों मुसलमान और हिन्दू दानव बनकर मानवों पर टूट पड़े। देश का विभाजन हुआ और उसने एक ऐसी अव्यवस्था को जन्म दिया जिसमें भारत और पाकिस्तान की शासन-व्यवस्था आज तक नहीं सँभल सकी।

(६) उपसंहार—आज धर्म स्वार्थ के लिए है, पाखण्ड के लिए है, शक्ति छीनने के लिए है—मानव उत्थान के लिए नहीं, आत्म-बल के लिए नहीं, शुद्धाचरण के लिए नहीं। वर्तमान धर्म पर प्रारम्भिक धर्माचार्यों का प्रभाव न होकर मध्य युग के धर्माचार्यों का प्रभाव है और जनता चल रही है बुद्धिवाद की ओर। धर्म बुद्धिवाद की ओर से रूढ़िवाद की ओर चला है। इसलिए आज मानव और धर्म में टक्कर हो रही है। और जब तक धर्म अपने रूढ़िवाद को छोड़कर बुद्धिवाद की तरफ चलना प्रारम्भ नहीं कर देगा उस समय तक यह टक्कर बराबर चलती रहेगी। यह टक्कर दोनों भावनाओं के समन्वय-क्षेत्र में ही जाकर रुकेगी।

अध्याय २२

सामाजिक निबन्ध

भारतीय समाज की प्रधान समस्याएँ

२१२. भारत का समाज धर्म और राजनीति दोनों से प्रभावित होता है। वास्तव में यदि हम संगठनों के प्राचीनतम रूपों पर विचार करें तो समाज मानव का सर्वप्रथम संगठन प्रतीत होता है। जब बहुत से मानव एक स्थान पर एकत्रित होकर रहने लगे तो उनकी बाहरी रक्षा के साथ-साथ उनके नित्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की भी आवश्यकता हुई। इन्हीं नियमों के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। शासन-व्यवस्था का कार्य-भार हलका करने के लिए एक नियमित और सुसंगठित समाज की आवश्यकता हुई।

धीरे-धीरे मानव ने अपने जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए समाज-व्यवस्था, राज-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था का आधार लिया। प्रारम्भ में राज्य-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्थायों ने प्रबल रूप धारण किया और समाज को गौण रूप दे दिया परन्तु सामाजिक संगठन मानव-जीवन के प्रति क्षण के कार्यक्रम से सम्बन्धित होने के कारण मानव-जीवन में गौण न हो सका और वह अपनी रूढ़ियों के आधार पर निरंतर अपने को बलवान बनाता चला गया। समाज, मानव-जीवन की आवश्यकता बन गई। जब तक भारत स्वतन्त्र रहा उस समय तक समाज बराबर गौण रूप में ही रहा परन्तु उसका आधार भी एक रूप से धर्म होता चला गया, समाज और धर्म दोनों ही मिलकर एक-से प्रतीत होने लगे।

भारत जब पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया और राजनैतिक शक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास हो गया तो धर्म का राजनीति से सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल समाज से ही जुड़ गया और दोनों ने मिलकर एक लम्बे युग तक हिन्दू-समाज को जीवित रखने में सहयोग दिया। सामाजिक नियमों ने राजनैतिक सुविधाओं में अपने बन्धनों को और दृढ़तर किया। और धर्म के आचार्यों ने समाज के ढाँचे को इतना सुदृढ़ बनाया कि इसके नियन्त्रण के लिए राज्य का मुँह न ताकना पड़े परन्तु इस सुदृढ़ व्यवस्था में से धीरे-धीरे जीवन का ह्रास होने लगा और सामाजिक बन्धन लोहे की चारदीवारियों की भाँति ऐसे बन गये कि समाज की सुधार-व्यवस्थाएँ इत्यादि के लिए कोई स्थान अवशेष न रहा। इस पर अन्धकार-काल में धर्म और समाज के नाम पर अन्धविश्वास का उदय हुआ और बुद्धिवाद के लिए धर्म और समाज के क्षेत्र में

कोई स्थान न रह गया। धर्म और समाज के झूठे पोंगापन्थियों ने अपना प्रभुत्व जमाकर समाज को अपने पाखंड के ऐसे चंगुल में फँसाया कि समाज का भविष्य अन्धकारपूर्ण हो गया।

समाज में इस काल की कठिन परिस्थितियों और अंधविश्वासियों के कारण अनेकों बुराइयाँ पैदा होती चली गईं। मुसलमान-काल में जब शासकों के दुर्व्यवहार से समाज तंग आगया तो उसने बाल-विवाह की प्रथा निकाली। लड़का और लड़की पैदा हुए और उनका सम्बन्ध जोड़कर विवाह कर दिया। यह किया गया समाज की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए। परन्तु इसके फलस्वरूप समाज में एक नवीन कुरीति का प्रादुर्भाव हुआ और वह भी बाल-विधवाओं की समस्या। मुसलमानों की पर्दा-प्रथा का भी भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ा। स्त्रियों की सुरक्षा के लिए उन्हें भी पर्दे में रखने का सामाजिक नियम बनाया गया। इस प्रकार पर्दे की कुप्रथा का जन्म भारतीय समाज में हुआ। पर्दे के साथ-ही-साथ भारत की नारियों में से शिक्षा का भी लोप होता चला गया। जीवन में सुरक्षा न रहने के कारण नारी को इस प्रकार सुरक्षित रखने की आवश्यकता होने लगी जिस प्रकार धन, माल और आभूषणों को चोरों और डाकुओं से सुरक्षित रखा जाता है। ग्रामीण जनता में आज भी नारी को 'टूम' के नाम से सम्बोधित किया जाता है और 'टम' ग्रामीण भाषा में आभूषणों को कहते हैं। इसी प्रकार सती की प्रथा, विधवा-विवाह अनेकों जातियों के प्रतिबन्ध इत्यादि समाज के क्षेत्र में ऐसी बुराइयाँ उपस्थित हो गईं कि जिसके कारण मानव की प्रगति में पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित होने लगीं और वह जड़ होकर रह गया।

इन बुराइयों का निवारण करने के लिए समाज में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे सुधारक पैदा हुए जिन्होंने समाज से उस संकुचित रूढ़ि-वाद के विपरीत विद्रोह किया और स्वयं विष-पान करके समाज को अमृत प्रदान किया। उस काल से समाज ने फिर पनपना प्रारम्भ किया। महात्मा गांधी ने भी समाज की महानतम् बुराई अछूत समस्या के विरुद्ध आन्दोलन किया और आज तो राज-नियमों द्वारा ही उनके अधिकारों को सुरक्षित कर दिया गया। समाज के माथे का यह कलंक अब मिट रहा है। धीरे-धीरे सम्भवतः मिट जायगा, क्योंकि समाज की वर्तमान प्रगति में अन्धविश्वासों और व्यर्थ के ढकोसलेबाजियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मानव का दृष्टिकोण विस्तृत होता जा रहा है। सीमित वातावरण में आज का मानव नहीं पलना चहता।

मानव अपने साधनों के साथ चलता है। ज्यों-ज्यों दृष्टिकोण के व्यापक बनाने के साधन विस्तृत होते जायेंगे त्यों-त्यों मानव का दृष्टिकोण, उसकी समस्याएँ उसके विचार, उसकी भावनाएँ, उसकी कल्पनाएँ और उसकी योजनाओं में भी विस्तार आ जायगा। आज के युग में समाज के साथ धर्म के बन्धन भी ढीले पड़ चुके हैं। आज राज्य-सत्ता प्राचीन राज्य-सत्ता न रहकर समाज की अपनी सत्ता बन गई है। इसलिए वह सत्ता भी जो-कुछ करेगी वह समाज को स्वस्थ बनाने के लिए ही करेगी।

जब तक समाज स्वस्थ नहीं होगा उस समय तक राष्ट्र सुदृढ़, सुसगठित और सुव्यवस्थित नहीं हो सकता जिसका कि अभाव देश, राष्ट्र और समाज तीनों के लिए हानिकारक है।

आज के समाज में धर्म का प्रधान स्थान नहीं रह गया है। धार्मिक शृंखलाओं में बाँधकर समाज को नहीं रखा जा सकता। आज के प्रगतिशील समाज में हिन्दू, मुसलमान पारसी, ईसाई सभी एक मेज़ पर बैठकर खाना खा-पी सकते हैं। जहां तक खान-पान का सम्बन्ध है वहाँ तक सामाजिक शृंखलाएँ बहुत ढीली पड़ चुकी हैं परन्तु जहाँ तक विवाह इत्यादि नाते-रिश्तों का सम्बन्ध है वहा अभी भी समाज बहुत पिछड़ा हुआ है। अन्तर्जातीय विवाह होने अवश्य प्रारम्भ हो गये हैं परन्तु अभी उनकी संख्या ना के ही बराबर है और जो हो भी जाते हैं उन्हें फिर समाज में अपना जीवन चलाने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। शहरों में इस प्रकार के सम्बन्ध कुछ प्रचलित हुए हैं परन्तु भारत का अधिकांश जन-समूह ग्रामों में रहता है और वहाँ पर अभी यह प्रथा नाम-मात्र के लिए भी प्रचलित नहीं। यदि कोई इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती भी है तो उसे 'भगा ले जाना' कहकर गिरा हुआ काम समझा जाता है। समाज में उसे घृणित दृष्टि से देखा जाता है। ग्रामों में भी इतनी सामाजिक स्वच्छन्दता का आभास अवश्य मिलता है कि जातियों से जो व्यक्ति च्युत करके 'बीसे' से 'दस्से' कहलाने लगे थे उनमें आपस में सम्बन्ध अवश्य स्थापित होने लगे हैं।

इस प्रकार आज समाज अपने सम्बन्धों को धीरे-धीरे नमस्कार कर रहा है और भारत में एक ऐसे समाज का निर्माण होने की सम्भावना है कि जिसका आधार धर्म पर न होकर राष्ट्र पर हो। मानवता के अमूल्य सिद्धान्तों के आधार पर आज के समाज का निर्माण होकर रहेगा। उसमें से ऊँच-नीच की भावना का अन्त होना अवश्यम्भावी है और वह होकर रहेगा। अपने-अपने कार्य-क्षेत्र के अनुसार समानता नर और नारी दोनों में एकरूपता के साथ आयगी। दोनों को स्वतन्त्रता रहेगी अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में। सामाजिक बन्धनों से दोनों ही मुक्त होंगे धर्म उनके मार्ग में कोई रुकावट उपस्थित नहीं करेगा। स्त्री और पुरुष दोनों दो मतावलम्बी होने पर भी अपना सम्बन्ध सुगमतापूर्वक संचालित कर सकेंगे। भारत में विविध धर्मों का होना ही आज भारत के समाज की प्रधान समस्या है। इस समस्या का समाधान होने में समय लगेगा।

संक्षिप्त

१. समाज की प्रारम्भिक दशा।

२. मध्य युग में राजनैतिक पराधीनता के समय समाज के नियमों द्वारा भारत की जनता का संरक्षण।

३. आज के प्रगतिवाद में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता के साथ रूढ़िवाद का अन्त।

भारतीय समाज और हिन्दी-साहित्य

२६३. समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है और साहित्य पर समाज का क्या प्रभाव पड़ता है इसकी निश्चित रूप-रेखा बनाना कठिन कार्य है। यह प्रभाव कितना पड़ता है, कैसे पड़ता है, किन परिस्थितियों में पड़ता है, किन परिस्थितियों में कम और किन में अधिक पड़ता है, यह बहुत महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनका अनुसन्धान इतनी सुगमता से नहीं किया जा सकता; हाँ, वस्तुस्थिति की रूप-रेखा अवश्य बनाई जा सकती है।

मानव-समूह का नाम समाज है और लेखक तथा पाठक दोनों ही समाज के प्राणी हैं। दोनों का समाज पर प्रभाव पड़ता है और समाज का भी दोनों पर पड़ता है। लेखक जो कुछ भी लिखता है उसमें समाज का प्रतिबिम्ब पड़ता है और समाज के व्यक्ति लेखकों की जिन रचनाओं को अध्ययन अथवा मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं उनका उन पर प्रभाव पड़ता है। इससे यह सत्य तो स्थिर हो जाता है कि दोनों का दोनों पर प्रभाव पड़ता है परन्तु यह आँकना कठिन है कि वह किस दशा में, किस मात्रा में और किन विचारों के अधीन पड़ता है।

भारतीय समाज और भौतिकता का प्रभाव उतना नहीं है जितना हृदयवाद का। हमारा समाज भाव-प्रवण है, उसमें हृदय-पक्ष प्रधान है और बुद्धि-पक्ष गौण। इसका प्रधान कारण यह है कि समाज का संचालन आदिकाल से धर्म-पक्ष के अधीन हुआ है विज्ञान के अधीन नहीं। हृदय-पक्ष प्रधान होने के कारण भारतीय समाज पर काव्य के अन्य अंगो की अपेक्षा कविता का अधिक प्रभाव है। नाटक-साहित्य का भारतीय समाज के प्रारम्भिक युग में हमें प्राधान्य मिलता है परन्तु मध्य युग में आकर नाटक-साहित्य का लोप-सा ही हो गया। विलायती समाज पर भी कविता और नाटक-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है परन्तु वहाँ हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि पक्ष प्रधान होने के कारण उपन्यास और कहानियों की ओर समाज का अधिक ध्यान है। विलायती समाज में भाव-प्रवणता का अभाव और बुद्धि-प्रवणता की तीव्रता मिलती है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से काव्य का महत्त्व रहा है और प्राचीन काव्यों को समाज ने धर्म-ग्रन्थ मानकर अपनाया है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण ने समाज पर जो प्रभाव डाला है वह क़ुरान शरीफ़, बाइबिल और वेदों से किसी प्रकार भी कम नहीं है। रामायण में एक आदर्श समाज का चित्रण होते हुए भी समाज का सच्चा चित्र उसमें वर्तमान है। समाज के गुणों के साथ अवगुणों का भी उसमें चित्रण है। बहु-विवाह और सती-प्रथा का रामायण में समावेश है, साथ ही निषादराज से रामचन्द्र का मिलन कराकर और भीलनी के झूठे बेर खिलाकर छुआ-छूत की भावना के प्रति विद्रोह प्रकट किया गया है। इस प्रकार समाज का साहित्य पर और साहित्य का समाज पर स्पष्ट प्रभाव मिलता है। भारतीय समाज में प्राचीन

काल से ही साहित्य की प्रतिष्ठा है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत, रामायण में सभी काव्य हैं। इन सभी में राजनैतिक और धार्मिक प्रभावों के साथ-साथ समाज का भी प्रभाव दिखलाई देता है। इन सभी ग्रन्थों में कविता की प्रधानता होने के कारण हृदय-पक्ष की ही प्रधानता मिलती है। वेदों में हृदय-पक्ष के साथ ही-साथ बुद्धिवाद की भी कमी नहीं है। वेदों में तर्क को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। भारतीय जनता धर्म-प्रधान है इसलिए इन धर्म-प्रधान काव्यों का समाज पर आज भी कम प्रभाव नहीं है।

किसी भी काव्य का समाज पर प्रभाव दो कारणों से पड़ता है। एक तो उसके काव्य-तत्त्व के कारण और दूसरे उसके विषय के कारण। काव्य का विषय उपयोगिता और भावना के आधार पर प्रभावशाली होता है। कुछ काव्य उपयोगिता-प्रधान होते हैं और कुछ भावना-प्रधान। दोनों में कौनसा उच्च श्रेणी में रखा जा सकता है यह कहना कठिन है परन्तु मानव और समाज दोनों से प्रभावित होता है; कम और अधिक की मात्रा समय और परिस्थिति के अनुसार होती है। प्राचीन काव्यों में धर्म-भावना की प्रधानता हमारे मनीषियों ने रखी है और इसी भावना का समाज पर प्रभावांकन हुआ है। पुराण रस और चमत्कार दोनों की प्रधानता के कारण समाज में व्यापक स्थान पा गये। इनके काव्य-तत्त्व और धर्म-भावना दोनों ने समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया है और समाज ने उन्हें आत्मसात् किया है। प्राचीन ग्रन्थों ने समाज को क्या नहीं दिया है? राम-जैसा कर्तव्यपरायण राजा दिया है जो अपनी प्रजा के लिए सीता-जैसी स्त्री का परित्याग कर सकता है; दशरथ-जैसा पिता दिया है जो पुत्र-स्नेह में प्राण त्याग कर सकता है; राम-जैसा पुत्र दिया है जो पिता की आज्ञा-पालन करने के लिए चौदह वर्ष का वनवास ग्रहण करता है; भरत और लक्ष्मण-जैसे भाई दिए हैं जो बड़े भाई की सेवा पिता के समान करने को जीवन भर उद्यत रहे; हनुमान-जैसे सेवक दिए हैं; कृष्ण-सुदामा-जैसे मित्र दिए हैं; वाल्मीकि-जैसे तत्त्वज्ञानी ऋषि दिए हैं, परशुराम-जैसे क्रोधी दिए हैं; सीता-जैसी सती दी है; कृष्ण-जैसे नीति-परायण दिए हैं और युधिष्ठिर-जैसे सत्यवादी दिए हैं। इन उच्चादर्शों के साथ-ही-साथ समाज की कमियों को भी काव्यकारों ने अपने काव्यों में रखकर उनको मानव-समाज के लिए हितकर बनाया है। मंथरा की कुटिलता; कैकेयी की डाह, महाभारत में जुए में स्त्री तक को दाँव पर रख देना; युधिष्ठिर-जैसे सत्यवादी का भी नीति के अन्तर्गत झूठ बोलना; दुर्योधन का लोभ; दानी हरिश्चन्द्र का दास की भाँति बिकना इत्यादि मानव और समाज की कमियों को भी प्राचीन साहित्य में उचित स्थान मिला है। ये घटनाएँ मानव-जीवन की न्यूनता से साहित्य में आकर साहित्य के सौन्दर्य में वृद्धि ही करती हैं कुछ कमी नहीं।

साहित्य ने समाज को राम-भक्ति दी है, कृष्ण-भक्ति दी है, अवतारवाद दिया है या इसके विपरीत यह भी कह सकते हैं कि राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति और अवतारवाद ने समाज को राम और कृष्ण-भक्ति का सुन्दर और सरस साहित्य दिया है।

मध्य-युग के भक्ति-साहित्य ने समाज को आश्वासन दिया है, साहस दिया है, धैर्य दिया है, निर्भीकता दी है और दी है मंगलमय कामना। समाज के नैराश्य में आशा का उदय किया है। वीर-गाथा-काल के साहित्य ने समाज का उत्साह बढ़ाया है। ज्ञान दिया है। साहित्य के रसोद्रेक और उसकी रसानुभूति का समाज पर निरन्तर प्रभाव पड़ा है, और पड़ रहा है परन्तु सामाजिक चित्रणों से जो साहित्यकार पाठक को उसके अपने जीवन के बीच ले जाकर खड़ा कर देता है, उसमें पाठक अपनापन पाकर जिस आनन्द की अनुभूति करता है वह आनन्द उसे उत्कृष्ट रसोद्रेक में भी प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य कठोर-से-कठोर हृदय को कोमल बना देत है। वह चट्टान से रस-स्रोत बहा सकता है और कोमल-से-कोमल हृदय को कठोर बना देता है। साहित्य के पास रस है, अलंकार है। अनुभूति है, ज्ञान-तत्त्व है, कल्पना है, हृदय-पक्ष है, सगुण और सदोष भाषा है, क्या नहीं है साहित्य के पास। मानव और अमानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली हर प्रकार की रचना साहित्य के क्षेत्र में आती है, इतना व्यापक है साहित्य का क्षेत्र। क्षेत्र व्यापक होने के साथ-ही-साथ समाज पर साहित्य का प्रभाव भी व्यापक है।

साहित्य भी दो प्रकार का होता है—व्यक्तिगत साहित्य और समाजगत साहित्य, समाजगत साहित्य का तो आधार ही समाज है, जहाँ लेखक चलता ही समाज को लेकर है परन्तु व्यक्तिगत अथवा व्यक्तिप्रधान साहित्य भी समाज से बाहर की कोई केवल कल्पना की आधारभूत रचना नहीं हो सकती। मानव समाज का एक अणु है इसलिए वह समाज से पृथक् अपना अस्तित्व स्थापित ही नहीं कर सकता। उसे पग-पग पर समाज की आवश्यकता होती है और उसी के सम्मिलन में उसके जीवन और साहित्य की पूर्ति है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्ठतम सम्बन्ध है। प्राचीन साहित्य प्राचीन समाज का प्रतिबिम्ब है और आगामी समाज की रूप-रेखा है। उसी प्रकार आज का साहित्य वर्तमान का प्रतिबिम्ब है और भविष्य की रूपरेखा है। व्यक्ति और समाज के निर्माण में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है और उसी प्रकार साहित्य के निर्माण में व्यक्ति और समाज का। साहित्य हमारे प्राचीन समाज का वह कोष है कि जिसे समाज धरोहर के रूप में वर्तमान समाज को दे गया है और यह समाज आने वाले समाज को दे जाय।

संक्षिप्त

१. समाज साहित्य पर आधारित है और साहित्य समाज पर।

२. प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि व्यक्ति-प्रधान और समाज-प्रधान दोनों ही प्रकार के साहित्य में समाज का निर्माण निहित है।

३. साहित्य ने समाज को राम, कृष्ण, सुदामा, भरत, अर्जुन, भीम जैसे चरित्र दिए हैं।

४. साहित्य ने समाज को प्राचीन का प्रतिबिम्ब और भविष्य की रूप-रेखा दी है।

५. साहित्य ने समाज को रसोद्रेक दिया है और दी है जीवन की व्यापकता।

हिन्दू-समाज में वर्णाश्रम-धर्म

२१४. यदि हम वर्णाश्रम-धर्म के प्राचीनतम इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होता है कि वर्णों की व्यवस्था एक ऐसे काल में की गई थी जब वैसा करना अनिवार्य था। नित्य प्रति के संघर्ष आर्यों और अनार्यों के बीच चलते थे। समाज विस्तृत होता जा रहा था। इसलिए समाज का समस्त कार्य-भार अव्यवस्थित रूप से नहीं सँभाला जा सकता था। आर्यजाति ने उस काल में वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था करके मानव-जीवन को चार प्रधान भागों में विभाजित कर दिया—(१) विद्या का पठन-पाठन, (२) समाज की रक्षा, (३) धन और अन्न उपार्जन, तथा (४) इन तीनों काम करने वालों की सेवा करना।

इस प्रकार समाज विभाजित होकर अपने-अपने कार्य में जुट गये और कुछ ही दिनों में आर्यजाति ने आशातीत उन्नति की। जीवन के सभी कार्यों का संचालन भली भाँति होने लगा और मानव-समाज में कोई भी ऐसा व्यक्ति न रहा जिसका कि कुछ कर्त्तव्य न हो। यदि वह विद्या की ओर संलग्न है तो वह ब्राह्मण है, यदि वीर पराक्रमी है तो वह क्षत्रिय है, यदि धनोपार्जन में रुचि रखता है तो वह वैश्य है और यदि इन तीनों कार्यों में कुछ नहीं कर सकता तो वह सेवा-भार तो अपने ऊपर ले ही सकता है। इसी प्रकार व्यवस्थित होकर आर्य समाज ने राज-व्यवस्था, कला-कौशल, उद्योग-धंधे, व्यापार इत्यादि सभी क्षेत्रों में संसार का प्रतिनिधित्व किया।

इस वर्ण-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण आर्यसमाज के संचालकों ने यह रखा था कि इसका आधार जन्म पर न होकर कर्म पर था। वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर होता था। एक शूद्र विद्याध्ययन करके ब्राह्मण बन सकता था और ब्राह्मण बुरे काम करके शूद्र हो सकता था। प्राचीन साहित्य में ऐसे दृष्टान्त हैं कि जहाँ शिकारी ज्ञान प्राप्त करके महामुनि हो गये हैं और रावण जैसे ब्राह्मण आचार्य राक्षस कहलाए हैं। वर्ण-व्यवस्था का यह मूल सिद्धान्त धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता चला गया और और इसी के ह्रास के साथ-साथ वर्णाश्रम-धर्म का महत्व भी नष्ट होने लगा।

शक्ति पाकर शक्ति खोना कोई नहीं चाहता, या फिर वह शक्ति निर्बल होकर देनी पड़ती है अथवा उनसे छीन ली जाती है। ब्राह्मण-जाति के हाथों में शक्ति आई और उन्होंने अपनी सन्तान को मायाजाल में फँसाकर वर्णाश्रम-धर्म के मूल सिद्धान्तों को भुला दिया। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण कहलाय चाहे उसके आचरण कैसे भी न क्यों न हों। मानव-मानव में स्वार्थ के वशीभूत होकर घृणा और विद्वेष की भावना का प्राबल्य हुआ। अपनी-अपनी शक्ति को सुसंगठित रखने के लिए वर्णों की सीमाओं को रूढ़ि-

वादों के आधार पर बाँध दिया गया वर्ण शब्द का एक प्रकार से लोप-सा दिखाई देने लगा और इसके स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। मानव-समाज को जातियों में विभाजित किया जाने लगा और ज्यों-ज्यों मानव-समाज का विस्तार हुआ त्यों-त्यों जातियों की संख्या भी बढ़ने लगी। इस प्रकार संख्याओं का बढ़ना स्वाभाविक ही था क्योंकि व्यवस्था गुणों से हटकर जन्म पर आधारित हो चुकी थी, और जन्म की व्यवस्था को सीमित नहीं किया जा सकता था।

गुणों की व्यवस्था समाप्त होकर जन्म की व्यवस्था होने पर समाज अंग-प्रत्यंगों के विभाजन में आ जाने से समाज का जो सबसे बड़ा अहित हुआ वह यह था कि मानव के विकास तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। जाति-बन्धन के प्रतिबन्धों ने मानव के बुद्धिवाद, अनुभूति और विकासवाद तीनों का गला घोट दिया और जनता का साम्राज्य मानव पर छा गया। धन-सम्पत्ति की भाँति बुद्धि, गुण-आचरण, यश/और पाण्डित्य भी बपौती के रूप में समाज के व्यक्तियों को प्राप्त होने और उनके लिए करने को कुछ अवशेष ही न रहा। ब्राह्मण का पुत्र पण्डित है और वैश्य का सेठ, क्षत्रिय-पुत्र वीर है और शुद-पुत्र दास। इससे अधिक बढ़ने के लिए किसी को कोई सुविधा न थी। यहाँ तक कि धर्म के पाखंडों ने अपना जाल फैलाया कि शूद्र यदि वेद-मन्त्र अकस्मात् भी सुन ले तो उसके कानों में गर्म करवाकर सीसा भरवा दिया गया। इस वर्णाश्रम-धर्म की यहाँ तक दुर्गति हुई।

इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म और जैन धर्म का विकास हुआ। यह वर्णाश्रम धर्म ही एक प्रकार से ब्राह्मण-धर्म कहलाता है और इसी के आचरणों के विरुद्ध बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने विद्रोह किया। यह सब विद्रोह हुए, अनेकों बवण्डर उठे, विधर्मियों के आक्रमण हुए, शताब्दियों तक भारतीय सत्ता पदाक्रांत होती रही परन्तु ब्राह्मण धर्म की शृंखलाएँ ढीली नहीं पड़ीं। यह सत्य है कि शृंखलाओं ने प्रगतिवाद को धक्का पहुँचाया परन्तु मध्य-युग में भक्ति के रूप में हृदयवाद को इतने विशाल रूप में जन्म दिया कि हिन्दू-समाज के चारों वर्णों के नैराश्य को अपनी भावना की धारा में प्रवाहित कर दिया। इस धारा ने भारतीय पुराने वर्णाश्रम-धर्म पर कुठाराघात नहीं किया परन्तु धर्म-क्षेत्र में सब वर्णों को स्वाधीनता दे डाली। रामायण पढ़ने का एक शूद्र को उतना ही अधिकार प्राप्त हो गया जितना कि एक ब्राह्मण को। भक्ति की इस धारा ने भारतीय समाज के विचारों में भी एक क्रांति को जन्म दिया और उनका उस काल में विद्रोह भी कम नहीं हुआ। भाषा में ग्रन्थों का होना और फिर इसे सभी वर्णों को उन्हें पढ़ने का समानाधिकार देना बपौती के रूप में धर्म के ठेकेदारों के मार्ग में कठिन बाधा बनकर खड़ा हो गया। समाज में उनकी पोल खुलने लगी और लोगों की श्रद्धा भी धीरे-धीरे उन पर से उठने लगी। आराम से बैठकर मठों में हलवा-पूरी खाने वाले विलासी महन्तों और साधुओं के लिए परीक्षा का समय आ गया। इस प्रकार कर्म से क्षेत्र में चारों वर्णों को स्वाधीनता मिली। परन्तु फिर भी

शूद्रों को मन्दिरों में जाने का अधिकार नहीं था। उन्हें अपने मन्दिर पृथक् बनवाने पड़े।

समाज की प्रगति फिर भी न रुक सकी। धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता मिलने पर भी समाज का व्यापक क्षेत्र अधूरा-सा रह गया जहाँ वर्णों को अभी तक इसी प्रकार गलत समझा जा रहा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज द्वारा पुरातन आर्य-प्रणाली के अनुसार फिर से हिन्दू-जनता के सम्मुख वर्ण-व्यवस्था के गूढ़ सिद्धांतों को रखा और देश भर में एक बड़ा भारी सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन खड़ा किया। शूद्रों को आर्यसमाज का सदस्य बनकर ब्राह्मणों के साथ बिठलाया और महात्मा गांधी ने उस रहे-सहे कलंक को भारत के मस्तक से धोने का प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उस प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का बिगड़ा हुआ रूप जो भारत की असख्य जातियों में व्यापक हो चुका है, वह आज भी ज्यों-का-त्यों वर्तमान है। बड़े-बड़े विद्वानों में आज जातीयता की सकुचित भावना मिलती है। गुप्ता गुप्ता को, शर्मा शर्मा को, सिख सिख को—इसी प्रकार जीवन में सब सम्प्रदाय अपने-अपने लोगों को सहायता देकर योग्य व्यक्तियों के मार्ग में बाधक बनते हैं। जातीयता की भावना ने इस संकीर्ण मनोवृत्ति को जन्म दिया। और यह भारतीय समाज के उत्थान में रुकावट है। वर्णाश्रम-धर्म आज भी सिद्धान्त रूप में बुरा नहीं। व्यवहार-रूप में भारत के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है और हो रहा है परन्तु आज के समाज में यह भावना अधिक दिन तक ठहर न सकेगी। मानववाद के अटल सिद्धान्त के सम्मुख इस संकुचित भावना का लोप हो जाना होगा और वर्णों का विभाजन होगा अवश्य, परन्तु यह प्राचीन आर्य-काल की ही भाँति गुणों के ही आधार पर करना होगा।

संक्षिप्त

१. हिन्दू वर्णाश्रम का मूल स्रोत।

२. भारतीय समाज को वर्णों में क्यों बाँटने की आवश्यकता हुई और उसका क्या फल हुआ।

३. मध्य-युग में वर्णाश्रम-धर्म किस प्रकार जातियों में विभाजित होता चला गया।

४. भारत के भविष्य में इन जातियों की क्या परिस्थिति होने की संभावना है?

हिन्दू-समाज और नारी

२६५. हिन्दू-समाज प्राचीन आर्यों का ही वर्तमान रूप है। वैदिककाल के साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो भारतीय नारी को वहाँ खड़ा हुआ पाते हैं जहाँ संसार के इतिहास में कहीं पर भी नारी को स्थान नहीं मिला। आर्य्य-सभ्यता में नारी को पुरुष की 'अर्द्धाङ्गिनी' माना है। पुरुष नारी के बिना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार एक व्यक्ति अपना आधा अंग नष्ट हो जाने पर होता है। आर्य-सभ्यता में यज्ञ

का विशेष महत्त्व है। यज्ञ में यदि पुरुषो के साथ स्त्री न बैठे तो यज्ञ सम्पूर्ण नही हो सकता। जब महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया तो उन्होंने सीता की स्वर्ण-मूर्ति को अपने साथ स्थापित किया था।

मनु नारी के विषय मे लिखते है, 'जिस घर मे स्त्रियों का पूजन होता है उस घर में देवता निवास करते है। जिस घर मे स्त्रियो का अनादर होता है उस घर मे होने वाली सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती है।' 'स्त्री अनेको कल्याणों की भाजन है, वह पूजा के योग्य है। स्त्री घर की ज्योति है। प्रजापति ने प्रजोत्पति के लिए स्त्री को बनाया है। स्त्री गृह की साक्षात् लक्ष्मी है।' स्त्री को जाया, माता, धात्री, कह कर हिन्दू-ग्रथो ने सम्मानित किया है। संतति को जन्म देना, उसका पालन-पोषण करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा का संचालन करना ही नारी का प्रधान कर्तव्य है। नारी को माता के रूप मे सर्वमान्य माना गया है।

मानव-जीवन के दो प्रधान कार्य-क्षेत्र हैं और वे दोनों ही एक दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पहिला कार्य-क्षेत्र घर है जिसे अग्रेजी में होम(Home) कहा गया है। अंग्रेजी कवियों ने होम को मीठा घर (Sweet home) कहकर पुकारा है। 'दूसरा कार्य-क्षेत्र घर से बाहर का है जिसमें पुरुष घर को चलाने के साधन जुटाता है। इसे अधिक स्पष्ट शब्दो में यों भी कह सकते हैं कि घर कल है जिसके संचालन के लिए पुरुष बाहर से विद्युत (धन इत्यादि) जुटाता है और स्त्री एक कुशल कल-संचालिका की भाँति विद्युत की शक्ति से उस गृह-रूपी कल को सचालित करती है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों का ही महत्त्व गृह को चलाने मे एक दूसरे से अधिक है। समाज के ये दोनों ही पुर्जे हैं, जिनमें से किसी को भी ठुकराने या सिर पर चढ़ाने से समाज का महान् अहित हो जाता है।

हिन्दू धर्म ने दोनों को बराबर का स्थान देकर दोनों को सम्मानित किया है परन्तु अन्य धर्मों में ऐसा नही मिलता। जब तक आर्य-जाति भारत मे शासक बनकर रही नारी का समाज मे यही आसन रहा और वह इसी प्रकार धर्म के और समाज के कार्यों में सम्मान प्राप्त करती रही। धीरे-धीरे आर्य-जाति को अन्य जातियों के सम्पर्क में आना पड़ा। अनेकों जातियो ने भारत पर आक्रमण किया और उसमें से बहुत सी भारत में ही बसकर यहीं की जातियों में विलीन हो गईं। अनेकों आईं और अनेकों गईं परन्तु वह आर्य-जाति के ढाँचे को हिलाने में समर्थ न हो सकीं। परन्तु अन्त में मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और इस समय तक भारत में आर्यों की हर प्रकार की व्यवस्था का ह्रास हो चुका था। न कोई सामाजिक व्यवस्था ही अवशेष थी और न कोई धार्मिक ही। राजनैतिक व्यवस्था का तो सर्वनाश हो ही चुका था। ऐसी परिस्थितियों में वह भारत में आये और उनका साम्राज्य स्थापित हो गया। जब शासक रूप में मुसलमान भारत में सुदृढ़ हो गये तो उनकी सभ्यता का भारतीय सभ्यता पर प्रभाव पड़ा और स्त्री जाति में पर्दे की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। पर्दे का आना था कि नारी-जीवन की अनेकों स्वतन्त्रताओं का एक दम ह्रास हो गया और

धीरे-धीरे नारी घरों की चारदीवारी में बन्द करके रखने वाली एक पुड़िया ही बन गई। यह वह काफूर की पुड़िया थी कि जिसे खोलने पर उड़ जाने का भय प्रतीत होने लगा और पुरुष नारी के प्रति सशंकित हो गया।

इस काल से पूर्व ही नारी की स्वतन्त्रता का भारत में लोप हो चुका था। ब्राह्मण-धर्म में ही मठाधीशों के काल में नारी का पद पुरुष से नीचा गिना जाने लगा था। नारी-जीवन की स्वतन्त्रताओं पर भी आक्षेप होने लगे और यहाँ तक हुआ कि आचार्य नारियों से शास्त्रार्थ करने में भी अपनी मान-हानि समझते थे। बौद्धकाल में नारी-स्वातंत्र्य का एक बार फिर से उदय हो गया था और भारत से पुरुषों के साथ नारी भिक्षुक भी विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गये थे। इनका ब्राह्मणों ने उस काल में घोर खंडन किया, और जनता में उनके प्रति घोर निन्दा का वातावरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया परन्तु वह उस काल में अधिक सफल न हो सके। बौद्ध धर्म की लहर भी भारत में व्यापक न बन सकी और अन्त में निर्गुण और सगुण व्यक्ति के रूप में उसी ब्राह्मण धर्म का उदय हुआ। उस ब्राह्मण धर्म में नारी का स्थान सामान्य था।

गोस्वामी तुलसीदास जी के विषय में यह कहा जाता है कि इन्होंने 'ढोल, गँवार, शूद्र अरु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी' लिखकर नारी जाति का बहुत अपमान किया है। परन्तु यह इस प्रकार का विचार करने वाले व्यक्तियों की विचार-संकीर्णता-मात्र ही है। गोस्वामी तुलसीदास ने ही तो सीता के महान् चरित्र का चित्रण किया है। मानस में सीता का चित्रण करने वाला भक्त कवि नारी के प्रति अश्रद्धा रखे यह भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है? भक्ति-काल में हिन्दू-समाज ने मीरा जैसी कवयित्रियों को जन्म दिया। यह काल मुसलमानों का शासन-काल था, इसलिए मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय नारी को जो यातनाएँ और असम्मान सहन करना पड़ा वह अवश्यम्भावी था परन्तु फिर भी हिन्दू समाज सुधारकों ने बराबर नारी के हित और उसके उत्थान पर ध्यान दिया है। राजनैतिक परिवर्तन और धार्मिक रूढ़िवाद के कारण जब-जब जो-जो दोष समाज के संगठन और नारी के प्रति भावना में उत्पन्न हुए तब-तब सुधारकों ने उन्हें संशोधित किया है। गौतम बुद्ध, राजा राममोहन राय और स्वामी श्रद्धानन्द के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी देशों में स्त्री और पुरुष के अधिकारों को लेकर जो आन्दोलन खड़े हुए उनसे वहाँ के गृह-जीवन का मिठास जाता रहा। भारतीय गृह-जीवन की यह विशेषता रही है कि अनेकों दोष और सामाजिक अवगुण समाज में आ जाने पर भी पश्चिम की वह लहर अंग्रेजी शासन-काल में भी भारतीय गृह-जीवन को प्रभावित नहीं कर सकी। पश्चिमी विद्या के साथ-साथ नारी में तितली जीवन का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ परन्तु यह भावना व्यापक न बन सकी। भारतीय नारी में धर्म की आस्था है और वह आस्था इतनी प्रबल है कि नारी स्वतन्त्रता का जादू उस पर नहीं चल सका। इस प्रकार भारतीय नारी के जीवन में जो भावनात्मक रस है वह तर्कवाद

के चक्कर में पड़कर सुख नहीं गया और भारतीय गृह आज भी 'स्वीट' बना हुआ है। अंग्रेजी कवि की कल्पना भारतीय हिन्दू-धर्म के गृह में अक्षराक्षर सत्य है। भारतीय नारी का गौरव अपने में मातृत्व की वह मान-भावना सुरक्षित रखता है कि जिसमें विलायती स्वतन्त्रता, सौन्दर्य, शृंगार, विज्ञान, तर्क और लचक सब समाप्त हो जाती है। हिन्दू-संस्कृति में नारी भोग का साधन न होकर मानव-निर्माण का कठोर सत्य है और नारी में से मातृत्व का विनाश हो जाने पर नारी अपनी समस्त प्रतिष्ठा को खो देती है। मानव-समाज में तो क्या नारी-समाज में भी वह सम्मान को प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान एकाकी है, उत्तम है, स्नेह, ममता और प्रेम का प्रतीक है—वह मानव-जीवन का रस है, अमृत है और प्राण है।

संक्षिप्त

१. आर्य-काल में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नारी का स्थान।
२. मध्यमयुग में नारी का स्थान।
३. कालान्तर से नारी-जीवन में अनेकों समस्याएँ।
४. विजातियों का हिन्दू धर्म की नारी-भावना पर प्रभाव।
५. विदेशों में नारी-आन्दोलन का भारत में प्रभाव।

बहु-विवाह, बाल-विवाह और विधवा-विवाह

२१६. विवाह एक सामाजिक बन्धन है जो मानव-जीवन को व्यवस्थित और सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज ने बनाया है। विवाह के साथ धार्मिक आस्था और राजनैतिक नियमों के मिल जाने से इसका ढाँचा कुछ ऐसा बन गया है जिसकी व्यवस्था भी काफ़ी विस्तृत है। विवाह द्वारा एक पुरुष और एक नारी का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है।

आर्य-काल में एक पुरुष एक ही स्त्री के साथ विवाह करता था परन्तु धीरे-धीरे बहु विवाह की प्रथा प्रचलित हो चली थी। आरम्भ में तो दूसरा विवाह किन्हीं ऐसे कारणों के वश होता था जिसमें परिवार के नष्ट होने का भय हो अर्थात् सन्तान उत्पत्ति के लिए और फिर बाद में यह प्रचलित प्रणाली के रूप में ही समाज ने अपना लिया। यशस्वी योद्धाओं और वैभवशाली व्यक्तियों ने अपने आनन्द उपभोग के लिए भी एक से अधिक विवाह करने प्रारम्भ कर दिये जिनके परिणामस्वरूप राम को वन जाना पड़ा, भीष्म को आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ा और इसी प्रकार की अनेकों घटनायें भारतीय इतिहास और प्राचीन ग्रन्थों में मिल सकती हैं।

दूसरा विवाह मानव की कमजोरियों का प्रतीक है। यह किन कारणोंवश होता है यह ऊपर दिया जा चुका है। इन दो कारणों के अतिरिक्त पहली स्त्री के मर जाने पर भी दूसरा विवाह पुरुष का हो जाता है। इस प्रकार का विवाह केवल पुरुषों

के लिए वर्जित नहीं है नारी के लिए ही वर्जित है। नारी एक विवाह के पश्चात् दूसरे विवाह का स्वप्न भी नही देख सकती। हिन्दू-शास्त्रों ने नारी को बहु विवाह की आज्ञा नहीं दी। नारी को सती बनाकर अग्नि-कुंड में स्वाहा कर देना उन्होंने पसन्द किया परन्तु दूसरा विवाह करके अपने शेष जीवन को व्यतीत करना पसन्द नहीं किया।

बहु विवाह से मानवता के सिद्धान्त को ठेस लगी और नारी-जाति का अपमान हुआ। यह अपमान की भावना व्यापक रूप से हिन्दू-समाज में फैलती चली गई और इसके कारण अनेकों कुप्रथाओं ने समाज में जन्म लिया। सबसे प्रधान वस्तु जो सामने आई वह थी सौत की डाह। यह भावना हिन्दू-समाज में विशेष रूप से पाई जाती है। यहाँ पर चाहे किसी की स्त्री जीवनपर्यन्त बीमार ही क्यों न बनी रहे परन्तु वह कभी भी यह पसन्द नहीं करेगी कि उसका पति दूसरा विवाह करले, किसी अन्य स्त्री को प्रेम करने लगे अथवा अपने दैनिक जीवन में साथी बना सके। चीन के सामाजिक नियमों में स्त्री-पुरुष के लिए अपनी विवशता में दूसरी स्त्री खोजकर ले आती है और इस प्रकार वह अपने पति के जीवन को शुष्क नहीं होने देती।

कुछ जातियों में बहु विवाह समाज के लिए लाभदायक भी सिद्ध होता है। भारत में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ खेतों में काम करती हैं और घर-गृहस्थ के भी सब कामों को सँभालती हैं। ऐसी जाति के व्यक्ति दो-तीन विवाह कर लेते हैं और फिर उनकी सहायता से अपने गृह-कार्य को सुचारु रूप से चला लेते हैं। अपने कार्य-संचालन के लिए उसे ऐसे साझीदार मिल जाते हैं कि वह सुगमता से अपना कार्य-भार सँभाल सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। इस प्रकार का संचालन भी कोई बिरला ही कर पाता है अन्यथा जीवन में ऐसी फूट जड़ जमा लेती है कि जीवन ही नरक-तुल्य हो जाता है। बहु विवाह के कारण महाराजा दशरथ को अपने प्राण त्याग देने पड़े थे। बहु-विवाह समाज की वह बड़ी कुरीति है कि जिसका जन्म आवश्यकता के कारण होकर बाद में उसे भोग-विलास और ऐश्वर्य के लिए उपयोग किया गया।

समाज ने करवट नहीं बदली। कुरीतियाँ कम होने के स्थान पर बराबर बढ़ती ही चली गईं। बहु विवाह के पश्चात् बाल-विवाह की समस्या इस क्षेत्र में आई। बाल-विवाह की समस्या का मूल कारण मुसलमानी शासन-व्यवस्था की उच्छृंखलता थी। जब हिन्दू-लड़कियों पर दिन-दहाड़े छापे मारे जाने लगे तो उनके माता-पिताओं ने उनकी धर्म-रक्षा के लिए बाल-विवाह की प्रथा निकाली। इस प्रथा के अनुसार लड़के और लड़कियों के पैदा होने के साथ ही सम्बन्ध स्थापित कर दिये जाते थे और इस प्रकार उन्हें उस भय से मुक्त किया जाता था। यह प्रथा हिन्दू-समाज के लिए और भी हानिकारक सिद्ध हुई। जिस समस्या का हल समझकर इस प्रथा का प्रचार किया गया वह समस्या तो सुलझ न सकी हाँ एक बाल-विधवाओं की नई समस्या समाज के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। बालक नन्हें कोमल पुष्पों के

समान होते हैं। न जाने कितने खिलते हैं और पूर्ण होने से पूर्व ही कुम्हलाकर समाप्त हो जाते हैं। यह दिशा इन बाल-विवाहों की भी है।

हिन्दू-समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल में सती-प्रथा के नाम पर नारी-जाति के साथ घोर अत्याचार होने लगे। कुरीतियों की परिस्थिति यहाँ तक गम्भीर बनी कि हिन्दू स्त्री को अपने मृतक पति की देह के साथ बाँधकर बल पूर्वक चिताओं पर जलवाया जाने लगा। बंगाल के समाज-सुधारक ब्राह्म-समाज ने इसके विपरीत विद्रोह किया और अंग्रेजों ने भी नियम बनाकर इस प्रथा को रोका।

आर्यसमाज ने विधवा-समस्या को सुलझाने में सहयोग दिया और भारत के कोने-कोने में सुव्यवस्थित विधवा-आश्रम खोल डाले। इन विधवा-आश्रमों ने हिन्दू-समाज का महान् हित किया और अनेकों घरों से तंग आकर भगी हुई विधवाओं को अपने अंक में प्रश्रय दिया। इसके फलस्वरूप अनेकों विधवाओं के जीवन नष्ट होने से बच गये और समाज द्वारा वह अपने दुबारा विवाह कराकर आजीवन सुख-चैन की भागी बन गईं। आर्यसमाज का यह कार्य हिन्दू-समाज के हित में विशेष उल्लेखनीय है परन्तु खेद है कि स्वार्थी व्यक्तियों ने इस क्षेत्र को भी नहीं छोड़ा और इन विधवा-आश्रमों में यहाँ तक बुराइयाँ आईं कि वहाँ पर विधवाएँ बिकने लगीं। प्रारम्भ में तो उससे विवाह करने वालों से उन पर आश्रम द्वारा किया गया व्यय ही माँगा गया परन्तु धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढ़ने लगी। फिर भी आर्यसमाज ने इस सामाजिक समस्या को सुलझाने में क्रियात्मक कार्य किया।

आज का समाज जागृति की ओर बढ़ रहा है। सरकारी नियमों द्वारा बहु-विवाह पर प्रतिबन्ध लगता जा रहा है। बाल-विवाह के विपरीत पहले ही 'शारदा बिल' पास हो चुका है परन्तु विधवा-विवाह आज भी पहिले की भाँति सामाजिक समस्या है। यह समस्या सर्वदा समाज को ही सुलझानी होगी क्योंकि सरकार नियम द्वारा विधवा को विवाह करने की आज्ञा-मात्र ही दे सकती है, विवाह करने पर बाध्य नहीं कर सकती।

संक्षिप्त

१. विवाह क्या है ?

२. बहु विवाह आर्य-काल में होते थे अथवा नहीं। पौराणिक काल में यह प्रथा किस प्रकार आई ?

३. बहु विवाह के गुण और अवगुण।

४. बाल-विवाह कब और क्यों प्रारम्भ हुआ और किस प्रकार इनके कारण विधवाओं की समस्या समाज के सम्मुख आई ?

कुछ सामाजिक निबन्धों की रूप-रेखाएँ

२६७. समाज और नाटक—

(१) नाटक का समाज से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपन्यास, कविता या

कहानी पाठ्य-काव्य हैं और नाटक रंगमंच पर आने वाले काव्य हैं। इसलिए समाज का नाटक से और नाटक का समाज से सीधा सम्बन्ध है।

(२) नाटक के आरम्भ और विकास का साहित्य ही समाज के विकास का साहित्य है। सृष्टि के प्रारम्भ में समाज के अन्तर्गत धर्म की प्रधानता थी इसीलिए प्रारम्भिक नाटक भी धार्मिक ही मिलते हैं। स्वांग, रामलीला आदि उनके प्राचीनतम रूप हैं। उनका महत्त्व उनकी लोकप्रियता से सिद्ध होता है।

(३) संस्कृत के प्रारम्भिक नाटकों का समाज पर बहुत व्यापक प्रभाव है परन्तु धीरे-धीरे नाटक केवल शास्त्रीय क्षेत्र में ही अवतीर्ण होने लगे। स्वांग, राम-लीला इत्यादि तो समाज को मिल गये और विशुद्ध नाटकों का साहित्य में वह स्थान हो गया जिनका महत्त्व कुछ इने-गिने पंडितों के अतिरिक्त जनता से किंचित-मात्र भी न रहा।

(४) नाटक मनोरंजन की वस्तु है। इसके द्वारा समाज का मनोरंजन होता है। दैनिक कार्य-व्यस्तता से ऊबकर समाज अपने थके हुए जीवन में नाटक द्वारा फिर से नई ताजगी लाता है, प्रफुल्लता लाता है।

(५) नाटक प्रचार का सबसे बड़ा साधन है। नाटकद्वारा क्योंकि रंगमंच पर प्रत्यक्ष के समान वस्तु दिखलाई जाती है इसलिए दर्शक-समाज पर उसका प्रभाव अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। वर्तमान काल में सिनेमा द्वारा सरकार का प्रचार होता है, अनेकों वस्तुओं का विज्ञापन होता है और इस प्रकार उन्हें समाज के पास तक पहुँचाया जाता है।

(६) सुधार-कार्य जितनी सुगमता से नाटक द्वारा प्रतिपादन किया जा सकता है उतनी सुगमता से अन्य किसी साधन द्वारा नहीं किया जा सकता। सुधार भी प्रचार का ही एक अंग है, क्योंकि प्रचार के अन्तर्गत सुधारात्मक प्रचार और व्यवहारात्मक तथा व्यापारात्मक सभी आ जाते हैं। प्रचार सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक तीनों प्रकार का होता है और वह तीनों प्रकार का सिनेमा द्वारा या नाटक द्वारा सबसे अधिक प्रभावशाली किया जा सकता है।

(७) उपसंहार—नाटक जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर, सरस, मनो-रंजक और प्रभावशाली माध्यम है। समाज के उत्थान और पतन में समाज का बहुत बड़ा हाथ है और हो सकता है। आज के समाज में नाटक अन्य साहित्य की अपेक्षा सबसे अधिक प्रधानता पा चुका है। वर्तमान सिनेमा भी नाटक ही हैं, नाटक से कोई पृथक् वस्तु नहीं। इसलिए नाटक पर विचार करते समय सिनेमा का जो समाज पर प्रभाव है वह प्रत्यक्ष ही है। उसमें सुधार की आवश्यकता है। समाज और सरकार दोनों को उस ओर ध्यान देना चाहिए।

२१८. हिन्दू-समाज में विवाह-बन्धन

(१) यौन-व्यवहार पर प्रतिबन्ध का नाम विवाह है जिसके मूल में परिवार की भावना निहित है। मानव-जाति के प्रारम्भिक काल में जब विवाह की व्यवस्था

नहीं थी तो सभी नर-नारी पारस्परिक यौन-व्यवहार के लिए स्वतन्त्र थे। आज संसार की किसी भी सभ्य अथवा असभ्य जाति में यह नहीं है।

(२) स्त्री पर सन्देह और अधिकार,वात्सल्य-प्रेम, भ्रातृ-स्नेह, पारस्परिक सद्-भाव और सहयोग इत्यादि मनोवृत्तियों ने विवाह की भावना को जन्म दिया। विवाह के मूल में यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(३) विवाह से परिवार बना। परिवार तीन प्रकार का हो सकता है। पुरुष और स्त्री का एक विवाह-मूलक, पुरुष का एक से अधिक विवाह-मूलक तथा स्त्री का एक से अधिक विवाह-मूलक।

(४) भारतीय संस्कृति में पहले प्रकार का परिवार सब से अच्छा माना जाता है और फिर दूसरे प्रकार का परिवार आता है। तीसरे प्रकार का परिवार तो समाज और धर्म से गिरा हुआ माना जाता है। दूसरे प्रकार के विवाह पर भी कुछ प्रान्तीय सरकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया है।

(५) परिवार के इस विधान ने सामाजिक और धार्मिक रूप ग्रहण करके अपनी महत्ता को बढ़ाया और धीरे-धीरे समाज का यह सबसे आवश्यक और महत्त्व-पूर्ण प्रतिबन्ध बनकर मानव-जीवन का नियामक बन बैठा। आज विवाह जीवन की आवश्यकता है, मानव की आवश्यकता है, समाज की आवश्यकता है और धर्म तथा राजनीति की आवश्यकता है। बिना विवाह के मनुष्य का जीवन अधूरा है और वह जीवन के वास्तविक सुख-दुख से वंचित है।

(६) व्यवस्था-पूर्ण मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए समाज ने विवाह की प्रथा को स्वीकार किया। आज समाज का आधार परिवार है। आज विवाह और परिवार की व्यवस्था पर समाज के रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि का भार रहता है और समाज को इन सब प्रारम्भिक आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करनी होती। प्रत्येक परिवार अपने-अपने बच्चों का पालन-पोषण, पढ़ाना-लिखाना और योग्य बनाने का कार्य स्वयं करता है और वात्सल्य प्रेम के कारण अपनी पूर्ण कर्तव्यपरायणता से काम लेता है।

(७) विवाह में मिलन है, व्यवस्था है, संगठन है, प्रगति है, उत्साह है और अबोध यौन-संगम में उच्छृंखलता है, कलह है, अनुत्तरदायित्व है, कठोरता है और प्रगति का अन्त है। समाज की एक निश्चित भित्ति का आधार पाकर मानव को जीवन में उन्नति करने का सहारा मिलता है। इसलिए संसार की जितनी भी प्रगति है उसके मूल में विवाह और पारिवारिक निश्चिन्तता आती है।

(८) आज के नवीन युग में नारी को मुक्त करने की भावना पर बल दिया जा रहा है। यह अवस्था परिवार की अवस्था से पूर्व अवश्य रही होगी परन्तु मानव उस समय पशुओं से किसी प्रकार कम नहीं था। आज यदि मानव को पारिवारिक बन्धन से मुक्त कर दिया जाय तो वह जड़ हो जायगा और उसकी चेतना समाप्त हो जायगी। न उसमें प्यार रहेगा, न क्रोध, न उत्साह रहेगा और न महत्त्वाकांक्षा।

मानव मुक्त होकर भलाई-बुराई का ज्ञान भी त्याग देगा और स्वार्थी बन जायगा। मानव का विकास रुक जायगा, समाज की प्रगति नष्ट हो जायगी और राष्ट्र पतन को प्राप्त होने लगेगा।

(९) स्त्री के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना नष्ट होकर वासना का उदय होगा और वही भावना नारी शब्द का पर्यायवाची शब्द बनकर रह जायगी कि दुख-दर्द में कोई पानी देने वाला और नाम देने वाला भी उपलब्ध न होगा। जीवन नीरस होकर रह जायगा। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में विवाह को इतना महत्त्व-पूर्ण स्थान देकर धार्मिक प्रतिबन्धों में इस प्रकार जकड़ दिया है कि मानव-बन्धन में मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर सके। धर्म विहीन विवाह में न तो मर्यादा ही है और न स्थायित्व ही। वह जिस प्रकार सुगमता से रजिस्ट्रार के सम्मुख जाकर स्थापित किया जा सकता है उसी प्रकार उसी के सम्मुख जाकर समाप्त भी किया जा सकता है।

(१०) **उपसंहार**—स्त्री और पुरुष की प्रतिष्ठा विवाह में है या तलाक में, अन्तिम प्रश्न यही सोचने का रह जाता है। विवाह की स्वतन्त्रता समाज की कमजोरी है, उच्छृंखलता है, मानव का ह्रास है, पतन है। वहाँ उन्नति के लिए स्थान नहीं। विवाह की आस्था समाप्त होते ही वात्सल्य, भ्रातृत्व, पितृत्व, गृह इत्यादि की सब भावनाएँ समाप्त हो जायँगी।

अध्याय २३

इतिहास तथा राजनीति सम्बन्धी निबन्ध

मुस्लिम-युग और भारत

२६१. मुस्लिम-युग पर विचार करने के लिए हम इस युग को दो भागों में विभाजित करते हैं। एक मुगल-काल और दूसरा इससे पूर्व का काल। मुगल-साम्राज्य-काल से पूर्व-काल में हम अरब-आक्रमण-काल को न लेकर केवल दिल्ली के सुल्तानों के समय पर ही विचार करेंगे। दिल्ली के पठान सुल्तानों का प्रारम्भिक काल तो अपने को व्यवस्थित करने में ही व्यतीत हुआ, परन्तु जब उनका शासन व्यवस्थित हो गया तो उनका ध्यान राज्य-व्यवस्था की अन्य आवश्यकताओं की ओर भी गया।

इस काल का न्याय काज़ियों द्वारा होता था और सुल्तान पूर्णरूप से निरंकुश थे। हिन्दुओं की दशा अच्छी नहीं थी, उनके धर्म का स्थान-स्थान पर अपमान होता था और उनका धन भी सुरक्षित नहीं था। हिन्दुओं को जज़िया इत्यादि कर देने होते थे जो आज की सभ्यता में मानवता से गिरे हुए कहे जायेंगे। परन्तु इस काल में बहुत से हिन्दू राजे भी थे और उनके छोटे-छोटे राज्यों में सभ्यता और उसके पुजारी सुरक्षित और सुखी थे।

पठान काल में वस्तु-कला की भारत में पर्याप्त उन्नति हुई। कुतुबमीनार, अल्तमश का मकबरा और जौनपुर की मस्जिद इत्यादि उस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। यह सभी इस काल की वस्तु-कला के प्रतीक हैं। इन इमारतों के निर्माण में भारतीय वस्तु-कला और पठान वस्तु-कला का सम्मिश्रण मिलता है। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत मे इतने बड़े भवन निर्माण करने के लिए भारतीय वस्तु-कला के विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक था और वह सहायता पठान सुल्तानों ने पर्याप्त मात्रा में ली जिसके फलस्वरूप उनमें भारतीय कला की आत्मा मिलती है।

इस काल में अमीर खुसरो जैसे कवि ने जन्म लिया जिसका स्थान आज भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। उस में उर्दू भाषा का उदय हुआ जो आज पनपते-पनपते एक महत्वपूर्ण भाषा बनकर पाकिस्तान की राष्ट्र-भाषा बन गई है। स्वामी रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द जी का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ

और इसी काल ने कबीर जैसे सन्त कवि और विचारक को जन्म दिया। धार्मिक क्षेत्र में गुरु नानक के प्रादुर्भाव का भी यही काल है और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने भी इसी काल में जन्म लिया। इस प्रकार हमने देखा कि इस काल में उस भक्ति-सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने आगे चलकर भारत की जनता के डूबते हुए हृदयों को भक्ति का आश्रय देकर जीवन प्रदान किया, प्राण-दान दिया।

इस काल के शासन का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। समाज को मुसलमानी प्रभाव से बचाने के लिए समाज के नियामकों ने जातियों के बन्धनों को बहुत कड़ाई के साथ जकड़ दिया। इसके फलस्वरूप दिन-प्रतिदिन जातियों की संख्या बढ़ने लगी और मानव-जीवन की प्रगति रुक गई। स्त्रियों में पर्दे की प्रथा का उदय हुआ और उन्हें समाज में खुले रूप से आने के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। भारत में मुसलमान-धर्म का भी प्रभाव बढ़ा और बहुत से भारतीयों ने इस्लाम-धर्म को अपना लिया। इस्लाम-धर्म को सहर्ष किसी ने नहीं अपनाया बल्कि उसका प्रसार जहाँ तक भी हुआ तलवार की धार पर ही हुआ है।

पठान-काल के पश्चात् भारत में मुगल-शासन-काल आता है। यह शासन-काल अनेकों दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुगल-शासकों में धार्मिक सहनशीलता, मानवता, कला-प्रियता इत्यादि की कमी न थी। यह लोग पठान शासकों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और सभ्य थे। मुगल शासकों में अकबर जैसे शासक भी हुए, जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को मिलाकर 'दीन इलाही' जैसे नवीन धर्म चलाने का भी प्रयत्न किया। जहाँगीर-जैसे शासक भी हुए, जिन्होंने वीर हकीकतराय के माता-पिता से उनकी दुःख-भरी कहानी सुनकर काजी को उसके परिवार सहित सरिता में डुबवा दिया। परन्तु साथ ही औरंगज़ेब-जैसे शासक भी हुए जिन्होंने मन्दिर तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं और ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत से हमाम गर्म करवाकर स्नान किया। इस प्रकार यह काल दोनों प्रकार की भावनाओं से पूर्ण रहा है, परन्तु जहाँ अकबर की धार्मिक सहिष्णुता ने मुसलमानी शासन की नींव को पुष्ट किया, वहाँ औरंगज़ेब की कट्टर मुसलमानी नीति ने उसे खोखला कर डाला। अकबर ने जजिया जैसे करों से हिन्दुओं को मुक्त करके उनके हृदयों पर विजय प्राप्त की। और औरंगज़ेब ने मन्दिरों को गिराकर शिवाजी-जैसे अपने शत्रु बना लिये।

मुग़ल-शासन-काल में भारत की राज्य-व्यवस्था बहुत सुदृढ़ थी और अकबर का साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ था। प्रजा भी काफ़ी सुखी थी और देश ने कला-कौशल में पर्याप्त उन्नति की। वस्तु-कला के विचार से यह काल भारतीय मुसलमान काल का स्वर्ण-काल है। ताजमहल संसार का प्रसिद्ध भवन इसी काल में निर्मित हुआ। इसके अतिरिक्त देहली और आगरे के किले, दिल्ली का जामा मस्जिद और फतहपुर-सीकरी के विशाल भवन, लाहौर में जहाँगीर का मकबरा इत्यादि इस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। इन इमारतों पर भारत को गर्व है और वास्तव में इनकी बहुत-सी विशेषताएँ आज के वैज्ञानिक युग में भी जादू-सी प्रतीत होती हैं।

तानसेन-जैसे गायक, भक्त तुलसीदास और सूर-जैसे भक्त कवि, अबुल फजल और फैजी-जैसे इतिहासज्ञ, राजा टोडरमल जैसे अर्थशास्त्र के पंडित, राजा मानसिंह जैसे योद्धा, राजा बीरबल-जैसे चतुर मतदाता इसी काल की देन हैं। भारत के राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक धार्मिक और साहित्यिक इतिहासों में इन व्यक्तियों ने अपना-अपना सुदृढ़ स्थान स्थापित किया हुआ है। इस काल में ऊँची से ऊँची कोटि के विद्वानों ने जन्म लिया है और ऊँचे से ऊँचे सुधारकों ने। विधर्मी व्यवस्था होने पर भी धर्म-सुधारकों के मार्ग में अधिक रुकावटें नहीं आईं। शासक पहले की भाँति निरंकुश थे। इसलिए कभी-कभी जब वह अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाते थे तो समाज का अहित भी होने लगता था परन्तु उस काल में यह निरंकुशता संसार भर में व्यापक थी। केवल भारत में ही नहीं बल्कि धर्म के नाम पर यूरोप में भी निरंकुश शासकों द्वारा रक्तपात करने में कमी नहीं छोड़ी जाती थी। विधर्मियों के झुण्ड-के-झुण्ड अग्नि-कुण्डों में स्वाहा कर दिये जाते थे। भारत में औरंगजेब के समय में कुछ-कुछ इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है परन्तु समस्त मुसलमान-शासन-काल में नहीं।

मुसलमान शासक भारत में आये और भारत के हो गये। जब हम मुसलमान शासकों पर दृष्टि डालकर अंग्रेज शासकों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें केवल यही अन्तर मिलता है। मुसलमानों से पूर्व जो-जो भी जातियाँ भारत में आईं वे यहाँ की सभ्यता में घुल-मिलकर अपना सभी कुछ खो बैठीं परन्तु मुसलमानों ने ऐसा नहीं किया। इन्होंने भारत की सभ्यता को तलवार की धार पर रखकर काटना चाहा परन्तु कटना इन्हें स्वयं ही पड़ा। जो धर्मावलम्बी बन भी गये उनमें भी जाट-मुसलमान, राजपूत-मुसलमान, जुलाहे-मुसलमान इत्यादि वर्ग बन गये और मुसलमानी सिद्धान्त जड़-मूल से ही नष्ट होकर भारतीय वर्ग-वाद के पीछे चल पड़ा। मुसलमानी रिवाजों पर प्रभाव अवश्य पड़ा परन्तु उसकी बाहरी रूपरेखा पर, अन्तरात्मा पर नहीं। उसकी अन्तरात्मा ज्यों-की-त्यों बनी रही। मुसलमानी शासक चाहे अपने को हिन्दुओं से कुछ ऊँचा समझते थे परन्तु फिर भी वह अपने को भारत का शासक समझते हुए जो कुछ वे करते वह भारत के ही लिए करते थे। भारत की धन-सम्पत्ति इससे बाहर नहीं जाने पाती थी और भारत निर्धन होने से बचा रहा। परन्तु अंग्रेजी शासन-काल में भारत की सम्पत्ति भारत से बाहर जाने लगी जिसका प्रभाव भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा पड़ा।

इस प्रकार हमने तुलनात्मक रूप से देखा कि आर्थिक विचार से मुसलमानी शासन-काल अंग्रेजी शासन-काल से कहीं अच्छा था, क्योंकि उस काल में भारत की धन-सम्पत्ति सुरक्षित थी और उस काल में भारत ने जो कुछ भी उन्नति की और जो कुछ भी उपार्जन किया वह भारत में ही रहा। मुसलमानों ने भारत में जो कुछ भी किया अपना समझकर ही किया।

संक्षिप्त

१. मुसलमान-काल के दो प्रमुख भाग-विभाजन।

२. दोनों कालों में विद्या, कला, सभ्यता और समाज की उन्नति।
३. आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए मुसलमानी-शासन-काल कैसा था?

अंग्रेजी शासन-काल की भारत को देन

३००. अंग्रेजी भारत में व्यापारी बनकर आये, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की, धीरे-धीरे अपना आधिपत्य बढ़ाया और सन् १८५७ के पश्चात् समस्त भारत के शासक बन बैठे। अंग्रेजी शासन-काल में भारत की आर्थिक दशा बिगड़ी, यहाँ की सम्पत्ति अनेकों रास्तों से देश से बाहर ले जाई गई परन्तु यह ले जाने की व्यवस्था महमूद गजनवी-जैसी नहीं थी। भारत की जनता पर अंग्रेजों ने जादू कर दिया, भारत का जूता और भारत के सिर, और जितने दिन भी भारत में रहे बहुत ठाठ के साथ शासन किया। इस शासन-काल में अनेकों बुराइयाँ होते हुए भी इस शासन ने भारत को बहुत कुछ दिया है। भारत को अंग्रेजी शासन-काल ने क्या-क्या दिया है इसकी व्यापक व्याख्या न करके यहाँ संक्षिप्त रूप में विचार करेंगे।

सामाजिक सुधार—हिन्दू समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी। अंग्रेजी शासन-काल में सरकारी नियम द्वारा इस कुरीति को सफलतापूर्वक रोककर मानव-जाति के मस्तक से इस कलंक को दूर किया गया। इसी काल में शारदा-बिल पास करके समाज को बाल-विवाह की कुरीति से मुक्त किया। इन दो बातों के अतिरिक्त इस काल में वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानव-जीवन प्रगतिशील बन गया और समाज के वे प्राचीन बन्धन जिनमें समाज शताब्दियों से जकड़ा पड़ा था आप-से-आप खुलते चले गये। समाज के सिर से छुआछूत का भूत उतरने लगा। उदाहरण-स्वरूप रेलों में यात्रा करने वाले व्यक्ति मार्ग में मोल लेकर खाना खाने लगे, स्टेशनों के नलों का पानी पीने लगे और स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी जाति-पाँति के भेद-भावों से मुक्त होकर एक साथ भोजन करने लगे। होटलों का प्रचार बढ़ा और शाकाहारी तथा माँसाहारी भी एक ही रसोई का बना हुआ भोजन खाने लगे। इस प्रकार समाज अपनी रूढ़िवादिता को स्थिर न रख सका और प्रगतिशील बनकर उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। समाज ने अपने को धार्मिक प्रतिबन्धों से बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर लिया और यहाँ तक कि विवाह-सम्बन्ध भी अदालतों में होने आरम्भ हो गये परन्तु यह प्रथा अभी अधिक प्रचलित नहीं हो सकी है। विजातीय विवाहों की ओर भी समाज ने पग बढ़ाया परन्तु इस क्षेत्र में भी अभी अधिक प्रगति नहीं हुई। फिर भी प्रत्येक दिशा में प्राचीन शृंखलाएँ टूटीं और नवीन प्रगतियों का उदय उसमें हुआ है। प्रत्येक दिशा में ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज ने भी सामाजिक सुधार किये हैं और वह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार हुआ और उन्हें समाज में भी स्वाधीनता प्राप्त हुई।

धर्म का स्थान—अंग्रेजी शासन ने भारतीय धर्मों को राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करके हिन्दू और मुसलमानों की शक्ति को नियंत्रित रखा। यों साधारणतया किसी

विशेष धम के साथ किसी विशेष प्रकार का पक्षपात नहीं किया परन्तु जब जहाँ पर जिसकी प्रबलता देखी तब वही पर दूसरे पक्ष को बल देकर अपनी प्रधानता बनाये रखी। धर्म के नाम पर सम-भाव प्रदर्शित करते हुए भी धार्मिक कटुता को मिटाने का वास्तविक प्रयत्न कभी भी अंग्रेजी शासन ने नही किया। परन्तु इसी काल में खिलाफ़त और कांग्रेस ने जन्म लिया। दो आन्दोलनों ने भारत में बहुत प्रबल रूप धारण किया और धार्मिक कटुता को मिटाने का सफल प्रयत्न किया। अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दू और मुसलमानों का आपसी वैमनस्य दूर नही हुआ। साथ ही भारत में ईसाई धर्म के प्रचार को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। ईसाई धर्म का प्रचार भी भारत में हुआ परन्तु भारत के धार्मिक रूढ़िवाद के सम्मुख वह प्रचार उच्चवर्गों में सफलता-पूर्वक नहीं हो सका। अंग्रेजी शासन-काल की यह विशेषता है कि मुसलमान-शासन-काल की भाँति इस काल में शासक-वर्ग ने धर्म-प्रचार में तलवार का प्रयोग न करके प्रेम और सद्भावना का प्रयोग किया। ईसाई पादरियों ने बच्चों के लिए स्कूल खोले, औषधालय खोले, गिर्जे बनवाये, यह तीनों की सहायता और इसी प्रकार अनेकों प्रकार से भारतीय जनता के हृदय में घर करने का प्रयत्न किया।

वैज्ञानिक विस्तार—संसार की वैज्ञानिक प्रगति से अंग्रेजी शासकों ने भारत को पिछड़ा हुआ नहीं रहने दिया। जब यूरोप में रेलों का आविष्कार हुआ तो भारत में भी रेलें चालू की गईं। यह सत्य है कि प्रारम्भ में वह रेलवे-विभाग केवल सैनिक-सुविधा के लिए चालू किया गया था परन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग जनता के लिए किया गया और इससे भारत के व्यापार ने समुचित उन्नति की। भारत में मोटरें आईं, हवाई जहाज आये, रेडियो आया, तार और बेतार के तार का प्रयोग हुआ। यह अंग्रेजी शासन-काल की देन हैं जिन्होंने भारत में भी एक वैज्ञानिक प्रगति का संचार किया। प्राचीनता में नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ और मानव-जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आई। इस वैज्ञानिक विकास से मानव के ज्ञान का भी विकास हुआ और इन तीव्र गति से चलने वाले यंत्रों की सहायता से संसार मानव के लिए गम्य हो गया। मानव-ज्ञान का विकास हुआ और भारत ने अनेकों विद्याओं में उन्नति और प्रगति की।

ललित-कला-विकास—अंग्रेजी शासन-काल में भारतीय ललित-कला के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भवन-कला के क्षेत्र में जो विकास मुग़ल-काल में दिखाई देता है वह अंग्रेजी शासन-काल में नहीं हुआ। मूर्ति-कला क्षेत्र में भी अधिक विकास नहीं दिखाई देता। संगीत-कला का विकास रेडियो के आविष्कार के कारण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। संगीत आज जीवन की आवश्यकता बन गया है और सभ्य समाज में तो इसका विशेष स्थान है। चित्र-कला का भी इस काल में बहुत विकास हुआ है। सिनेमा के आविष्कार ने चित्र-कला को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। इस काल में भारत में बहुत से चित्रकारों ने जन्म लिया है और इस काल के राजे-महाराजाओं ने उसे बहुत अपनाया। इस काल में जो सबसे अधिक उन्नति हुई वह काव्य-कला की है।

काव्य-कला में नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी इत्यादि सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई है और एक-से-एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा गया। काव्य का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है।

शिक्षा—अंग्रेजी शासन-काल में शिक्षा का प्रचार बढ़ा। जगह-जगह विद्यालय खुले और उनमें अनेकों प्रकार की शिक्षा के केन्द्र खुले। डाक्टरी, साइन्स, कॉमर्स, खेती-बाड़ी, टैक्नीकल, क़ानून, गणित, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल इत्यादि अनेकों दिशाओं में शिक्षा देने के लिए विद्यालय खुले और सरकार ने उन्हें पूरी-पूरी सहायता दी। सैनिक स्कूल भी खोले गये और उनमें भी बहुत लाभदायक शिक्षा दी जाती थी। इंजीनियरिंग के स्कूलों में भवन-निर्माण के भी केन्द्र स्थापित हुए जिन में पढ़कर बहुत से विद्यार्थी निपुण बनकर भारत के लिए लाभदायक सिद्ध हुए। इस प्रकार शिक्षा के अनेकों क्षेत्रों में इस काल में उन्नति हुई परन्तु जिस दिशा में विशेष शिक्षा दी गई वह थी भारत के नवयुवकों को अंग्रेजी क्लर्क बनाने की शिक्षा। यह थी भारत को एक प्रकार से दास बनाने की शिक्षा। उसके फलस्वरूप भारत आज के युग तक दास बना रहा।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शासन-काल में भारत के राजनैतिक रूप ने भी प्रगति की, काँग्रेस के नेतृत्व में भारत आगे बढ़ा और उसने स्वाधीनता को समझा। भारत के जो व्यक्ति विलायत में गये और वहाँ जाकर उन्होंने भारत की पराधीनता को अनुभव किया, उसके फलस्वरूप भारत में भी जागृति का संचार हुआ। भारत में प्रजा-तन्त्र का आगमन अंग्रेजी शासन की ही देन है। अंग्रेजी ने जहाँ भारत से धन-सम्पत्ति का हरण किया है वहाँ भारत को दिया भी बहुत कुछ है। भारत के वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विकास में बाधा डालकर और उन्हें समुन्नत करने में सहयोग दिया है। अंग्रेजी शासकों का दृष्टिकोण सर्वदा ही प्रगतिवादी और सुधारवादी रहा है। भारत में शासक बनकर भी उन्होंने कभी भारत की धार्मिक भावनाओं को नहीं ठुकराया, कभी भारतीय समाज का भारत में अनादर नहीं किया और भारत की उन्नति में यथायोग्य सहयोग ही दिया है। सहयोग की मात्रा इनमें मुसलमान शासकों की अपेक्षा अधिक रही। इस शासन का सबसे बड़ा अवगुण यही रहा है कि इसकी बागडोर का संचालन इंगलैण्ड में बैठकर किया गया। यदि उसकी बागडोर का भी संचालन भारत में ही बैठकर किया गया होता तो सम्भवतः भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम अमरीका के स्वतन्त्रता-संग्राम से किसी भी प्रकार भिन्न न होता और सम्भवतः भारत की स्वतन्त्रता उन परिस्थितियों में आज के भारत में रहने वाले अंग्रेजों के नागरिक अधिकार अधिक सुरक्षित और स्थायी होते। कुछ काल तक आपस में जो कटुता आई सम्भवतः वह भी न आती और जो इतने दिन तक हिन्दू-मुसलमानों में आपसी द्वेष बना रहा वह भी न रहता। यह भी सम्भव था कि उन परिस्थितियों में भारत को विभाजित भी न होना पड़ता और इस प्रकार अंग्रेजों को अपना बिस्तर-बोरिया लेकर जाने की आवश्यकता न होती।

संक्षिप्त

१. सामाजिक और धार्मिक सुधार।
२. भारत का वैज्ञानिक विस्तार।
३. भारत की ललित कलाओं का विकास।
४. भारतीय शिक्षा का विकास।

आज भारत-राष्ट्र की आवश्यकता

३०१. शताब्दियों की पराधीनता के पश्चात् भारत-राष्ट्र स्वाधीनता के विस्तृत क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। आज भारत-राष्ट्र के सम्मुख अनेकों समस्याएँ हैं और उन्हीं समस्याओं की पूर्ति भारत-राष्ट्र की वर्तमान आवश्यकताएँ हैं। इसलिए भारत की वर्तमान आवश्वकताओं पर विचार करने से पूर्व एक दृष्टि इस पर डाल लेनी आवश्यक होगी कि भारत की वर्तमान क्या-क्या समस्याएँ हैं।

गत महायुद्ध से पूर्व भारत पर अंग्रेजों का एक लम्बा-चौड़ा ऋण था और वह ऋण बहुत दिनों से चलता चला आरहा था जो कि भारत को इसके वैज्ञानिक विकास के लिए व्यापार और सुरक्षा की उन्नति के लिए अंग्रेजों ने दिया था। भारत की सुरक्षा से अधिक यह ऋण अंग्रेजों की अपनी सुरक्षा में व्यय हुआ था। परन्तु इस विषय पर प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं था। गत महायुद्ध में संसार की राजनीति ने पलटा खाया, संसार बदला और बदल गया उसका राजनैतिक दृष्टिकोण भी। साम्राज्यवाद और निरंकुश नरेशवाद का बोल धीमा पड़ने लगा और उनकी सत्ता का भी धीरे-धीरे ह्रास हुआ। प्रजा की शक्ति ने जोर पकड़ा और प्रजातन्त्र का जोर विश्व में बल पकड़ने लगा। प्रजातन्त्र के साथ-साथ साम्यवाद और कम्यूनिज्म की भावनाएँ भी कुछ देशों में पनप रही थीं। इसलिए बड़े-बड़े साम्राज्य बनाये रखना तो असम्भव-सा प्रतीत होने लगा।

अंग्रेजों ने बहुत कुशलतापूर्वक इस काल में चतुर बुद्धि से काम लिया और उनकी जो कुछ भी पूँजी भारत में लगी हुई थी वह और साथ-साथ कुछ और भी यहाँ से खींचकर अपने को भारत का ऋणी बना लिया। इसके फलस्वरूप स्वतन्त्र होने पर भारत की दशा बहुत विचित्र थी कि जिसे अपने राज्य-संचालन के लिए तथा अन्य प्रगतियों के लिए संसार के बैंक से धन 'ऋण-स्वरूप' लेने की आवश्यकता हुई। भारत-राष्ट्र आज हर प्रकार से शक्तिशाली है, उसके पास सेना है और संगठन है, देश-भक्ति है और अन्य साधन हैं परन्तु इनके साथ-ही-साथ कमियाँ बहुत अधिक हैं और उनके कारण बल की अपेक्षा निर्बलताएँ अधिक प्रतीत होती हैं।

सर्वप्रथम भारत-विभाजन के कारण पाकिस्तान से आने वाले भाइयों को बसाने का कार्य है जिसे हमारी सरकार अभी तक सफलतापूर्वक समाप्त नहीं कर पाई है। यह बड़े खेद का विषय है कि सरकार जनता के रुपये को कमेटियाँ बनाकर व्यर्थ के लिए अपव्यय कर रही है और वास्तविक समस्याओं का कोई सुझाव उनके

सम्मुख नहीं आ रहा। आज मकान बनाने के लिए भारत-सरकार विलायती कम्पनियों को ठेके दे रही है और भारत के ठेकेदारों को उन कामों से वंचित रखा जा रहा है। यह समस्या आज तक समाप्त हो जानी चाहिए थी, जिसका विलम्ब सरकार की असफलता का द्योतक है।

दूसरी प्रधान समस्या जो भारत-राष्ट्र के सम्मुख इस समय है वह महँगाई और चोरबाजारी की है। काँग्रेसी सरकार धनपति पूँजीवादियों की सरकार है जिसका सचालन वही लोग करते हैं जो महँगाई और चोरबाजारी को रोकना-रोकना तो चिल्लाते हैं परन्तु वास्तव में रोकना नहीं चाहते। यदि सरकार हृदय से इन समस्याओं का हल सोचकर चलना चाहती तो यह इतनी कठिन समस्याएं नहीं थी कि जिनका हल सरकार आज तक न निकाल पाती। महँगाई दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है और उसके साथ-ही-साथ चोरबाजारी भी। कंट्रोल का अंकुश लगाकर चाहे जिस वस्तु को और चाहे जब भी बाजार से लुप्त कर दिया जाता है और फिर पूँजीपति एक-एक के दस-दस एक क्षण में बना डालते हैं। सरकार को चाहिए कि वह भारत-राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए शीघ्रातिशीघ्र इन समस्याओं पर विचार करे और इनका उचित हल निकाले। इसके लिए सरकार को कड़े-से-कड़े दण्ड नियम तोड़ने वालों को देने चाहिएँ और उन दण्डों का भी जनता के सम्मुख प्रदर्शन करना चाहिए। उदाहरणस्वरूप यदि देहली के घण्टाघर पर सूली लगवाकर एक भी चोरबाजारी करने वाले व्यक्ति को लटकवा दिया जाय तो दूसरे ही दिन से चोरबाजारी करने वालों के हृदय थर्राने लगेंगे और समाज तथा राष्ट्र एक कुरीति और कलंक से मुक्ति पा जायगा परन्तु इसके विपरीत होता यह है कि चोरबाजारी से बचने के लिए और घूसें दी जाती हैं और एक बुराई से बचने के लिए राष्ट्र और बुराइयों में फँसता है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह शीघ्र इसका उपाय खोजकर निकाले।

तीसरी समस्या इस समय राष्ट्र के सम्मुख खाद्य-पदार्थों की है। भारत के खाद्य-पदार्थों की उपज अभी इतनी नहीं है कि भारत अपना काम अपनी उपज से चला सके। इसलिए भारत को अन्य देशों से खाद्य-सामग्री लेनी होती है। यह भारत-राष्ट्र की एक बहुत बड़ी कमजोरी है और इस कमी का पूरा होना निकट भविष्य में नितांत आवश्यक है। आज संसार का वायुमंडल युद्ध के बादलों से घिरा हुआ है। भारत की विदेशी राजनीति किसी भी संसार की शक्ति से टक्कर लेने की नहीं है परन्तु अपनी रक्षा में कब और क्या करना आवश्यक समझा जाय इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए देश अपनी खाद्य-सामग्री के लिए अपने पर निर्भर रहे यही सदैव आवश्यक समझा जाता है। भारत-राष्ट्र को भी अपने पर निर्भर रहने वाला हो जाना नितांत आवश्यक है। भारतीय सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है और आशा है कि निकट भविष्य में ही वह इस प्रयत्न में सफल हो जायगी। सरकार अधिक-से-अधिक भूमि में कृषि करा रही है और नये-से-नये कृषि कराने के तरीकों और साधनों को प्रयोग में लाया जा रहा है।

चौथी समस्या भारत की उन मिलों की है जिनके लिए कि कच्चा माल पाकिस्तान से लेना होता है। यह कच्चा माल पटसन और कपास हैं। पटसन की खेती पर गत वर्ष से भारत सरकार ने बहुत जोर दिया है और बहुत कुछ वह इस दिशा में सफल भी हो गई है परन्तु कपास की समस्या अभी उसके सामने है। सरकार को कपास की खेती के लिए उद्योग करने की आवश्यकता है। भारत में पटसन और कपड़े की बहुत मिलें हैं और भारत का कपड़ा तथा पटसन का सामान दूर-दूर तक विलायतों को भेजा जाता है।

भारत का व्यापार उन्नति कर रहा है। व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति देने के लिए भारत की सरकार नये बिजली बनाने के कारखाने बनाने में प्रयत्नशील है और वह कार्य बहुत बड़े पैमाने पर चल रहा है जिसके लिए संसार-बैंक से भी पर्याप्त ऋण भारत सरकार ले चुकी है। अमेरिका ने इस दिशा में भारत के लिए सहयोग का हाथ बढ़ाया है। आज भारत-राष्ट्र की सबसे बड़ी आवश्यकता का हल कहीं बाहर से नहीं आना है। वरन् वह भारत-राष्ट्र के ही अन्दर व्यापक है, निहित है। राष्ट्र को आज यहीं पर नहीं पड़े रहना है, उसे अपने को उठाकर समुन्नत राष्ट्रों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर चलना है। सरकार की कमियों और गलतियों के बखान से ही आज राष्ट्र का भला नहीं हो सकता। राष्ट्र को बलवान बनाना है और शिक्षित बनाना है, धनवान बनाना है; प्रगतिशील बनाना है और अंत में गौरवशाली बनाना है। इसके लिए राष्ट्र के हर व्यक्ति को त्याग करना होगा, स्वार्थ से किनारा करना होगा और राष्ट्र तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं को समझना होगा। भारत का राष्ट्र आज कोई साधारण राष्ट्र नहीं रह गया है। विश्व की आँखें भारत की ओर लगी हैं और यदि आज नया विश्व-युद्ध सामने आया तो भारत-राष्ट्र ही उस युद्ध में रेड क्रास बनकर संसार के घावों पर मरहम-पट्टी करेगा और संसार के सम्मुख महात्मा गांधी के शांति संदेश का अमर सिद्धान्त रखेगा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता

३०२. हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या भारत में आज की नहीं है, बहुत प्राचीन है। जिस समय में मुसलमान शासक थे और हिन्दू शासित उस समय इसकी आवश्यकता का अनुभव कबीर जैसे तत्त्वज्ञानी विचारकों ने किया था और साथ-ही-साथ इसका प्रचार भी किया था। कबीर ने अपना कबीर-पंथ चलाया और उसके अन्तर्गत हिन्दू और मुसलमानों का आपसी भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया परन्तु वह अपने उद्देश्य में अधिक सफल न हो सके। इसी भावना का आभास जायसी इत्यादि कवियों की वाणी में भी मिलता है। मुगल-सम्राट् अकबर ने भी अपना दीने-इलाही मत चलाकर इस भेद का अन्त कर देना चाहा परन्तु वह भी सफल न हो सके और मुल्ला तथा पंडितों के सामने उनकी शक्ति सीमित ही रह गई।

अंग्रेजी शासन-काल में आकर हिन्दू और मुसलमानों की एकता स्थापित करने

की भावना का एक प्रकार से राज-शक्ति की ओर लोप नहीं हो गया बल्कि आपसी विद्वेष को और प्रोत्साहन भी दिया गया; जिसके फलस्वरूप समय समय पर आपसी झगड़े और मारकाट भी होती रही। इस काल में भावना को जन्म देने का श्रेय खिलाफ़त-आन्दोलन और कांग्रेस को मिलता है। कांग्रेस ने इन दोनों जातियों में मेल कराने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु अंग्रेजी सरकार इस शक्ति को संगठित होने से रोकने के लिए बराबर मि० जिन्हा जैसे मोहरों का प्रयोग करती रही और पूर्णरूप से कभी भी उसने काँग्रेस को उसके लक्ष्य में सफल नहीं होने दिया।

मुसलमान शासन-काल से धार्मिक और मानवी दृष्टिकोण से इन दोनों में मेल कराने का प्रयत्न किया जा रहा था परन्तु कांग्रेस ने इन दोनों जातियों के धर्म-कर्म सम्बन्धी कार्यक्रम से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखा। काँग्रेस तो राजनीति के क्षेत्र में दोनों को संगठित करके अंग्रेजी सत्ता के विपरीत शक्ति संचालित करना चाहती थी। भारत को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिए काँग्रेस ने इस संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया था। काँग्रेस अपने इस लक्ष्य में बहुत दूर तक सफल हुई अवश्य परन्तु पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकी। यही कारण था कि अंग्रेज जाते-जाते भी भारत को विभाजित कर गये और पाकिस्तान के नये राज्य ने जन्म ले लिया।

एक समय था जब राजनीति धर्म के संकेतों पर नाचती थी और राजनीतिज्ञ धार्मिक गुरुओं की पूजा करते थे परन्तु आज का युग ठीक इसके विपरीत चल रहा है। राजनीति के क्षेत्र में धर्म का कोई स्थान नहीं और उसका राजनीति पर कोई प्रभाव पड़ सके यह तो नितांत असंभव ही है। पाकिस्तान का जन्म उसी प्राचीन रूढ़िवादी धार्मिक विचारधारा के अधीन हुआ है इसलिए उसका मुसलमानी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न तो कभी सत्य हो ही नहीं सकता; हाँ, इतना अवश्य है कि इससे कुछ समय के लिए भारत के वातावरण में हिन्दू और मुसलमानों में आपसी द्वेष की भावना को जन्म दे दिया है। पाकिस्तान ने अपने प्रदेश से हिन्दुओं को निकालकर भारत का नहीं अपना अहित किया है। अपनी इस भूल को कुछ दिन बाद पाकिस्तान अनुभव करेगा।

भारत में आज भी मुसलमानों की संख्या कम नहीं है और न भारत की राजनीति संकीर्ण धार्मिक नीति आधार लेकर चल रही है। भारत का शासन कांग्रेस की उसी प्राचीन नीति पर आधारित है जिस पर उसे महात्मा गांधी छोड़कर तथा अपना बलिदान दे गये हैं, आज संसार धर्म के पीछे पागल बनकर अपना हित नहीं कर सकता। धर्म का यदि वास्तव में देखा जाय तो समाज से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म का सम्बन्ध आत्मा की शुद्धि से है और आत्मा का सम्बन्ध व्यक्ति से है। धर्म का सम्बन्ध इस प्रकार समाज के क्षेत्र में आ भी सकता है परन्तु राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। भारत में आज हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहते हैं। एक स्थान पर रहने वाले दोनों समुदाय यदि आपस में वैमनस्य धारण करके रहेंगे तो भला उनका निर्वाह

किस प्रकार होगा ? इसलिए दोनों में प्रेम-भावना का होना नितान्त आवश्यक है।

जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, प्रति वर्ष बकरा-ईद, ताजिये और ईद आती हैं परन्तु साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते। इसका क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है कि सरकार आपसी सद्भावना बढ़ाने में सहयोग देती है और जनता दिन-प्रति-दिन इस सत्य को समझती जा रही है कि आपस में प्रेम-भावना को बढ़ाने में ही दोनों का हित है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मानव हैं फिर भला क्यों मानव-मानव के रक्त का प्यासा बना रहे ? क्यों न मानव मानव से प्रेम करे और संसार के सम्मुख यह स्पष्ट करदे कि मानव दानव कभी भी नहीं था। वह केवल राजनीति का चक्र था जिसके जाल में फँसकर वह चन्द दिन के लिए पागल हो गया था। उसका मस्तिष्क उससे छीन लिया गया था और उसके हाथों में दे दी गई थी। वह निरंकुश शक्ति जिसके प्रयोग में उसे उसके निर्माण का संदेश दिया गया था। वह निर्माण का संदेश झूठा साबित हो चुका है और उसका फल मानव स्वयं अपने नेत्रों से देख चुका। आज का भारतीय उस भूल को दुहराने के लिए उद्यत नहीं और वह हिन्दू और मुस्लिम एकता के अमूल्य रहस्य को समझ चुका है।

एकतन्त्र और प्रजातन्त्र शासन

३०३. सम्भवतः शासन-व्यवस्था का सबसे प्राचीनतम रूप एकतन्त्र शासन ही है। पहिले-पहल राज्य-संचालन का यह ढंग राजा में दैवी शक्ति का आरोप करके किया गया था। संस्कृत-शास्त्रों में राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। प्रारम्भ में अराजकता को रोकने के लिए 'राजा' में जितनी भी शक्तियाँ होती हैं उन सभी को एकत्रित किया गया और इस प्रकार राष्ट्र को बलवान बनाकर मानव के हित की भावना को जन्म मिला। भारत के एकतन्त्र शासन का क्या प्राचीनतम रूप है उसकी कल्पना हम 'राम-राज्य' में कर सकते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था थी ही नहीं। सिकन्दर महान् के आक्रमण-काल में वैशाली प्रजातन्त्र-राज्य था जिसमें राज-पुत्रों का निर्वाचन होता था। इसके अतिरिक्त हिन्दू-शास्त्रों के विधानों के अनुसार प्राचीनतम राज्य-व्यवस्था एकतन्त्र रूप में अवश्य मिलती है परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नहीं होते थे और यदि राजा स्वेच्छाचारी हो जाता था तो प्रजा को अधिकार होता था कि उसे उसके पद से च्युत कर सके।

वर्तमान युग में एकतन्त्र का अर्थ समझा जाता है स्वेच्छाचारी एकतन्त्र सत्ता अर्थात् डिक्टेटरशिप, और प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा के मत पर अवलम्बित राज्य-सत्ता। ये दोनों ही विचारधाराएँ वर्तमान युग की हैं और इनका उदय भारत से न होकर यूरोप से हुआ है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि संसार में सदैव ही शक्ति के लिए संघर्ष बना रहा है। यूरोप में एक काल तक धार्मिक पादरियों और सामन्तों के बीच संघर्ष चलता रहा। यूरोप में धर्म-शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास हुआ और अपने-अपने देश, अपने-अपने राजे शक्तिशाली बने। धर्म-भावना के

पश्चात् साम्राज्यवाद की भावना ने बल पकड़ा और बलशाली राजाओं ने अपने यश और गौरव के लिए अन्य देशों पर आक्रमण के लिए और अपनी निरंकुश शक्ति के बल से अन्य देशों की मानवता को पैरों-तले रौंद डाला।

शक्ति और माया कभी स्थायी नहीं रह सकते। जिस प्रकार पोप के करों से यह शक्ति राजाओं पर आकर प्रजा के दलन का साधन बनी उसी प्रकार प्रजा में भी इस शक्ति के अपहरण की भावना उत्पन्न हुई। क्रोमवेल-जैसे नेताओं ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह के झंडे ऊँचे किये। रक्त की सरिताएँ प्रवाहित हो चलीं और जनता के नेताओं ने, एक दिन वह आया कि इस शक्ति को राजाओं के हाथों से छीन लिया। इस काल में यूरोप ही नहीं एशिया तक भी दो पक्षों में विभक्त हो गये, एक प्रजातन्त्रवादी और दूसरा एकतन्त्रवादी। प्रजातन्त्र के नाम पर दो महायुद्ध हो चुके हैं। कैसर हो, हिटलर हो, तोजो हो या मुसोलिनी, सबने शक्ति-अपहरण का ही प्रयत्न किया है। विजय आज तक प्रजातन्त्र की ही होती आ रही है। जनता की स्वतन्त्र-प्रियता की प्रबल इच्छा को दबाना स्वेच्छाचारी एकतन्त्रवादियों के लिए सम्भव नहीं हो सका है।

प्रजातन्त्र में शासन-शक्ति का संचालन प्रजा के चुने हुए व्यक्तियों द्वारा होता है। इसका जन्म इंगलैण्ड से हुआ और धीरे धीरे संसार भर में फैलता गया। इब्राहीम लिंकन ने इस शासन-व्यवस्था को "Government of the people, by the people, and for the Peopele" कहा है "अर्थात् जनता का शासन, जनता द्वारा शासित और जनता के लिए शासित"। यह शासन नरेशों और तानाशाही के विपरीत विद्रोह था, क्रांति थी। भारत के आर्य-काल में, यूनान में एथेन्स (Athens) का और स्पार्टा (Sparta) के प्राचीनतम राजतन्त्रों में प्रजातन्त्र का प्रारम्भिक रूप मिलता है। इसका कुछ आभास हम ऊपर भी दे चुके हैं परन्तु उस काल में पार्लियामेंट का तो नाम-मात्र भी नहीं था। यह इंगलैण्ड की अपनी प्रणाली है जो वहाँ के इतिहास में किसी-न-किसी रूप में राज्य-शक्ति के ऊपर अंकुश के रूप में बनी हुई थी। स्टुअर्ट काल में (Divine right of kingship) राजा के दैवी अधिकार के विरुद्ध क्रामवैल का सफल विद्रोह हुआ।

क्रामवैल के विद्रोह से राज्यसत्ता का तो ह्रास हुआ परन्तु क्रामवैल 'डिक्टेटर' का जन्म हो गया। इस प्रकार हम क्रामवैल को संसार के इतिहास में सर्वप्रथम डिक्टेटर मानते हैं। इसके पश्चात् जागृति (Renaissance) का युग आया और जनता प्रगति की ओर बढ़ी। इंगलैण्ड की पार्लियामेंट में ह्विग और टोरी दो दल बने जिन्होंने प्रजातन्त्र के विचार को और बल दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में पार्लियामेंट में सुधारों की माँग की गई और जेबी हल्के (Pocket boroughs) शाही हल्के (King boroughs) तथा उजड़े हुए हल्के (Rotten boroughs) के विरुद्ध एक जोरदार आवाज उठाई। सन् १८३२, १८६८, १८७२, १८८४, १९११ और १९१८ में अनेकों सुधार हुए जिनके फलस्वरूप स्त्रियों को भी मत देने का अधि-

कार मिल गया। अन्त में पालियामेंट में लेबर कंजरवेटिव पार्टी का जन्म हुआ और प्रजातन्त्र धीरे-धीरे अपनी वर्तमान परिस्थिति तक पहुँच गया।

प्रजातन्त्र का प्रसार धीरे-धीरे विश्व भर में होना प्रारम्भ हो गया। अमेरिका, फ्रांस और आज भारत में भी प्रजातन्त्र शासन है। चीन का प्रजातन्त्र समाप्त हो चुका। प्रजातन्त्र में लोकसभा की बहुमत पार्टी का नेता प्रधान मन्त्री होता है और वही अपना मन्त्रिमण्डल बना कर शासन-व्यवस्था करता है। इंगलैण्ड में नरेश अभी तक वर्तमान है परन्तु भारत और अमेरिका में नरेश नहीं हैं। उनके स्थान पर प्रेज़ीडेण्ट होता है। यदि किसी समय अल्पमत वाली पार्टी का नेता बहुमत में आ जाय तो बहुमत वाली सरकार के विरुद्ध अविश्वास (Vote of nonconfidence) का प्रस्ताव रख सकता है। अंग्रेजी लोक-सभा में छोटे पिट (The younger Pitt) के कहने पर नरेश को ऐसा करना पड़ा था। इस प्रकार के शासन में शक्ति सर्वदा जनता के हाथों में रहती है। वह जब चाहे तब किसी भी पार्टी को शासन-सत्ता सौंप सकती है और जब चाहे उसे ले सकती है। उसी पार्टी को अपना मत देकर अधिक-से-अधिक संख्या में उसके सदस्य निर्वाचित करके लोक-सभा में भेज देती है। इससे बहुमत पार्टी को हर समय जनता का ध्यान रखकर कार्य करना होता है। प्रजातन्त्र-शासन-व्यवस्था में धनी और निर्धन, स्त्री और पुरुष पर वयस्क व्यक्ति को मताधिकार होता है। नागरिकता के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। इस शासन-व्यवस्था में अदालतों को स्वतन्त्र रखा जाता है। उनको सरकारी प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयत्न किया जाता है।

आज संसार में एकतन्त्र-शासन की प्रधानता नहीं है। गत महायुद्ध से पूर्व एकतन्त्र और प्रजातन्त्र शासन संसार में समान स्थान रखते थे। जापान, इटली तथा जर्मनी में एकतन्त्र सत्ता थी और इंगलैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि में प्रजातन्त्र सत्ता। गत महायुद्ध ने एकतन्त्रवाद को बहुत-कुछ अंशों में समाप्त-सा ही कर दिया। आज के युग में प्रजातन्त्र और कम्यूनिज्म का बोलबाला है। समस्त संसार दो दलों में विभाजित है। संसार की प्रधान शक्तियों ने दो अखाड़े लगाये हुए हैं। आपस में खुल कर मुठभेड़ करने का अवसर अभी तक नहीं आया है परन्तु कोरिया का युद्ध-क्षेत्र इन्हीं दो शक्तियों का पारस्परिक शक्ति-संतुलन है। समस्या वास्तव में कोरिया की नहीं है, समस्या है अमेरिका और रूस की। प्रजातन्त्रवाद में आज दो पृथक्-पृथक् वर्ग हैं, एक पूँजीवादी वर्ग और दूसरा मध्य वर्ग। भारत को हम पूँजीवादी देशों में नहीं गिन सकते। भारत की दशा इस समय बहुत विचित्र है। काँग्रेस सरकार के आचरण पूँजीवादियों-जैसे हैं। परन्तु यह प्रदर्शित नहीं करना चाहती। भारत में कम्यूनिज्म, साम्यवाद और हिन्दू-मुसलमानियत की समस्याएँ आज वर्तमान हैं। ऐसी परिस्थिति में भारत प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था को चला रहा है। अब देखना यह है कि यदि इस युग में कोई दूसरा महायुद्ध हुआ तो उसमें विजय किसकी होगी? महायुद्ध की सम्भावना कम नहीं है। संसार पर आज भी महायुद्ध के बादल चारों

ओर से घिरे हुए हैं। प्रजातन्त्र का भविष्य क्या होगा इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसकी प्रगति में एक ऐसी व्यवस्था अवश्य है जिसका एकदम अन्त हो जाना सम्भव नहीं है। कोरिया-युद्ध विश्वव्यापी युद्ध में बदल सकता है।

संक्षिप्त

१. प्रस्तावना।

२. एकतन्त्र और प्रजातन्त्र का उदय, प्राचीन भारत, यूनान और स्पार्टा में प्रजातन्त्र का प्राचीनतम रूप।

३. वर्तमान प्रजातन्त्र का इंग्लैंड से प्रारम्भ और उसका विकास।

४. आज संसार में एकतन्त्र और प्रजातन्त्र का स्थान।

५. गत महायुद्ध के पश्चात् प्रजातन्त्र के सम्मुख कम्यूनिज्म की नई समस्या।

६. प्रजातन्त्र का भविष्य।

गांधीवाद और साम्यवाद

३०४. आज का युग वादों का युग है, जिसमें गांधीवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, पूंजीवाद, कम्यूनिज्मवाद, एकतंत्रवाद इत्यादि धाराओं में संसार की शासन-व्यवस्थाएं चल रही है। जिस प्रकार संसार के प्राचीन इतिहास में धार्मिक संघर्षों के कारण मानव सुख-चैन से नहीं सो सकता था और मध्ययुग में साम्राज्यवादियों की उथल-पुथल ने विश्व-शान्ति को संकट में डाल दिया था, उसी प्रकार आज के युग में भी वादों का संघर्ष चल रहा है। धर्म की व्यवस्था संघर्ष के लिए न होकर शांति के लिए हुई थी परन्तु परिणामस्वरूप कितना रक्तपात संसार में हुआ उन सबका उल्लेख करना यहाँ कठिन है। ठीक उसी प्रकार आज वह वाद भी अपने-अपने मूल में मानव-जीवन की शांति के ही उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति का सिद्धान्त लेकर चलने का प्रदर्शन करते है परन्तु उसका फल पारस्परिक विषमता, द्वेष, कलह और संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं दे रहा।

इन वादों का जन्म कुछ देश और कालों की परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ है। दो वाद न तो एक देश में पनपे ही हैं और यदि दो वादों ने एक देश में जन्म भी लिया है तो काल और परिस्थितियों का परिवर्तन होना अनिवार्य है। जब-जब इन वादों ने किसी देश में जन्म लिया है तो उस समय उनका जन्म किसी भी प्राचीन व्यवस्था में सुधार के रूप में ही हुआ है। यह वाद सुधारात्मक होने से उस देश के नेताओं ने यह समझ लिया कि बस क्योंकि उस वाद ने उनके देश की समस्याओं का हल निकाल दिया इसलिए वही वाद समस्त संसार की समस्याओं का हल है, उसी मार्ग पर चलकर संसार की शांति प्राप्त हो सकती है। बस, यहीं से शान्ति के स्थान पर संघर्ष की भावना का उदय होता है। आज संसार में जो कुछ भी संघर्षात्मक

वातावरण मिल रहा है वह केवल इसलिए कि दो वादों में पारस्परिक तनाव है और प्रत्येक वाद अपने को संसार भर की समस्याओं का हल समझता है। रूस कम्यूनिज्म को मानव-समाज के लिए हितकार समझकर संसार भर में प्रचारित और प्रसारित करना चाहता है और अंग्रेज तथा अमरीकन प्रजातन्त्रवाद को मानव-समाज की समस्याओं का हल समझते हैं।

भारत की परिस्थिति इन तीनों देशों से भिन्न रही है। अमरीका अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर हुआ और रूस को अपने ही जोर से संघर्ष लेना पड़ा, परन्तु भारत को विदेशी शासन से संघर्ष लेना था और उस संघर्ष में उसने जिस नीति को अपनाया जिसे आज के राजनीतिज्ञ गांधीवाद के नाम से पुकारते हैं। गांधीवाद में महात्मा गांधी के विचार और उनके सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है। गांधीवाद के मूल में अहिंसा की भावना मिलती है और इसी अहिंसा के आधार पर गांधी जी ने अपने वाद का निर्माण किया है। अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही महात्मा गांधी ने संसार की प्रबलतम शक्ति से टक्कर ली। वह राजनीति में मन, कर्म और वचन की अहिंसा का समावेश करना चाहते थे और यही उन्होंने जीवनभर किया। उनकी राजनीति में छल के लिए स्थान नहीं था, कूटनीति के लिए स्थान नहीं था। उनका मत था कि हिंसा मानव को कायरता की ओर ले जाती है और अहिंसा प्रबलता की ओर, आत्म-शक्ति की ओर। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य केवल अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

गांधीवाद का प्रधान गुण यह है कि वह बुराई करने वाले का शत्रु नहीं वह उस मूल बुराई का शत्रु है। पापों को पाप से मुक्त करके गांधीवाद उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। अंग्रेजों से संघर्ष लेते हुए भी अंग्रेज-जाति के प्रति महात्मा गांधी के मन में कभी कटुता नहीं आई। गांधीवाद में विश्व-प्रेम की भावना निहित है। अहिंसापूर्वक असहयोग करना ही गांधीवाद का प्रधान अस्त्र है। जिसके सम्मुख न तोप चल सकती है और न किसी प्रकार की शारीरिक और भौतिक शक्ति।

गांधीवाद में राजनैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का समन्वय मिलता है, बस यही इस वाद की विशेषता है। आज संसार में जितने भी वाद प्रचलित हैं वह आध्यात्मिक तत्त्व से मुक्त होकर कोरे राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके हैं। आत्मा से उनका सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल बाह्य संसार तक ही सीमित हो गया है। भगवान् से प्रेरित होकर आत्मा की शुद्धि करना गांधीवाद के लिए नितान्त आवश्यक है। गांधीवाद में साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान नहीं। इसी समस्या का हल करने में महात्मा गांधी ने अपने जीवन का बलिदान दे दिया।

गांधीवाद में घरेलू धंधों का पक्षपात और बड़ी-बड़ी कलों के प्रति उदासीनता मिलती है। गांधी जी का मत था कि मशीनें मानव को बेकारी की ओर घसीटती हैं। गांधी जी ने कहा भी है, "लाखों जीवित मशीनों को बेकार बनाकर निर्जीव मशीनें

का प्रयोग करना मानव-जाति के प्रति अनर्थ करना है ।" इसीलिए गांधी जी ने चर्खा संघ की स्थापना करके खद्दर को प्रोत्साहन दिया । गांधी जी हस्त-कला और ग्रामोन्नति के पक्षपाती थे । वह भारत की आर्थिक उन्नति के मूल में ग्रामोद्योग को मानते थे ।

गांधीवाद में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विपरीत भावना प्रबल रूप से मिलती है । गांधी जी पूँजीपतियों द्वारा भोग-विलास और जनता के धन का अपव्यय करना सहन नहीं कर सकते थे । इस प्रकार के आचरण को वह 'चोरी' कहते थे । गांधीवाद पूँजीवाद को मिटाना नहीं चाहता था परन्तु उनको केवल कोषाध्यक्ष के रूप में देखना चाहता था ।

शिक्षा के क्षेत्र में गांधीवाद के अन्तर्गत मौलिक शिक्षा (Basic Education) आती है । मौलिक शिक्षा द्वारा गांधी जी भारत से अविद्या और दरिद्रता को भगाना चाहते थे । साथ ही गांधीवाद में छूआ-छूत और पारस्परिक घृणा के लिए कहीं पर स्थान नहीं है । गांधी जी ने हरिजन आन्दोलन किया और उसके द्वारा हिन्दू-जाति को खण्ड-खण्ड होने से बचाया । गांधीवाद ने पाश्चात्य-सभ्यता का विरोध और भारतीय-सभ्यता के मूल में भारत और भारतीय समाज की मुक्ति का समावेश किया है । गांधीवाद में राजनीति, धर्म, समाज सभी कुछ आ जाते हैं । भारत के सभी क्षेत्रों पर गांधीवाद का प्रभाव हुआ है ।

साम्यवाद या मार्क्सवाद किसी-न-किसी रूप में आज संसार भर में फैला हुआ है । इटली, जर्मनी और जापान में इसका घोर विरोध हुआ परन्तु इसकी प्रगति को वह न रोक सके । साम्यवाद समाजवाद की तीव्र प्रगति का दूसरा नाम है । भारत में भी आज का इसका प्रभाव स्थान-स्थान पर दिखाई देता है । सम्भावना गांधीवाद में भी मिलती है, परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि गांधीवाद का मूल स्रोत अहिंसा से जन्म लेकर चलता है । और साम्यवाद में बोल्शेविज़्म और हिंसा को भी अपनाया जा सकता है । समाजवाद में शासक का कर्तव्य है कि राष्ट्र की सम्पत्ति का सम विभाजन करे और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ काम पर लगाये । साम्यवाद में व्यक्ति का राष्ट्र में एकीभाव होना आवश्यक है । साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुकूल कार्य दिया जाता है । इस व्यवस्था में कोई निठल्ला नहीं बैठ सकता । राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के किसी भी व्यक्ति को भूखा, नंगा या किसी अभाव को अनुभव करता हुआ न देखे । कार्ल मार्क्स ने सर्वप्रथम पूँजीवादी के विरुद्ध इस वाद को जन्म दिया । मार्क्स ने संसार भर के श्रमजीवी समुदायों को संगठित करने का प्रयत्न किया । साम्यवाद पूँजीपतियों और निठल्लों का कट्टर शत्रु है और हड़ताल इसका प्रधान अस्त्र है । साम्यवाद के इस हड़ताल वाले प्रधान अस्त्र को कुछ अवसरों पर गांधीवाद ने भी अपनाया है और उससे गांधीवादी आन्दोलनों को बल भी मिलता है । भारत में साम्यवादी नेताओं ने गांधीवाद अस्त्रों को भी अपनाया है और उसके द्वारा अपने आन्दोलनों में बल प्राप्त किया है । इस वाद का प्रधान प्रचार संसार में

लेनिन और ट्राटस्की द्वारा किया गया। पूँजीपति सत्ताओं ने इस शक्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह इसे रोकने में बराबर असफल रही हैं और वही संघर्ष आज भी चल रहा है। साम्यवाद की समस्या मानव-जीवन के मूल में निहित है इसलिए इसका हल इतनी सुगमता से नहीं हो सकता। यूरोप में रूस के अतिरिक्त अन्य देशों में साम्यवाद का प्रचार हुआ। प्रारम्भ में इटली में मुसोलिनी और चीन में च्यांगकाई शेक ने इसे कुचल दिया परन्तु आज चीन में साम्यवाद का आधिपत्य है। फ्रांस में १९३९ के महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद का लीडर मानशरब्लम एक बार वहाँ का शासक बन गया।

कुछ व्यक्ति साम्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मत है कि साम्यवाद के मूल में ईर्ष्या और द्वेष की भावना निहित है। प्रतिशोध लेने के लिए यह पागल मनोवृत्ति से काम लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद श्रेणी-युद्ध को जन्म देकर मानव-संघर्ष की ओर अग्रसर करता है। गांधीवाद संघर्ष से मानव को खींचकर शान्ति की ओर ले जाता है, तृप्ति की ओर ले जाता है और साम्यवाद मानव में आवश्यकताओं का उदय करके उसे संघर्षमूलक बनाता है। साम्यवाद मानव की और स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के मार्ग में बाधक बन जाता है। मानव मानव न रहकर एक मशीन का पुर्जा बन जाता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता का सर्वनाश करके रोटी और कपड़े के ही चक्कर में फँस जाता है। वहाँ आत्मा निष्ठुर हो जाती है, मस्तिष्क स्वार्थी हो जाता है और बल द्वारा अपहरण की भावना से प्रेरित होकर मानव युद्ध और संघर्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। साम्यवाद की भावना अपने पूर्ण विकास पर पहुँचकर एकतंत्रवाद का ही दूसरा रूप बन जाती है। इस प्रकार गांधीवाद और साम्यवाद के मूल तत्वों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यहाँ दोनों के मूल तत्वों का स्पष्टीकरण हमने इसलिए किया है कि विद्यार्थी दोनों को न समझ कर एकता की भावना का कभी-कभी समावेश दोनों में करने लगते हैं। गांधीवाद बुद्धि-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष का सामंजस्य करके चलता है और साम्यवाद कोरा बुद्धि-पक्ष वादी है। गांधीवाद में प्राचीन के प्रति सद्भावना, सहानुभूति और सम्मान है तथा साम्यवाद में प्राचीनता के प्रति घृणा, असम्मान और उपेक्षा है। साम्यवादी कलवादी है और गांधीवाद मानववादी; बस यही दोनों का मूल अन्तर है। आने वाले भविष्य में जनता की रुचि साम्यवाद की ओर है, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद कहाँ तक उसकी समस्याओं का हल निकाल सकता है यह प्रश्न विचारणीय है। पराधीनता के गहन गर्त से भारत को उभारकर जो वाद वर्तमान परिस्थिति तक लाया है वही भारत की समस्याओं का सही हल खोज सकता है क्योंकि भारत-राष्ट्र की गिरावटों के मूल तत्त्वों को उसी ने भली प्रकार अध्ययन किया और समझा है।

संक्षिप्त

१. प्रस्तावना—भारत में गांधीवाद और साम्यवाद।

२. गांधीवाद का धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में महत्त्व।
३. साम्यवाद का जन्म और प्रसार।
४. उपसंहार—गांधीवाद और साम्यवाद का तुलनात्मक दृष्टिकोण।

भारत की वर्तमान शासन-व्यवस्था

३०५. भारत की वर्तमान शासन-पद्धति का प्राचीनतम रूप हमें सन् १६१६ के शासन-विधान से प्राप्त होता है। इस शासन-विधान के अनुसार भारत को प्रान्तों में विभाजित करके प्रत्येक प्रान्त का प्रधान अधिकारी लेफ्टिनेंट गवर्नर हुआ और गवर्नर-जनरल को वायसराय की उपाधि मिली। इसी समय प्रान्तों में कौंसिलों की स्थापना प्रजा के चुने हुए मैम्बरों द्वारा हुई, जो केवल देश की अन्दरूनी समस्याओं पर प्रश्नोत्तर कर सकते थे। इस समय तक बर्मा भारत के अन्तर्गत था। सन् १६३५ के शासन विधान में बर्मा भारत से पृथक् हो गया। भारत ११ गवर्नरी प्रान्त तथा ६ कमिश्नरी प्रान्तों में विभक्त हो गया। इनके अतिरिक्त देशी राज्यों में राजे अपना निरंकुश राज्य करते थे और उन पर विदेशी-नीति के अतिरिक्त और कोई अंकुश नहीं था। १५ अगस्त, १६४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और सिन्ध, सीमाप्रान्त और बिलोचिस्तान का कमिश्नरी प्रान्त पाकिस्तान में चला गया।

केन्द्र—आज भारत का विधान तैयार हो चुका है। जनता के चुने हुए मैम्बरों द्वारा स्थापित विधान-सभा ने इस विधान को तैयार किया है। इसी विधान के अनुसार अब भारत को भविष्य में चलना है। भारत एक बहुत बड़ा देश है। यूरोप के कई-कई राष्ट्रों के बराबर इसका एक-एक प्रान्त है। केन्द्र से ही समस्त भारत की शासन-व्यवस्था सँभालना कठिन है। इसलिए प्रान्तों का होना नितान्त आवश्यक है। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् रियासतों की समस्या का बहुत कुछ हल सरदार पटेल ने कर दिया। आज भारत में निरंकुश शासन-व्यवस्था के राष्ट्रपति के रूप में बाबू राजेन्द्र प्रसाद हैं। यह केन्द्र की सरकार के प्रधान हैं और केन्द्रीय सभा तथा मन्त्रिमण्डल की सहायता से भारत का शासन-दण्ड सँभाल रहे हैं। प्रान्त और रियासतें सभी उनके नियन्त्रणाधीन हैं। सेना-कार्य का संचालन करने के लिए उनके पास कमाण्डर-इन-चीफ श्री राजेन्द्रसिंह हैं। यह भारत की सेना के प्रधानाधिकारी हैं। केन्द्र का खर्चा चलाने के लिए सेना का संचालन करने और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए केन्द्र के पास इनकमटैक्स, नमक, मुद्रा, विदेश, व्यापार, आयात-निर्यात, डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार, रेडियो, समुद्र-तट इत्यादि हैं जिनकी आय से कार्य-संचालन होता है।

प्रान्तीय शासन—प्रान्तीय शासन में केन्द्र का प्रतिनिधि प्रान्त का गवर्नर होता है जो प्रान्त का कार्य-संचालन प्रान्तीय असेम्बली तथा उसकी बहुमत वाली पार्टी के चुने हुए मन्त्रिमण्डल की सहायता से करता है। गवर्नर ६ मास तक आर्डिनेन्स की सहायता से भी किसी कठिन परिस्थिति में शासन कर सकता है। प्रत्येक प्रान्त कमि-

-श्नरी में विभक्त है। इन कमिश्नरियों का अधिकारी कमिश्नर होता है। यह कमिश्नर प्रान्तीय गवर्नर तथा कमिश्नर स्वयं ही होता है। ऐसे प्रान्तों का कलक्टर डिप्टी कमिश्नर कहलाता है। प्रान्त की सुरक्षा अर्थात् पुलिस-विभाग प्रान्तीय सरकारों के आधीन रहता है। इसके संचालन के लिए भूमि-कर इत्यादि भी प्रान्तीय सरकारें ही लगाती हैं। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार से भी इन्हें सहायता मिलती है। प्रान्त को सम्पन्न बनाने का सब भार गवर्नर और वहां की लोक-सभा पर रहता है और यह दोनों अपने यहाँ होने वाली त्रुटियों के केन्द्र के सम्मुख उत्तरदायी रहते हैं।

कमिश्नरी—कमिश्नरी का शासन कमिश्नर के आधीन रहता है और वह गवर्नर के आधीन रहकर अपनी कमिश्नरी की शासन-व्यवस्था को सँभालता है। कमिश्नर अपनी कमिश्नरी का प्रधान उत्तरदायी है और वहाँ की सब विशेष घटनाओं से उसे परिचित रहना पड़ता है। शान्ति, सुरक्षा, सम्पन्नता इत्यादि सभी समस्याओं पर उसे ध्यान देना होता है। वह अपने सहकारियों की सहायता से राज्य-कार्य का सचालन करता है। उसकी कमिश्नरी में रहने वाली जनता में कोई उपद्रव न हो, चोरी डकैती न हो, अकाल न पड़े, व्यापार उन्नति करे, कला की उन्नति हो, शिक्षा में वृद्धि हो, आयात-निर्यात की कठिनाइयाँ न आवें, केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध गलत अफवाहें न फैलें, मानव की स्वतन्त्रता समाज के विचार से पनपे, इन समस्याओं को ध्यान देना होता है। कमिश्नर का कार्य बहुत विस्तृत होता है। वह अपने कार्य का संचालन कलक्टरों की सहायता से संचालित करता है। एक-दो प्रान्त तीन-चार कमिश्नरी वाले हैं और कुछ प्रान्तों में छः कमिश्नरी भी हैं।

कलक्टर—कलक्टर अपने जिले का सबसे बड़ा अधिकारी होता है। एक गवंनर का प्रान्त में और एक कमिश्नर का कमिश्नरों में जो स्थान है बस वही स्थान एक कलक्टर का अपने जिले में है। वह शासन-व्यवस्था को अपने अधिकारियों द्वारा सँभालता है। कलक्टर से नीचे पुलिस-विभाग के अतिरिक्त डिप्टी कलेक्टर होते हैं, जो एक-एक तहसील के प्रधान अधिकारी होते हैं। यह डिप्टी कलेक्टर भी अपनी-अपनी तहसील में वही स्थान रखते हैं जो कलक्टर का जिले में होता है। लगभग पाँच-छः तहसीलों का जिला और सौ-सौ गाँवों की एक तहसील होती है। जिलों का लगान एकत्रित करना और जिले के सहकारी कोष का निरीक्षण करना कलक्टर के ही आधीन है। कलक्टर प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है और फौजदारी के मुकदमे भी देखता है। दीवानी के मुकदमों की देख-रेख के लिए जज होते हैं जो किसी भी प्रकार कलक्टर के आधीन नहीं होते। उसका कार्य-क्षेत्र न्याय है और प्रजातन्त्र शासन में उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। जिले की पुलिस कलक्टर के आधीन रहती है।

तहसील—तहसील जिले का एक भाग है जिसके अन्दर लगभग १०० गाँव रहते हैं। इसका प्रधान अधिकारी डिप्टी कलेक्टर होता है और माल के मामलात का प्रबन्ध करने के लिए तहसीलदार नियुक्त होते हैं। तहसीलदार अपनी तहसीलों का कार्य कानून और पटवारियों की सहायता से सँभालते हैं। इस प्रकार माल से सम्बन्ध

रखने वाला भारत सरकार का छोटे से छोटा यन्त्र चौकीदार है जिसका सम्बन्ध इलाके के पुलिस स्टेशन से रहता है। गाँव में रात को पहरा देना और यदि कोई उपद्रव हो जाय तो उसकी सूचना पुलिस के थाने तक पहुंचाना उसका काम है, वह गाँव में मरने और पैदा होने का भी ब्यौरा रखता है और यदि गाँव में कोई उपद्रव की सम्भावना होती है तो उसकी भी सूचना पुलिस थाने तक पहुँचाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत के शासन को चलाने के लिए सब से छोटे यूनिट चौकीदार और पटवारी ठहरते हैं जिनका सम्बन्ध सुरक्षा और माल से है। इन्हीं के आधार पर तहसील का कार्य-संचालन होता है। तहसील परगनों में विभाजित रहती है और गांवों में। शहरों का शासन सँभालने के लिए म्यूनिसिपल कमेटियाँ हैं जो प्रबन्ध को छोड़कर अन्य सभी शहर की कार्य-व्यवस्थाओं पर ध्यान रखती हैं। इस प्रकार राष्ट्र का शासन संचालित होता है।

संक्षिप्त

१. केन्द्र की शासन-व्यवस्था और भारत का प्रान्तों में विभाजन।
२. प्रान्तों की शासन-व्यवस्था और प्रान्त का कमिश्नरियों में विभाजन।
३. कमिश्नरियों की शासन-व्यवस्था और उनका ज़िलों में विभाजन।
४. ज़िले का तहसीलों, परगनों और गांवों में विभाजन।

काँग्रेस का इतिहास और उसका भविष्य

३०३. काँग्रेस के जन्मदाता मि० ह्यूम साहब ने २८ दिसम्बर सन् १८८५ को बम्बई में काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन किया। श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी अधिवेशन के प्रधान थे। अधिवेशन में पास हुआ कि काँग्रेस को (१) देश-हितैषी नेताओं में प्रेम-भाव बढ़ाना, (२) देश को जातिगत, वंश-गत, धर्म-गत और प्रान्त-गत भेद-भावों से मुक्त करना, (३) महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर मत-संग्रह करना, (४) देश-हित की बातें सोचना और देश में राष्ट्रीयता की भावना भरना—इन समस्याओं पर विचार करके कार्य करना चाहिए कांग्रेस के २८ दिसम्बर सन् १८८६ के दूसरे अधिवेशन का सभापतित्व दादा भाई नौरोजी ने किया। इस अधिवेशन में ८८० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। फिर काँग्रेस का विकास इतनी तीव्र गति से हुआ कि अंग्रेजी सरकार को भी इस संस्था से चिन्ता होने लगी। १८९२ में पार्लियामेण्ट में नया इंडिया-कौंसिल-एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार व्यवस्थापिका सभा में जनता के प्रतिनिधि भी आने लगे।

लार्ड कर्जन के दमन-नीति-काल में काँग्रेस का कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ा। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ। जनता की बढ़ती हुई उमंगों को ज्यों-ज्यों कुचला गया त्यों-त्यों जागृति की ज्वाला प्रबल होती गई। इसी समय बंगाल का विभाजन भी हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल में बहुत बड़ा असंतोष फैला और नवयुवकों ने मिलकर सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारी दलों की स्थापना की। अहमदाबाद में लार्ड मिण्टो पर

बम फैंका गया । सरकारी दमन-चक्र और भी तीव्र गति से चला । लोकमान्य तिलक को पकड़कर छः साल के लिए देश-निकाला दे दिया गया । युगान्तर और बन्देमातरम् के सम्पादकों को पकड़कर उन पर अभियोग चलाये गये । जहाँ एक ओर यह गर्म दल था वहाँ दूसरी ओर कांग्रेस के नर्म-दल के नेता सरकार के वैधानिक कार्य-क्रम में घुस चुके थे । नर्म-दल के नेताओं ने इंगलैंड जाकर भारत-मन्त्री मार्ले को भारत की वास्तविक दशा का ज्ञान कराया । इसके फलस्वरूप मिण्टो-मारले सुधार हुआ जिसके अनुसार (१) गवर्नर-जनरल की कौंसिल में शासन-सभा के सदस्यों के अतिरिक्त और ६० सदस्य रखे गये (२) पंजाब और बर्मा की कौंसिलों के सदस्यों की संख्या ३० निर्धारित हुई तथा अन्य प्रान्तों में ५० सदस्य रखे गये तथा (३) हर कौंसिल में सरकारी कर्मचारी, सरकारी सदस्य और निर्वाचित सदस्य थे । इस समय कांग्रेस गरम और नरम दो दलों में विभक्त थी । गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक और नरम दल के नेता दादाभाई नौरोजी थे । सर फ़ीरोजशाह मेहता ने इस समय दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाने का नारा लगाकर कांग्रेस को दो भागों में विभक्त कर देना चाहा परन्तु उन्हें सफलता न मिली । कुछ समय के लिए गरम दल के सदस्यों ने कांग्रेस से हाथ खेंच लिया ।

सूरत-कांग्रेस में आपसी मतभेद के कारण मिस्टर जिन्हा ने कांग्रेस को त्याग-कर मुसलमानों का मुस्लिम लीग के नाम से राजनैतिक संगठन किया । लीग का प्रधान उद्देश्य कांग्रेस का विरोध और मुसलमानों का संगठन करना था । इसी समय १९१४ का महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और कांग्रेस के नरम दल ने युद्ध सम्बन्धी कार्यों में सरकार को पयाप्त सहायता दी । १९१६ के कांग्रेस अधिवेशन में नरम और गरम दल मिल कर फिर एक हो गये और उन्होंने अपनी निम्नलिखित राजनैतिक माँगें सरकार के सामने रखीं — (१) प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाओं में अस्सी प्रतिशत सदस्यों की बढ़ोत्री की जाय, (२) प्रान्तीय कौंसिलों के प्रस्ताव शासकों को मान्य होने अनिवार्य हों, (३) शासन सभा के सब सदस्य भारतीय होने चाहिएँ और (४) हिन्दू और मुसलमानों का निर्वाचन पृथक्-पृथक् हो ।

इसी समय लोकमान्य तिलक ने होम-रूल लीग को स्थापित करके औपनि-वेशिक स्वतन्त्रता के एक नवीन आन्दोलन को जन्म दिया । एनीबेसेन्ट के 'न्यू इण्डिया' और तिलक जी के 'केसरी' पत्र से बड़ी-बड़ी जमानतें माँगकर सरकार ने आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया और साथ ही अंग्रेजी मन्त्रिमण्डल ने सम्राट् की ओर से भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित कराने की घोषणा की जिसके फलस्वरूप आन्दोलन कुछ हल्का पड़ गया । भारत मंत्री माण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने एक सुधार-योजना तैयार की; परन्तु ज्योंही युद्ध समाप्त हुआ त्योंही माण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड-सुधार की स्कीम भी समाप्त हो गई । सुधार न होने के साथ ही रौलट एक्ट भारत में लागू हुआ जिसके द्वारा क्रान्तिकारियों को नितान्त निर्दयता के साथ कुचलने का सरकार ने निर्णय किया ।

रौलट एक्ट के विरुद्ध सर्वप्रथम ६ अप्रैल सन् १६१६ को दिल्ली में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह की घोषणा की जिसके फलस्वरूप जलूसों पर गोलियां चलीं और पंजाब में डाक्टर किचलू और डा० सत्यपाल को पकड़ लिया गया और जलियाँवाले बाग में गोलीकाण्ड हुआ। इन काण्डों में खिलाफत की ज्वाला दबने के स्थान पर और भी प्रबल रूप धारण कर गई। भारत की जनता ने हृदय में अंग्रेजी राज्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। लोकमान्य तिलक की असहयोग-भावना को महात्मा गांधी ने जनता में व्यापक बना दिया। कौंसिलों और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह असहयोग अहिंसात्मक था। सरकार इसमें घबरा उठी और उसने पकड़-धकड़ प्रारम्भ कर दी। गांधी जी अहिंसा पर दृढ़ रहना चाहते थे परन्तु धीरे-धीरे आन्दोलन में हिंसा ने जन्म लिया और उसके कारण महात्मा गांधी ने अपना आन्दोलन वापिस ले लिया। आन्दोलन स्थापित होते ही सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहन दिया और वह देश-व्यापक बन गये। इसी समय प्रिंस ऑफ़ वेल्स भारत आये जिनका स्वागत स्थान-स्थान पर हड़तालों द्वारा किया गया। इस पर सरकर ने महात्मा गांधी को जेल भेज दिया।

इसके पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में कांग्रेस का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। कांग्रेस ने इस अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। २६ जनवरी, १६३०, को समस्त भारत में स्वाधीनता-दिवस मनाया गया। इसी समय साइमन-कमीशन भारत आया जिसका स्वागत बाइकाट द्वारा हुआ और महात्मा गांधी ने अपना नवीन आन्दोलन छेड़ दिया। कांग्रेस सदस्यों ने कौंसिल से इस्तीफ़े दे दिये। यह आन्दोलन नमक-कानून को लक्ष्य करके प्रारम्भ हुआ। १२ मार्च को ७६ साथियों के साथ महात्मा गांधी डाँडी की ओर बढ़ गये। यह आन्दोलन देश-व्यापक हुआ और समस्त भारत से नमक-कानून को तोड़ा गया। सरकार ने अपनी पूर्ण दमन-नीति से काम लिया, परन्तु आन्दोलन न दब सका। लाखों भारतीय जेलों में ठूँस दिये गये। परन्तु जेल जाने वालों की संख्या न घटी। महात्मा गांधी, जवाहरलाल, मोतीलाल और देश के अन्य नेता पकड़ लिये गये। इसके पश्चात् गांधी-इर्विन पैक्ट हुआ, जिसके अनुसार सब राजनैतिक कैदी मुक्त कर दिये गये। कांग्रेस के इतिहास में यह आन्दोलन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इर्विन के पश्चात् विलिंगडन ने कांग्रेस को गैरक़ानूनी संस्था घोषित कर दिया परन्तु कांग्रेस के अधिवेशन उस काल में भी दिल्ली और कलकत्ते में हुए जिनके सभापति सेठ रणछोड़ दास और श्रीमती नेलीसेन गुप्ता थीं। इसके पश्चात् सरकार ने हिन्दुओं की शक्ति कम करने के लिए हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् करना चाहा परन्तु महात्मा गांधी ने इसके विरोध में २८ सितम्बर सन् १६३२ को आमरण उपवास किया। मालवीय जी सर तेजबहादुर सप्रू भारत मन्त्री रैमजे से मिले और उन्होंने प्रयत्न करके सरकार की इस विभाजन-नीति को रद्द कराया। महात्मा गांधी ने उपवास समाप्त करके हरिजन आन्दोलन प्रारम्भ किया और भारत के कोने-कोने

में इस आवाज को पहुँचाया।

१९३५ में कांग्रेस ने असेम्बलियों के चुनाव में भाग लिया और बहुमत के साथ असेम्बलियों में पहुँचे। कांग्रेसियों की दैनिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की माँग सरकार द्वारा न माने जाने पर बहुमत होने पर भी कांग्रेसी सदस्यों ने पद ग्रहण नहीं किये। इसके पश्चात् लखनऊ, फैजपुर और त्रिपुरी के अधिवेशन हुए। त्रिपुरी में सुभाषचन्द्र बोस को महात्मा गांधी का विरोध होने के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। इसी समय कांग्रेस में सुभाष बाबू ने फार्वर्ड ब्लाक की स्थापना की। किसानों और मजदूर-वर्ग को साथ लेकर चलना इस ब्लाक का मूल उद्देश्य था।

इसी समय यूरोपीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध-सम्बन्धी सरकार की नीति में सहायता देने में मतभेद होने पर काँग्रेसी सदस्यों ने असेम्बलियों से स्तीफे दे दिये। रामगढ़ में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ और यह प्रस्ताव रखा गया कि यदि सरकार पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दे तो कांग्रेस सहायता करने के लिए उद्यत हो सकती है। क्रिप्स अपनी योजना भारत लाया परन्तु कोई समझौता न हो सका। महात्मा जी ने खुले शब्दों में 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया। बम्बई-अधिवेशन में यही नारा प्रस्तावित हुआ और सर्वसम्मति से पास हो गया। 'करो या मरो' का मन्त्र भारत की जनता में महात्मा गांधी ने फूँक दिया। सरकार ने अपना दमन-चक्र सँभाला और भारत के सब नेता बन्द कर दिये गये। ९ अगस्त को यह समाचार भारत की जनता में फैलना था कि एक देश-व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। सरकार इस आन्दोलन का सामना न कर सकी। सुभाष बाबू सरकार की आँखों में धूल झोंककर भारत से बाहर निकल गये और उन्होंने विदेशों के स्वतन्त्र वायुमंडल में जयहिन्द का नारा लगाकर सैनिक-संगठन किया।

युद्ध समाप्त होने पर जब नेताओं को छोड़ा गया तब देश में एक बार फिर से वही ताजगी आ गई जो उनके जेल जाने के समय थी। सरकार और नेताओं में फिर बात-चीत प्रारम्भ हो गई और अन्त में दो दिसम्बर का वह समय आ गया जब भारत ने अपनी शताब्दियों की खोई हुई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त कर लिया। पं० जवाहरलाल भारत के प्रधान मन्त्री बने।

आज भारत का शासन-प्रबन्ध काँग्रेस के हाथों में है। जब से काँग्रेस ने शासन सँभाला है उस समय से काँग्रेस का सम्पर्क जनता से समाप्त होता जा रहा है, काँग्रेस की प्रजातन्त्रात्मक प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है और यही कारण है कि जनता के हृदय से उसके प्रति सद्भावना की समाप्ति होती जा रही है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो जिस अव्यवस्थित परिस्थिति में उसने शासन-व्यवस्था सँभाली उसे ठीक करने में समय लगता है, दूसरे सरकार ने अपने को इतनी विविध दिशाओं में फँसा लिया है कि उनका हल करना उसके लिए कठिन हो रहा है। भारत की प्रधान समस्याओं का हल करने में वह असफल सिद्ध हो चुकी है और भारत में महँगाई, चोरबाजारी, अन्न की कमी, बेरोजगारी, यह दिन-प्रति-दिन घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है। शरणार्थियों

को बसाने की समस्या का भी अभी तक कोई हल नहीं हो सका है। घूसखोरी और रिश्वत का बाजार गर्म है और सरकारी महकमों के कार्यकर्त्ताओं पर से सरकार का भय उठ चुका है। शासन की कार्यवाही ऐसे वातावरण में चल रही है कि उसमें नियन्त्रण का अभाव है। काँग्रेस आज अपने नेताओं के कारण जीवित है, संस्था के कारण नहीं। बस, इसी से काँग्रेस के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। कांग्रेस की वर्तमान परिस्थिति भी उसी समय तक रह सकती है जब तक दूसरी कोई राजनैतिक संस्था बलवती नहीं हो जाती। काँग्रेस के अतिरिक्त जनसंघ, सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टियाँ हैं। कुछ प्रान्तों में कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रभाव है और हो सकता है कि आगामी चुनावों में काँग्रेस सरकार को वहाँ मुँह की खानी पड़े। पंजाब में भी सरकार के विरुद्ध जनता के हृदय में पर्याप्त क्षोभ है और इसलिए आगामी चुनाव में वहाँ भी सरकार को करारी टक्कर लेनी होगी। कांग्रेस का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कांग्रेस आज अंग्रेजी शासन-काल की अमन-सभा के ही समान होगई है। आज कांग्रेस का मेम्बर बनना कोई भय की वस्तु नहीं है इसलिए स्वार्थी लोग उसमें घुस गए हैं। जन-सेवा की भावना का उसमें लोप होकर अधिकार की भावना भर गई है। आज कांग्रेस समाज और आन्दोलन के नाते भी असफल है और सरकार के नाते भी। आज आवश्यकता इस बात की है कि कांग्रेस के नेता अधिकार की बात छोड़कर जनता में घुस जायें और जनता की दैनिक कठिनाइयों को समझकर उनके हल निकालने का प्रयत्न करें। आज उनके हाथ में सत्ता है और सत्ता के रहते हुए भी यदि वह जनता को अपना न सके तो उनका और कांग्रेस का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही है। हमें भय है कि कहीं चीन जैसी दशा भारत की न हो।

इन असफलताओं के साथ-हा-साथ काँग्रेस सरकार कुछ दिशाओं में सफल भी है और उन दिशाओं में उसने वह कार्य किया है जो पुरानी व्यवस्थित सरकारें भी करने में सफल नहीं हो पाईं। भारत की रियासतों का जो हल कांग्रेस-सरकार ने निकाला वह अंग्रेजी सरकार भी नहीं निकाल सकी। साथ ही भारत अपनी विदेशी-नीति में पूर्ण रूप से सफल है। पूर्ण सम्मान के साथ भारत ने संसार की राजनीति में अपना स्थान सुदृढ़ कर लिया है और आज वह समय आ गया है कि जब संसार की राजनीति भारत को भुलाकर नहीं चल सकती।

संक्षिप्त

१. काँग्रेस का प्रारम्भ और उसके प्रधान उद्देश्य।
२. महात्मा गांधी का नेतृत्व।
३. अन्तिम महायुद्ध और भारत की स्वतन्त्रता।
४. काँग्रेस का राज्य-सत्ता सँभालना।
५. उपसंहार—काँग्रेस का भविष्य।

जमींदारी देश का अभिशाप है

६०७. शासन-व्यवस्था की सुगमता, निरंकुशता और एकतन्त्रता का नाम

जमींदारी है। जमींदारी न केवल भारत बल्कि संसार के अन्य देशों में भी बहुत प्राचीन काल से चली आती है। प्रारम्भ में जब सभी देशों में शासन-व्यवस्था का ढाँचा बाँधा गया तो चक्रवर्ती राजा, राजा और उनके नीचे ज़मींदार होते थे। इनके अतिरिक्त अन्य सब जाति वाले रियाया कहलाते थे। उस काल में पुँजी जिसे आज अर्थ-शास्त्र में (Capital) कहते हैं, इसका उदय नहीं हुआ था। क्योंकि बदल (Exchange) सोने-चाँदी में अथवा रुपये-पैसे में न होकर अनाज में ही हो जाता था, ज़मींदार अपनी ज़मींदारी में वही स्थान रखता था जो राजा अपने राज्य में। इस काल में न तो जनता का संगठन ही था और न उसमें संगठन की शक्ति ही। संगठन के साधन भी उस समय में उपलब्ध नहीं थे। शक्ति के आधार पर शासन चलता था और सेवा अथवा गिरोह बनाकर उसको नियन्त्रित रखा जाता था। निरंकुशता इसका प्रधान गुण था। प्रारम्भ में जब इस प्रकार की व्यवस्था सीमित रही और साधन असीमित, उस समय तक कोई कठिनाई सामने नहीं आई, और आवश्यकतानुसार ज़मींदार अथवा राज्यों का विस्तार भी होता गया; परन्तु ज्यों-ज्यों अवस्था असीमित और साधन सीमित होते चले गये त्यों-त्यों मानव-समाज में संघर्ष उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया और इस संघर्ष ने निरंकुशता अथवा निठल्लेपन के विपरीत विद्रोह किया।

ज़मींदारी-उन्मूलन भी इसी संघर्ष-जन्य विद्रोह का फल है। भारतवर्ष में ज़मींदारी प्रथा मुसलमान-काल में हिन्दूकाल की ही भाँति चलती रही। राजे, नवाब मंसबदार, जागीरदार, जमींदार; यह सभी जमींदार के छोटे-बड़े रूप हैं, अंग्रेज़ शासन-काल में भी जमींदार की प्रथा ज्यों-की-त्यों चलती रही। भारत के पृथक्-पृथक् प्रान्तों में इसका रूप पृथक्-पृथक् रहा। कहीं पर जागीरदारी प्रथा रही और कहीं पर छोटी-छोटी जमींदारी। जमींदारी-प्रथा के फलस्वरूप देश जमींदारों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो सरकार का इस समय हितैषी रहा और भोग-विलास के अतिरिक्त उसके जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं था। जमींदारी का प्रबन्ध उनके कारिन्दों के हाथों में रहा जो कि एक ऐसा वर्ग बना जिसने स्वार्थ के वशीभूत होकर मानवता को बिल्कुल ही हाथों से खो दिया।

इस प्रकार शासक का सबन्ध जनता से न होकर जमींदारों और उनके कारिन्दों से हो गया। सरकारी अफसरों को जमींदारों और उनके कारिन्दों द्वारा डालियाँ मिलती रहीं और शिकार के लिए निमन्त्रण मिलते रहे। उनकी आवभगत में दावतें होती रहीं, नृत्य और मदिरा का बोलबाला रहा और इस प्रकार जमींदारों की निरंकुशता को खुला मैदान अंग्रेजी शासन-काल में मिला। कुछ काल के लिए ब्रिटिश-साम्राज्य के साथ भारत के जमींदार भी खूब पनपे, खूब ऐश की और बेचारी जनता उनकी निरंकुशता की चक्की में पिसती रही, दली जाती रही। परन्तु यह परिस्थिति अधिक दिन न चल सकी। पूँजी का प्रसार हुआ, दस्तकारी बढ़ी, मिलें खुलीं, मिल-मजदूरों का संगठन हुआ और संसार की व्यापक लहर में भारत ने भी अपने हाथ-

पैर फैलाए। किसानों में भी जागृति हुई और उन्होंने भी यह अनुभव करना प्रारम्भ किया कि क्यों उनके गाढ़े पसीने की कमाई को इस प्रकार कुछ न करने वाला निठल्ला जमींदार-समाज खा जाये ? जनता में जागृति हुई, समाज का ढाँचा बदलने लगा, जनता का ढाँचा बदलने लगा, सरकार का ढाँचा बदलने लगा और अन्त में वह समय आ गया जब भारत से अंग्रेजी सरकार सर्वदा के लिए चली गई तथा जमींदारी खत्म हो रही है।

आज भारत में प्रजातन्त्र राज्य है और सरकार भी विदेशी नहीं है, परन्तु फिर भी जो ढाँचा इस सरकार को मिला है वह पुराना है, वही अंग्रेजी सरकार के समय का है। वर्तमान सरकार में प्रगति अवश्य है परन्तु वह धीरे-धीरे चलने वाली है, सोच-समझकर फूँक-फूँक कर पग रखने वाली है। वर्तमान युग चाहता है विद्युत की गति, प्रगति जिसमें कहीं रुकावट न हो, बन्धन न हो, प्रतिबन्ध न हो, मुक्त हो हर प्रकार से। इसी भावना के आधार पर जमींदारी-उन्मूलन की लहर आज देश भर में व्यापक हो चुकी है। यह लहर आज की जनता की पुकार है, वास्तविकता है कृत्रिम नहीं है, और यही कारण है कि इसके फलीभूत होने में कुछ समय लग सकता है परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि यह हो ही नहीं। आज का युग निठल्लेपन को सहन नहीं कर सकता और आने वाले युग में कोई भी बिना कुछ किये खाने और पहिनने का अधिकारी नहीं होगा। भूमि उसकी होगी जो उसे जोतेगा, बोयेगा और उसमें अनाज उत्पन्न करेगा। केवल दूसरों की मेहनत पर चौधरी बनकर खाने के लिए भूमि का उपयोग नहीं किया जा सकेगा।

जमींदारी-उन्मूलन से देश की सम्पत्ति में वृद्धि होगी। प्रत्येक किसान जब अपनी जोती जाने वाली भूमि को यह समझकर जोते-बोयेगा कि वह उसकी अपनी है तो वह उसमें अपना खून-पसीना एक करके उसे अधिक-से-अधिक उपजाऊ बनाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार देश की भूमि अधिक-से-अधिक उपजाऊ बन-कर अधिक-से-अधिक उत्पत्ति दे सकेगी। इसका दूसरा महानतम लाभ यह होगा कि देश के समाज में से एक ऐसे शोषक वर्ग का अन्त हो जायगा जो उत्पत्तिमूलक न होकर अनुत्पत्तिमूलक है, देश का मान न होकर देश का कलंक है। इस वर्ग ने आज तक देश की उत्पत्ति के साथ, देश की भूमि के साथ और देश की जनता के साथ खिलवाड़ की है। विदेशों और देश में गरीब किसानों की गाढ़ी कमाई को फूँका है, नष्ट किया है। जमींदारी-उन्मूलन से शासन का सीधा सम्बन्ध जनता से होगा। यह इसका तीसरा लाभ है कि मध्य-वर्ग बीच से निकल जाने पर जनता और सरकार दो पृथक्-पृथक् वस्तु न रहकर एक ही हो जायेंगे और एक दूसरे की कठिनाई और सुगमता, हानि और लाभ को समझने में समय नहीं लगेगा। आज सरकार जनता की है इसलिए जनता और सरकार का सीधा सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है मध्य-वर्ग का लोप हो जाने पर यह सम्बन्ध आप-से-आप दृढ़ हो जायगा। जमींदारी-उन्मूलन का चौथा लाभ जो सबसे महान् है, यह वह होगा कि जनता में समानता

की भावना और स्थिति उत्पन्न हो जायगी। समाज से ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, यह भावना नष्ट होकर सब समतल पर आ जायँगे, देश की निर्धनता दूर होगी और वह वर्ग जिस के पास तन ढाँपने के लिए कपड़ा और पेट भरने के लिए अन्न भी अंग्रेजी सरकार के शासन-काल में उपलब्ध नहीं हुआ, वह सम्पन्न हो जायगा, और मानवता के मस्तक पर लगा हुआ यह अभिशाप एक दिन वह आयगा जब दूर होकर रहेगा।

जमींदारी-उन्मूलन से जहाँ इतने लाभ हैं, वहाँ एक हानि भी है और वह यह कि देश की पूँजी कुछ काल के लिए ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चली जायगी जो उसे उत्पादक-कार्यों में लगाना आज नहीं जानते। पिछला काश्तकार वही किसान है। जिस में अभी भी विद्या का अभाव है। वह यह भी नहीं जानता कि कमाई हुई सम्पत्ति को सुरक्षित रूप से डाकखाने या बैंक में रखा जाता है। वह उसे घरों में गाड़कर अनुत्पादक बना देता है। आज भारत को इस कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। सरकार की वर्तमान नीति से रुपया व्यापारी-समाज के हाथों से खिचकर ऐसे ही वर्ग के हाथों में पहुँच गया है। आज अन्न, रुई, शक्कर, गुड़ इत्यादि किसानों की पैदा हुई चीजों की दर बहुत ऊँची है, इसलिए रुपया उनके पास खिचता जा रहा है, और उस रुपये का आवागमन (Circulation) रुक गया है। इस प्रकार देश के व्यापार में इस समय बहुत हानि पहुँच रही है। परन्तु यह रुकावट स्थायी नहीं है। ज्यों ज्यों इस वर्ग में विद्या का प्रसार होगा त्यों त्यों परिस्थित ठीक होती जायगी और देश की जागृति के साथ-साथ उनमें भी जागृति का सचार होकर वह धन आवागमन के क्षेत्र में बिना प्रयास ही निकल आयगा।

इस प्रकार आज जमींदारी-उन्मूलन देश के लिए लाभदायक ही है। आज के युग में जमींदारी देश के लिए अभिशाप है, घोर अभिशाप।

संक्षिप्त

१. जमींदारी का प्राचीन इतिहास।
२. अंग्रेजी शासन-काल में जमींदारी।
३. जमींदारी-प्रथा की हानियाँ और जमींदारी-उन्मूलन के लाभ।

भारत और पाकिस्तान

३०८. जो देश विज्ञान की दृष्टि से जितना पिछड़ा हुआ रहेगा वहाँ रूढ़िवाद और धार्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव उतने ही दिनों तक बना रहेगा। संसार एक युग से राजनीति को धर्म के क्षेत्र से मुक्त करता चला आ रहा है। धर्म का सम्बन्ध जब आत्मा से है तो फिर क्यों यह हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में उथल-पुथल पैदा करने की चेष्टा करता है? स्वतन्त्र देशों में यह भावना जितनी बन सकी, उतनी परतन्त्र देशों में न बन सकी। उदाहरण-स्वरूप भारत को ही ले सकते हैं कि अंग्रेजों

ने अपने देश की राजनीति में तो रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों से झगड़े को निकालकर बाहर खड़ा कर दिया परन्तु भारत में हिन्दू और मुसलमानियत का बीजारोपण वह बराबर करते रहे। इसका प्रधान कारण यही था कि धार्मिक दृष्टिकोण में सुसगठित भारत पर (Divide and Rule) वाला सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता था। क्रिप्स-जैसे नेता ने प्रेरणा देकर, जो इंगलैण्ड में जनता का एक काल में प्रधान नेता रहा है, भारत में जनता के अहित में पाकिस्तान की भावना का एक प्रकार से सूत्रपात किया, और जिन्हा की खण्डनात्मक प्रवृत्ति को बल देकर देश का अहित किया। मि० जिन्हा का विचार था कि पजाब, बगाल और सिंध में मुसलमानों का बहुमत होने के कारण पाकिस्तान बनने में कठिनाई न होगी और फिर बाहर की मुसलमान शक्तियों का सगठन करके भारत पर सुगमता से आक्रमण हो सकेगा। परन्तु यह स्वप्न स्वप्न ही रह गया। आज का युग कहा और किस ओर जा रहा है इसे समझने में मि० जिन्हा असफल रहे। हा, अग्रेज अपनी चाल में अवश्य सफल हो गये और भारत को दो खड हो जाना पड़ा।

आज के युग में राज्य-विस्तार से धर्म-विस्तार की कल्पना करना मूर्खता ही है। आज धर्म का शासन-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। पाकिस्तान बन जाने से कुछ विचारकों का मत है कि भारत की उन्नति में बाधा पहुंची परन्तु हमारा मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। पाकिस्तान बन जाने से ही भारत की सरकार का अपने कार्यक्रम पर चलने की स्वच्छंदता प्राप्त हुई। यदि यह न होता तो भारत की परिस्थिति सर्वदा के लिए डावाँडोल हो जाती और सम्भव था कि अछूतों का वर्ग, जो आज हिन्दुओं का ही एक अंग है, सर्वदा के लिए इससे पृथक् होकर शासन के प्रलोभन में जाकर मुसलमानों से मिल जाता और इस प्रकार हिन्दू ही यथा भारतीय सभ्यता विनाश को प्राप्त हो जाती। पाकिस्तान के बन जाने से मुसलमान-धर्म पाकिस्तान तक सीमित हो गया और भारत में मुसलमानों का जो स्थान आज के समाज में हो गया है वह शोचनीय है। यदि भारत खंड-खंड न होता तो भारत के मुसलमानों का सामाजिक स्तर कभी न गिरने पाता। आज भारत की सरकार हर सम्भव प्रयत्न से मुसलमानों को सहयोग दे रही है, और देगी, परन्तु एक आत्म-ग्लानि की भावना उनके अपने हृदयों में ऐसी व्याप्त हो चुकी है कि जिसके कारण वह सिर ऊँचा करके कभी नहीं चल सकते। पाकिस्तान बन जाने से इस्लाम का प्रसार रुक गया, समाप्त हो गया और निकट भविष्य में उनके प्रसार की भी कोई सम्भावना नहीं दिखलाई देती।

पाकिस्तान बन जाने से भारत को एक सबसे अधिक हानि जो हुई वह यह है कि भारत का एक बहुत बड़ा भू-भाग जो दूसरे भागों को भी खाद्य-सामग्री प्रदान करता था वह उसके हाथों से निकल गया। चावल, कपास, गेहूँ, चना और पटसन इन पाँचों चीजों की भारत में पाकिस्तान बन जाने के कारण कमी हो गई। भारत-सरकार प्रयत्न कर रही है कि इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर ले और जहाँ तक पटसन का सम्बन्ध है वहाँ तक भारत ने यह कमी पूरी कर ली है। जहाँ भारत को इन चीजों

की कमी हो गई है वहाँ भारत के पास कोयला एक ऐसी वस्तु है कि उसके रोक देने पर पाकिस्तान के सब काम रुक जाते हैं। पाकिस्तान में जाने वाली नहरों का पानी भारत में होकर जाने वाली नदियों से लिया जाता है। यदि भारत चाहे तो नदियों में बाँध लगाकर पाकिस्तान की सब उपजाऊ भूमि को ऊसर बना सकता है।

भारत से मुसलमान कारीगरों के चले जाने से कल-कारखानों के कामों में भारत को काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। भारत को कृषक और कारीगरों के चले जाने से धक्का लगा परन्तु साथ ही पाकिस्तान से व्यापारी वर्ग के चले आने पर वहाँ का व्यापार ठप्प हो गया। भारत का व्यापार पहिले से अधिक चमक उठा और पंजाब से आये हुए मेहनती लोगों ने मुसलमान कारीगरों का स्थान कुशलता-पूर्वक ले लिया। यह सत्य है कि उनमें अभी वह कुशलता नहीं आ पाई है, परन्तु फिर भी कोई काम रुक रहा हो, ऐसी परिस्थिति भी पैदा नहीं हुई। पाकिस्तान में बैंक और व्यापार के क्षेत्र में तो एकदम दिवाला-सा ही निकल गया, जिसके फलस्वरूप पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से गिरावट की ओर अग्रसर हुआ।

भारत और पाकिस्तान के विभाजन से दोनों देशों में रहने वाली जनता के आपसी मतभेद अवश्य बढ़ गये हैं। खिलाफ़त और काँग्रेस ने हिन्दू-मुसलमानों में आपसी प्रेम-भाव पैदा करने का जो निरन्तर अभ्यास किया था उसे गहरी ठेस लगी और आज भारत जो आदर्श सामने रख भी रहा है उसमें भारत की आंशिक सहानुभूति ही है। विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में जो जन-विध्वंस हुआ वह युग-युग तक भुलाने वाली बात नहीं। यह जो कुछ भी हुआ वह सामाजिक-पतन की घोर पराकाष्ठा थी। नन्हें-नन्हें बच्चों और स्त्रियों पर जो अत्याचार हुए वह हिन्दू-मुस्लिम संगठन के बीच में दीवार बनकर खड़े हो गये। दोनों समाजों के बीच एक गहरी खाई खुद गई और फिर पाकिस्तान की हिन्दू-निर्वासन नीति ने तो उसे और भी बलवती बना दिया।

राजनैतिक क्षेत्र में भी पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी। पाकिस्तान अपनी विदेश-नीति में सफल नहीं हो सका। भारत के साथ उसने जिस-जिस मामले में भी टाँग अड़ाई हार ही माननी पड़ी। काश्मीर का युद्ध, हैदराबाद की समस्या, जूनागढ़ और भूपाल के नवाबों का पतन यह सब भारत की सफलता और पाकिस्तान की असफलता के परिणाम हैं। पाकिस्तान के बन जाने से मुसलमानों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी है। पहिले कुल बंगाल, पंजाब, सिंध, नार्थ वैस्ट फ्रन्टियर, हैदराबाद और भारत की मुसलमान रियासतों पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व रहा था परन्तु पाकिस्तान के बन जाने से आधा बंगाल चला गया, आधा पंजाब चला गया, हैदराबाद चला गया और भारत की सभी मुसलमान रियासतें स्वाहा हो गईं। इस प्रकार पाकिस्तान ने बनकर हिन्दुओं का हित और मुसलमानों का अनिष्ट ही किया है। पाकिस्तान के सम्मुख अभी पख्तूनिस्तान की समस्या और जटिल रूप में खड़ी है, जिसका निबटारा उसे निकट भविष्य में करना ही होगा अन्यथा वहाँ की विद्रोह की

ज्वाला दहकेगी और उसकी ज्वाला में समस्त पाकिस्तान को भुनना पड़ेगा।

पाकिस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उपज है और उनकी राजनीति का एक मोहरा है। अमरीका और इंग्लैंड यह जानते थे कि भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् उनका शत्रु नहीं बनेगा परन्तु उनके हाथ में नाचने वाली कठपुतली बनकर भी नहीं रहेगा। उसे वह शतरंज के मोहरे की भाँति जहाँ चाहें वहाँ नचा नहीं सकेंगे। इसलिए उन्हें अपने शत्रु रूस के खिलाफ़ अपनी शक्ति का संगठन करने के लिए भारत के उत्तर-पश्चिम में एक ऐसे स्थान की आवश्यकता थी जहाँ पर कि वह अपने हवाई अड्डे बना सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाकिस्तान का उदय हुआ। पाकिस्तान का जन्म वास्तव में मुसलमानों के नाम पर अंग्रेजी और अमरीकी चालों की पूर्ति के लिए हुआ है। पाकिस्तान के सामने आज बहुत सी समस्याएं हैं और उनके हल करने पर ही उसके भविष्य का निर्णय हो सकता है। पाकिस्तान के नामकरण से लेकर आज तक पाकिस्तान के नेता हिन्दुओं के विपरीत मुसलमान जनता को उकसाकर अपना काम निकालते रहे हैं। पाकिस्तान में हिन्दू नहीं रहे, इसलिए उनके विपरीत फुसलाने वाला यन्त्र भी उन नेताओं का फेल हो गया। आज पाकिस्तान के सम्मुख उनकी अपनी समस्यायें हैं और वह हैं सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक। इन्हीं के हल करने पर उसका भविष्य आधारित है। यदि वह इन्हें सफलतापूर्वक हल कर सकेगा तो वह जीवित रहेगा अन्यथा मर जायगा, समाप्त हो जायगा। आज भारत के सम्मुख भी उसी प्रकार की समस्याएँ हैं। भारत भी अपनी समस्याओं के हल करने में जुटा हुआ है। बहुत दूर तक भारत सफलता के पथ पर है। भारत के नेताओं ने भारत को सुसंगठित कर लिया है, सुव्यवस्थित कर लिया है और अन्न की समस्या को हल करने में वह इस समय अपनी समस्त शक्तियों को लगा रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में भारत इसमें सफल हो जायगा।

संक्षिप्त

१. भूमिका।

२. राजनीति और धर्म तथा पाकिस्तान के मूल की भावनाएँ।

३. भारत और पाकिस्तान का विभाजन, धार्मिक मतभेद, सामाजिक मतभेद।

४. राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर विभाजन का प्रभाव।

५. उपसंहार—दोनों का भविष्य।

कुछ राजनीतिक निबन्धों की रूप-रेखाएँ

१०१. मार्शल-योजना—

(१) मार्शल-योजना (European Recovery plan) की प्रस्तावना ५ जून, सन् १९४७, को राज्य-सचिव जार्ज मार्शल ने रखी थी। यह संसार की बहुत

बड़ी आर्थिक योजना है।

(२) गत महायुद्ध में यूरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने पर इस योजना की आवश्यकता हुई, आर्थिक स्थिति बिगड़े हुए देशों में सुधार तथा उन्हें अपने प्रभाव में रखने के लिए अमरीका ने यह योजना बनाई थी।

(३) प्रारम्भ में आर्थिक सहायता लेने वाले देशों की संख्या १६ थी। पैरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें एक जाँच कमेटी बनाई गई।

(४) अमरीका ने डा० एडविन सी० नूर्स के सभापतित्व में एक आर्थिक-विशेषज्ञों की कमेटी बनाई और उससे इस विषय पर परामर्श किया।

(५) एक समिति अमरीका के नागरिकों की बनाई गई और अमरीका के उधार देने की शक्ति की जाँच-पड़ताल की गई। इस समय माँग ८०० करोड़ डालर की थी।

(६) १६४८ में यह योजना प्रारम्भ हुई और अनुमान लगाया गया कि इस योजना के पूर्ण होने में चार वर्ष लगेंगे।

(७) ३० जून १६४८ को अमरीका काँग्रेस के सम्मुख राष्ट्रपति ट्रूमैन ने योजना को रखा। १७०० करोड़ डालर सवा चार वर्ष में देने की यह योजना थी, जिसका रिपब्लिकन पार्टी ने विरोध किया और बहुमत से यह राशि आधी कर दी गई।

(८) इसके पश्चात् काँग्रेस और सीनेट के संयुक्त-गृह में यह राशि पूरी-की-पूरी पास हो गई और इसकी पहली किश्त ५७५ करोड़ डालर नियुक्त हुई।

(९) तब से यह योजना चल रही है और इसका यूरोप ही नहीं विश्व की राजनीति पर बहुत गहरा प्रभाव है। आज जो देश अमरीका के साथ सहयोग नहीं देंगे उनकी यह सहायता समाप्त हो जायगी और इसके समाप्त होने पर उनके सभी आर्थिक कार्यक्रम समाप्त हो जायँगे। इससे उन्हें अमरीका के पीछे-पीछे चलना होता है।

३१०. मुद्रा-प्रसार और महँगाई—

(१) युद्ध-काल में लोगों का सरकार पर से विश्वास उठा, सरकार ने अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए मनमाने नोट छापे और फलस्वरूप मुद्रा-प्रसार के कारण चीजों के मूल्य बढ़ने प्रारम्भ हो गये।

(२) जनता मुद्रा-प्रसार का जैसा-जैसा अनुमान लगाती गई वैसे-वैसे चीजों के मूल्य बढ़ने लगे और वैसे-वैसे ही रुपयों का मूल्य गिरता गया।

(३) लोगों का विश्वास था कि यह सरकार बहुत शीघ्र इस मुद्रा-प्रसार को रोककर चीजों की कीमत घटा देगी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मुद्रा-प्रसार तो कम अवश्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु महँगाई ज्यों की त्यों है और यह दशा पहले की अपेक्षा अधिक कठिन हो गई।

(४) मुद्रा-प्रसार के क्षेत्र में यह दशा (Inflation) की है और महँगाई

क्षेत्र मे अनियन्त्रित दर व्यवस्था की। गल्लो पर नियन्त्रण कभी कभी दर को ऊचा ले जाता है और बाजारो मे वस्तु का मिलना ही कठिन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप काले बाजार की शरण मे जाना होता है।

(५) यह मुद्रा-प्रसार आकस्मिक नही था बल्कि थोडा बहुत प्रसार तो सभी देशो मे हुआ था। युद्ध और बाद के पश्चात् निर्माण कार्य मे सरकार अपना खर्चा बढ जाने पर मुद्रा-प्रसार की शरण लेती है।

(६) १९१४ के महायुद्ध मे जर्मनी मे २ लाख मार्क की रोटी बिकी। गत महायुद्ध मे मुद्रा प्रसार का सबसे अधिक प्रभाव चीन मे पडा। ६०-८० लाख डालर मे एक जोडा जूते बिके।

(७) गत महायुद्ध से पूर्व भारत मे २ अरब ५० करोड रुपये की मुद्रा थी। युद्ध के अन्त मे २५ अरब ३५ करोड रुपये की हो गई। युद्ध-काल में भारत से अंग्रेजों ने अपना ८ अरब रुपये का ऋण वसूल कर लिया और ७ अरब का अपने पर उधार चढा लिया। यह सात अरब भी सरकार को व्यापारियो को नया मुद्रा-प्रसार करके ही देना पडा।

(८) मुद्रा-अवमूल्यन से वैतनिक कर्मचारी वेतन बढाने की माग करते हैं। किसानो ने अपने मूल्य बढा दिये और हर वस्तु के दाम बढ गये। देश मे इसके कारण अशान्ति है, क्योकि महंगाई से कोई प्रसन्न नही रहता।

(९) मुद्रा-प्रसार के साथ-साथ उत्पादन नही बढा, यही अशान्ति का मूल कारण है। देश का विभाजन, देश के हडताल कराने वाले नेता और उत्पादन की सभी बाधाएँ आज देश के उन्नति-मार्ग मे बाधक हैं।

(१०) अन्य वस्तुओ का मूल्य अन्न के मूल्य पर आधारित है। गत १०८ करोड़ रुपये का अन्न बाहर से आया। इस वर्ष १४० करोड रुपये का अन्न बाहर से आयगा। यह परिस्थिति मुद्रा-प्रसार और महँगाई मे सहायक ही है।

(११) आज की परिस्थिति मे सरकार की पूंजीवाद-विरोधी नीति उत्पादन में बाधक है और उसके कारण महँगाई तथा मुद्रा-प्रसार को भी प्रश्रय मिल रहा है, परन्तु संसार के राजनैतिक गति-चक्र के सम्मुख उसे भुलाकर चला भी नही जा सकता है। आज उत्पादन बढाने से ही महँगाई और मुद्रा-प्रसार कम हो सकता है, अन्य साधन द्वारा नही।

३११. स्वतन्त्र भारत का संविधान—

(१) २६ जनवरी, १९५०, को भारत का नवीन संविधान लागू हुआ, जिसके अनुसार भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है और इस संविधान में सब लोगों के समान अधिकार है।

(२) यह संविधान भारत के सब प्रान्तों, रियासतों तथा कुर्ग, अंडेमान और निकोबार द्वीप पर लागू होता है।

(३) भारत की संसद् को क़ानून बनाकर किसी राज्य का क्षेत्रफल बढ़ाने

अथवा घटाने का अधिकार है ।

(४) प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारत में जन्म हुआ है, या उसके माता-पिता भारत-निवासी हैं, भारत का नागरिक है । बर्मा, मलाया और लंका के हिन्दुस्तानी जिन्होंने वहाँ नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं किये हुए हैं भारत के नागरिक हो सकते हैं । पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थी भी भारत के नागरिक गिने जायंगे ।

(५) यह संविधान समता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार का हामी है । न्याय सबकी रक्षा करेगा, कोई दास नहीं होगा, सरकारी नौकरियों में कोई भेद-भाव नहीं होगा, बच्चों को खानों और कारखानों में नौकर नहीं रखा जायगा ।

(६) संविधान की शासन-प्रणाली में एक राष्ट्र का प्रधान होगा और दूसरा राजकीय परिषद् (कौंसिल आफ स्टेट) इसमें २५० सदस्य होंगे । इनमें से १५ प्रधान नियुक्त करेगा और शेष निर्वाचित होंगे । तीसरा जनता-गृह होगा जिसमें ५०० सदस्य होंगे जो सीधे मतदाताओं द्वारा चुने जायँगे ।

(७) २१ वर्ष का प्रत्येक नर-नारी मत देने का अधिकारी होगा ।

(८) प्रधान का चुनाव राजकी परिषद्, जनता-गृह और प्रान्तों की धारा-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होगा । हमारे वर्तमान प्रधान डा० राजेन्द्रप्रसाद हैं । प्रधान की एक बार की अवधि ५ वर्ष है । वही प्रधान दुबारा भी चुना जा सकता है परन्तु तिबारा नहीं ।

(९) प्रधान को संकटकालीन अधिकार प्राप्त हैं । वह युद्ध अथवा आंतरिक अशांति में ६ महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है । वैधानिक शासन टूट जाने पर सब अधिकार प्रधान को प्राप्त हो जाते हैं ।

(१०) शासन मंत्रिमण्डल द्वारा होगा और मन्त्रिमण्डल का नेता प्रधान मन्त्री कहलायगा । प्रधान मन्त्री का चुनाव राष्ट्र का प्रधान करता है और अन्य मन्त्रियों का चुनाव प्रधान मन्त्री की सहायता से होता है । हमारे वर्तमान प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू हैं । मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व संसद् में सामूहिक होगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक कार्य करेगा जब तक प्रधान की इच्छा होगी ।

(११) प्रधान क़ानून-सम्बन्धी सलाह के लिए एटोर्नी जनरल और अर्थ-सम्बन्धी सलाह के लिए आडीटर जनरल नियुक्त कर सकता है ।

(१२) उपप्रधान राजकीय परिषद् का प्रधान होगा और राजकीय परिषद् कभी भंग नहीं होगी, बल्कि दो वर्ष बाद इसके एक-तिहाई सदस्य स्वयं स्थान रिक्त कर देंगे ।

(१३) जनता-गृह की अवधि पाँच वर्ष है और उसके पश्चात् फिर नया चुनाव होगा । बजट जनता-गृह में पेश होगा, राजकीय परिषद् में नहीं ।

(१४) संघ का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात न्यायाधीश होंगे । यह सीधे अभियोग न लेकर अपीलों पर विचार करेगा । न्याया-

धीश की अवधि ६५ वर्ष की आयु तक है।

(१५) गवर्नर की अवधि ५ वर्ष होगी। यह दुबारा भी चुना जा सकता है परन्तु तिबारा नहीं। इसका चुनाव भी जनरल एलेक्शन के समय ही होगा। राज्य की धारा-सभा के भेजे हुए चार नामों में से प्रधान किसी एक को भी नियुक्त कर सकता है। राष्ट्र के प्रधान और मुख्य न्यायाधीश के वेतन ५५००) और गवर्नर तथा न्यायाधीशों के ४५००) रुपये मासिक होंगे।

(१६) गवर्नर के अधिकार अपने राज्य में प्रधान से मिलते-जुलते ही होंगे। वह भी आवश्यकता पड़ने पर छः महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है।

(१७) राज्य का शासन मन्त्रिमण्डल द्वारा होगा और प्रधान मन्त्री मुख्य मन्त्री कहलायगा। यह मन्त्री गवर्नर द्वारा चुना जायगा और अन्य सब मन्त्री मुख्य मन्त्री की सलाह से चुने जायँगे।

(१८) पिछड़ी हुई जातियों के हितों के संरक्षण के लिए बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त में एक एक अतिरिक्त मन्त्री रखने का विधान है।

(१९) प्रत्येक राज्य में एक व्यवस्थापिका सभा होगी जिसके सदस्यों का चुनाव मतदाताओं द्वारा होगा। इसके सदस्यों की संख्या ६० से ५०० तक है।

(२०) कहीं-कहीं पर राज्यों में व्यवस्थापिक परिषद् का भी विधान है इसकी संख्या व्यवस्थापिका सभा से चौथाई होगी। बजट यहाँ पर भी व्यवस्थापिका सभा में ही रखा जायगा।

(२१) दिल्ली, अजमेर, मारवाड़, कुर्ग, अण्डेमान, निकोबार इत्यादि का शासन सीधे राष्ट्र के प्रधान अथवा उनके अधिकारियों द्वारा होगा। वहाँ पर चीफ़ कमिश्नर अथवा गवर्नर नियुक्त किये जायँगे।

(२२) अल्पसंख्यकों के संरक्षण की सिद्धान्त रूप से आवश्यकता नहीं समझी गई। परन्तु संविधान लागू होने के १० वर्ष तक सरकारी नौकरियों में उनका अधिकार उनकी जनगणना के अनुसार होगा।

(२३) इस प्रकार उस संविधान के अनुसार मुसलमानों, हरिजनों और परिगणित जातियों के लिए नौकरियों में स्थान पहिले से रिजर्व होंगे। बम्बई तथा मद्रास प्रान्त में भारतीय ईसाइयों को भी विशेष सुविधा दी गई है।

(२४) केन्द्र तथा राज्यों में पृथक्-पृथक् सर्विस कमीशन होंगे। यह नौकरियों पर आने वाले उम्मीदवारों की परीक्षा लेंगे।

(२५) संविधान में कोई परिवर्तन केवल उस समय हो सकता है जब केन्द्र के दोनों गृहों के दो-तिहाई सदस्य और प्रधान सहमत हों।

३१२. संयुक्त राष्ट्र-संघ की आवश्यकता—

(१) संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) गत महायुद्ध की प्रतिक्रिया का वही रूप है जो League of Nations १९१४ वाले

महायुद्ध की प्रतिक्रिया का रूप था। संघर्ष के विनाश से बचने के लिए यह प्रयास है परन्तु मानव की स्वार्थ-लिप्सा कहाँ तक इसे फलीभूत कर पायगी। यह प्रश्न विचारणीय है।

(२) League of Nations की स्थापना इस दृढ़ निश्चय को लेकर हुई थी कि अब विश्व में युद्ध न होगा, परन्तु विश्व ने हिटलर को जन्म देकर उस आशा पर पानी फेर दिया। इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस प्रकार के प्रयास समय-समय पर होते रहे है और कुछ समय के लिए मानव को उन प्रयासों ने संघर्ष से मुक्त भी रखा है परन्तु वह स्थायी नहीं बन सके। इसका मूल कारण यही है कि मानव भी स्थायी नहीं है।

(३) वर्तमान संयुक्त-राष्ट्र का विधान पत्र (Charter) सान फ्रान्सिस्को में जून १६४५ के पश्चात् ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने प्रकाशित किया था। १० जनवरी १६४६ को इसकी प्रथम बैठक लन्दन में हुई जिसमें जिनेवा में इसका प्रधान कार्यालय रखना निश्चित हुआ और यह भी पास हुआ कि इसमें तटस्थ अथवा शत्रु-देशों को न मिलाया जाय।

(४) संयुक्त राष्ट्र-संघ का प्रधान ध्येय समस्त देशों में शान्ति स्थापित करना तथा उनकी आर्थिक स्थिति पर नियन्त्रण रखना है। संघ के यह प्रधान उद्देश्य हैं (क) सबके मानवीय अधिकारों की सुरक्षा तथा उनके प्राप्त करने में सहयोग देना—जाति और रंग के भेद भावों का समूल नाश करना,(ख) मानव-स्तर ऊँचा करके उसकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की देखभाल करना, (ग) संकट पैदा करने वाली परिस्थितियों को सुलझाना और विभिन्न राष्ट्रों में मित्र-भाव बनाये रखना और (घ) पराधीनता और निर्बल देशों का संरक्षण करना। इस प्रकार संसार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शान्ति का निरीक्षण तथा आपसी प्रेम-भाव को बढ़ाना इस संघ का कार्य-क्षेत्र है।

(५) संघ की सुरक्षा परिषद् के १२ सदस्य बने जिनकी पहिली बैठक १५ मार्च १६४६ में न्यूयार्क में हुई थी।

(६) इस संघ के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय न्यायालय है, जो संघ के सदस्यों के विवाद-ग्रस्त मामलों का निर्णय करता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों की संख्या १५ होती है।

(७) आर्थिक, सामाजिक और विज्ञान विभाग की देख-भाल करने वाली सभा के १८ सदस्य हैं।

(८) भारत के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सम्मुख अब तक दक्षिणी अफ्रीका और काश्मीर के महत्त्वपूर्ण प्रश्न आये हैं परन्तु दोनों को अभी तक सुलझाने में वह असमर्थ रहा है।

(९) इनके अतिरिक्त फिलिस्तीन, इंडोनेशिया, बर्लिन की समस्या, चीन का प्रश्न भी आया और आज कोरिया का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१०) संघ की स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर की गई है। लोक-हित और विश्व-शान्ति की भावनाएं इसके उद्देश्यों के प्रधान तत्व हैं।

(११) आज संसार की शक्ति का सन्तुलन दो प्रधान शक्तियों के बीच हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ दो विचारधाराओं के लड़ने का अखाड़ा बनाया हुआ है। यह अखाड़ा बनाने की भावना संघ के लिए घातक है। यदि इस भावना का अन्त न हुआ तो संघ का भविष्य आशाजनक नहीं है।

२१३. अटलांटिक-सन्धि—

(१) इंगलैंड, अमेरिका तथा रूस का गत युद्ध में मेल जर्मन, इटली तथा जापानी फ़ासिस्टों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए हुआ था।

(२) युद्ध समाप्त होने पर इनमें इतना खिंचाव हुआ कि यूरोपियन देशों में ऐंग्लो-अमरीकन ग्रुप के प्रभाव में आकर अटलांटिक तट पर बसने वाले नौ देशों ने आपस में एक पैक्ट किया। यह पैक्ट स्पष्ट रूप से रूस के विरुद्ध था। और इसमें यह निर्णय हुआ कि यदि इन देशों में से किसी पर भी बाहर का आक्रमण हुआ तो उस आक्रमण का सामना संयुक्त मोर्चे द्वारा किया जायगा।

(३) इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस, हालैंड, कनाडा, बेल्जियम, लक्सम्बर्ग, डैनमार्क और नार्वे ने इस अटलांटिक पैक्ट पर हस्ताक्षर किये और आगामी युद्ध-भय के विरुद्ध संयुक्त-मोर्चा बनाया।

(४) इन सब देशों की जनसंख्या लगभग २५ करोड़ और क्षेत्रफल ७० लाख वर्ग मील है। यह सन्धि बीस वर्ष के लिए हुई थी।

(५) यह सन्धि संयुक्त राष्ट्र-संघ के घोषणा-पत्र के अधीन अवश्य की गई है परन्तु इसका उद्देश्य रूस की शक्ति को रोकना और ऐंग्लो-अमरीकन गुट-बन्दी को क़ायम रखना है।

(६) रूस ने नार्वे के साथ अनाक्रमण-सन्धि करने और ऐंग्लो-अमरीकन गुट में शामिल न होने के लिए कहा, परन्तु नार्वे ने उसे न मानकर एटलांटिक पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये।

(७) नार्वे और डैनमार्क बाल्टिक सागर के द्वार पर दोनों ओर स्थित होने के कारण और उनके इस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर देने से रूस के लिए खतरा पैदा हो गया।

(८) इंगलैंड तथा अमरीका अवसर पड़ने पर इन देशों को युद्ध-सामग्री तथा आर्थिक सहायता देंगे, यह भी इस सन्धि द्वारा निश्चय हुआ।

(९) इस प्रकार सन्धि द्वारा रूस और ऐंग्लो-अमरीकन दो प्रत्यक्ष दल बन गये।

२१४. काश्मीर की समस्या—

(१) भारत का विभाजन होते ही हैदराबाद और काश्मीर के अतिरिक्त अन्य सब रियासतें भारत अथवा पाकिस्तान में मिल गईं। पाकिस्तान ने अवसर

पाकर कबायलियों को काश्मीर में घुसा दिया। ऐसी परिस्थिति में काश्मीर के राजा और जनता ने भारत के प्रधान मन्त्री से काश्मीर को भारत में सम्मिलित करने और आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहायता माँगी।

(२) भारत ने यह प्रार्थना स्वीकार करके काश्मीर को पतन से बचा लिया और भारत और पाकिस्तान के युद्ध रोकने के लिए शुरू जनवरी १९४८ में यह मामला संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सम्मुख रख दिया।

(३) आज पाँच वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी संयुक्त-राष्ट्र-संघ इस समस्या का समुचित हल नहीं निकाल सका है। सर ओवन डिक्सन मध्यस्थ बनकर भी आए परन्तु समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। कोई हल नहीं निकला।

(४) इस समस्या के विषय में संयुक्त राष्ट्र की उदासीनता क्या है यह नहीं कहा जा सकता। जो संघ कोरिया में तुरन्त सेनाएँ भेज सकता है वह पाँच वर्ष से बराबर इस महत्त्वपूर्ण मामले को खटाई में क्यों डालता जा रहा है?

(५) इस समस्या को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के मन्त्री आपस में ईमानदारी से सुलझा सकते हैं।

(६) अन्त में यह कहना असत्य न होगा कि यदि बड़े राष्ट्रों ने इस समस्या को महत्त्व न दिया तो यह विस्फोट सिद्ध हो सकता है। काश्मीर की सीमा चीन, रूस, पाकिस्तान और अफगानिस्तान से मिली है, इसलिए भारत के लिए यह महत्त्वपूर्ण रियासत है जिसे भारत खो नहीं सकता। महत्त्व इसका पाकिस्तान के लिए भी कम नहीं है, इसलिए यह समझते हुए भी पाकिस्तान सिद्धान्त रूप से गलती पर है और काश्मीर के प्रलोभन को छोड़ नहीं पा रहा है।

(७) काश्मीर की समस्या का शान्तिपूर्वक सुलझ जाना इस समय भारत और पाकिस्तान दोनों के लिए हितकर है अन्यथा यह झगड़ा बढ़ जाने पर विश्व शान्ति के लिए भी खतरा पैदा हो सकता है।

३१५. हिन्दू कोड बिल—

(१) हिन्दू कानून (Hindu Law) में आज के युग की आवश्यकताओं के अनुसार क्या परिवर्तन या सुधार होना चाहिए इसके लिए श्री राऊ के प्रतिनिधित्व में १५ सदस्यों की समिति बैठी और इस समिति ने देश भर की प्रमुख हिन्दू संस्थाओं की विचारधाराओं के आधार पर जो रिपोर्ट तैयार की उसका नाम हिन्दू कोड बिल है।

(२) विवाह, तलाक, दत्तक-अधिकार, उत्तराधिकार, सम्पत्ति-वितरण, स्त्री-धन, संयुक्त परिवार इत्यादि हिन्दुओं की समस्याओं पर विस्तार के साथ इस बिल में विचार किया गया।

(३) इस बिल का प्रगतिशील व्यक्तियों ने स्वागत तथा रूढ़िवादी प्राचीन विचारावलम्बियों ने विरोध किया है।

(४) इस बिल के अनुसार एक पुरुष एक स्त्री रख सकता है। विधवा को

उत्तराधिकार प्राप्त होंगे। दत्तक पुत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेकों विचारणीय धाराएं बिल में हैं। यह इस बिल के प्रधान गुण हैं।

(५) इस बिल का जिन दोषों के कारण विरोध हुआ है वह यह हैं—(क) हिन्दू-संस्कृति तथा सभ्यता का इस बिल में समुचित ध्यान नहीं रखा गया, (ख) इस बिल के निर्माताओं के जीवन पर पश्चिमी सभ्यता की छाप होने के कारण भारतीयता का बिल में अभाव है, और (ग) भारतीय सरकार को धर्मनिरपेक्ष होने के नाते केवल हिन्दू धर्म के लिए कोई नियम नहीं बनाना चाहिए। इस सरकार को चाहिए कि वह जो भी बिल पास करे वह भारत की सम्पूर्ण जनता पर लागू हो।

(६) जिन कारणों पर पुरुष स्त्री को अथवा स्त्री पुरुष को तलाक दे सकते हैं वह हैं—(क) विवाह के समय किसी एक पक्ष का नपुंसक होना, (ख) किसी एक पक्ष का दुराचारी होना, (ग) किसी एक पक्ष का हिन्दू-धर्म त्याग देना और (घ) किसी का पागल अथवा असाध्य रोग-ग्रस्त होना। यह सब होते हुए भी पुरुष को स्त्री को तलाक देने का अधिकार देना बिल की हर दशा में सदोषता है। ऐसी परिस्थिति में सर्वदा यही होगा कि पुरुष अपने दोषों को स्त्री पर लादकर उसे तलाक देगा और उसके जीवन को नष्ट कर डालेगा।

(७) स्त्री को पिता या पति से जो सम्पत्ति का अधिकार मिलेगा उससे जायदाद खंड-खंड होकर हिन्दू जाति के निर्धन होने का कारण बनेगी। मुसलमानों में निर्धनता होने का एक यह भी कारण है। इससे भाई और बहनों का पारस्परिक प्रेम समाप्त हो जायगा। लड़कियों के सम्बन्ध लेते समय इस बात की खोज होने लगेगी कि उसके नाम पर कितनी सम्पत्ति है। यह हिन्दू-समाज के लिए हानिकारक ही सिद्ध होगा?

(८) बिल में कई सुधार होने की आवश्यकता है। बिना सुधार किये ज्यों का त्यों बिल को पास कर देने से यह हिन्दू-समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। श्री पी० एस० देशमुख अपने विरोध में कहते हैं, "भारतीय जीवन की वास्तविकता और प्रस्तावित सुधारों की व्यवहारिकता का विचार किये बिना ही हिन्दू भावनाओं को इस प्रकार ठेस पहुँचाना बुद्धिमानी नहीं है।"

अध्याय २४

फुटकल निबन्ध

क्रान्ति के कारण और शान्ति के उपाय

२१६. इच्छाओं की अपूर्ति, आवश्यकता और प्रलोभन में विश्व का शांति और अशांति का रहस्य छुपा हुआ है। आज के वैज्ञानिक युग ने मानव को आश्चर्य-चकित करके उसकी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। उन्हीं आवश्यकताओं की वृद्धि और उसकी भरसक पूर्ति न होने में आज के मानव की अशांति निहित है। यातायात के साधनों की वृद्धि और मृत्यु से लड़ने के लिए नवीनतम डाक्टरी औषधियाँ और अनेकों डाक्टरी उपायों के होने पर मानव को शांति नहीं, उद्विग्नता है, हर समय परेशानी है, चिंता है, यह सब फिर क्यों ? अब हमें उन अशांति के कारणों को खोज निकालना है और उन पर विचार करना है कि जिनके कारण विश्व में क्रांति के कारण उपस्थित हो जाते हैं और उथल-पुथल का वातावरण बन जाता है।

असंतुलन—मानव की मूल समस्याओं का जन्म असंतुलन से होता है। यदि हम विश्व-साहित्य पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि गत युगों में भी जितने संघर्ष, जितने महायुद्ध और जितनी क्रांतियाँ हुई हैं उन सब के मूल में असंतुलन-विषयी भावना निहित है। असंतुलन मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी क्षेत्रों में हो सकता है और मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में असंतुलन का विश्व-शांति अथवा क्रान्ति के मूल तत्वों पर प्रभाव पड़ता है। आइए पहिले आर्थिक असंतुलन पर विचार करें। वैज्ञानिक मशीनों का आविष्कार उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। मशीनें पहिले कोयले से चलीं और फिर विद्युत द्वारा चलने वाली मशीनों की ओर विज्ञान की प्रगति हुई। इस मशीनों के युग ने हाथ की दस्तकारी और छोटे उत्पादन के प्रयोगों और साधनों को नमस्कार कर दिया। सभी उद्योग-धन्धे तीव्र गति से चलने वाली मशीनों को सौंप दिये और मानव दिन-प्रतिदिन शक्ति को केन्द्रित करने की ओर चल पड़ा। ऐसे युग में कुछ व्यक्तियों ने मशीनों को अपनी पूँजी के बल से अपने वश में कर लिया और उत्पादन के स्वामी बन बैठे। यहाँ से पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ और समाज में असंतुलन आने लगा। इस वर्ग ने सर्वप्रथम संसार के व्यवसाय पर हाथ रखा, उसे अपने अधिकार में किया, फिर विश्व की आर्थिक समस्याओं पर अधिकार जमाया और फिर अन्त में राजनीति के क्षेत्र में उतर पड़े। व्यापार के नाम पर साम्राज्य के साम्राज्य स्थापित होते चले गये। राष्ट्रीयता

का नवीन दृष्टिकोण यह जनता के सामने आये और अपने माल की खपत के लिए नये-नये बाजारों की खोज में निकल पड़े। अपनी आवश्यकता से अधिक माल तैयार होने पर विदेशों पर अधिकार करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। और राजनीति में जो देश दुबले थे वह उनके शिकार बनने प्रारम्भ हो गये। छोटे-मोटे देशों को सभ्य बनाने के दावे में उन्होंने उनपर कब्जा कर लिया। भारत जैसे देश पराधीन हो गये। राजनैतिक दृष्टि से देशों को पंगु बनाकर उन्हें अपने माल की खपत के लिए बाजार बना लिया। दास-देशों के उद्योग-धन्धे ठप करके अपने उद्योगों द्वारा तैयार किये गये माल का उन देशों में प्रचार किया गया और हाथ से बनी वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती चीजें देने के प्रलोभन में जनता को फँसा लिया। इस प्रकार मानव द्वारा मानव का शोषण होने लगा और साम्राज्यों की स्थापना इन्हीं व्यापारों के कारणों से होने लगी। छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों के दास बने और संसार भर के बाजारों तथा उपनिवेशों के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई, जिसके कारण अशांति और क्रांति के कारण आप से आप उत्पन्न होने लगे। उस युग में जो राष्ट्र बाजारों और उपनिवेशों के स्थापित करने में पीछे रह गये वह कमजोर हो गये और जिन्होंने जितने अधिक क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया, वह संसार में उतनी ही उन्नति कर गये। इसका फल हुआ निरंतर युद्ध और क्रांतियाँ। यह युद्ध और क्रांतियाँ कई देशों में हुईं। एक देश में हुईं और विश्वभर में व्यापक हो गईं। इस प्रकार मशीनों की वृद्धि ने जहाँ अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन दिया वहाँ पराधीनता, युद्ध की दानवी मनोवृत्तियों, प्रतिस्पर्द्धा, पूँजीवादिता की क्षुद्र राष्ट्रीयता को जन्म देकर मानव-जीवन में अशांति का बीजारोपण कर दिया। इस प्रकार मशीनों के आविष्कार ने औपनिवेशिक संघर्ष को जन्म दिया, पूँजीवाद और मार्क्सवाद को जन्म दिया और दासत्व और पराधीनता की भावना को जन्म दिया। मानव और देशों में से स्वावलम्बन नष्ट हो गया। इसने विविध वर्गों के पारस्परिक संघर्ष को जन्म दिया जिससे मानव-जीवन दिन-प्रति-दिन अशांत होता जा रहा है।

आज धार्मिक अशांति का युग नहीं रहा (कुछ पिछड़े हुए देशों में कभी-कभी धार्मिक अशांति की चिंगारी भी दहक उठती है परन्तु कम), एकतन्त्रवाद (Dictatorship) का भी समय निकल चुका है। आज युग आ गया है प्रजातन्त्र और कम्युनिज्म की टक्कर का समय और परिस्थितियाँ बतलायेंगी कि इनमें कौन शांति की ओर और कौन अशांति की ओर अग्रसर है। इस विषय पर संघर्ष चल रहा है। यह वर्गों का संघर्ष मानव-जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखता है इसलिए मानव किसी भी परिस्थिति में उसे भुलाकर नहीं चल सकता। इस प्रकार हमने देखा कि यह वर्गीय-असन्तुलन मानव-जीवन में निहित अशांति का आज प्रधान कारण है।

आज मानव अध्यात्मवाद से भौतिकवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है। आज की सभ्यता अर्थ-प्रधान बनती जा रही है। मानव-जीवन की बाहरी आवश्यकताएं ही उसके लिए सब कुछ हैं। आत्मा-परमात्मा के प्रश्नों पर विचार करने का

उसके पास समय नहीं। मानव में हृदय-पक्ष का अभाव और बुद्धि-पक्ष का प्राबल्य होता जा रहा है। आज 'हाय पेट' 'हाय पेट' के नारे लगाने पर भी वह खाली का खाली दिखाई दे रहा है। मानवता नैतिक और आर्थिक संघर्ष के पैरों तले कुचली जा रही है। जीवन के साधनों की कमी और बँटवारा असन्तुलित है। मानव के प्रत्येक क्षेत्र में छीना-झपटी का साम्राज्य है, फिर भला शांति कहाँ ? आज अविश्वास और धोखे की नौका में बैठकर मानव संसार-सागर में अपनी नौका खे रहा है। मानव लक्ष्य-विहीन है, ध्येय-विहीन है, वह आँख मींचकर बस चलता चला जा रहा है। आज मानव-जीवन में सत्य, तप, सात्विकता, दया, सन्तोष और कोमलता के स्थान पर आते जा रहे हैं छल-छिद्र, धोखा, असंतोष, कठोरता और स्वार्थ-लिप्सा। आत्मतत्त्व को भुलाकर आज मानव जिस पतन की ओर जा रहा है वह मानव-जीवन में शांति का संचार करने वाला नहीं। इस वैज्ञानिक युग में विश्व की शक्तियों का उद्घाटन तो अवश्य हुआ परन्तु जीवन में अश्रद्धा और अशांति ने जन्म ले लिया। अश्रद्धा और अशांति क्रांति के मूल तत्त्व हैं और इनका बीजारोपण आज मानव-समाज में पूरे रूप से हो चुका है।

भारत विज्ञान से प्रभावित अवश्य हुआ है परन्तु आज भी भारत में रूढ़िवाद या पुराणवाद का नितांत लोप नहीं हो गया है। आज भी भारत की प्राचीनता के पीछे आँख मींचकर चलने वालों की कमी नहीं। समाज और धर्म के प्रतिबन्धों के सम्मुख अभी तक क्रियात्मक रूप में वैज्ञानिक सिद्धियाँ फलीभूत नहीं हो पाई हैं। मानव मानव समान हैं, वर्ग-व्यवस्था क्रत्रिम है, यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया, परन्तु भारत में समाज और धर्म के नाम पर वर्ग अभी तक ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं। आज के वैज्ञानिक युग में धर्म के ठेकेदारों का महत्त्व कुछ कम अवश्य हो गया है, परन्तु कठिन परिस्थितियों में ऊबकर वह भी बवण्डर पैदा करे डालते हैं। भारत-विभाजन के समय भारत-पाकिस्तान में क्या कुछ नहीं हुआ धर्म के नाम पर ? आज के विज्ञान ने एक दूसरे की आवश्यकताओं को एक दूसरे के हाथों में रखकर दोनों को एक स्थान पर लाने का प्रयत्न किया है। धर्म मानव की इस स्वाभाविक भावना के बीच में बाधक बनता है और समाज के क्षेत्र में उतरकर ऐसे प्रतिबन्ध उपस्थित कर देता है कि मानव-प्रगति रुककर अशांतिमूलक बनने लगती है। आज के वैज्ञानिक युग में निरक्षरता का प्रभाव संसार पर पर्याप्त और उसी के कारण धर्म के नाम पर अन्धविश्वास के विरुद्ध भी बलवती भावना जनता में जन्म लेकर विश्व पर आच्छादित होने का स्वप्न देख रही है और उसे टक्कर लेनी होती है प्राचीन रूढ़िवाद से। इस टक्कर के फलस्वरूप भी अनेकों कारण उत्पन्न हो जाते हैं और देश-विदेशों में कभी-कभी उसकी चिनगारियाँ दिखाई देने लगती हैं। जीवन में आध्यात्मिक तत्त्वों का नितांत लोप होने पर भी धर्म का पल्ला जकड़कर पकड़ने की प्रणाली और असंतोष और निर्बल अहंकार की भावना को प्रोत्साहन दिया है। यह भी मानव-समाज के अहित की ही भावना है जिसमें शांति का अभाव है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख वर्तमान मानव-अशांति के तीन प्रधान कारण आते हैं। सर्वप्रथम असन्तुलन, जिसके अन्तर्गत हम धार्मिक असन्तुलन, सामाजिक असन्तुलन और राजनैतिक असन्तुलन तीनों को ही ले सकते हैं। तीनों ही विषमताओं के कारण सम-भाव न रहने से संघर्ष और अशांति का सूत्रपात होता है। जब एक भूखा मरता है और दूसरे को वह ऐश करते देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसके हृदय में स्पर्द्धा का जन्म होता है और वह अशांति की ओर अग्रसर हो जाता है। आज केवल भाग्य के नाम पर पड़े-पड़े भूखे मरने का युग समाप्त हो चुका। यातायात के तीव्र प्रयाग के कारण संसार एक गृहस्थ-सा बन गया है। एक ही गृहस्थी में दो प्रकार के आदमी नहीं रह सकते। एक भूखा रहे दूसरा दूध-घी पीये-खाये, यह नहीं चल सकता और जिस घर में यह दो भाव हो जाते हैं वहाँ अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। वर्ग-व्यवस्था पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। मशीनों के युग में पूँजीपति-वर्ग का जन्म हुआ है और इस वर्ग ने मजदूर-वर्ग का शोषण किया है। आज मजदूर-वर्ग जागरूक हो चुका है। वह संघर्ष के लिए पूर्ण रूप से उद्यत है और वह पूँजीपति के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग करने को उद्यत नहीं। वह जब भी पूँजीपति को कठिन परिस्थिति में देखता है उसी समय अपना हड़ताल का अस्त्र लेकर संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़ता है और आज के युग में ही उसका बोलबाला है। विश्व की प्रगति मजदूर के पक्ष में है, पूँजीवाद के पक्ष में नहीं।

आज के युग में फिर से मानव-जीवन में भौतिकवाद के प्रति घृणा और अध्यात्मवाद के प्रति आकर्षण होगा, इसके लक्षण अभी तो कुछ प्रतीत नहीं हो रहे। अध्यात्मवाद का भविष्य अन्धकारपूर्ण दिखाई देता है और इस कारण कभी तो मानव-जीवन में बिना आध्यात्मिक जागरूकता से शांति का प्रादुर्भाव होगा यह बात कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है। कामनाओं के भोग से कभी इच्छा की पूर्ति नहीं होती, बल्कि यह नवीन से नवीन रूप में सर्वदा प्रबलतम ही होती जाती है। एक बार मानव जब इच्छाओं की वृद्धि के चरम लक्ष्य पर पहुँचकर शान्ति प्राप्त न कर सकेगा तो उसे टक्कर लगेगी, उसका स्वप्न भंग होगा और सम्भवतः वह फिर भौतिकवाद की ओर से अध्यात्मवाद की ओर लौटे। उस समय मानव अशान्ति के स्थान पर शान्ति का स्वप्न देख सकता है।

आज रूढ़िवाद और विज्ञान को मिलकर चलने की आवश्यकता है। जब तक कुछ ऐसे विचारक पैदा नहीं होंगे जो दोनों में समन्वय की भावना को लाकर मानव-जाति के कल्याण के लिए एक ऐसा मार्ग निर्धारित न करदें कि जिस धरातल पर कि प्रेमपूर्वक दोनों विचारधारी शान्ति का श्वाँस ले सकें, उस समय तक विश्व में अशान्ति ही अशान्ति है। शान्ति और अशान्ति वास्तव में मानव के अपने मन की स्थितियाँ हैं जो बाह्य कारणों से उदय होती हैं, प्रस्फुटित होती हैं, फैलती हैं और पुष्पित होती हैं। इसलिए आज के युग की शान्ति और अशान्ति के मूल प्रश्न का भी हल मानव-हृदय से ही अधिक सम्बन्ध रखता है, वैज्ञानिक आविष्कारों से उतना नहीं। एटम

श्रम से सर्वनाश किया जा सकता है, सर्व-शान्ति नहीं। सर्व-शान्ति तभी होगी जब धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सन्तुलन होगा, जब धार्मिक सहिष्णुता पैदा होगी, जब प्राचीनता और नवीनता का समन्वय होगा और मानव हठ को छोड़ कर शान्ति की ओर अग्रसर होगा।

संक्षिप्त

१. भूमिका।
२. आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक सन्तुलन।
३. प्राचीनता और नवीनता की टक्कर।
४. मशीन-युग से वर्ग का जन्म और संघर्ष।
५. मानव-जीवन से अध्यात्मवाद का लोप और भौतिकवाद का उदय।

वैज्ञानिक संसार किधर को ?

२१७. जब मानव में विचार-शक्ति का उदय हुआ तो उसे संसार में प्रतिदिन की घटनाओं के प्रति कौतूहल उत्पन्न हुआ। आदि-मानव ने कौतूहलपूर्ण समस्याओं पर विचार करना प्रारम्भ किया और मानसिक विकास की पूर्ति प्रारम्भ में उसने कल्पना से की। इस प्रकार कल्पना और बुद्धि ने पौराणिकवाद को जन्म दिया परन्तु मानव में ज्यों-ज्यों बुद्धि-तत्त्व का विकास होता गया त्यों-त्यों वह कल्पना का आश्रय छोड़ कठोर सत्य, अनुभव, तर्क और परीक्षण की कसौटी पर अपनी जिज्ञासा की समस्याओं को कसने लगा। इस प्रकार विज्ञान ने सत्य की खोज की और इस खोज में अनेकों वैज्ञानिकों ने अपने जीवन होम दिये। एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में उतनी और सम्भवतः उससे भी अधिक दत्तचित्तता से कार्य-मग्न होता है जितना एक सच्चा पुजारी अपने मन्दिर में देव-मूर्त्ति के सम्मुख। वह अविरल प्रयत्न और परिश्रम करता है, भूख, प्यास और कष्ट सहन करता है और असफल होने पर भी धैर्य का परित्याग नहीं करता। पृथ्वी गोल है और सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, यह कठोर सत्य मालूम करने में वैज्ञानिकों को क्या-क्या कष्ट सहन करने पड़े, उनका आज अनुमान करना भी कठिन है। प्राचीन रूढ़िवाद के धर्मान्ध-युगों में सत्य की खोज करने वाले वैज्ञानिकों को धर्म-द्रोही कहलाकर क्रूर दण्ड सहन करने पड़े हैं। गैलीलियो को प्राण-दण्ड मिला, यह ऐतिहासिक सत्य है। आज जो देश सभ्यता के ठेकेदार बने बैठे हैं, एक युग वह भी रहा है, जब उन देशों में भी वैज्ञानिकों पर कठोर अत्याचार हुए हैं।

विज्ञान से मानव का विकास हुआ और मानव ने विज्ञान का विकास किया। खोज और परीक्षणों के फलस्वरूप नवीनतम खोजों और नवीनतम आविष्कारों में संसार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हुआ। विज्ञान ने संसार को कार्य और कारण का परिचय कराया। समस्याओं के हल ने नवीन

समस्याओं को जन्म दिया। फिर उनकी खोज हुई और संसार प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ। वैज्ञानिक देश, काल, जाति, धर्म, समाज, रूढ़िवाद, हृदय-पक्ष आदि के सम्बन्धों से मुक्त होकर बुद्धि-तत्त्व के आधार पर अपने प्रयोगों और परीक्षणों को लेकर चले और आशातीत उन्नति की। विज्ञान दो दिशाओं में अग्रसर हुआ, एक प्राकृतिक खोज के क्षेत्र में जैसे आकाश, पाताल, सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी, सृष्टि, शक्ति इत्यादि की खोज और दूसरे आविष्कारों की दिशाओं जिसमें बिजली, भाप और वायु की शक्तियों से मानव के जीवन को सुखी बनाने के साधनों को जुटाना। इस प्रकार हम इन दोनों धाराओं को ज्ञानात्मक और उपयोगात्मक दो धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। ज्ञानात्मक विज्ञान के मार्ग में कुछ उपयोगात्मक वस्तुएँ वैज्ञानिकों के हाथ लग गईं और उनका आविष्कार करके वैज्ञानिकों ने संसार को क्या दिया, इस पर आगे विचार करेंगे।

आज के विज्ञान ने संसार को एक यूनिट बना दिया है। जिस प्रकार संध्या को गाँव की चौपाल पर बैठकर प्राचीन काल में गांव की दिन भर की घटनाओं का ज्ञान हो जाता था उसी प्रकार आज रेडियो के सम्मुख बैठकर संसार भर का ज्ञान हो जाता है। आज हवाई जहाज की सुविधा द्वारा मानव संसार भर की सैर चन्द दिनों में कर सकता है। आज रेलों की सहायता से कोई भी सामान देश के एक कोने से दूसरे कोने में भेजा जा सकता है। आज पानी के जहाजों में सामान भरकर दूर देशों को भेजा और वहाँ से मँगाया जाता है। एक स्थान के अनाज की पूर्ति इस प्रकार दूसरे स्थान की उपज से हो जाती है। बेतार का तार, तार और टेलीफ़ोन द्वारा एक स्थान की सूचनाएँ बहुत कम समय में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जा सकती हैं। रिकार्डों द्वारा विज्ञान ने मानव की आवाज को इस प्रकार सुरक्षित रख दिया है कि आज भी हम रेडियो पर तवे चढ़ जाने पर महात्मा गांधी के भाषण सुन सकते हैं। इस प्रकार विज्ञान ने हमें रेल, मोटर, हवाई जहाज, पानी का जहाज इत्यादि अनेकों यातायात के ऐसे साधन दिये जिनके कारण संसार भर का मानव एक दूसरे के इतने निकट हो गया जितना प्राचीन युग में कलकत्ता और पेशावर का रहने वाला भी नहीं था। इस प्रकार मानव विज्ञान का आधार पाकर एक-दूसरे की कठिनाइयों और आवश्यकताओं के निकट पहुँचा और संसार के व्यापार ने, संसार की सभ्यता ने, संसार की राजनैतिक स्थिति ने, संसार के उत्पादन-कार्यों ने थोड़े काल में ही महान् प्रगति और उन्नति की।

वैज्ञानिक आविष्कारों के क्षेत्र पर विचार करते समय हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि वैज्ञानिकों की प्रगति केवल उत्पादन की दृष्टि से ही न होकर विनाशकारी दृष्टिकोण से भी हुई है। जहाँ वैज्ञानिकों ने रेल, तार और जहाजों का आविष्कार किया है वहाँ तोप, बन्दूक, रिवाल्वर, राइफ़ल, बम, विषैली गैस और एटम बम के भी आविष्कारों ने एक युग में मानव को दानव बना दिया। एकतन्त्रवाद (फ़ासिज्म) और साम्राज्यवाद को जन्म दिया, निरंकुशता ने जोर पकड़ा और एक बार नहीं बल्कि

अनेकों बार विश्व-शान्ति संकट में पड़ गई ? इन आविष्कारों के कारण आज भी विश्व-शान्ति संकट में है। यह आविष्कार, दुराचार, निरंकुशता, दमन और दानवता की भावनाओं को दबाने के लिए भी हो सकते हैं और इनके प्रोत्साहन देने के लिए भी। इनके अतिरिक्त ऊपर जो उत्पादन के आविष्कार हमने गिनाये हैं उन्होंने भी विश्व-व्यापक युद्धों में समुचित सहायता दी है। इंगलैंड ने एक बड़ा पानी का जहाजी बेड़ा बनाया, जर्मनी ने हवाई बेड़ा बनाया, अमरीका ने एटम बम ईजाद किया और इस प्रकार कभी किसी देश ने संसार पर छा जाना चाहा और कभी किसी ने। वैज्ञानिक आविष्कारों ने इन प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन में बराबर सहयोग दिया है।

विज्ञान ने मानव-जीवन के सब पहलुओं पर प्रभाव डाला है। राजनीति पर विज्ञान का प्रभाव है, समाज पर विज्ञान का प्रभाव है, धर्म पर विज्ञान का प्रभाव है और अन्त में मानव के दैनिक जीवन पर विज्ञान का प्रभाव है। आज विज्ञान प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने पर तुला हुआ है और उसके फलस्वरूप मानव प्रकृति के प्रति उदासीन होता जा रहा है। मानव अपने दैनिक जीवन में कृत्रिम चमत्कारों से इतना प्रभावित हो चुका है कि वह वास्तविकता से दूर होकर एक स्वप्निल संसार में भ्रमण कर रहा है। मानव के जीवन से श्रद्धा, दया, धार्मिकता, और हृदय-पक्ष सर्वथा लोप होते जा रहे हैं। आज विज्ञान के चमत्कारों के मध्य में फँसा हुआ मानव प्रकृति के स्वतन्त्र वातावरण में विचरण करने की इच्छा मात्र को भी खो बैठा है। एक सिनेमा-प्रेमी को मुक्त बहने वाली सरिता के तट पर बैठकर वह आनन्द नहीं आ सकता जो उसे कृत्रिम-कला के मध्य प्राप्त होता है। बाग वाटिका-भ्रमण, वन-पर्वत की अनेकों दृश्यावलियाँ आज के वैज्ञानिक युग में मानव को प्रभावित नहीं कर पातीं। वह चाहता है हवाई जहाज की सैर, रेलों के एयर कंडीशन डिब्बों में बैठकर चलना और मोटरों में बैठकर विद्युत् द्वारा प्रकाशित शहरों की अट्टालिकाओं के बीच बनी हुई सुन्दर सड़कों पर घूमना। आज का मानव प्रकृति के प्रति उदासीन होता जा रहा है। एक वैज्ञानिक प्रकृति के सौन्दर्य का अपनी प्रयोग-शाला में ले जाकर विश्लेषण करता है; वह उसकी काट-छाँट करता है, तर्क करता है परन्तु हृदय-पक्ष का उसमें नितान्त अभाव रहता है। विज्ञान की इस प्रगति के आधार पर मानव-जीवन सरसता की ओर न बढ़कर शुष्कता की ओर बढ़ रहा है; नीरसता की ओर बढ़ रहा है और कर्कशता की ओर बढ़ रहा है। मानव-जीवन से दया का लोप हो रहा है। भक्ति-भाव मिट रहा है और आ रहा है कृत्रिम आकर्षण।

इस प्रकार विज्ञान द्वारा संसार संघर्ष की ओर जा रहा है, कृत्रिम की ओर जा रहा है और नीरसता की ओर जा रहा है। मानव-जीवन में से मानवीय भावना का लोप दिखलाई दे रहा है। आज का मानव मानव न रहकर एक यन्त्र बनता जा रहा है। संसार सहृदयता के साथ न चलकर एक यन्त्र की भाँति चल रहा है।

पश्चिम और पूर्व की सभ्यता

११८. पश्चिम और पूर्व की सभ्यताओं से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भारत और यूरोप से है। इन दोनों सभ्यताओं के मूल में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि भारत की सभ्यता जहाँ अध्यात्मवाद के आश्रित होकर चलती है वहाँ यूरोपीय सभ्यता सम्पूर्ण रूप से भौतिकतावादी बन गई है। सारांश यह है कि भारत की सभ्यता में महत्त्वपूर्ण स्थान है आत्मा का, शरीर का नहीं, और यूरोपीय सभ्यता में शरीर और पेट पहिले आते हैं। जब से मानव-जाति धर्म-विमुख होती जा रही है, उसकी ईश्वर पर से आस्था उठती जा रही है, उसके जीवन का हृदय-पक्ष निर्बल पड़ता जा रहा है, उस समय से उसके जीवन की त्याग-भावना, आत्मानन्द-भावना, पारस्परिक प्रेम-भावना यह सभी लोप होती जा रही हैं। जीवन मशीन के कल-पुर्जों की भाँति चल रहा है, एक कठोर जागरूकता के साथ। यह है यूरोप का प्रभाव।

यूरोप में कलों का आविष्कार हुआ और उन कलों ने मानव को भी एक कल मात्र ही बना दिया। मानव के जीवन को ऐसे जंजालों में जकड़ दिया कि उसकी स्वच्छन्दता, उसकी आगे बढ़ने की शक्ति, उसकी विचारने की शक्ति सीमित होकर रह गई। यूरोप की सभ्यता ने मानव को दी है एक अमिट प्यास, जो उसके हलक को हर समय सुखाये रहती है, दबाये रखती है। प्रारम्भ में यह प्यास मानव ने अपनी दीवानगी में पैदा की थी और आज यह प्यास बन बैठी है उसके जीवन का सर्वस्व। आज वह उसके बिना जीवित नहीं रह सकता। मानव के हृदय से सन्तोष की भावना को मिटाकर उसमें भर दी हैं नवीनतम आवश्यकताएँ कि जिनके प्राप्त करने में वह जीवन भर जुटकर भी सम्भवतः उन्हें प्राप्त न कर सके और वह आवश्यकताएँ हैं वास्तव में ऐसी कि यदि वह जीवन में न भी आयें तो जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

मानव और पशु का एक बहुत बड़ा अन्तर है त्याग। पशु में त्याग की भावना नहीं होती और मानव का यह प्रधान गुण है। भारतीय सभ्यता में प्राचीन काल से त्याग को विशेष महत्त्व दिया गया है। राम राज्य का परित्याग करके वन जाते हैं और भरत राज्य मिलने पर भी भाई के लिए उसका परित्याग करते हैं। राम किष्किन्धा और लंका के राज्यों पर विजय प्राप्त करके भी उन्हें सुग्रीव और विभीषण को सौंप देते हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र स्वप्न में भी दिये गये राज्य पर अपना अधिकार खो बैठते हैं, राज्य विश्वामित्र को देकर चाण्डाल की दासता ग्रहण करते हैं। कर्त्तव्य-पालन में अपनी पत्नी से भी पुत्र के ऊपर पड़ा हुआ आधा कफन माँगने में नहीं चूकते—पराकाष्ठा है यह मानव जीवन के आत्मोत्सर्ग की। आज इसके ठीक विपरीत यूरोपीय सभ्यता ने क्या सिखलाया है? धन, स्त्री, और भूमि के लिए नित्य समाज में सिर चौरे जाते हैं। धन के लिए भाई-भाई में, स्त्री पुरुष में, पिता पुत्र में नित्य कटुतर विवाद और संघर्ष चलते हैं। पाश्चात्य सभ्यता ने त्याग की भावना को

एकदम दूर रखकर प्रगति की है। इसीलिए उसमें लेने की भावना है देने की नहीं; पाने की भावना है, खोने की नहीं; कष्ट सहने की नहीं; हड़प करने की आकांक्षा है दूसरे के माल की रक्षा करने की नही। मानव आज पतन की ओर जा रहा है। मानव की आवश्यकताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं। अंग्रेजों ने एक महान् साम्राज्य की स्थापना की थी, वह आज नहीं रहा। अमरीका अपनी शक्ति और पैसे के अभिमान में फूला हुआ विश्व पर छा जाना चाहता है। रूस जहाँ अवसर मिलता है अपने हाथ-पैर फेंकने में नहीं चूकता। जापान, जर्मन और इटली की जो दशा हुई वह संसार देख चुका। कितने महायुद्ध आज तक विश्व देख चुका, और भविष्य में भी युद्ध के बादलों से मुक्त हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। यह सब क्यों ? इसका मूल कारण है मानव की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ और उसके हृदय में पश्चिमी सभ्यता की अशान्ति और सघर्ष का बीजारोपण।

मानव मानव में संघर्ष पैदा किया, मिल-मालिक और मजदूर में संघर्ष पैदा किया, जमींदार और काश्तकार में संघर्ष पैदा किया, छोटे-बड़े व्यापारी में संघर्ष पैदा किया और यह सघर्ष यहाँ तक बढ़ा कि स्त्री और पुरुष के बीच में भी संघर्ष पैदा हो गया। स्त्री और पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् अधिकार माँगने लगे। बस, गृहस्थ की नौका तो डाँवाडोल हो उठी। समाज का ढाँचा ही बदल गया। यही संघर्ष यूरोप से चलकर भारत में भी आया, परन्तु यहाँ की सभ्यता के सम्मुख उसकी दाल न गल सकी। कुछ पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने प्रयत्न भी किये परन्तु फल कोई विशेष न हो सका। पश्चिमी सभ्यता ने हमारे रूढ़िवादी आचार-विचार को भी ठेस पहुँचाई। शराब एक फैशन में सम्मिलित हो गई। पहिले लोग छुपकर शराब पीते थे, अब खुले आम पीने लगे। शराब पीना मानव-जीवन का दोष न रहकर हाईक्लास सोसाइटी का एक एटीकेट बन गया।

हम एक शब्द में ऊपर कह चुके हैं कि पाश्चात्य सभ्यता ने मानव-जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को प्रोत्साहन दिया, संघर्ष को जन्म दिया, कलह का बीजारोपण किया और अपहरण का आश्रय लिया। इसके फलस्वरूप मानव-जीवन एक संघर्ष का क्षेत्र बन गया। मानव-आत्मा के पास न तो चिंतन के लिए ही अवकाश रहा और न दया-भावना के लिए ही। उसकी अपनी समस्याएँ ही दिन-प्रतिदिन जटिल होती चली गईं। मानव जीवन अपनी समस्याओं से उलझने के स्थान पर और उल्टा उसमें उलझने लगा। भारतीय सभ्यता में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना केवल इसीलिए हुई थी कि मानव अपने कार्य-क्षेत्र में मुक्त होकर कार्य कर सके। पश्चिमी सभ्यता का शिकार बनकर आज मानव प्रकृति से दूर-दूर भगता जा रहा है। वह प्रकृति से डर के भागता है। विश्व भर के जंगल कटवाकर समाप्त कर दिये गये। अनेकों पहाड़ों को काट-काट कर मैदान बना दिया। यदि आज के संघर्षशील मानव के वश में हो तो वह समुद्र को सुखा डाले। मानव आज जिस दिशा में संघर्ष कर रहे हैं वह जीवन को शान्ति की ओर नहीं ले जाता। कामनाओं के भोगने से उनकी

तृप्ति नही होती ।

ज्ञान प्राप्ति के दो प्रधान साधन है, एक आत्म चिंतन और दूसरा बाह्य साधन । पश्चिमी सभ्यता ने बाह्य-साधनो पर बल दिया है और भारतीय सभ्यता ने आत्म-चिंतन पर । आत्म-चिंतन की प्रयोगशाला उसकी आत्मा है, उसका मन है। उसी मे वह अपने प्रयोग करके प्रकृति के गूढ रहस्यो का उद्घाटन करता है। एक वैज्ञानिक अपने जिस परीक्षण मे वर्षों तक बाह्य साधनो द्वारा असफल हो सकता है। उसी परीक्षण का रहस्य एक आत्म-चिंतक एक क्षण मे निकाल देता है। पश्चिमी सभ्यता दौडी है कोरे रूढिवाद के पीछे, मानवता के मूल सिद्धान्तो को भूलकर और यही उसका पतन है। जो सभ्यता संघर्ष सिखलाती है, हत्याओ को बढाती है और मानव-समाज मे प्रेम की भावना को नहीं भरती, वह मानव-समाज के लिए कभी भी हितकारी सिद्ध नही हो सकती। यहा हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते है कि जब मानव समाज पश्चिमी सभ्यता के घात-प्रतिघातो से तंग आ जायगा तब उसे भारतीय सभ्यता की ही क्रोड मे विश्राम मिलेगा। मानव जाति के अन्तिम घावो पर भारतीय सभ्यता को ही मरहम लगाना होगा। भारतीय सभ्यता मानव को संघर्ष की ओर न ले जाकर, ले जाता है शान्ति की ओर, मनमाग कामनाओ की ओर, स्वच्छ हृदयता की ओर, पवित्र भावनाओं की ओर, मानव-जीवन के व्यापक दृष्टिकोणो की ओर। भारतीय सभ्यता संघर्ष को प्रश्रय नही देती। भारतीय सभ्यता मे मानव संसार को अपनी आत्मा मे देखता था न कि अपने को संसार का एक अङ्ग मात्र। उसका दृष्टिकोण व्यापक होता है, विशाल होता है और उसके अन्दर रहता है सबके हित मे अपने हित की भावना। उस दिन वह सभ्यता सत्य थी, आज आदर्श मात्र-सी प्रतीत होती है, क्योंकि मानव पाश्चात्य सभ्यता से प्रेरित होकर भौतिकवाद और संघर्ष-वाद की ओर अपने केवल भौतिक आदर्शों को लिए 'नोट-नोट', 'कागज-कागज', 'मजदूरी-मजदूरी', कहकर नेत्र बन्द किए दौड रहा है। एक दिन वह भी आयगा जब इस अन्धे मानव को भौतिकवाद की कठोर टक्कर लगेगी, एक बार सर्वनाश-सा प्रतीत होगा, एक विशाल क्रान्ति होगी और फिर मानव लौटेगा अपना भारी और विश्रान्त हृदय लेकर। वह भारतीय सभ्यता की सुखदायिनी अङ्क मे शरण लेगा। वह होगा उन घावो पर मरहम लगाने का समय, जो अब निकट ही है, अधिक दूर नही।

संक्षिप्त

१. भूमिका ।

२. पाश्चात्य सभ्यता तडक-भडक वाली है और भारतीय सभ्यता में जीवन का कठोर सत्य छुपा हुआ है ।

३. पाश्चात्य सभ्यता मानव को संघर्ष की ओर ले जाती है और भारतीय सभ्यता शान्ति की ओर है ।

४. आज का मानव पाश्चात्य सभ्यता के पीछे आँखें मीचकर भाग रहा है ।

५. पाश्चात्य सभ्यता ने मानव से हृदय छीनकर उसे कल का पुजारी बना

दिया है ।

६. पाश्चात्य सभ्यता के पीछे आँख मींचकर भागने वाले मानव को एक दिन गहरी टक्कर लगेगी और उस दिन उसके घावों पर भारतीय सभ्यता ही मरहम लगा सकेगी ।

७. मानव को एक दिन अपनी भूल का अनुभव होगा और वह भारतीय सभ्यता को अपनायगा, क्योंकि मानव के मन की शान्ति का रहस्य भारतीय सभ्यता के ही पास है ।

भारत में सह-शिक्षा

३१६. बालक और बालिकाओं के एक साथ एक पाठशाला में बैठकर एक ही अध्यापक अथवा अध्यापिका द्वारा शिक्षा ग्रहण करने को सह-शिक्षा कहते हैं । अंग्रेजी में इसे को-एजूकेशन (Co-Education) कहते हैं अर्थात् सम्मिलित अथवा साथ-साथ शिक्षा । भारत में इसका न तो प्राचीन चलन था और न भारतीय सभ्यता में इस प्रकार का विधान ही मिलता है । आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि कुमारों और कन्याओं के विद्यालय पृथक्-पृथक् होने चाहिएँ और उनके बीच में काफ़ी फासला होना आवश्यक है । स्वामी दयानन्दजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि ब्रह्मचर्य-काल में लड़के और लड़कियों को आपस में बातचीत भी नहीं करनी चाहिए । इनका आपस में मेल घी और अग्नि के समान है । अग्नि के पास पहुँचकर कोई कारण नहीं है कि घी न पिघले । स्त्री का आकर्षण इतना अधिक होता है कि मानव-मन उसके सम्मुख मोम की तरह पिघलने लगता है और अपने कर्तव्य से गिर जाता है । ब्रह्मचर्य-काल में यदि विद्यार्थी अपने कर्तव्य से गिर जाता है तो वह जीवन भर मूढ़ ही बना रहता है और उसके जीवन की प्रगति समाप्त हो जाती है । महात्मा सूरदास को नारी के सम्मुख पिघलने पर अपनी आँखें फोड़नी पड़ी थीं । मनु महाराज ने भी मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य-काल में स्त्री के दर्शन नहीं करने चाहिएँ । शंकराचार्य्य ने भी इसका खण्डन ही किया है । महात्मा कबीर ने तो नारी को 'विकार' और 'आग' कहकर पुकारा है । इन्होंने तो नारी की परछाईं तक को घातक माना है । "नारी की छाईं परत अन्धा होत भुजंग । कबिरा कहो तिन-हाल क्या जो नित नारी संग ।"

भारत में सह-शिक्षा का प्रादुर्भाव पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से हुआ । भारत में अंग्रेज़ी शासन और शिक्षा-प्रणाली पर अंग्रेज़ी प्रभाव होने से सह-शिक्षा का भी यहाँ पर आना अनिवार्य हो गया । इसका प्रचार वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के अनुकूल है और बराबर बढ़ता ही जा रहा है । आज भारत के स्वाधीन होने पर भी सह-शिक्षा का प्रचार कुछ कम हो रहा हो, ऐसी बात नहीं है । सह शिक्षा का कार्य-क्षेत्र बराबर विस्तार के साथ दृढ़तापूर्वक प्रगति के पथ पर अग्रसर है ।

अब विचार करने योग्य प्रश्न यह है कि यह भारत के लिए हितकर

होगा या अहितकर। प्राचीन धार्मिक और सभ्यता के रूढ़िवाद में फँसकर इसके विरुद्ध आन्दोलन किया जाय या इसको ज्यों-का-त्यों पनाकर अपनी सभ्यता का एक अंग बना लिया जाय। अब यदि आन्दोलन करने वाली बात पर हम बल देते हैं, तो हमें यह विचार करना होगा कि क्या हमारे इस बल देने से वह आन्दोलन आज के प्रगतिवादी युग में सफल भी हो सकेगा? क्या हमारी बात मानकर बालक और बालिकाएं तथा उनके संरक्षक हमारे आन्दोलन का साथ देंगे? और यदि नहीं, तो फिर इस आन्दोलन के करने से भी क्या लाभ होगा? आन्दोलन होगा बालक बालिकाओं अथवा उनके संरक्षकों के हित में और वही हमारे आन्दोलन के प्रति आकर्षित न हों, तो फिर आन्दोलन करने से क्या लाभ? इससे सिद्ध हुआ कि वर्तमान प्रगति के युग में जब कि संसार के नर और नारी कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने जीवन पर इतनी तेजी से अग्रसर हो चुके हैं उस समय कोई भी इस प्रकार आन्दोलन सफलता को प्राप्त नहीं होगा जो उनके पल्ले पड़कर उन्हें एक दूसरे से पृथक् रखने का प्रयत्न करे।

जहाँ तक सह-शिक्षा के विपरीत विचारावलि का सम्बन्ध है वहाँ तक भारतीय विद्वानों ने इसका खंडन नहीं किया है। कुछ पाश्चात्य सभ्यता के विद्वानों ने भी इसे गलत मानकर इसकी निन्दा की है। इन्होंने जो स्त्री को 'बीमारी' कहकर पुकारा है और कहा है कि इसका प्रभाव न केवल विद्यालय के अन्य छात्रों पर ही पड़ेगा वरन् वहाँ के अध्यापक भी इससे मुक्त नहीं रह सकते और इस प्रकार विद्यालयों की प्रगति में बाधा उपस्थित होगी।

जो कुछ भी सही, यह तो हुईं आदर्शवाद की बातें। सभी चीजों के दो पक्ष होने अनिवार्य हैं। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसके गुण-ही-गुण हों और अवगुण हों ही नहीं। इसलिए हम अब सह-शिक्षा के गुण और दोषों पर विचार करेंगे। सह-शिक्षा के समर्थक भी हैं और विपक्षी भी और दोनों ही अपने-अपने मतों को बलवान समझकर तर्क द्वारा उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वास्तव में सत्य वह है जिसमें प्रगति हो और प्रगति उसमें होगी जिसमें कुछ आकर्षण हो। जीवन को नीरसता और शुष्कता की ओर ले जाने वाला आदर्श कड़वी कोनैन की भाँति है। बाल्य-काल में जब मानव का मन और उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ परिपक्व अवस्था में नहीं होतीं तो उन पर बुरी बातों का प्रभाव अच्छी बातों की अपेक्षा अधिक सुगमता से हो जाता है। सह-शिक्षा आकर्षण की वस्तु है और इसीलिए इसका प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका भविष्य अच्छा है अथवा बुरा यह विचारणीय प्रश्न है। क्या यह आकर्षण मिथ्या है, असत्य है, और अस्वाभाविक है? यदि नहीं तो फिर क्यों इसे प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए? क्यों प्राचीन रूढ़िवादों में फँसे रहकर हम उन्हीं पुरानी प्रथाओं को अपनाते चले जायँ जहाँ गुड्डों और गुड़ियों के विवाह नाई और ब्राह्मणों के संकेत पर हो जाते थे। क्यों न हम अपने बच्चों के भविष्य को उनके हाथों में सौंपकर चतुर निरीक्षकों की भाँति उन पर दृष्टि

रखें और उन्हें स्वतन्त्रता दें संसार-सागर में अपनी नौका खेने की ? ऐसा करने से हमारे बच्चे दुर्बल न बनकर उन्नत और बलवान बनेंगे, आत्मविश्वासी बनेंगे और उनमें अपना पथ स्वयं निर्धारित करने की सामर्थ्य आ जायगी। बच्चों को अपनी इच्छा के बन्धन में बाँधकर चलाना बच्चों के जीवन की प्रगति में बाधक है। वर्तमान प्रगति के युग में उन्हें मुक्त करना होगा, स्वतन्त्रता देनी होगी और इसी स्वतन्त्रता के मार्ग में सह-शिक्षा भी आ जाती है।

अप्राप्य वस्तु के प्रति आकर्षण और प्राप्त वस्तु के प्रति विरक्ति होना प्रकृति का नियम है। सह-शिक्षा में जो सबसे बड़ा दोष व्यभिचार फैलने का बतलाया जाता है वह तर्क की कसौटी पर आकर निर्मूल-सा ही सिद्ध होता है। नित्य साथ रहने वाली वस्तु के प्रति झूठा आकर्षण तो स्वाभाविक रूप से ही समाप्त हो जाता है। व्यभिचार को भी प्रोत्साहन साथ-साथ रहकर चलने से न होकर दूर-दूर रहकर चलने से होता है। सह-शिक्षा से साहचर्य की भावना का उदय होता है और इससे कभी-कभी प्रेमांकुर भी उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु उन्हें हम व्यभिचार नहीं कह सकते। यह मानव के जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, जो जीवन में किसी भी समय अंकुरित हो सकती हैं। यहाँ हमें यह मानना ही होगा कि साहचर्य से उत्पन्न हुआ प्रेमांकुर विवाह-बन्धन में अनबूझ पहेली की भाँति बँधाकर आये हुए गुप्त दान के प्रेमांकुर से कहीं अधिक सत्य है, बलवान है, और पुष्टि को प्राप्त होने को अपने में क्षमता रखता है। साहचर्य में जिस प्रेम-भावना का उदय होता है उसे न तो हम जीवन की त्रुटि ही मान सकते हैं और न व्यभिचार ही। सह-शिक्षा में विकार उत्पन्न हो सकते हैं तो साथ-साथ रहने वाले भाई-बहनों में क्यों विकार उत्पन्न नहीं होंगे, विकार में एक ओर का आकर्षण न रहकर दोनों ओर का होता है और दोनों ओर का होने पर भी यदि कोई भूल होती है तो उसके वह दोनों ही भागी होते है, उनके संरक्षक नहीं। हाँ, ऐसी कठिन परिस्थितियों में दोनों के चरित्रों और स्वभावों का संतुलन करना और उन्हें समझने का भार संरक्षकों के ही सिर पर रहता है।

कुछ सह-शिक्षा के पक्षपातियों का मत है कि सह-शिक्षा से पारस्परिक स्पर्द्धा का जन्म होता है और इसके परिणामस्वरूप दोनों पक्ष उन्नति करते हैं। लड़कियाँ ललित-कलाओं में प्रवीण होती हैं और लड़के गणित इत्यादि विषयों में। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के सहायक सिद्ध हो सकते हैं। दोनों में एक-दूसरे के देखा-देखी साफ़ और स्वच्छ रहने की भावनाओं का उदय होता है। एक-दूसरे के स्वभावों को समझने की क्षमता आती है। यह सभी बातें सह-शिक्षा से प्राप्त होती हैं। जो साधारणतया देखने में यह बहुत सरल-सी प्रतीत होती हैं परन्तु इसका बच्चों के चरित्रों पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ता है। प्रचीन रीतियों में फँसे हुए व्यक्ति धर्म के नाम पर, समाज के नाम पर, संस्कृति के नाम पर, और अन्त में व्यभिचार का भय दिखला-कर सह-शिक्षा का विरोध करते हैं। व्यभिचार स्त्रियों को बुर्कों में बन्द करके चहार-दीवारी का ताला लगाने पर भी यदि नहीं रुक सकता तो फिर उससे क्या लाभ ?

मानव की प्रगतियों को रोकने का साधन सम्भव नहीं बन सकता। प्रतिबन्धों से व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है, अशिक्षा की उन्नति होती है और मानव मूर्खता की ओर अग्रसर होता है। सह-शिक्षा द्वारा पली हुई बालिका अपने जीवन के विषय में स्वयं विचार करने में समर्थ होती है। वह अपना पथ स्वयं निर्धारित कर सकती है। बालक और बालिकाएँ अपने में स्वयं प्रवाह रखने वाली सरिताएं हैं। इनका मार्ग प्रदर्शन किया जा सकता है, इन्हें रोका नहीं जा सकता। रोकने की भावना में ही व्यभिचार है। झूठा ब्रह्मचर्य का ढोंग बाँधना मूर्खता है, अवनति है। आज के प्रगतिवादी युग में स्त्री को मुक्त करके उसे अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ देना चाहिए। यदि इस समय ऐसा न किया गया तो वह स्वयं मुक्त हो जायगी और वह दशा देश, जाति और समाज के लिए और भी भयंकर होगी। इसलिए यदि आज समाज को, धर्म को, देश को, अपनापन बनाये रखना है तो वह हर प्रकार के प्रतिबन्धों को कम करे और मानव को उसके पथ पर मुक्त कर दे। बच्चे अपने बाल्य-काल में अपने ऊपर हुए संरक्षकों द्वारा दुर्व्यवहारों को स्मरण रखते हैं और अपने युवा-काल तथा संरक्षकों के वृद्ध-काल में उनसे बदला लेते हैं। यह बात कठोर सत्य है जो आज भारत के घर-घर में देखने को मिलेगी। भारत की निन्यानवें प्रतिशत सास और बहुओं की लड़ाई का यही कारण है और उसी के कारण उनके घर नर्क बन जाते हैं। इसे रोकने का एकमात्र साधन सह-शिक्षा, साहचर्य और कठोर प्रतिबन्धों को उन्मुक्त करना है। राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के सदाचार को इससे ठेस लगेगी, यह असत्य है, ढकोसलेबाजी है। सह-शिक्षा से आत्महत्याएँ होती हैं, चरित्र दुर्बल हो जाते हैं, विद्या अध्ययन में बाधा पड़ती है, इत्यादि भावनायें गलत हैं, भ्रामक हैं, और मानव की प्रगति में रुकावट हैं। जाति के सपूतों की शिक्षा, स्वास्थ्य, चरित्र, ब्रह्मचर्य इत्यादि की दुहाई देकर व्यर्थ का आदर्शवाद छांटने वाला समय आज नहीं रहा। सह-शिक्षा समय की मांग है जो रुक नहीं सकती और उसे रोकने का अर्थ संसार को पीछे घसीटने के समान होगा, जो हो नहीं सकता, हो नहीं सकेगा।

संक्षिप्त

१. सह-शिक्षा किसे कहते हैं ?
२. सह-शिक्षा पश्चिम को देन है ?
३. सह-शिक्षा पर भारत के प्राचीन विचारक।
४. सह-शिक्षा के लाभ और हानियाँ।

ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस की शासन-प्रणाली

३२०. आज संसार की राजनीति में ब्रिटेन, अमरीका और रूस का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूस और अमरीका राज-नीति-संचालन के दो प्रधान केन्द्र हैं। ब्रिटेन अमरीका के साथ है। इस निबन्ध में हम इन तीनों देशों की शासन-प्रणालियों

पर विचार करेंगे।

ब्रिटेन—ब्रिटेन में वंश-परम्परा के आधीन राजा गद्दी पर बैठता अवश्य चला आ रहा है परन्तु उसके अधिकार सीमित होते हैं। ब्रिटन का राजा प्रोटेस्टेन्ट ही हो सकता है, रोमन कैथोलिक नहीं। राजा जो कुछ भी करता है वह पालियामेंट की अनुमति से करता है, और वह पालियामेंट की इच्छा को अस्वीकार नहीं कर सकता। मन्त्रियों के परामर्श द्वारा राजा पालियामेंट को भंग कर सकता है और किसी भी प्रस्ताव को पालियामेंट के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। राजा के पास अपने कार्य-संचालन के लिए हाउस आफ़ कामन्स—जनता-गृह—और हाउस आफ़ लार्ड्स—राजकीय गृह होते हैं। जनता-गृह का नेता प्रधान मन्त्री कहलाता है। प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियों का चुनाव करता है और राजा फिर उन्हें स्वीकार कर लेता है। राजा को निजी व्यय के लिए एक लाख दस हजार पौंड वार्षिक मिलता है।

ब्रिटेन के जनता-गृह में ६३५ सदस्य होते हैं और यह सभी मतदाताओं के चुने हुए होते हैं। ब्रिटेन में हर २१वर्षीय व्यक्ति को जिसका मस्तिष्क ठीक है, मत देने का अधिकार होता है। वार्षिक बजट इसी गृह में स्वीकृत होता है। जनता-गृह के अधिकार हर क्षेत्र में बहुत व्यापक हैं और राजकीय गृह के सीमित। राजकीय-गृह में यदि कोई प्रस्ताव स्वीकृत न भी हो तो वह दुबारा जनता-गृह में स्वीकृत होने पर स्वीकृत समझा जायगा। जनता-गृह के सदस्यों को ६०० पौंड वार्षिक वेतन मिलता है। प्रत्येक पाँचवें वर्ष इस गृह का चुनाव होता है। राजकीय गृह में ७४०,सदस्य होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव नहीं होता, बल्कि वंश-परम्परा से अधिकार प्राप्त होते हैं, और कुछ सदस्य राजा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह गृह भी आजकल राजा की ही भाँति सम्मान का ही सूचक रह गया है, क्योंकि इसके अधिकार कुछ नहीं हैं।

देश का शासन-प्रबन्ध मन्त्रिमण्डल द्वारा होता है और मन्त्रिमण्डल का चुनाव प्रधान मन्त्री करता है। प्रधान मन्त्री जनता गृह की बहुमत वाली पार्टी का नेता होता है। राजा मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति देता है। इस मन्त्रिमडल में तीन मन्त्री राजकीय-गृह से और शेष जनता-गृह से लिये जाते हैं। पालियामेंट में बहुमत न रहने पर मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना होता है। प्रधान मन्त्री को वार्षिक वेतन १,००० पौंड मिलता है। यह शासन-प्रणाली जनतन्त्रात्मक कहलाती है, क्योंकि इसमें जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किये जाने वाले शासन में राजा हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

अमरीका—पहिले अमरीका ब्रिटेन का एक उपनिवेश था परन्तु आज वह ४६ स्वतन्त्र राज्यों का एक संघ है। यह राज्य अपने आन्तरिक कार्यों में स्वतन्त्र हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका का एक प्रधान होता है और शासन का अधिकतर कार्य-भार प्रधान पर ही रहता है। यह चार वर्ष के लिए चुना जाता है, और चार वर्ष पश्चात् फिर नया चुनाव होता है। यह प्रधान कम-से-कम १४ वर्ष से संयुक्त राष्ट्र का निवासी होना चाहिए और उसकी आयु भी ३५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। प्रधान की मृत्यु अथवा उसके त्याग-पत्र देने पर उप-प्रधान कार्य को सँभालता है। ४६ राज्यों के

प्रतिनिधि मिलकर प्रधान और उप-प्रधान का चुनाव करते हैं। प्रधान का वार्षिक वेतन उसके जेब खर्च सहित एक लाख डालर मिलता है। उप-प्रधान को १५ हज़ार डालर मिलता है और यह सीनेट का प्रधान होता है। प्रधान कांग्रेस के प्रस्ताव को पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। प्रधान केवल सीनेट की सम्मति से विदेशों से सन्धि कर सकता है। राष्ट्र की सेना का अध्यक्ष भी प्रधान ही होता है। अमरीका के मन्त्रिमण्डल में १७ मन्त्री होते हैं, जिनकी नियुक्ति सीनेट की स्वीकृति से प्रधान ही करता है। इस मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री का वार्षिक वेतन १५ हज़ार डालर होता है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक प्रतिनिधि-गृह होता है और दूसरा सीनेट। प्रतिनिधि-गृह के सदस्य दो वर्ष के लिए चुने जाते हैं। प्रतिनिधि-कोर्ट यदि किसी पर अभियोग लगाता है तो वह अभियोग सीनेट में सुना जाता है। इस शासन-प्रणाली में शासक वर्ग, सुप्रीम कोर्ट और कांग्रेस के अधिकार पृथक् हैं। सीनेट में प्रत्येक राज्य के दो प्रतिनिधि रहते हैं जो कि वहां की जनता चुनकर भेजती है। इनकी अवधि ३ वर्ष की होती है। सीनेट का सदस्य बनने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह उस राज्य का नौ वर्ष से नागरिक रहा हो और उसकी आयु तीस वर्ष हो। सीनेट के हर सदस्य को दस हज़ार डालर प्रतिवर्ष वेतन मिलता है। इस प्रकार अमरीका का शासन-प्रबन्ध चलता है।

सोवियत रूस—सोवियत रूस ११ स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित है। ११ स्वतन्त्र राज्यों का यह संघ यूनियन आफ़ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक (U.S.S.R.) कहलाता है। इस संघ के प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता है कि वह जब चाहे संघ से पृथक् होकर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर सकता है। रूस की वर्तमान शासन-प्रणाली निम्नलिखित रूप से चलती है—

१. सुप्रीम कौंसिल या प्रेज़ीडियम।

२. व्यवस्थापिका सभा।

(क) कौंसिल ऑफ़ यूनियन।

(ख) कौंसिल ऑफ़ नेश्नेलिटीज़—प्रतिनिधि-गृह।

रूस के प्रतिनिधि-गृह में सब राज्यों के चुने हुए सुप्रीम कौंसिलों के प्रतिनिधि आते हैं। कौंसिल ऑफ़ यूनियन के और कौंसिल ऑफ़ नेश्नेलिटीज़—दोनों गृह मिल कर एक बड़ी कौंसिल का चुनाव करते हैं। प्रेज़ीडियम के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। शासन मन्त्रिमण्डल सँभालता है, परन्तु उसकी नियुक्ति इसी प्रेज़ीडियम द्वारा होती है। सुप्रीम कोर्ट की नियुक्ति भी इसी के द्वारा होती है। मन्त्रिमण्डल के निश्चयों पर विचार करना और युद्ध आदि विशेष महत्त्वपूर्ण मामलों पर अन्तिम निर्णय प्रेज़ीडियम द्वारा ही होता है। यह मन्त्रिमण्डल के प्रस्तावों को भी रद्द कर सकती है। इस सभा में प्रधान, उप-प्रधान, मन्त्री और इनके अतिरिक्त ३१ और सदस्य रहते हैं।

रूस में कम्युनिस्ट शासन है। साम्यवादी सिद्धान्त से अनुप्राणित शासन-व्यवस्था

द्वारा आज रूस का राज्य-कार्य-संचालन हो रहा है। रूस में साम्यवादी दल का संगठन उसी प्रकार है जैसे भारत में काँग्रेस का। साम्यवादी पार्टी का संगठन रूस में उसकी शाखाओं और उपशाखाओं द्वारा जल की तरह देश भर में बिछा हुआ है। संघ की 'केन्द्रीय कार्यकारिणी में कुल पाँच सदस्य हैं और पाँचों राज्य की केन्द्रीय कार्यकारिणी को चलाते हैं। इसका प्रमुख 'नेता प्रधान मन्त्री कहलाता है और राष्ट्र की समस्त शक्ति उसके हाथों में रहती है। सरकारी मन्त्रियों की नीति का निर्देशन यह साम्यवादी कार्यकारिणी करती है। इस प्रकार साम्यवादी दल का प्रधान मन्त्री ही रूस में अन्ततोगत्वा सबसे बड़ी शक्ति का केन्द्र हुआ।

रूस आज ६० विभिन्न राष्ट्रों और जातीय समूहों का साम्यवादी संघ है। मत देने के क्षेत्र में पूँजीपति का श्रमिक पर किसी प्रकार का दबाव नहीं। जाति और रंग का भेद-भाव रूस में नहीं मिलता। अमरीका में बहुत से अंग्रेजी न जानने वाले नीग्रो मताधिकार से वंचित हैं। परन्तु रूस में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक १७ वर्ष के नर-नारी को मताधिकार है और प्रत्येक २३ वर्ष का नर-नारी सर्वोच्च सोवियत का प्रतिनिधि चुना जा सकता है। रूस के प्रत्येक प्रतिनिधि को लैनिन के आदर्शों पर चलने की प्रतिज्ञा लेनी होती है। साम्यवादी शासन-प्रणाली के अन्तर्गत रूस ने गत वर्षों में आशातीत उन्नति की है। इस समय ३ करोड़ ४० लाख छात्र १०० से अधिक भाषाओं में बिना शुल्क विद्याध्ययन कर रहे हैं। इस प्रकार रूस की शासन-व्यवस्था का ढाँचा सुचारू रूप से चल रहा है। इस शासन-व्यवस्था में रूस उन्नति कर रहा है और यही शासन-व्यवस्था अब चीन में पहुँच गई है।

संक्षिप्त

१. ब्रिटेन, ब्रिटेन का राजा, जनता-गृह और राजकीय गृह।

२. अमरीका, प्रेसीडेन्ट, व्यवस्थापिका सभा (काँग्रेस) और सीनेट।

३. रूस, सुप्रीम कौंसिल या प्रेज़ीडियम, व्यवस्थापिका सभा और साम्यवादी दल का प्रधान मन्त्री।

स्वास्थ्य और व्यायाम

३२१. मानव-जीवन के दो प्रधान पक्ष हैं—एक शरीर-पक्ष और दूसरा आत्मा-पक्ष। दोनों की ही स्वस्थता पर मानव-जीवन की उन्नति अथवा अवनति आधारित है। स्वास्थ्य शब्द को आजकल केवल शारीरिक सुगठन और नीरोगिता का ही पर्याय-वाची मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में मानव के स्वास्थ्य का सम्बन्ध उसके दोनों ही पक्षों से समान रूप से है। यह दोनों ही मानव-जीवन में साथ-साथ चलते हैं और एक का दूसरे पर बहुत व्यापक प्रभाव होता है। शरीर की अस्वस्थता से मस्तिष्क अस्वस्थ हो जाता है और मस्तिष्क की अस्वस्थता से शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इसलिए जब स्वास्थ्य पर विचार करना है तो दोनों ही पक्षों पर विचारना आवश्यक है। अंग्रेजी की एक प्रधान कहावत है कि 'Health is Wealth' अर्थात्

स्वास्थ्य ही धन है। उर्दू की भी कहावत प्रसिद्ध है कि 'तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत है'। इन दोनों ही कहावतों का तात्पर्य यह है कि जीवन-संचालन के लिए स्वास्थ्य का अच्छा होना प्रधान रूप से आवश्यक है। मानव को स्वास्थ्य-रक्षा के लिए किन बातों का विशेष ध्यान करना चाहिए अब हम उन आवश्यकताओं पर विचार करेंगे। सर्व-प्रथम हम शारीरिक स्वस्थता को लेते हैं। शारीरिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है कि—

१. शरीर को पुष्ट करने वाला स्वच्छ भोजन खाना चाहिए।

२. रहने के लिए स्वच्छ वायुमण्डल में घर होना चाहिए जहाँ प्रकाश, धूप और हवा की कमी न हो।

३. शरीर की स्वच्छता के लिए पानी, साफ कपड़े और विशुद्ध वातावरण होना चाहिए।

४. शरीर पर उसका शक्ति के अनुसार ही कार्य-भार होना चाहिए।

५. शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम नितान्त आवश्यक है।

स्वास्थ्य-सुधार में सर्वप्रथम भोजन का स्थान है। भोजना कैसा होना चाहिए यह प्रश्न विचारणीय है। आज संसार में भोजन के दो वर्ग हैं, एक मांस-प्रधान और दूसरा अमांस-प्रधान। दोनों ही प्रकार के भोजनों से शरीर स्वस्थ रह सकता है, परन्तु दोनों ही प्रकार के भोजन करने वाले व्यक्तियों की प्रकृति में आकाश-पाताल का अन्तर हो जायगा। मांस खाने वाला व्यक्ति तामसिक वृत्ति धारण करेगा और फल-अन्न खाने वाला सात्विक। आज विज्ञान ने भोजन की शक्तियों को भी ज्ञात कर लिया है। डाक्टरों ने यह भी निर्णय कर लिया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन में क्या-क्या वस्तु कितनी मात्रा में होनी चाहिए? भोजन के परिवर्तन से छोटे-छोटे रोग भी स्वयं ही दूर हो जाते हैं, उनके लिए डाक्टरों के पास जाने की आवश्यकता नहीं। भोजन की सामग्री स्वच्छ होनी चाहिए, गली-सड़ी नहीं, क्योंकि जैसा भोजन किया जायगा उससे उसी प्रकार का रक्त बनेगा और उस रक्त से उसी प्रकार शरीर पुष्ट होगा। इस प्रकार स्वास्थ्य-रक्षा के लिए स्वच्छ और बलिष्ठ भोजना का होना नितान्त आवश्यक है।

स्वच्छ भोजन के साथ-ही-साथ मानव के रहन-सहन का प्रश्न सामने आता है। मानव के रहने के लिए ऐसा मकान होना आवश्यक है जहाँ पर विशुद्ध वायु आ सके। शहर की गन्दी गलियों में, गन्दी हवा में श्वाँस लेकर स्वस्थ व्यक्ति भी पानी में पड़े हुए पीले मेंडकों की तरह हो जाते हैं। जिस प्रकार पाल में दबकर हरे आम पीले पड़ जाते हैं, उसी प्रकार शहर की अँधेरी गलियों में रहने वाले व्यक्तियों के शरीर सूर्य का कम प्रकाश पाकर पीले ही हो जाते हैं। शरीर की स्वस्थता का विशुद्ध वायु और सूर्य के प्रकाश से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य की किरणों में वह शक्ति होती है कि वह मानव-शरीर के साधारण रोगों को तो बिना औषधि के ही नष्ट कर देती हैं। विशुद्ध वायु में श्वाँस लेने से रक्त साफ हो जाता है जिससे दिल अच्छी तरह

काम करता है। शुद्ध रक्त होने से शरीर बलवान होता है और स्वास्थ्य ठीक रहता है। मानव-शरीर पर धूप लगने से शरीर की त्वचा के छिद्र खुल जाते हैं और इस प्रकार त्वचा पर बाहर से भी वायु तथा प्रकाश का अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन छिद्रों द्वारा सूर्य की गर्मी पाकर शरीर का मैल बाहर निकलता है और शरीर स्वस्थ होता है। इस प्रकार विशुद्ध वायुमण्डल में, सूर्य के प्रकाश में रहना मानव-स्वास्थ्य के लिए किसी भी प्रकार अच्छे भोजन से कम नहीं है। रूखा-सूखा भोजन खाकर मनुष्य स्वस्थ और बलवान रह सकता है परन्तु गले-सड़े वातावरण और अन्धकार में रहकर वह अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता। बिना भोजन मानव महीनों जीवित रह सकता है परन्तु वायु के बिना तो एक क्षण भी जीवित रहना कठिन है।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए तीसरी आवश्यकता है शुद्ध वस्त्र तथा शुद्ध पानी की। शुद्ध पानी शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उतना ही आवश्यक है जितना स्वच्छ भोजन। पानी की मानव को भोजन से अधिक आवश्यकता है। स्वच्छ पानी से स्वास्थ्य सुधरता है। किसी-किसी स्थान का तो पानी ही इतना विशेष होता है कि दूर-दूर से यात्री वहाँ का पानी पीने और स्वस्थ होने के लिए आते हैं। गंगा-जल कभी नहीं सड़ता, यह उसकी विशेषता है और उसे पीने मात्र से अनेकों रोग चले जाते हैं। इस प्रकार विशुद्ध पानी जीवन की रक्षा तथा स्वास्थ्य की रक्षा दोनों के लिए नितान्त आवश्यक है। पानी के अतिरिक्त वस्त्र भी मानव की प्रधान आवश्यकताओं में से है। मानव-जीवन की जितनी आवश्यकताएँ हैं वह सभी उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आवश्यक हैं और इसीलिए उनका उसके जीवन में प्रधान स्थान है। वस्त्र शरीर को हवा, गर्मी और सर्दी से बचाते हैं। प्रकृति की तीव्र शक्तियों से यह उसकी रक्षा करते हैं। गर्मियों में मनुष्य नंगा भी रह सकता है परन्तु शीतकाल में तो वस्त्र उसके शरीर और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार पानी और वस्त्र स्वास्थ्य-रक्षा के प्रधान तत्त्व हैं जिनकी आवश्यकता मानव को होती है। स्वच्छ वस्त्र पहिनकर मानव का मन प्रसन्न होता है और वह बाहर से पड़ने वाले मैल से बचता है और इस सबका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर अच्छा पड़ता है।

यहाँ तक हमने मानव की आवश्यकताओं और उसके शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार किया। अब मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली एक प्रधान वस्तु है और वह है मानव को अपने जीवन के संचालन के लिए श्रम करने की आवश्यकता। यह श्रम थोड़ा-बहुत हर व्यक्ति को करना होता है। यह श्रम शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार का होता है और दोनों का ही मानव के स्वास्थ्य पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि मानव जो कुछ भी श्रम करे वह उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अनुकूल हो। उस श्रम को करने में उस पर इतना दबाव न पड़े कि जिसका प्रभाव उसके शरीर पर या मस्तिष्क पर इतना पड़े कि उसका स्वास्थ्य मस्तिष्क की दिशा से अथवा शरीर की दिशा से बिगड़ने

लगें। मस्तिष्क और शरीर की शक्तियों का सन्तुलन करके कार्य-भार मानव को अपने ऊपर लेना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो निश्चय ही मानव के स्वास्थ्य पर उसका गहरा प्रभाव पड़ेगा और वह अस्वस्थ होता चला जायगा।

स्वस्थ रहने के लिए हम ऊपर शुद्ध भोजन, शुद्ध पानी, शुद्ध वायुमंडल, शुद्ध वस्त्र, शुद्ध गृह और शक्ति के अनुसार श्रम की आवश्यकताओं पर विचार कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ आवश्यकताएँ और हैं जिनके न रहने पर ऊपर की सब सुविधाएँ होते हुए भी स्वास्थ्य बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। वह आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) व्यायाम।
(२) आचार-विचार तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण।
(३) जीवन का कार्यक्रम ठीक रखना।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए व्यायाम करना मानव के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यायाम करने का अर्थ डण्ड-बैठक या कसरत करके पहलवान बनना ही नहीं होता। व्यायाम मनुष्य को अपने शरीर की अवस्था और स्वास्थ्य के अनुकूल करना चाहिए। शरीर के सब रग-पट्ठों को खोलने के लिए इतना व्यायाम करना आवश्यक होता है कि जिससे वह खुल जायँ और शरीर में स्फूर्ति आ जाय। व्यायाम द्वारा ही शरीर की सब इन्द्रियाँ अपनी शक्ति को बढ़ाती और स्थायी रखती हैं। टहलना सब व्यायामों से अधिक लाभदायक होता है। वयस्क व्यक्ति के लिए तो टहलना बहुत ही आवश्यक है। कुछ हलका दौड़ने से भी शरीर स्वस्थ रहता है और बदन का पसीना निकल जाता है। पसीना आने पर वस्त्र बदलने चाहिएँ, क्योंकि भीगे हुए कपड़े स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद हैं। व्यायाम मानव-शरीर को बलिष्ठ तो बनाता ही है हृष्ट पुष्टता के साथ ही मानव में वह कठोरतम परिस्थितियों को सहन करने की शक्ति भी प्रदान करता है।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आचार-विचार पर नियंत्रण रखना नितान्त आवश्यक है। जो मनुष्य अपने आचार-विचार ठीक नहीं रखता उसका स्वास्थ्य स्वयं खराब होने लगता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता वह व्यक्ति कभी भी अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता। कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से ही मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता है। यदि जीभ के वश में होकर मनुष्य खाय रबड़ी और उसकी पाचन-शक्ति मूँग की दाल को भी न पचा सकती हो, तो निश्चय ही उसका स्वास्थ्य खराब हो जायगा। मानव को स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए संभोग-इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण रखना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि यह मानव-शरीर का वह स्खलन है कि जिसके द्वारा शरीर की शक्ति का बहुत वेग से ह्रास होता है। स्वास्थ्य-रक्षण के सभी साधन केवल इस कमी के सम्मुख व्यर्थ हो जाते हैं और इससे मानव-शरीर तथा मस्तिष्क दोनों ही अस्वस्थ होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अन्तिम आवश्यकता है जीवन के कार्यक्रम को व्यवस्थित

रखने की। ठीक समय पर सोना, ठीक समय पर उठना, ठीक समय पर दातुन करना, कुल्ला करना और नहाना, ठीक समय पर खाना, ठीक समय पर घूमना और व्यायाम करना और ठीक समय पर पढ़ना-लिखना तथा विश्राम करना—यह भी स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आवश्यक हैं। अनियन्त्रित और व्यवस्थित जीवन के कार्यक्रम से मानव का स्वास्थ्य गिरता चला जाता है और शरीर की मशीन इस प्रकार बिगड़नी प्रारम्भ हो जाती है कि फिर जीवन में सँभालने में नहीं आती। स्वास्थ्य एक बार बिगड़ जाने पर फिर अच्छा होना कठिन हो जाता है। इसलिए स्वास्थ्य की रक्षा पर मनुष्य को हर समय ध्यान देना चाहिए। स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर संसार के सभी उपभोग मानव के लिए व्यर्थ हो जाते हैं। वह संसार के किसी भी आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता। स्वास्थ्य खराब होने पर बहुत प्रिय वस्तु भी अप्रिय लगने लगती है, मानव की कार्य करने की शक्ति समाप्त हो जाती है, कार्य न करने के कारण उसकी आय के साधन समाप्त हो जाते हैं और वह उन कठिन परिस्थितियों में पड़ जाता है कि जीवन उसके लिए भार-स्वरूप प्रतीत होने लगता है।

संक्षिप्त

१. भूमिका।

२. स्वच्छ भोजन, स्वच्छ वायु, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ पानी मानव-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

३. व्यायाम, आचार-विचार तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा जीवन के कार्य-क्रम पर नियन्त्रण रखना।

आज का नागरिक

२२२. आज का नागरिक ही खोज का शासक है। यह रहस्य आज के नागरिक के विषय में जानकारी पैदा करने से पूर्व जान लेना आवश्यक है। एकतन्त्रवाद या तानाशाही काल में नागरिक का कोई महत्त्व नहीं था। उस समय शासित व्यक्ति प्रजा कहलाते थे और आज वह कहलाते हैं जनता। प्रजा और जनता में बहुत अन्तर है। प्रजा शब्द में दासत्व की भावना का आभास मिलता है जिसमें सुख की भावना का तो समावेश किया जा सकता है परन्तु अधिकार का नहीं। परन्तु जनता शब्द में चाहे सुख न हो परन्तु अधिकार का होना आवश्यक है। आज के युग में विश्व की प्रगति और संघर्ष सुख और शान्ति की ओर उतना नहीं है जितना अधिकार और शक्ति की ओर। आज का नागरिक अपने में संपूर्ण अधिकारों को निहित करके अपने को बलवान् देखना चाहता है। वह गर्व से फूला नहीं समाता जब वह यह अनुभव करता है कि उसके देश का उच्चतम अधिकारी उसकी राय से बनता है। वह अपनी राय के बल पर गर्व करता है और अपने को सशक्त समझता है।

जिन दिनों में राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था और उसके शब्दों

को वेदवाक्यदि उन दिनों शासन की समस्त शक्तियाँ राजा में ही निहित रहता थीं। जनता भेड़-बकरियों की भाँति राजा द्वारा चालित की जाती थी और उसे राजा के व्यवहार पर मत प्रकट करने का अधिकार नहीं रहता था। यदि राजा अत्याचार करता था तो जनता को वधिक की गऊ के समान उसे सहन करना होता था; परन्तु धीरे-धीरे जनता में जागृति होनी प्रारम्भ हुई। इंगलैण्ड में राजा और प्रजा के बीच एक युग तक संघर्ष चलता रहा। राजा की सेना और प्रजा के बीच संघर्ष पर संघर्ष हुए। न जाने कितना रक्तपात हुआ? रूस में जार के विरुद्ध वहाँ की जनता ने एक क्रान्ति की ज्वाला सुलगाई और जार के हाथों से शक्ति को हस्तगत करके रूस में साम्यवाद का प्रचार किया। आज वहाँ पर कम्यूनिस्ट सरकार है। अमरीका में भी जनतन्त्रात्मक राज्य है और वहाँ भी राज्य का अधिकारी जनता का चुनाव हुआ प्रतिनिधि होता है।

इस प्रकार आज हमने देखा कि नागरिक राष्ट्र की वह इकाई है कि जिसका महत्त्व भवन-निर्माण में आधार-शिला से किसी भी प्रकार कम नहीं होता। एक-एक नागरिक मिलकर राष्ट्र बनता है और आज राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक और राष्ट्र का सबसे बड़ा अधिकारी भी बन जाता है। आज का नागरिक बुद्धू न होकर जागरूक है। वह राष्ट्र को समझता है, देश को समझता है, जाति को समझता है, और अपने हितों को समझता है। प्रजातन्त्र सरकारें बराबर अपने नागरिक को समुन्नत विद्या-युक्त और प्रगतिशील बनाने में कर्मठ हैं। शिक्षा के सुप्रबन्धों द्वारा नागरिक को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक राष्ट्र का नागरिक जितना सुरक्षित होगा, जितना स्वस्थ होगा, जितना चतुर होगा, जितना देश-भक्त होगा वह राष्ट्र भी उतना ही उन्नत और सुदृढ़ होगा।

आज का नागरिक अपने नगर के प्रबन्ध में भाग लेता है, अपने प्रान्त के प्रबन्ध में भाग लेता है और अपने राष्ट्र के प्रबन्ध में भाग लेता है। वह जितना भी योग्य होगा उसका निर्वाचित किया हुआ सदस्य भी उतना ही योग्य होगा। किसी भी सदस्य के निर्वाचन में योग्यता ही केवल मापदण्ड होनी चाहिए। जो देश जागरूक हैं और एक लम्बी अवधि से अपने राष्ट्र को सँभालते चले आ रहे हैं वहाँ पर यह बात मिलती है परन्तु जो देश अभी पिछड़े हुए है वहाँ का नागरिक अभी तक इधर-उधर के प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाया है। प्रारम्भ में, इंगलैंड में पाकेट बारोज, रौटन बॉरोज इत्यादि होते थे जिनके फलस्वरूप जनता को सदस्य चुनने में कठिनाई होती थी और जनता का वास्तव में जो प्रतिनिधि होता था वह चुनने से रह जाता था। उस प्रणाली का यहाँ सुधार हुआ। अंग्रेजी शासन-काल में भारत के चुनावों में भी मतदाताओं पर भाँति-भाँति के प्रभाव डाले जाते थे। रुपये-पैसे वाले व्यक्ति रुपया देकर मत खरीद लेते थे, बड़े-बड़े जमींदार अपने दबाव में गरीब जनता के मत लेते थे और कहीं-कहीं पर सरकारी अधिकारियों का दबाव भी काम करता था। सरकार के पक्ष वाले सदस्यों के लिए सरकारी कर्मचारी अपना दबाव डालते थे और कुछ

प्रकार जनता के हितैषी सच्चे सदस्यों को चुने जाने में कठिनाइयों का सामना करना होता था। जनता के शुभचिन्तक नेताओं ने इस कठिनाई का अनुभव किया और जनता को जागृत करने में प्रयत्नशील हो गये। यह भावना न केवल भारत में ही थी वरन् समस्त संसार में यह भावना किसी-न-किसी रूप में पनप रही थी। राजाशाही समाप्त होने पर एक समय वह आया जब डिक्टेटरों का उदय हुआ और उन्होंने रिवाल्वर छाती पर रखकर मत लिये और फिर एक बार इन मतों द्वारा राष्ट्र के प्रतिनिधि बनकर राष्ट्र की समस्त शक्तियों को हस्तगत कर लिया। इन डिक्टेटरों ने एक बार फिर जनता की शक्ति को नष्ट करके शक्ति को अपने करों में ही केन्द्रित किया, परन्तु ऐसा करने वाले संसार के सभी राष्ट्र नहीं थे। इसी समय कुछ राष्ट्रों में प्रजातन्त्रवाद भी पनप रहा था और वहाँ की शासन-सत्ताएँ, यह सत्य है कि इसी नीति को अपने उपनिवेशों में प्रयोग कर रही थीं, परन्तु उनके अपने राष्ट्रों में पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रवाद व्याप्त हो चुका था और वहाँ का नागरिक जागरूक हो चुका था। इस प्रकार संसार दो क्षेत्रों में बँट गया था और इन दोनों पक्षों ने गत महायुद्ध में अपनी शक्ति की आपस में टक्कर ली। इस युद्ध में डिक्टेटरशिप का अन्त हो गया और उनके साथ ही बलपूर्वक मत लेने की प्रणाली का भी अन्त हो गया।

प्रजातन्त्र के हामी राष्ट्रों ने डिक्टेटरशिप को तो समाप्त कर दिया परन्तु उसके सामने अब समस्या आई उनके अपने उपनिवेशों की। इन उपनिवेशों में भी जनता जागृत होकर आन्दोलन कर रही थी। इन आन्दोलनों के नेता इस युद्ध-काल में युद्ध-काल का बहाना करके जेलों में ठूँस दिये गये थे। युद्ध समाप्त होने पर उन्हें मुक्त करना पड़ा, इन उपनिवेशों में फिर से जागृति की लहर दौड़ गई और वहाँ के नागरिक अपने नागरिक-अधिकार पाने के लिए फिर उथल-पुथल मचाने लगे। इस समय इन प्रजातन्त्रात्मक शक्तियों को विश्व में अपनी शक्ति और मान-मर्यादा बनाए रखने के लिए इन देशों को स्वतन्त्र करना पड़ा। ऐसा न करने पर संसार भर उसका शत्रु हो जाता और रूस को संसार में कम्यूनिज्म फैलाने में सहायता मिलती। रूस के मत-प्रसार से भयभीत होकर यह सब उपनिवेश मुक्त कर दिये गये। आज विश्व भर का नागरिक स्वतन्त्र है, मत-दाता है और अपने-अपने राष्ट्र का निर्माता है। कुछ छोटे-मोटे देश आज भी ऐसे पड़े हैं जिनमें इस स्वतन्त्रता का अभी तक अभाव बना हुआ है परन्तु वहाँ पर भी संघर्ष अभी तक बराबर चल रहा है और कोई कारण नहीं है कि निकट भविष्य में वहाँ पर भी जनतन्त्रात्मक सत्ता स्थापित न हो जाय। अमरीका में कुछ अंग्रेजी न जानने वाले नीग्रोज को मताधिकार नहीं है, उनमें जागरूकता आ जाने पर यह भी नहीं सम्भव हो सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि आज विश्व का नागरिक स्वतन्त्र हो चुका है, शक्तिशाली हो चुका है, अपने भाग्य का निर्माता बन चुका है, अपने विषय में सोचने-समझने और कार्य करने का उसे अधिकार है, वह राष्ट्र का संरक्षक है, राष्ट्र का सम्मान है, बल है, धन है, वैभव है—सर्वस्व है। राष्ट्र उसी के कन्धों पर है और

वही अपने राष्ट्र के भार को सँभालने वाला है। नागरिक जितना भी योग्य होगा उसका राष्ट्र उतना ही समुन्नत होगा।

संक्षिप्त

१. नागरिक क्या है और उसका क्या महत्व है ?

२. विश्व को किन-किन क्रान्तियों में से होकर नागरिक वर्तमान स्थिति में आया है ?

३. आज के नागरिक का राष्ट्र में क्या स्थान है ?

४. आज के नागरिक का स्वरूप।

भारत का भविष्य

३२३. भारत एक लम्बे युग की पराधीनता के पश्चात् स्वतन्त्र हुआ है। इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति में भारत को अनेकों बलिदान देने पड़े हैं, अनेकों कष्ट सहन करने पड़े हैं और अनेकों संघर्षों के बीच से होकर गुजरना पड़ा है। भारत राष्ट्र अपने स्वतन्त्रता संग्राम में कुछ आदर्श लेकर चला था और उन आदर्शों को वह आज भी भुलाकर नहीं चल रहा। स्वतन्त्रता मिलने पर देश की वह दशा थी कि जिस प्रकार किसी दुकान से सब माल निकालकर कोई परदेशी खाली दुकान और भूखे मरते हुए उस दुकान के मालिकों को छोड़ जाता है। युद्ध-काल में अंग्रेज भारत से १५ अरब रुपये का माल उठाकर ले गये जिसके फलस्वरूप देश माल से रिक्त हो गया और भारत की वर्तमान सरकार को मुद्रा-प्रसार करके अपना काम चलाना पड़ा। मुद्रा-प्रसार युद्ध-काल में पहले भी काफ़ी मात्रा में हो चुका था और फिर काम चलाने के लिए मुद्रा-प्रसार करना पड़ा। इससे रुपये का अवमूल्यन और चीज़ों के दामों में वृद्धि हो गई। इस महँगाई के फलस्वरूप देश में काला बाज़ार हुआ, रिश्वतें बढ़ीं, कंट्रोल लगे और एक अशान्ति का वातावरण पैदा हो गया।

यह रही आर्थिक समस्या। आर्थिक समस्या के अतिरिक्त भारत की स्वतन्त्र सरकार के सम्मुख सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक समस्याएँ भी हैं। भारत स्वतन्त्र होने पर भारत का विभाजन हुआ और देश में एक साथ उच्छृंखलता फैल गई। हिन्दुओं का पाकिस्तान से आना और मुसलमानों का पाकिस्तान जाना एक इतना बड़ा कार्य सरकार के सम्मुख आ गया कि देश भर में अशान्ति की लहर दौड़ गई। देश की आर्थिक अवस्था पहिले ही बिगड़ी हुई थी और फिर उस पर नया दबाव पड़ा। यह समस्या केवल इधर-उधर आने-जाने तक ही सीमित नहीं रही वरन् इस अशान्ति में वह मार-काट मची कि हिन्दुओं ने मुसलमानों को और मुसलमानों ने हिन्दुओं को गाजर-मूली की तरह काट-काट कर फेंक दिया। पाकिस्तानी साम्प्रदायिक नीति के और उजड़ती हुई अंग्रेज़ी सत्ता के फलस्वरूप यह जो कुछ भी हुआ भारत सरकार ने इसे शान्तिपूर्वक सहन किया और अन्त में अपने देश में शान्ति स्थापित

करने में वह सफल हो गई। भारत में आने वाले शरणार्थियों को पर्याप्त सहायता दी गई और भारत का जनता ने भी जी खोलकर उस कार्य में सरकार का हाथ बँटाया।

तीसरी विकट समस्या भारत के सम्मुख रियासतों की थी। अंग्रेजी सरकार ने जाते समय भारत का विभाजन तो किया ही, साथ-ही-साथ भारत की रियासतों को भी एकदम स्वतन्त्र कर दिया और इस प्रकार भारत के सम्मुख एक नवीन समस्या खड़ी हो गई। रियासतों के निरंकुश राजाओं ने विचारा कि चलो अंग्रेजों से मुक्त होकर निरंकुश शासन करने का उन्हें यह अवसर मिल गया। परन्तु सरदार पटेल ने रियासतों की समस्या को जितने सुन्दर ढंग से सुलझाया उसे देखकर विश्व चकित रह गया। सरदार पटेल ने थोड़े से ही समय में सब रियासतों में जनतन्त्रात्मक संस्थाओं को शक्तिशाली बनाकर शासन-सत्ताएँ उन्हीं के हाथों में सौंप दीं और रियासतों से निरंकुशता का सदा के लिए अन्त हो गया। सब रियासतों से जूनागढ़, हैदराबाद और काश्मीर की समस्याएँ अधिक विचित्र-सी रहीं परन्तु उनका भी हल सरकार ने उत्तम ही निकाला। जूनागढ़ और हैदराबाद की समस्याएँ समाप्त हो चुकीं, काश्मीर की समस्या लटक रही है। आशा है, निकट भविष्य में वह भी समाप्त हो जायगी। इस प्रकार रियासतों की दिशा से भारत-राष्ट्र कभी इतना सुदृढ़ नहीं हुआ, जितना आज है।

इन तीन समस्याओं पर विचार करके अब हम भारत के भविष्य पर विचार करेंगे। जहाँ तक भारत की विदेशी नीति का सम्बन्ध है भारत संसार के संघर्ष से मुक्त रहना चाहता है। आज विश्व राजनैतिक दृष्टिकोण के दो पक्षों में बँटा हुआ है, एक ऐंग्लो-अमरीकन पक्ष है दूसरा सोवियत रूस का पक्ष। भारत सरकार दोनों से ही मिलकर विश्व में शान्ति रखना चाहती है। अभी तक वह अपनी उस नीति में सफलतापूर्वक चल रहा है। भारत की यही नीति भारत को संसार में सम्मानपूर्ण स्थान पर स्थायी रखेगी। आज विश्व की समस्याओं में भारत-राष्ट्र का विशेष स्थान बन चुका है और पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी योग्यता से हर विदेशी नीति में भारत के नाम को बढ़ाया है।

भारत की अन्दरूनी समस्याओं में सबसे विकट समस्या आर्थिक ही है। भारत सरकार राष्ट्र की उत्पादन-शक्तियों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे रही है और निकट भविष्य में ही आशा की जाती है कि भारत की उत्पादन-शक्ति उसकी आवश्यकताओं से किसी प्रकार भी कम नहीं रहेगी, बल्कि यह आवश्यकता पड़ने पर संसार के अन्य भागों को कुछ दे सकेगी। नए-नए उद्योग-धन्धों की उन्नति की जा रही है। सरकार कृषि-विभाग पर विशेष बल दे रही है। जमींदारी-उन्मूलन से कृषक अपनी भूमि पर विशेष ध्यान और मेहनत से काम करेगा और इस प्रकार देश में अधिक अन्न उत्पन्न होगा। देश के कल-कारखानों की तरफ भी सरकार ध्यान दे रही है। बिजली बनाने के कारखाने बहुत बड़े पैमाने पर सरकार लगा रही है जिनके बन जाने पर यह संसार के सर्वोच्च देशों में भी आगे निकलने की अपने में क्षमता रखेगा। देश

में जहाज बनाने और ऐंजिन बनाने के कारखाने सरकार ने चालू कराये हैं जिनमें कई जहाजों ने बनकर भारत के सामुद्री बेड़े की शक्ति को बढ़ाया है। इस प्रकार भारत उत्पादन और व्यापार दोनों ही दिशाओं में समुचित उन्नति कर रहा है।

भारत के सामने सामाजिक और धार्मिक समस्यायें भी हैं। भारत की वर्तमान सरकार ने भारत के हर नागरिक को सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार दिया है। छुआछूत की समस्याओं को सरकार ने अपने हाथों में लेकर उनका अन्त कर दिया है। धर्म को राजनीति के क्षेत्र से निकालकर बाहर कर दिया है और यही कारण है कि भारत में धर्म के नाम पर रक्तपात होने की सम्भावना भविष्य में नहीं रह गई है। भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने मतानुसार धर्म-पालन का पूर्ण अधिकार है। वह जिस धर्म को जी चाहे पालन कर सकता है। भारत का भविष्य इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उज्ज्वल ही है। हिन्दू कोड-बिल के पास हो जाने से हिन्दू-समाज में व्यापक अनेकों बुराइयां समाप्त हो जायेंगी और मानव रूढ़िवाद से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर होगा। मानव-जीवन से धर्म के नाम पर पैदा होने वाला व्यर्थ का संघर्ष मिट जायगा और व्यक्ति को अपने धर्म में स्वतन्त्र रूप से आस्था रखने का अवकाश मिलेगा। वह मुक्त होकर परमेश्वर में अपनी आस्था बढ़ा अथवा घटा सकेगा, क्योंकि इस दिशा में उसके ऊपर कोई किसी प्रकार का सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक अंकुश नहीं रहेगा। यज्ञ, हवन इत्यादि में जिसकी श्रद्धा होगी वह करेगा और जिसकी नहीं होगी वह नहीं करेगा। कोई किसी को इन दिशाओं में बाध्य करने वाला नहीं होगा। समाज में मजदूरों और किसानों का स्तर पहले की अपेक्षा ऊँचा हो जायगा। वर्ग-समस्या यदि मिटेगी भी नहीं तो शोषण की भावना का अवश्य अन्त हो जायगा। निठल्ले व्यक्तियों का समाज में अनादर और मेहनती व्यक्तियों का आदर होगा। निठल्ले जीवन में दुखी रहेंगे और मेहनत करने वाले सुखी। आज निठल्ले आनन्द का उपभोग करते हैं और मेहनती भूखे मरते हैं, यह दशा बिलकुल बदल जायगी।

भारत में शिक्षा का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है और बढ़ता ही जायगा। भारत का नागरिक शिक्षित होकर अपने राष्ट्र को सम्मुन्नत बनाएगा और देश से जड़ता का प्रस्थान होगा। देश हर प्रकार की विद्या-कला में उन्नति करेगा और भारत के विद्यार्थी विदेशों से वहाँ की विशेषता सीखकर आयेंगे और उस विशेषता को भारत के लिए उपयोगी बनायेंगे। सरकार इस दशा में बहुत प्रयत्नशील है। विद्या के प्रसार से भारत की प्राचीन संस्कृति का एक बार फिर से उदय होगा और भारत के विद्वान् संसार को असंघर्षोन्मुखता की ओर ले जायेंगे। हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है। विश्व में इसका आदर होगा और देश-देशान्तरों के विद्यार्थी भारत के विश्वविद्यालय में आकर हिन्दी के माध्यम द्वारा विद्याध्ययन करेंगे। इस प्रकार भारत का गौरव देश-देशान्तरों में फैलेगा और भारतीय विचारधारा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। भारत में अंग्रेजी का वही स्थान रह जायगा जो जर्मन, फांसीसी

और रूसी इत्यादि भाषाओं का होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत उन्नति के पथ पर है और भविष्य में उन्नति की ही सम्भावना है। भारत राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक शिक्षा तथा कला इत्यादि की दिशा में उन्नति कर रहा है और करने की आशा है। भारतीय शासन-सत्ता भारत-राष्ट्र को एक उन्नत राष्ट्र बनाने के लिए प्रयत्नशील है। भारत का सुरक्षा विभाग भी उन्नति कर रहा है, परन्तु राष्ट्र का भारस्वरूप बनकर नहीं। अंग्रेज़कालीन व्यवस्था आज नहीं है। आज राष्ट्र अपना है और उसका रहने वाला हर व्यक्ति राष्ट्र का सैनिक है। आज विद्यालयों में भी सैनिक-शिक्षा पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में प्रारम्भ हो चुकी है और इस प्रकार एक ऐसी सेना बनती जा रही है जो भारत की रक्षा के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहेगी। आज के युग का सैनिक केवल वेतन के प्रलोभन पर चलने वाला सैनिक नहीं है बल्कि वह भारत-राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है, जो समय पड़ने पर अपने प्राणों का बलिदान देने के लिए सर्वथा उद्यत रहता है। आज भारत की हर व्यवस्था में अपनापन है, राष्ट्रीयता है और इसीलिए उसमें शक्ति है, बल है, प्रगति है और भारत का उज्ज्वल भविष्य है।

संक्षिप्त

१. भारत-विभाजन और देश की समस्याएँ।

२. शरणार्थियों की समस्या और धार्मिक उपद्रव।

३. भारत की रियासतों की विकट समस्या।

४. भारत के सम्मुख आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्या तथा उनका हल।

५. भारत के उद्योग-धन्धों, कृषि, शिक्षा इत्यादि को सरकार का प्रोत्साहन।

६. भारत का भविष्य।

पंचवर्षीय योजना

३२७. कोई कार्य करने से पूर्व उसकी योजना तैयार करनी होती है, तभी उस कार्य में संचालन में उचित व्यवस्था आ सकती है। उदाहरण के लिए यदि हमें कोई मकान बनाना है तो योजना तैयार करने से पूर्व चार बातों पर विचार करना होता है। प्रथम तो हमें देखना होगा कि उस मकान को बनाने के लिए कितने धन की आवश्यकता है और वह धन अपने पास उपलब्ध है अथवा नहीं, दूसरे उस मकान को बनाने के लिए धन होने पर भी वह सामग्री उपलब्ध है कि नहीं जिससे वह मकान बनता है, तीसरे उस मकान को कितना बड़ा होना चाहिए कि जिससे वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और चौथे स्थान पर हमें उसकी सौन्दर्य-प्रियता पर ध्यान रखना होगा। इस प्रकार हमारी भवन-निर्माण की इस योजना के

यह चार प्रमुख अंग बने ।

भारत की पंचवर्षीय योजना पर विचार करने से पूर्व हमें चाहिए कि हम इन्हीं चार बातों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालें । यह योजना भारत-सरकार के सम्मुख है और इसकी सभी देश और विदेश के प्रमुख व्यक्तियों ने प्रशंसा की है । देश की उन्नति के प्रायः सभी उपलब्ध साधनों को इस योजना के अन्तर्गत रखा गया है । देश की जनता, उनके परिश्रम की क्षमता, उनकी बुद्धि और कला-कौशल, प्रवीणता इत्यादि पर भी ध्यान दिया गया है । भारत के प्राकृतिक साधनों पर विशेष रूप से यह योजना आधारित है और इन्हें हम इस योजना की रीढ़ की हड्डी (Back-bone) कह सकते हैं । उक्त दो प्रधान वस्तुओं के अतिरिक्त पूँजीगत-साधन भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखते । पूँजीगत साधनों के ही अन्तर्गत हम देश की उपलब्ध फैक्ट्रियों, कारखानों, बिजलीघरों, जहाज़ों, रेलों, सड़कों, मोटरों, मकान, इमारतों और औज़ारों इत्यादि को भी लेते हैं । उक्त तीन प्रकार के साधनों में प्रथम दो प्रकार के साधन भारत में बहुतायत के साथ मिलते हैं । व्यक्ति-धन और प्राकृतिक-धन से भारत भरा पड़ा है और यदि इन दोनों का संगठन के साथ नियोजन कर लिया जाय तो तीसरे साधन की वृद्धि तो निरन्तर होती ही चली जायगी । इसमें कोई संदेह नहीं । किसी दूर-दृष्टि को ध्यान में रखकर यह पंचवर्षीय योजना बनाई गई है और इसके कार्य-रूप में संचालित करने के लिए विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने अपने-अपने पृथक्-पृथक् कार्यक्रम तैयार किये हैं ।

योजना की प्रमुख धाराओं पर नीचे हम संक्षेप में विचार करेंगे—

सिंचाई—भारत कृषि-प्रधान देश है, इसलिए देश की प्रथम आवश्यकता कृषि की उन्नति है । कृषि-क्षेत्र में उन्नति के लिए देश की प्रधान आवश्यकता फसल की समय पर सिंचाई होना है । विभिन्न प्रान्तों में सिंचाई की कई प्रकार की योजनाएँ तैयार की जा रही हैं । नदियों से नहरें निकालकर भूमि की सिंचाई करना तो पुरानी बात हो गई । अब नदियों में स्थान-स्थान पर बाँध बनाकर उनसे बिजली निकालकर बिजली से कुएँ बनाकर सिंचाई की महान् योजना तैयार की जा रही है और यह योजना अनेकों स्थानों पर सुचारु रूप से कार्य भी कर रही है । सरकारी योजनाओं के अतिरिक्त इस दिशा में विभिन्न प्रान्तों की सरकारें किसानों को उनके व्यक्तिगत प्रयासों के लिए सहायता भी दे रही हैं ।

बिजली—देश में सिंचाई-योजना के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े उद्योग-धंधे चालू किये जा सकें और अधिकाधिक नगरों तथा ग्रामों को प्रकाश के लिए बिजली दी जा सके, इस अभिप्राय से बिजली का अधिकाधिक उत्पादन करने का प्रयास किया जा रहा है । इस योजना के अन्तर्गत देश में कई बड़ी-बड़ी योजनाओं पर कार्य हो रहा है और उनके फलीभूत होने पर देश में नवीन चमत्कार देखने को मिलेगा । बिजली की शक्ति ने आधुनिक युग में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है वह किसी की दृष्टि से छुपा हुआ नहीं है । भारत में इस शक्ति के उत्पादन के लिए प्राकृतिक

साधनों की कमी नहीं है और आज भारत सरकार इन साधनों का शीघ्रतिशीघ्र प्रयोग करने की ओर विशेष ध्यान दे रही है।

खेती और पशु-धन की उन्नति—खेती के क्षेत्र में नवीन प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग किया जा रहा है। सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है। अच्छे बीज के लिए सरकारी सोसाइटियों से किसानों को बीज दिया जाता है। अच्छे खाद का भी प्रबन्ध सरकार ने अपनी ओर से किया है और सिंदरी में खाद का एक बहुत बड़ा कारखाना सरकार ने तैयार किया है, जो कि एशिया का अपने ढंग का सबसे बड़ा कारखाना है। इस दिशा में सरकारी और गैरसरकारी प्रयत्नों से जनता के हित को ध्यान में रखकर कार्य-संचालन हो रहा है। अच्छे और स्वस्थ जानवरों के लिए भी सरकार की ओर से प्रबन्ध किया जा रहा है। बड़ी-बड़ी डेयरी खोली गयी हैं और इण्डियन कौंसिल और एग्रीकल्चर रिसर्च के अन्तर्गत अमरीकी सहयोग द्वारा भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य हो रहा है। इस दिशा में सरकारी प्रयत्नों की अपेक्षा जनता का सहयोग सराहनीय है। अच्छी फसलों की नुमाइशें होती हैं और अच्छे पशुओं के मेले लगाये जाते हैं। इनमें सरकार की ओर से विशेष उन्नति करने वाले किसानों को पुरस्कृत करके उन्हें उत्साहित किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत देश के पशु-धन और खेतों की उन्नति करने का कार्य संचालन हो रहा है।

यातायात—हमारे देश में यातायात की व्यवस्था बहुत खराब है। देश छोटे-छोटे ग्रामों में बँटा पड़ा है जहाँ से माल को मंडियों तक ले जाने और अन्य प्रकार के छोटे बड़े उद्योग-धन्धों को उन्नत करने के लिए उचित यातायात-साधनों की आवश्यकता है। इस दिशा में भी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्य प्रारम्भ हो गया है। यातायात के साधनों में वृद्धि होने पर देश की आर्थिक उन्नति होगी और व्यापार को सहायता मिलेगी।

जन-स्वास्थ्य—उक्त साधनों के उपलब्ध होने या उन्हें उपलब्ध करने के लिये हमारे देश की जनता का स्वास्थ्य ठीक होना परमावश्यक है। जन-बल हमारे देश की महान् शक्ति है जिसका सही उपयोग करने के लिए उसे स्वस्थ रखना होगा। इस दिशा में भी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक व्यवस्थित योजना तैयार की गई है। देश की जनता को हृष्ट-पुष्ट, शक्तिशाली और परिश्रम करने योग्य बनाने के लिए पौष्टिक भोजन का मिलना, समय पर औषधियों का मिलना और शहर तथा नगरों में सफ़ाई और स्वच्छता का रहना नितान्त आवश्यक है। समय-समय पर फैलाने वाली बीमारियों की रोक-थाम करना भी इस योजना का एक अंग है।

शिक्षा—जनता की योग्यता की उन्नति के लिए उक्त सब बातों के साथ-ही-साथ शिक्षा का प्रबन्ध होना भी नितान्त आवश्यक है। इस योजना के अन्तर्गत बच्चों तथा प्रौढ़ों को सुशिक्षित बनाने के लिए नई-नई प्रकार की शिक्षा-योजनाओं का प्रसार किया जा रहा है। इसमें सामाजिक-शिक्षा का विशेष स्थान है जिसके अन्तर्गत भारत की प्रौढ़ जनता को नागरिक ज्ञान कराने का प्रयत्न सराहनीय है। शिक्षा की उन्नति

से ही हमारा देश उन्नति कर सकेगा। यह अटल सत्य है परन्तु यह शिक्षा आज अंग्रेजी-शासन-काल की ही भाँति चल रही है, यह खेद है। कुछ परिवर्तन इस दिशा में अवश्य हुआ है परन्तु बहुत कम। विभिन्न प्रकार के कारीगरी के स्कूलों की स्थापना की जा रही है जिनमें किताबी ज्ञान के साथ-ही-साथ दस्तकारी भी सिखलाई जाती है।

पिछड़े और सुविधारहित लोगों की उन्नति—पंचवर्षीय योजना के अन्दर हरिजन तथा देश की अन्य पिछड़ी हुई जातियों के उत्थान की ओर भी पूर्ण ध्यान रखा जा रहा है। इसके लिए निःशुल्क शिक्षा, छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था, हुनर और पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण के केन्द्र खोलना, खेती के काम में लगाना उनकी बस्तियों को उन्नत बनाना, बस्तियों में सड़कों तथा रास्तों का सुधार करना, कुएँ बनवाना इन सबकी ओर ध्यान दिया जायगा।

बहुधन्धी सामूहिक योजनाएँ—बहुधन्धी सामूहिक योजनाओं के अन्तर्गत गाँव वालों को उनकी उन्नति के अनुकूल वातावरण के लिए आवश्यक साधन जुटाये जायँगे। नये अनुसन्धानों और आधुनिक ढंग से विशेष ज्ञान का लाभ गाँव वालों को प्राप्त हो इस प्रकार का भी प्रबन्ध इस योजना के अन्तर्गत किया जायगा। इन सामूहिक योजनाओं में नई सड़कें बनाना, अधिक अन्न उपजाना, बच्चे तथा प्रौढ़ों को शिक्षित करना, पशु-धन की उन्नति करना इत्यादि कार्यवाहियों पर बल दिया जायगा।

समाज-सेवा के लिए प्रशिक्षण—ग्राम-सुधार का ठोस कार्य-सम्पादन करने के लिए कार्य-पटु व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए भी नियोजन किया गया है। काम के हर स्तर पर ऐसे योग्य और प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है। इन व्यक्तियों में सेवा की भावना और लगन होनी आवश्यक है। इन व्यक्तियों को खेती, पशु-पालन, स्वास्थ्य, सफाई, सामाजिक शिक्षा आदि के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार उक्त विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत भारतीय सरकार की पंचवर्षीय योजना संचालित हो रही है। इस योजना से देश और विदेश के प्रायः सभी लोग प्रभावित हुए हैं और भारत के भविष्य का, बहुत ही चमत्कृत रूप हमें इसमें स्वप्न सदृश देखने को मिलता है। यह योजना केवल सरकार के कन्धों पर बन्दूक चलाने से कभी भी फलीभूत नहीं हो सकती। सरकारी आयोजनों के साथ-साथ जनता के सहयोग की इसमें नितान्त आवश्यकता है और यदि सरकार तथा जनता सहयोग करके इस क्षेत्र में अग्रसर हो तो कोई कारण नहीं है कि यह योजना सफलतापूर्वक पूर्ण न हो।

सामुदायिक परियोजनाएँ

१२२. सामुदायिक परियोजनाएँ, जिन्हें अंग्रेजी में 'कम्यूनिटी प्रोजेक्ट' कहा जाता

है, देश के सामाजिक विकास की हमारी राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रस्तुत की गई कार्य-प्रणालियाँ हैं, जिनके द्वारा विशेष रूप से देश के देहातों की समृद्धि बढ़े। कारीगरी का विकास हो, खेती की नई योजनाएँ तैयार हों और शिक्षा इत्यादि के नए ढंग के केन्द्र खुलें। सर्वांगीण ग्राम-विकास से इन योजनाओं का सीधा सम्बन्ध ठहरता है। इस प्रकार के कार्यक्रम पश्चिमी देशों में भी बनाये गये हैं और उनमें काफ़ी सफलता मिलती है। वहाँ के परीक्षणों के देखते हुए भारत में भी उसी प्रकार की योजना बनाई गई हैं। ४१ मई, सन् १९५२ को अमरीका तथा भारत के बीच एक प्राविधिक (Technical) समझौता हुआ और उसके अनुसार अमरीका ने इन योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए पाँच करोड़ रुपया देना मंजूर किया। यह सहायता परामर्श, सामग्री और धन तीनों रूपों में दी जायेगी।

योजनाओं का कार्य पहिले से ही आरम्भ हो चुका था, परन्तु इनका वास्तविक श्रीगणेश २ अक्तूबर सन् १९५२ को गांधी-जयन्ती के अवसर पर किया गया। प्रातःकाल दस बजे सब योजना-क्षेत्रों में विभिन्न राज्यों के मन्त्रियों तथा उच्च पदाधिकारियों ने मिट्टी खोदने, मार्ग बनाने और इसी प्रकार के कार्यक्रमों से इसे प्रारम्भ किया। प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली राज्य के योजना-केन्द्र अलीपुर गाँव में जाकर अपने हाथ से मिट्टी खोदकर इसे प्रारम्भ किया। उनके साथ-ही-साथ दूसरे पदाधिकारियों ने भी मिट्टी की टोकरियाँ उठाईं और अपने हाथों से कार्य आरम्भ करने में योग दिया।

ये परियोजनाएँ समस्त देश में पचपन स्थानों पर प्रारम्भ की गईं। इतने बड़े देश के सामने ये पचपन योजनाएँ न के बराबर ही हैं। इस पर सरकार पचास करोड़ रुपया खर्च करेगी। इन योजनाओं में से प्रत्येक को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक खण्ड में १०,००० के लगभग आबादी वाले १०० गाँवों को लिया गया है। योजना-अधिकारियों के प्रशिक्षण (Training) केन्द्र भी खोले गये हैं। इन केन्द्रों में छः महीने की ट्रेनिंग दी जाती है। एक-एक सैशन में लगभग सत्तर व्यक्तियों को लिया जाता है। यहाँ से ट्रेनिंग पाकर ये अधिकारी किसी-न-किसी क्षेत्र में भेज दिये जाते हैं और वहाँ ये गाँव के लोगों के बीच रहकर कार्य करते हैं।

योजना के कार्यक्रम की साधारण सूची हम नीचे प्रस्तुत करते हैं—

१. कृषि सम्बन्धित कार्य—

(१) अनजुती और परती भूमि को खेती योग्य बनाना।

(२) सिंचाई के लिए नहरों, नलकूपों (Tube-wells) तथा बलधारण कुओं इत्यादि का प्रबन्ध करना।

(३) अच्छे बीजों को गाँव के लोगों के लिए उपलब्ध करना।

(४) खेती के नवीनतम तरीकों का देहाती भाइयों को ज्ञान कराना तथा उनकी सुविधाएँ उपलब्ध करना।

(५) खेती के औज़ारों का प्रबन्ध करना।

(६) अच्छे खाद का प्रबन्ध करना।

(७) उपज की बिक्री की व्यवस्था करना तथा किसानों को ऋण देना।

(८) पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना।

(९) पशु-पालन और उनमें सुधार की शिक्षा देना।

(१०) मछलियाँ पालने के केन्द्र स्थापित करना तथा गाँव वालों को उनकी अधिकाधिक वृद्धि की शिक्षा देना।

(११) खराब व्यवस्था का पुनः संगठन।

(१२) फलों और सब्ज़ियों की अधिकाधिक उत्पत्ति की शिक्षा देना तथा उसमें हर प्रकार का योग देना।

(१३) मिट्टी के सम्बन्ध में खोज करना।

(१४) अधिकाधिक पेड़-पौधों का लगाना।

(१५) खेती में होने वाली बीमारियों का इलाज करना।

२. संचार-साधनों का विकास—

(१) सड़कों और अच्छे कच्चे रास्तों का विकास करना।

(२) मोटरों की सवारी की व्यवस्था करना।

(३) पशु-परिवहन का विकास।

३. बच्चों तथा प्रौढ़ों की शिक्षा—

(१) प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(२) मिडिल और हाई स्कूलों की व्यवस्था करना।

(३) प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(४) वाचनालय तथा पुस्तकालयों की स्थापना करना।

(५) ग्रामोपयोगी साहित्य का वितरण करना।

(६) मनोरंजक साहित्य का वितरण करना।

४. स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रबन्ध—

(१) सफ़ाई तथा लोक-स्वास्थ्य की व्यवस्था।

(२) रोगियों के लिए चिकित्सालय की व्यवस्था। डाक्टरी तथा आयुर्वेदिक या यूनानी हकीमों का प्रबन्ध करना तथा शुद्ध औषधियों का प्रबन्ध करना।

(३) गर्भवती स्त्रियों के बच्चे पैदा होने के पहिले और बाद में देख-भाल का प्रबन्ध करना।

(४) गाँवों के मैले इत्यादि को दूर डलवाने की व्यवस्था करना, तथा गाँवों में नालियों इत्यादि का प्रबन्ध करना।

५. प्रशिक्षण (Training)—

(१) कारीगरों को अधिक योग्य बनाने के लिए 'रिफ्रैशर कार्स' (Refresher course) खोलना।

(२) खेती का प्रशिक्षण।

(३) कृषि-विस्तार सहायकों का प्रशिक्षण।

(४) सुपरवाइजरों का प्रशिक्षण।

(५) प्रबन्ध-कार्य सँभालने वाले कर्मचारियों का प्रशिक्षण।

(६) स्वास्थ्य-कर्मचारियों का प्रशिक्षण

(७) स्वास्थ्य-कर्मियों का प्रशिक्षण।

(८) एग्जीक्यूटिव आफ़िसरों का प्रशिक्षण।

६. नियोजन—

(१) ग्राम-उद्योगों या शिल्पों को मुख्य व सहायक धंधों के रूप में प्रोत्साहन

(२) फालतू आदमियों को काम पर लगाने के लिए छोटे-छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

(३) व्यापार-सहायक तथा कल्याणकारी सर्विसों में काम दिलाने की व्यवस्था करना।

७. आवास-व्यवस्थाएँ—

(१) गाँवों में पुराने घरों को ठीक-ठीक कराने का प्रबन्ध करना।

(२) नये घर बनाने में योग देना।

८. सामाजिक कल्याण-योजना—

(१) स्थानिक बुद्धि तथा सांस्कृतिक साधनों द्वारा जन-समुदाय के मनोरंजन की व्यवस्था करना।

(२) शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए रेडियो, सिनेमा, नाटक इत्यादि का प्रबन्ध करना।

(३) स्थानिक तथा अन्य प्रकार के खेल-कूद का प्रबन्ध।

(४) मेलों इत्यादि का प्रबन्ध।

(५) सहकारिता तथा अपना काम आप करो का प्रचार और प्रसार करना।

इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों के विकास का यह बड़ा ही व्यापक कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम को सम्पूर्ण करने के लिए जनता तथा कर्मचारियों के बीच सहयोग और सद्भावना की आवश्यकता है। दोनों के सहयोग के बिना ये योजनायें सफल नहीं हो सकतीं, क्योंकि इसकी पूर्ति में मनुष्य-बल का ही विशेष योग होने की आवश्यकता है। यदि ये योजनाएँ सफल हुईं तो इनसे निश्चित रूप से देश की एक बड़ी संख्या का हित होगा।

हिन्दी के कुछ प्रमुख कवि और लेखक

३२१. चन्द बरदाई (सं० १२२५-१२४९)—आप हिन्दी के प्रथम महा-कवि माने जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' इनका प्रधान ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज की प्रशंसा में लिखा गया है। ६९ समयों का यह ढाई हजार पृष्ठों का बृहद्

ग्रन्थ है ।

विद्यापति (सं० १४६०)—यह 'मैथिल-कोकिल' कहलाते हैं और इनकी गीतात्मक रचनाएँ मैथिल में ही हैं । बंगला वाले इन्हें अपना कवि मानने का काफ़ी समय तक प्रयास करते रहे परन्तु यह हैं वास्तव में हिन्दी के कवि । इनकी कविता में राधाकृष्ण का बिहार विषय है, जयदेव की प्रणाली है । यह भक्त कवि नहीं थे, वैष्णव कवि थे । हिन्दी में सर्वप्रथम आपने गीतात्मक काव्य लिखा । विद्यापति राजा शिवसिंह के दरबार में रहते थे ।

कबीर (जन्म-काल सं० १४५६)—कहते हैं विधवा के गर्भ से इनका जन्म हुआ; पालन-पोषण एक जुलाहे ने किया । कबीर की वाणी 'निर्गुण' पन्थ को लेकर चली है । इनकी कविता में रहस्यवाद मिलता है और इनके पन्थ में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलते हैं । आपने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों का समन्वय अपनी वाणी में किया है । 'बीजक' इनका प्रधान ग्रन्थ है ।

मलिक मोहम्मद जायसी—यह सूफ़ी प्रेम-तत्त्व के प्रतिपादक थे । 'पद्मावत' इनका प्रधान ग्रन्थ है, जिसमें हिन्दू-आख्यायिकाओं द्वारा सूफ़ी-प्रेम की भावना को प्रचारित किया गया है । इनका समय सं० १५२० के लगभग है । पद्मावत हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, रामचरितमानस के बाद दूसरा स्थान रखता है ।

गोस्वामी तुलसीदास—तुलसीदास जी रामानन्दी भक्त-परम्परा के भक्त कवि थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भारत के कोने-कोने में राम-राम का प्रचार किया । आपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया और रामायण की रचना करके हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च पद प्राप्त किया । गोस्वामी जी का प्रादुर्भाव १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ । आपके लिखे हुए १२ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें पाँच बड़े और सात छोटे हैं । रामचरितमानस प्रधान ग्रन्थ है ।

सूरदास—सं० १५८० के लगभग वल्लभाचार्य्य के शिष्य हुए और लगभग यही उनका रचना-काल भी है । आपने भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि-मार्ग का प्रतिपादन किया और देश भर में कृष्ण-भक्ति की लहर को प्रवाहित किया । वात्सल्य और श्रृंगार का सुन्दर वर्णन आपकी कविता में मिलता है । सूरसागर इनकी प्रधान रचना है, जिसमें प्रबन्धात्मकता और मुक्तात्मकता दोनों मिलती हैं । यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है ।

नन्ददास—अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् नन्ददास का नाम आता है । नन्ददास को 'जड़िया' कहते हैं अर्थात् जो प्रत्येक पद को नगीनों की भाँति जड़-जड़ कर बनाता था । भ्रमर-गीत इनकी प्रधान रचना है । सं० १६२५ इनका कविता-काल माना जाता है । भ्रमर-गीत के अतिरिक्त इन्होंने अन्य भी कई रचनाएँ लिखी हैं ।

रसखान—यह दिल्ली के एक पठान सरदार थे और सं० १६४० के उपरान्त

इनका रचना-काल माना जाता है। कृष्ण-भक्ति पर इनके सुन्दर पद उपलब्ध हैं। ब्रज-भूमि का सच्चा प्रेम इनकी रचनाओं में मिलता है।

केशवदास—यह सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६१२ में हुआ और मृत्यु १६७४ में। ओरछा नरेश की सभा में यह रहते थे। यह मम्मट इत्यादि आचार्यों की परम्परा के आचार्य कवि थे। 'रामचन्द्रिका' इनकी प्रधान रचना है। इनकी परम्परा हिन्दी के काल में नहीं अपनायी गई। यह चमत्कारवादी कवि थे। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' इत्यादि इन्होंने अन्य भी कई ग्रन्थ लिखे थे।

सेनापति—यह अनूपशहर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म १६४६ के लगभग हुआ। इन्होंने प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है और ऋतु-वर्णन आप से सुन्दर हिन्दी में अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इनकी कविता में अनुप्रास और यमक चमत्कार की प्रधानता है।

चिन्तामणि त्रिपाठी—यह तिकवांपुर (जि० कानपुर) के निवासी थे। इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग हुआ। आपने पांच ग्रन्थ लिखे थे। इनका नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा, क्योंकि जिस परम्परा को आपने साहित्य में अपनाया उसके आधार पर रीतिकाल के युग का निर्माण हुआ है।

भूषण—इनका जन्म-काल संवत् १६७० है। यह महाराज शिवाजी के दरबारी कवि थे और हिन्दुत्व का गुण-गान करने वाले वीर-रस के प्रधान कवि हैं। इनकी कविता में एकाकी ओज मिलता है।

भिखारीदास—यह प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा ग्राम के रहने वाले थे। आपके नौ ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हो सके हैं। काव्यांग-निरूपण में 'दास' जी का स्थान हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम है। आपको कविता का मुख्य विषय शृंगार है। कविता में साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का आपने प्रयोग किया है।

मीरा—मीरा का जन्म कुड़की ग्राम में हुआ और मृत्यु द्वारिका में १६०३ ई० में हुई। इनका विवाह भोजराज से हुआ परन्तु विवाह के थोड़े ही दिन पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के पश्चात् कुटुम्ब वालों के सताये जाने पर यह द्वारिका जाकर कृष्ण-भक्ति में मग्न हो गईं और वहीं उनका स्वर्गवास भी हो गया। आपकी रचनाएँ कृष्ण-भक्ति से पूर्ण हैं।

बिहारीलाल (सं० १६६०-१७२५)—महाराज जयसिंह की सभा के रत्न थे। 'सतसई' आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कविता में श्लेष तथा पांडित्य हैं। इस सतसई की तीस से अधिक टीकाएँ छप चुकी हैं। इतनी अधिक टीकाएँ हिन्दी के किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं हुईं।

गिरधर कविराय (सं० १७७०-१८४४)—आप अवध के निवासी थे। उनकी स्त्री भी कविता करती थीं। आपकी कुण्डलियाँ बड़ी लोकप्रिय हैं, और सुन्दर भावनाओं से युक्त हैं।

पद्माकर (सं० १८१०-१८६०)—आप संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड

पंडित थे। 'गंग लहरी' और 'प्रबोध-पचीसी' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में इनका प्रथम स्थान है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र(सं० १९०७-१९४२)—ये प्रथम राष्ट्रीय कवि तथा नाटककार थे। नये युग का प्रारम्भ-काल तथा खड़ीबोली का उदय-काल इन्हीं से हुआ। यह काशी-निवासी थे।

नाथूराम शंकर (सं० १९१६-१९८९)—आप खड़ीबोली के उच्च कवि थे। आर्यसमाजी होने से कुप्रथा-निवारक तथा राष्ट्र की उन्नति की ओर अग्रसर थे। समाज-सुधार की भावना कविता में रहने से सरसता का अभाव है।

श्रीधर पाठक (सं० १९१६-१९८५)—आप अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान्, सरस, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी और मौलिक कवि थे। 'भारत-गीत', 'ऊजड़ राम', 'एकान्तवासी योगी' और 'श्रान्तपथिक' आपकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२७-१९९५)—आपसे द्विवेदी-युग प्रारम्भ होता है। 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन आपने ही किया। आपकी जन्मभूमि दौलतपुर (यू० पी०) है। आपने अन्य भाषाओं के कई ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी-भाषा की सेवा की। हिन्दी-गद्य की वर्तमान रूपरेखा आपकी ही देन है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय (सं० १९२२)—'प्रियप्रवास', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' इत्यादि आपकी कृतियाँ हैं। विद्वत्समाज में आपका ऊँचा स्थान है।

रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१)—आपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा और आज तक वह अद्वितीय है। 'बुद्ध-चरित्र' आपका ब्रजभाषा का काव्य है। समालोचक और निबन्धकार के नाते आपका हिन्दी-साहित्य में प्रथम स्थान है।

मैथिलीशरण गुप्त (सं० १९४३)—आप खड़ीबोली के उत्तम कवि हैं। 'भारत-भारती', 'साकेत', 'यशोधरा' इत्यादि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। हिन्दी के वर्तमान कवियों में आपका नाम प्रथम श्रेणी में आता है।

जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६-१९९४)—आप आधुनिक काल के छायावाद और रहस्यवाद के सबसे ऊँचे कवि हैं। भाषा संस्कृत-मिश्रित तत्सम शब्द वाली है। गद्य, पद्य तथा नाटक सब विधाओं में लिखा है। 'तितली' आपका मौलिक उपन्यास है, कामायनी आदर्श काव्य है, तथा 'स्कन्दगुप्त' आदि आपके सुन्दर नाटक हैं। आधुनिक नाटकों के आप जन्मदाता हैं और इस दिशा में आपने क्रान्ति की है।

वियोगी हरि (१९५३)—इनका पहला नाम पं० हरिप्रसाद द्विवेदी था। विरक्त होने के कारण १९७८ में संन्यास ग्रहण कर लिया। गद्य और पद्य दोनों में ही आपकी लेखनी चलती है। आपकी २०-२५ पुस्तकें छप चुकी हैं। 'वीर-सतसई' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—(सं० १९५५) आप आधुनिक युग के प्रगतिवादी कवि हैं, जिनकी कविता में कबीर और रवीन्द्र का रहस्यवाद बहुत निखरे रूप

में प्रस्फुटित हुआ है। आज के हिन्दी कवियों में आपको आचार्य-पद पर सुशोभित कर सकते हैं।

महादेवी वर्मा (सं० १९६४)—आपकी कविता में रहस्य की पुट है। आपकी कविता परिमार्जित, सरस और प्रभावोत्पादक है। आप हिन्दी-साहित्य में आधुनिक गीतों की जन्मदात्री हैं।

बा० श्यामसुन्दरदास, बी० ए०—आपने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की और हिन्दी में बहुत खोज-पूर्ण कार्य किया है। हिन्दी के साहित्यिक पाठकों के लिए आपने सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है।

मु० प्रेमचन्द—आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। हिन्दी के उपन्यास और कहानी-क्षेत्र में आपने क्रान्ति पैदा की और सर्वप्रथम चरित्र-प्रधान रचनाएँ साहित्य को दीं। आपके साहित्य को लेकर हिन्दी-साहित्य किसी भी उन्नत से उन्नत साहित्य के साथ कन्धा भिड़ाकर खड़ा हो सकता है।

सुमित्रानन्दन पन्त—आपकी रचनाओं का प्रारम्भ सं० १९२५ से होता है। आप हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि हैं। आपने सुन्दर व मुक्तक कविताएँ लिखी हैं और भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। हिन्दी के आधुनिक युग के कवियों में आपका प्रधान स्थान है।